श्री ज्ञानसागरजी गणि रचित

श्री धन्यकुमार चरित्र

संपादक – संशोधक

मुनि श्री जयानंद विजयजी

|| श्री गोडी पार्श्वनाथाय नमः ||

|| प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ||

श्री ज्ञानसागरजी गणि शिष्य रचित

श्री धन्यकुमार चरित्र

हिन्दी भाषांतर

* भाषांतरकार *

अ.सौ. प्रेमलता सूराणा

* संपादक - संशोधक *

मुनिराज श्री जयानंद विजयजी

* प्रकाशक *

गुरु श्री रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज.)

* मुख्य संरक्षक *

मुनि श्री जयानंद विजयजी म. आदिठाणा की निश्रा में

चातुर्मास उपधान २०६५ में शत्रुंजय तीर्थ में करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१, सुमेर टॉवर, लवलेन, मझगांव, मुंबई - १०.

(२) मिलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, तारा टेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई - ७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमाल धाम, पालीताना - ३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा थराद पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते। अमृतलाल सी. दोशी, ३८८, एस.वी.पी. रोड, भावेश्वर विहार, रुम नं. २, मुंबई - ४.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा,
फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, जी-५३, आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद एन्ड कं., तिरुचिरापली (T.N.).

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा. कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीतणा में उपधान करवाया उस निमित्ते. पारस एन्टरप्राइजेस, ११-४०-२२, आनंद मार्केट, ७ पुली पत्तीवरी स्ट्रीट, विजयवाडा - १.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा. जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)
गौतमकुमार जेठमलजी, ६०१, बी. वास्तु पार्क, ओकार नगर, जैन नगर, एन.आर. रामन इंट. स्कूल के सामने, मलाड (वे.), मुंबई - ६४.

(११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा. चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुड़ाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३, संतापेट, नेल्लूर - ५२४०००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुड़ाबालोतान
'नाकोडा गोल्ड', ७०, कंसारा चाल, बीजा माले, रुम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२.

(१३) शा. सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के.वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१, अरुंडलपेट, गुन्टूर (आ.प्र.)

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार छगनलालजी कोठारी, अमेरीका, आहोर (राज.)
शा. गुलाबचंद वस्तीमल, गोदावरी स्ट्रीट, राजमहेन्द्री (A.P.)

(१६) शांतिरुपचंद, रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता, जालोर - बैंगलोर. शांतिरुपचंदजी मिलापचंदजी फोलावास, जालोर.

(१७) वि.सं. २०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजी मुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.

(१८) बाफनावाड़ी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोड़ा स्टेट, न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई - ३.

(१९) शा. शांतिलाल, दिलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं. - १०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४ - रहेमानभाई, बि.एस.जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई - ३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे.जी. इम्पेक्स प्रा. लि., ५५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार, बाकरा (राज.)

(२३) मुनि श्री जयानंदविजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आराधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से संवत २०६५.

(२४) कुंदन ग्रुप, मेंगलवा, चेन्नई, दिल्ली, मुंबई.

(२५) शा. सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.
मेटल एन्ड मेटल, १३६/१, गोवींदापा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई - ६०० ००१.

(२६) शा. दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार, बाकरा (राज.). मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाड़ा, भूलेश्वर, मुंबई - २.

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी, धाणसा (राज.). श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३ए, पार्क रोड, विजयवाड़ा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा. नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकिश, यश, मीत बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी, आहोर (राज.). कलांजली ज्वेलर्स, ४/२, ब्राडी पेठ, गुन्टूर - २.

(२९) शा. लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया, मोदरा (राज.), गुन्टूर.

(३०) एक सद्‌गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, निखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, ११-X-२-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्पलेक्स, पहला माला, चेन्नई - ७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात, धाणसा. पी.टी. जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वे.), मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाड़ा, दिल्ली.
जुगराज ओटमलजी, ए/३०१-३०२, वास्तुपार्क, एवर साइन नगर, मलाड (वे.), मुंबई-६४.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ई.), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर । कोठारी मार्केटींग, १०/११, चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाड़ा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जिवीत महोत्सव निमित्ते दीपचंद, उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटा पोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी, धाणसा. अलका स्टील, ८५७, भवानी पेठ, पूना नं. २.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदीठाणा की निश्रा में संवत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे - बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया । उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार, मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदीठाणा की निश्रा में संवत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया, उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार, विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परिवार - आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल, गणपतराज, राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गौत्र फुआनी परिवार आलासण । संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ६०० ०७९.

(४०) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकुश, रितेश, नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना - ४११ ०३०. (सियाणा)

(४१) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन । राजेश इलेक्ट्रीकल्स, ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४२) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, सी-१०३/१०४, वास्तु पार्क, एवरसींग नगर, मलाड(वे.), मुंबई.

(४३) शा. भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला, भीनमाल. एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के.सी.आई. वायर्स प्रा. लि., १६३, गोविंदाप्पा, नायकन स्ट्रीट, चेन्नई - ६००००१.

सह संरक्षक

(१) शा. समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार, सायला (राज.)
अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर - २.

(२) शा. तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं., ११६, गुलालवाड़ी, मुंबई - ४.

(३) शा. भंवरलाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता - परपोता शा. समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी, बाकरा (राज.)

(४) शा. गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेश, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी, साँथू (राज.). फूलचंद भंवरलाल, १८०, गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई - १.

(५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी, मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५, एस.एस. जैन मार्केट, एम.पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर - ५३.

(६) स्व. मातुश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल, जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी, जालोर. प्रविण एण्ड कं., १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद - १२.

(७) शा. ताराचन्दजी भोनाजी, आहोर. महेता नरेशकुमार एन्ड कां, पहला भोईवाड़ा लेन, गुलालवाड़ी, मुंबई - २.

(८) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन नं. ५, चांदी गली, ३रा भोईवाड़ा, भूलेश्वर, मुंबई - २.

(९) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार - थराद.

(१०) शा. जेठमलजी सागरमलजी की स्मृति में मुलचंद, महावीरकुमार, आयुषी, मेहुल, रियान्सु, डोली, प्रागाणी ग्रुप - संखलेचा, मेंगलवा. राज रतन एसेंबली वर्क्स, १४६/११६१, मोतीलाल नगर नं. १, साई मंदिर के सामने, रोड नं. ३, गोरेगांव (वे.), मुंबई - १०४. संखलेचा मार्केटींग, ११-१३-१६, समाचारवारी स्ट्रीट, विजयवाड़ा - १.

प्राप्तिस्थान

शा. देवीचंद छगनलालजी

'सुमतिदर्शन' नेहरु पार्क के पास, माघ कोलोनी, भीनमाल - ३४३०२१. फोन : (०२९६९) २२०३८७.

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी, साँथूं. ३४३०२६. फोन : २५४२२१.

श्री विमलनाथ जैन पेढ़ी, बाकरा, राजस्थान - ३४३०२५.

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड, पालीताणा (सौराष्ट्र) - ३६४२७०. फोन : (०२८४८) २४३०१८.

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ क्र.
१.	मंगलाचरण - प्रथम पल्लव	1
२.	गुणसागर श्रेष्ठी कथा	3
३.	विश्वभूति ब्राह्मण की कथा	10
४.	धन्य चरित्र प्रारंभ	21
५.	मुनि यामल की कथा	33
६.	द्वितीय पल्लव	36
७.	पंकप्रिय की कथा	39
८.	तृतीय पल्लव	45
९.	रुद्राचार्य की कथा	50
१०.	चतुर्थ पल्लव	59
११.	सुनंदा रुपसेन कथा	80
१२.	पांचवाँ पल्लव	118
१३.	कुसुमश्री से शादी	120
१४.	अभय से धर्म छल	125
१५.	सोम श्री से शादी	130
१६.	शालिभद्र की कथा	131
१७.	गोभद्र से आंख मांगना	133
१८.	धन्य का न्याय सुभद्रा से शादी	135
१९.	गोभद्र की दीक्षा नव्वाणुं पेटी	136
२०.	छट्ठा पल्लव	137
२१.	कोशांबी में मणि परीक्षा	140
२२.	धनसार परिवार का मिट्टी खोदना	145
२३.	परिवार को घर लाना	156
२४.	सातवाँ पल्लव	169
२५.	लक्ष्मी पुर आना	170
२६.	गीतकला से शादी	172
२७.	सरस्वती से शादी	174
२८.	पत्रमल्ल सेठ की कथा	174
२९.	धन्य का न्याय	179
३०.	लक्ष्मीवती से शादी	180
३१.	धनकर्मा की कथा	180
३२.	मागध की याचना	180
३३.	धनकर्मा का रुप लेना	183
३४.	लक्ष्मी सरस्वती का संवाद	185
३५.	व्याध्र, वानर, सर्प, सुनार की कथा	205
३६.	असली धनकर्मा का आना-विवाद	218
३७.	धन्य का विवाद मिटाना	223
३८.	गुणमालिनी से विवाह	225
३९.	आठवाँ पल्लव	226
४०.	अभय द्वारा उज्जयनी में मोदक परीक्षा	228
४१.	उदयन का अपहरण कर उज्जयनी लाना	230
४२.	अभय ने गज वश करने का उपाय बताया	234
४३.	उदयन द्वारा वासवदत्ता का अपहरण	236
४४.	अभय द्वारा अग्नि एवं अशिव शमन का उपाय बताना	238
४५.	अभय द्वारा वरदान मांगना, अभय की प्रतिज्ञा	239
४६.	अभय का राजगृही आना	240
४७.	अभय का सार्थवाह बनकर उज्जयनी आना	244
४८.	चंडप्रद्योत को बांधकर लाना	263
४९.	चंडप्रद्योत का राजगृही में प्रवेश	266
५०.	चंडप्रद्योत का उज्जयनी आना	270
५१.	कौशांबी में धनसार का निर्धन होना	271
५२.	धान्य बेचते भाईयों को देखना	274
५३.	देव द्वारा भाइयों को प्रतिबोध	277
५४.	श्री धर्मघोषसूरिजी की देशना	278
५५.	धनदत्त, केरल, सचिवोद, श्रीदेव, भोगदेव आदि की कथा	280
५६.	धन्य आदि के पूर्वभव	312
५७.	धनसार की परिवार सह दीक्षा	319
५८.	नवम पल्लव	319
५९.	रत्न कंबल के व्यापारी	319
६०.	चेल्लणा का रत्न कंबल मांगना	323
६१.	श्रेणिक का शालिभद्र के घर आना	330
६२.	शालिभद्र का वैराग्य	337
६३.	श्री वीर विभु की देशना	338
६४.	धर्मदत्त की कथा	340
६५.	यशोधवल की राज सभा में धर्मदत्त को स्वर्ण पुरुष मिलने का वर्णन	342
६६.	धर्मदत्त का धन कमाकर घर आना	380
६७.	यशोधवल की दीक्षा चंद्रधवल राजा	381
६८.	धर्मदत्त चंद्रधवल के पूर्वभव	387
६९.	मुनिभगवंतों को मोदक बहोराना	391
७०.	वीरधवल का वृत्तांत	397
७१.	शालिभद्र का आज्ञा मांगना	403
७२.	सुभद्रा के आंसु - धन्य का दीक्षा निर्णय	407
७३.	धन्य शालिभद्र आदि की दीक्षा	413
७४.	शालिभद्र की पूर्व भव की माता से पारणा	416
७५.	अनुत्तर विमान में जाना	416
७६.	दोनों के अनुत्तर कार्यों का वर्णन	422

श्री चमत्कारीपार्श्वनाथाय नमः
प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः

श्री धन्यकुमार का हिन्दी अनुवाद

(प्रथम पल्लव)

स श्रेयस्त्रिजगद्–ध्येयः, श्री नाभेयस्तनोतु वः।
यदुपज्ञा जयत्येषा, धर्मकर्मव्यवस्थितिः।। 1।।
स्वस्तिश्रीसुखदं नाथं, युगादीशं जिनेश्वरम्।
नत्वा धन्यचरित्रस्य गद्यार्थो लिख्यते मया।। 2।।

यहाँ मंगलार्थ रूपी श्री ऋषभदेव भगवान की स्तुति आशीर्वाद प्रदान करनेवाली है। जैसे–स्वर्ग, मृत्यु व पाताल रूपी जगत् त्रयवर्ती जीवों को ध्यान के योग्य श्री नाभिपुत्र सभी का मंगल करें। श्री जिन ऋषभ के द्वारा रचित धर्म–कर्म व्यवहार पद्धति इसलोक व परलोक की साधक है, उनका विधि–मार्ग आज भी सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रवर्तित है।

इस प्रकार इष्ट देवता के लिए समुचित स्मरण व आशीर्वाद– पूर्वक मंगल करके सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रभेदों सहित धर्म–मार्ग को प्रकाशित किया जाता है।

इस अपार संसार रूपी अटवी में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को मनुष्य–भव चुल्लक आदि दस बोलों द्वारा अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें भी आर्य क्षेत्र, उच्च–कुल, आयु, आरोग्यता, रूप आदि सामग्री का संयोग दुर्लभतर है। इन सब में भी श्री जिन–धर्म की प्राप्ति एवं जिन–धर्म में प्रवृत्ति करना अत्यन्त दुर्लभ है।

इस जगत में सर्वज्ञ कथित धर्म परम मंगलकारी और समस्त दुःखों का उच्छेदक होता है। यह धर्म चार प्रकार का है–दान, शील, तप और भावना। इन चारों भेदों के मध्य दान श्रेष्ठ है। यह शील आदि तीनों में समाहित हो जाता है। जैसे–लौकिक व लोकोत्तर में सर्वत्र ही दान की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। तीर्थंकर प्रभु भी पहले दान देकर ही दीक्षा लेते हैं।

शील धर्म में भी दान धर्म समाहित है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने पर असंख्यात बेइन्द्रिय जीवों को, असंख्यात संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों को और नौ लाख गर्भज पंचेन्द्रिय जीवों को प्रतिदिन अभयदान दिया जाता है। गर्भ आदि दुःख के नाशक रूप से स्व–जीव को भी अभयदान दिया जाता है। अतः शील–धर्म में भी दान की ही मुख्यता है।

इसी प्रकार दान तप–धर्म में भी अंतर्भावित हो जाता है, क्योंकि छःकाय के जीवों की विराधना से ही भोजन निष्पादित होता है। उपवास आदि करने पर उन जीवों को अभयदान मिलता है। अतः तप में भी दान की ही मुख्यता है।

भाव धर्म में भी इसका अच्छी तरह से समावेश हो जाता है, क्योंकि परम करुणा द्वारा जीव–अजीव की अहिंसक परिणति का भाव पैदा होता है और वह अभयदान ही है। मुनि भी प्रतिदिन ज्ञान–दान, देशना–दान, शिक्षा–दान आदि देते हैं। उत्कृष्ट अभयदान व सुपात्रदान से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है।

लौकिक जनों में सर्वत्र दान सफल होता है। सुपात्र को दिया गया दान महापुण्य का कारण होता है। दूसरों को अनुकम्पा भाव से दिया गया दान प्रौढ़ दया का पोषक होता है। राजा को दिया गया दान सम्मान आदि महत्व को प्राप्त करानेवाला होता है। नौकरों–चाकरों को दिया गया दान उनमें भक्ति की अधिकता को पैदा करता है। स्वजनों को दिया गया दान प्रेम–अभिवृद्धि का पोषक होता है। दुर्जनों को दान देने से वे अनुकूल हो जाते हैं।

अतः दान सभी जगह सफल है, कहीं भी निष्फल नहीं है। समस्त शास्त्रों में दान का फल प्रतिपादित है। जैसे–

विभवो वैभवं भोगा महिमाऽथ महोदयः।
दानपुण्यस्य कल्पद्रोरनल्पोऽयं फलोदयः।।

(दान कल्पद्रुम)

विभव का अर्थ राज्य ऋद्धि, समृद्धि आदि को अपनी इच्छा द्वारा भोगना। भोक्तृत्व का मतलब है–मन के अनुकूल शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श रूप भोगों को भोगना। महिमा अर्थात् सर्वत्र स्व–पर आदि देशों में विख्याति रूपी यश होता है। महोदय का अर्थ अपने मन में चिन्तित अर्थ की प्राप्ति है। ये सभी पूर्व में कहे गये दान–पुण्य रूपी कल्प–वृक्ष के फल रूपी उदय जानने चाहिए।

आगम में कहे हुए पवित्र दान–धर्म के सेवन के बिना वैभव आदि की प्राप्ति नहीं होती है। लोक में भी "दिया हुआ फलित होता है"–यह प्रसिद्ध है। कभी मिथ्यात्व के उदय से मिथ्या–ज्ञान की श्रद्धा द्वारा अज्ञान कष्ट करनेवाला बाल तपस्वी कष्टकारी पापानुबन्धी पुण्य का संचय करता है, परन्तु पापानुबन्धी पुण्य के उदय से सुपात्र–दान की मति नहीं होती। यदि आगम में कही हुई विधि द्वारा थोड़ा भी सुपात्र–दान आदि धर्म श्रद्धा से करता है, तो उसको पुण्यानुबन्धी पुण्य होता है और इस पुण्य के उदय से उसे दान पुण्य बहुत अधिक होता है। अगर कभी किसी के भवान्तर जन्म में उपार्जित पाप–कर्म के उदय से धन नष्ट हो जाता है, तो भी दान आदि की मति नष्ट नहीं होती। पाप का उदय होने पर भी यथावसर दानादि की बुद्धि प्रबल होती है और उसके वह शीघ्र ही फलित होती है। जैसे–

पुण्यानुबंधी पुण्य पर गुणसार श्रेष्ठी की कथा

एक नगर में व्यवहार—कुशल, प्रबल धन—धान्य आदि से युक्त, आढ्य, दीप्त, अपरिभूत गुणसार नामक श्रेष्ठी रहता था। एक बार किसी अवसर पर उसे सद्गुरु का योग मिला, तो उसने नमस्कार आदि किया। करुणाशील गुरु ने भी उसे धर्म—लाभ के दान—पूर्वक जीव—अजीव आदि नौ पदार्थों के तत्त्व—रूप को उद्भासित करनेवाले मर्म—युक्त धर्म का कथन किया। उसने भी रसिक रूप से उत्साह—पूर्वक अपने चित्त में धारण किया। अपूर्व लाभ से हर्षित होते हुए सम्यक्त्व ग्रहण करके गृहस्थ—धर्म अंगीकार किया। उसके प्रतिदिन एकान्तर उपवास का तथा संयोग मिलने पर सुपात्र—दान का अभिग्रह किया। इस प्रकार कितने ही दिनों तक गुरु की सन्निधि के योग से वह धर्म में कुशल हो गया। परिणाम की वृद्धि के साथ वह धर्म का निर्वाह करने लगा। इस प्रकार कितना ही काल व्यतीत हो गया।

एक बार उसके पूर्वबद्ध निकाचित कर्मों के कारण पाप का उदय होने से धन—धान्य आदि का नाश हो गया, पर उसने अपने धर्म के अभिग्रह को नहीं छोड़ा। अत्यधिक दरिद्री हो जाने के कारण उदर—पूर्ति भी बड़े ही कष्ट से होती थी, क्योंकि धन के चले जाने पर कोई भी सहायक नहीं होता।

तब उसकी पत्नी ने उससे कहा—"स्वामी! सब कुछ चला गया। धन के बिना कोई उद्यम नहीं होगा। दरिद्रावस्था में कौन धन देगा? अतः आप मेरे पिता के घर जायें। मेरे पिता का मुझ पर बहुत स्नेह है। अतः आपको देखते ही धन दे देंगे। उससे हमारे घर का निर्वाह हो जायेगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है।"

प्रतिदिन अपनी पत्नी द्वारा प्रेरित किये जाने पर उसने अपनी पत्नी से कहा—"हे प्रिये! दुःखी अवस्था में वहाँ जाना ठीक नहीं है, फिर भी तुम्हारे कहने से चला जाता हूँ।"

तब पत्नी ने सोचा कि ढाई दिन का मार्ग है। एक दिन का उपवास रहेगा। दूसरे दिन पथ में खाने के लिए पारणे के योग्य सत्तू, गुड़—खण्ड आदि एक थैली में डालकर दे दिया।

प्रभात में भोजन करके वह मार्ग पर चला गया। संध्या के समय एक ग्राम में रात्रि बिताकर प्रभात में पुनः उपवास करके आगे बढ़ा। संध्या के समय पुनः एक गाँव में जाकर, वहाँ रात्रि व्यतीत करके दूसरे दिन मध्याह्न होने पर नदी के किनारे पर पारणा करने के लिए बैठा। उस समय उसने विचार किया कि "वे धन्य हैं! जो कि प्रतिदिन मुनि को दान दिये बिना भोजन ग्रहण नहीं करते हैं। मेरे तो पाप का उदय होने से ऐसा योग कहाँ! कदाचित ऐसा योग मिल जाये, तो अति भव्य संयोग होगा।" इस प्रकार विचार करते हुए दिशाओं का अवलोकन करते हुए रुक गया।

इसी अवसर पर एक मासक्षमण तप के तपस्वी मुनि पारणे के लिए गाँव में गये थे। वहाँ शुद्ध जल तो मिल गया, पर दूषण की आंशका से आहार ग्रहण नहीं

किया। केवल जल ग्रहण करके आते हुए मुनि को देखकर चन्द्र के दर्शन से चकोर की तरह वह हर्षित हो गया–"अहो! मेरा भाग्य जागृत हो गया। मैं धन्य हो गया। अगर ये मुनिराज इस आहार को ग्रहण कर लेते हैं, तो मैं धन्यों में भी धन्यतम हूँ।"

इस प्रकार विचार कर हर्ष–पूर्वक सम्मुख जाकर नमस्कार करके कहा–"हे कृपानिधि! यहाँ अपने चरणों को विश्राम दीजिए। कृपा करके मुझ दीन का उद्धार कीजिए। दोष–रहित यह आहार ग्रहण कीजिए।" इस प्रकार रोमाँचित होकर गद्गद् स्वर में विज्ञप्ति करके मुनि को लेकर आया। मुनि ने भी आहार को तीन प्रकार से शुद्ध जानकर ग्रहण किया। उस अवसर पर अंसभव को भी संभव देखकर गुणसार चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र की लहरों की तरह भाव–धारा के उल्लास को प्राप्त हुआ। विचार करने लगा–"क्या यह स्वप्न है या सत्य है? पाप के उदय से भव–समुद्र में डुबते हुए मुझे बचानेवाला यह तारण – तरण जहाज कहाँ से आया?"

इस प्रकार भावातिरेक से समग्र आहार मुनि के पात्र में बहराकर उसने मुनि को नमस्कार करके कहा–"हे स्वामी! आप क्षमाश्रमण ने मुझ तुच्छ पर महती कृपा की। इससे भव–समुद्र में डुबने से बचा लिया। जगत के एकमात्र शरण–भूत रूप आपके सु–दर्शन से मेरा जन्म सफल हो गया।" इत्यादि स्तुति करके सात–आठ कदम उनके पीछे–पीछे जाकर पुनः नमन करके स्व–स्थान में आकर वस्त्रादि को लेकर आगे बढ़ गया। चलता–चलता मन में इस प्रकार विचार करने लगा–"अहो! आज मेरे शुभ दिन का उदय था। वह घड़ी धन्य बनी, जब मैंने मुनि दर्शन किये और उन्हे प्रतिलाभित किया। वह कामधेनु स्वयं ही मेरे आँगन में आयी। अचिन्तित चिन्तामणि उपलब्ध हुआ। मेरा मनुष्य जन्म सफल हुआ। मेरे द्वारा अक्षय पाथेय संचित किया गया। अतः मेरा द्रव्य व भाव दारिद्रय दूर हुआ व परम लोकोत्तर धन प्राप्त हुआ।" इस प्रकार पुनः पुनः विचार करते हुए मार्ग तय करने लगा। भाव–विभोर होते हुए वह अपनी भूख–प्यास भी भूल गया। सुपात्र–दान के लाभ से हर्षित होते हुए, प्रतिक्षण पुलकित होते हुए वह श्वसुर–ग्राम को प्राप्त हुआ।

ग्राम में प्रवेश करते हुए प्रवेश–द्वार पर ही मन्द शकुन दृष्टिगोचर हुए। उन्हे देखकर उसने विचार किया–"अपनी स्त्री से प्रेरित मैं आ तो गया हूँ, पर कार्य होगा या नहीं–यह दिखाई नहीं देता।" पुनः विचार किया कि"यहाँ आने के प्रयास का फल तो मैंने प्राप्त कर लिया। यह कार्य हो या नहीं, जो भावी द्वारा दृष्ट है, वह अवश्य होगा। व्यर्थ की चिन्ता करने से क्या फायदा?"

इस प्रकार सोचता हुआ वह चतुष्पथ पर पहुँचा, तो बाजार में स्थित श्वसुर व सालों ने उसे देखा। वे आपस में बातें करने लगे–"जानते हो? यह गरीबी की मूर्त्ति–स्वरूप जामाता खाली घड़े की तरह हमारे पास जरूर कुछ माँगने आया है। लेकिन इसकी तरफ ध्यान मत देना। अगर ध्यान देंगे, तो गले पड़कर द्रव्य की याचना करेगा। यह अब निर्धन हो गया है और निर्धन को लज्जा नहीं होती। कहा

भी है–

तेजो–लज्जा–मति–मानमेते यान्ति धनक्षये।

अर्थात तेज, लज्जा, बुद्धि व स्वाभिमान–से सभी धन–क्षय होने पर चले जाते हैं।

इसने तुच्छ बुद्धि के द्वारा व्यवसाय करके कानों को सुखद लगनेवाली कीर्त्ति के लिए दान–पुण्य करके सारा द्रव्य व्यय कर दिया, पर अपने घर के निर्वाह की चिन्ता नहीं की। अब धनहीन होकर हमारे पास चला आया है। क्या हमारे पास धन की खदानें हैं? क्या देकर भूल गया, जो कि हमारे पास अभिनय करने चला आया? जो कुछ भी हम देंगे, वह भी दान–पुण्य तथा खाने–पीने में उड़ाकर फिर हमारे पास चला आयेगा। जामाता तथा यम का पेट भरने में आज तक कोई भी समर्थ नहीं हुआ। इन दोनों को सर्वस्व का दान देने पर भी ये तृप्त नहीं होते। अतः इसकी तरफ ध्यान नहीं देना है। जैसे आया है, वैसे ही चला जायेगा।'' इस प्रकार विचार करके सभी पराङ्मुख हो गये।

गुणसार ने अपनी निपुणता से सब कुछ जान लिया। उसने विचार किया–''जो मैं अपनी स्त्री के कहने से यहाँ आया, वह मैंने ठीक नहीं किया। मेरी इज्जत ही चली गयी। कहा है कि–

अन्तरं नैव पश्यति निर्धनस्य शबस्य च।

निर्धन व शव मे अंतर नहीं होता। यह नीति वाक्य जानते हुए भी मैंने यहाँ आकर अपनी मूर्खता को ही प्रकट किया है। श्वसुर कुल में मान का मालिन्य पुरुष के लिए महान दुःख रूप होता है। पर क्या किया जाये? जो भवितव्यता है, वह हो जाये। पूर्वकृत कर्मों का ऐसा ही उदय है।''

इस प्रकार विचार करके नीचा मुख करके श्वसुर–गृह में गया। सास ने उनकी दीन अवस्था को देखकर आदर नहीं किया।'' आइए! हमारी पुत्री कुशल तो है?'' इस प्रकार सामान्य बात–चीत की।

तब द्वार पर मण्डपिका में पट्टी पर बैठे–बैठे उसने विचार किया–''पूर्व में जब धनिक अवस्था में मैं यहाँ आता था, तब तो स्वजन–समूह मिलकर कोस–दो कोस की दूरी तक सम्मुख आकर मिलना–भेंटना आदि करते हुए महा–आडम्बरपूर्वक घर में लाकर प्रतिक्षण सेवा में तत्पर रहते थे। अभी भी मैं तो वही हूँ, पर किसी ने आकर कुशलता तो क्या, पानी के लिए भी नहीं पूछा। अतः जिनेश्वर देव का कहा हुआ कथन बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है कि–

स्वार्थिनः सर्वे सम्बन्धिनः, विना स्वार्थमेको गुरुरेव।
उत्कर–रूपोऽयं संसारः, तत्र सुगन्धवत्त्वं कुतः?

अर्थात् संसार के सभी संबंध स्वार्थी हैं। स्वार्थ से रहित एकमात्र गुरु होते

हैं। यह संसार तो कचरे के ढेर के समान है, उसमें सुगन्ध के समान हे गुरु! आप कहाँ हो?

किसी ने ठीक ही कहा है कि–

यादृशः उदयस्तादृशः भवत्येवेति जिनाज्ञा।

अर्थात् कर्मों का जैसा उदय होता है, वैसा होता ही है और यही जिनाज्ञा है। कर्मोदय में चिन्ता करनेवाला मूर्खराज जानना चाहिए। बन्ध की चिन्ता करनेवाला साधक ही सिद्धि को प्राप्त करता है। इस कारण मौन होकर बैठना चाहिए।''

अतः मन को स्थिर करके भूखा होते हुए भी मौन करके बैठ गया। शाम के समय जब घर की रसोई बन गयी, तब सास ने कहा–''उठिए! भोजन कर लीजिए।''

भोजन करके वह पुनः उसी जगह पर बैठ गया। प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद बाजार से ससुर आये। घड़ी भर उसके पास बैठकर बात–चीत की–''हे अमुक श्रेष्ठी! आपके आने का क्या प्रयोजन है?''

श्रेष्ठी ने कहा–''आप से मिलने के लिए आया हूँ।''

श्वसुर ने कहा–''कितने दिन तक ठहरेंगे?''

श्रेष्ठी ने कहा–''नहीं। नहीं। प्रातः ही चला जाऊँगा।''

उन्होंने कहा–''ऐसा है, तो दो घड़ी रात बाकी रहते ही चले जाना चाहिए, क्योंकि अभी ग्रीष्म–काल है। सूर्य के उगते ही व्यक्ति महाताप से परिभूत हो जाता है। अतः ठंडे–ठंडे समय में ही निकल जाना चाहिए।'' इस प्रकार बात करके श्वसुर अपने कमरे में चले गये।

गुणसार ने चिन्तन किया–''हा! मैंने स्त्री–वचनों द्वारा यहाँ आकर महत्व हार दिया है। अतः यहाँ से शीघ्र जाना ही श्रेयस्कर है।'' वह रात्रि पश्चात्तापपूर्वक बिताकर दो घड़ी रात्रि शेष रहने पर उसने आवाज लगायी कि ''कोई जाग रहा है क्या? मैं जाता हूँ।'' इस प्रकार सामान्य वचन कहकर वह निकल गया। घर में भी जो जागता था, उसने ''हाँ'' कह दिया।

मार्ग में गमन करते हुए जहाँ सूर्योदय हुआ, हस्त–रेखाएँ दिखने लगीं, वहीं पर ठहरकर उसने पंच–नमस्कार–पूर्वक उपवास का प्रत्याख्यान किया। चौदह नियम धारण किये। फिर जिनेश्वर के स्मरण–पूर्वक स्तोत्र आदि पढ़ता हुआ मार्ग में चलने लगा। चलते हुए पुनः नदी के तट पर साधु–दान के स्थान पर आया। वह विचारने लगा कि ''यहाँ मैंने मोक्ष का कारणभूत दान सुपात्र को दिया है। पुनः ऐसा अवसर कब आयेगा?''

इस प्रकार विचार करके गद्‌गद् होते हुए पुनः पुलकित हो गया। वहाँ आकर श्वसुर–कुल में जो अपमानादि प्राप्त हुआ था, उसे भूलकर भाव–विभोर होते हुए पुनः सोचने लगा कि मेरे समस्त गुण–घातक पातकों का नाश हुआ, जो कि मुनिराज को दान दिया। इसके लिए मैं अपनी पत्नी का ही उपकार मानता हूँ। इस

प्रकार वहाँ ठहरकर कुछ क्षणों तक अपने पुण्य-कार्य का अनुमोदन करता रहा। फिर उसके मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि "मुझे यहाँ आने-जाने में तीन-चार दिन लग गये। घर में तो जो रूपया-आधा रूपया आदि होगा, वह भी ऋण से प्राप्त किया हुआ होगा। अतः नदी में रहे हुए पंचवर्णी गोल-गोल सुकुमारता को प्राप्त हुए इन पत्थरों को ग्रहण कर लेता हूँ, जो कि कोई सेर प्रमाण है, तो कोई दो सेर प्रमाण है। इसी प्रकार तीन, चार, पाँच सेर प्रमाण आदि पत्थरों को ग्रहण कर लेता हूँ। चौराहे पर वणिक, श्रेष्ठी आदि इन्हें तोलने के उपयोग के लिए खरीद लेंगे। अगर न भी बिके, तो भी घर पर रहने पर साधु-दान के स्मारक के रूप में रहेंगे।"

इस प्रकार विचार करके सत्तु की खाली थैली उन पत्थरों से भर ली। फिर थैली का मुख बाँधकर मस्तक पर उठाकर चलने लगा। जाते वक्त जिस गाँव में रात्रि व्यतीत की थी, उसी गाँव में ठहरकर पुनः रात्रि व्यतीत करके प्रातः आगे बढ़ गया। भूख-प्यास से पीड़ित होते हुए दिन का एक प्रहर शेष रहने पर अपने घर पहुँचा।

द्वार पर स्थित उसकी पत्नी ने अपने पति को सिर पर भार उठाये हुए आता हुआ देखकर सोचा-"अहो! मेरे पति सिर पर पोटली लेकर आ रहे हैं। मेरे पिता ने बहुत सारा द्रव्य दिया है, जिसे उठाने में भी असमर्थ है।" इस प्रकार विचार करके सम्मुख जाकर पति के सिर से पोटली लेकर स्वयं वह भार उठाकर घर पर लेकर आयी। अत्यधिक भार की अनुभूति से पति से कहने लगी-"धन जाने से आपका चातुर्य भी चला गया, जो कि मेरे पिता के घर से जो यह बहुत सारा धन लाये हैं, वह भारवाहक की तरह स्वयं उठाकर लाये हैं। आपको लज्जा नहीं आयी? रूपया आदि खर्च करके भारवाहक क्यों नहीं किया? पर आप भी क्या करते? दुःख की अवस्था में बुद्धि का विनिमय होता है। इतने दिन व्यर्थ ही बिताये। यदि मेरा कहा हुआ पहले ही मान लिया होता, तो इतने समय तक दुःखी नहीं होना पड़ता।"

श्रेष्ठी ने मौन रहकर सब कुछ सुना। वह सोचने लगा-"सत्य का कथन करने पर इसे निराशा होगी। भोजन करके यथावसर कहूँगा।" उसकी पत्नी ने मंजूषा के अंदर उस भारी पोटली को रखा और पास में रहनेवाले वणिक के घर में जाकर बोली-"बहन! अच्छी-सी भोजन सामग्री दो। मेरे पति मेरे पिता के घर जाकर बहुत सारा द्रव्य लेकर आये हैं। मैं कल सुबह द्रव्य दे दूँगी।" व्यापारी की पत्नी ने सामग्री दे दी।

उसने भी शीघ्र ही सारी रसोई तैयार कर ली। श्रेष्ठी भी स्नान करके भोजन करने बैठा। उसकी पत्नी ने भोजन परोसकर कहा-"स्वामी! आप सुख-पूर्वक भोजन करें। मैं देखती हूँ कि मेरे पिता ने क्या-क्या दिया है।"

श्रेष्ठी ने सोचा कि यह कोथली देखेगी, तो निराश हो जायेगी, फिर मेरा भोजन भी विरस हो जायेगा। अतः पत्नी से कहा-"पहले तुम भी भोजन करलो। भोजन के बाद तुम्हे दिखाऊँगा।"

उसने कहा–''मुझे उतनी भूख नहीं है। अतः मैं देखती हूँ।'' बार–बार मना करने पर भी वह नहीं मानी, क्योंकि–

स्त्रियाँ हठो दुर्वारः।

अर्थात् स्त्री–हठ का निवारण करना बहुत मुश्किल है।

श्रेष्ठी के मन में तो अधीरता थी कि अभी यह पूत्कार करेगी। पर जब उसकी पत्नी ने कोथली खोलकर देखा, तो दिशा–विदिशा में उद्योत करनेवाले अपरिमित मूल्यवाले रत्नों को देखा। देखकर चमत्कृत होती हुई वह अपने पति को कहने लगी–''स्वामी! मैंने सत्य ही कहा था कि जाओ–जाओ। आपके गमन–मात्र की ही अन्तराय थी। वहाँ जाने पर आपको कुछ भी माँगना नहीं पड़ा होगा। जिस दिन आप वहाँ पहुँचे, उसी दिन मेरे पिता ने रत्नों से भरकर यह थैली आपको दे दी होगी।''

यह सुनकर भोजन करता हुआ वह श्रेष्ठी विचार करने लगा–यह भोली रत्न व पाषाण का भेद क्या जाने? पंचवर्णी पाषाणों को देखकर अज्ञानता के कारण रत्न के भ्रम में पड़ गयी है। उसके द्वारा बार–बार माता–पिता का गुण–गान किये जाने पर श्रेष्ठी ने कहा–''क्या मूर्ख की तरह प्रलाप करती हो? तुम्हारे पिता ने जो दिया, वह तो मेरा चित्त जानता है और अब तुम भी जानोगी। अतः चुप हो जाओ।''

तब उसने विचार किया–''अहो! मेरे पति निष्ठुर है। मेरे पिता ने अपार धन दिया, तो भी उनका गुण नहीं मानते हैं।''

इस प्रकार विचार कर पुनः बोलने लगी–''स्वामी! ये अमूल्य रत्न बिना प्रार्थना किये मेरे पिता ने आपको दिये हैं, फिर भी आप कहते हैं कि तेरे पिता ने क्या दिया? इतना तो राजा भी प्रसन्न होने पर नहीं देता। अतः लोक में जो सुना जाता है, वह सत्य ही है–

जामाता यमश्च न कदापि तृप्यति।

अर्थात् जँवायी तथा यम कभी भी तृप्त नहीं होते।''

पत्नी के बार–बार बोलने पर वह उठकर पत्नी के पास जाकर बोला–''हे मुग्धे! क्यों व्यर्थ की बकवास करती हो? तुम्हारे पिता के दिये हुए कौन से रत्न उद्योत करते हैं, जिससे कि तुम्हारे पिता का औदार्य देखूँ?''

उसने कहा–''आइए! देखिए। इस कक्ष को कौन उद्योतित कर रहा है? रत्न–काँति के द्वारा तो यह घर स्वयं ही उद्योतित है।'' इस प्रकार कहकर अपने पति का हाथ पकड़कर ओरड़े में ले गयी। आप ही देखिए। हम दोनों में अज्ञ कौन है?

इस प्रकार पत्नी के वचनों को सुनकर अपवरक में जाकर देखा, तो रत्नों द्वारा अपनी–अपनी काँति से विचित्र घर को देखकर चमत्कृत चित्तवाला श्रेष्ठी विचार करने लगा–''ये अदृष्ट–पूर्व रत्न कहाँ से आये? क्या यह सत्य है या मैं स्वप्न देखता

हूँ। मैंने तो इस कोथली में पाषाण भरे थे। ये तो जगत के उत्तम रत्न दिखायी देते हैं।''

इस प्रकार आश्चर्य में पड़े हुए श्रेष्ठी को ईहा–अपोह द्वारा घड़ी–मात्र में ही साधु–दान स्मृति पथ पर आया। ''हाँ! अब मुझे इसका रहस्य ज्ञात हुआ। इसमें मेरी, तुम्हारी, तुम्हारे पिता की अथवा अन्य किसी की महिमा नहीं है। यह सब मुनि–दान का ही प्रभाव है। हे प्रिये! तुम्हारे द्वारा दिये गये सत्तू की थैली को लेकर मैं जा रहा था''–इत्यादि सम्पूर्ण घटना अपनी पत्नी को बतायी।

फिर कहा–''हे मुग्धे! उस दिन पारणे के अवसर पर मुनि–दर्शन होने पर जो भाव उल्लास हुआ, उस प्रकार की भावातिरेकता प्रबल निमित्त का संयोग मिलने पर भी आज से पहले कभी नहीं हुई। उस अनुभूति को या तो मैं जानता हूँ या फिर जिनेश्वर देव जानते हैं। दो–तीन बार भी अगर इस प्रकार का भाव–उल्लास और हो जाता, तो मुक्ति दुर्लभ नहीं थी। प्रिये! अभिलाषा करता हूँ कि वह दिन बार–बार आये।''

पति की वाणी सुनकर वह भी परम आनन्द को प्राप्त हुई। उसकी भी जिन–धर्म में गाढ़ अनुरक्ति हुई। उन रत्नों की प्राप्ति से सभी सांसारिक सुख तथा धर्म वृद्धि को प्राप्त हुए।

श्रेष्ठी व उसकी पत्नी आजन्म धर्म की आराधना करके श्रीमद् जिनशासन की उन्नति करके अन्त में समाधि–मरण द्वारा चौथे देवलोक में दोनों मित्र–देवों के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत होकर दोनों ही महाविदेह में जन्म लेकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार आगमोक्त विधि द्वारा धर्म की आराधना करनेवालों को इस–भव और पर–भव में सभी जगह प्रबल पुण्योदय प्राप्त होता है और धर्म में अविच्छिन्न मति होती है।

कभी–कभी पाप के उदय से सांसारिक सुख नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि–

विचित्रा कर्मणां गतिः।

अर्थात् कर्मों की गति विचित्र होती है, पर फिर भी धर्म में मति का नाश नहीं होता, बल्कि धर्म की इच्छा और अधिक बढ़ जाती है।

मिथ्यात्व–श्रद्धा के द्वारा अथवा निदानीकरण के द्वारा विराधित धर्म–प्रवृत्ति कर्म–निर्जरा नहीं करती, बल्कि पापानुबन्धी पुण्य होता है। वह किस प्रकार होता है? तो कहते हैं कि उसके उदय में विषय–कषाय प्रबल होते हैं और धर्म की मति नहीं होती। जैसे–जैसे पाप का आचरण करता है, वैसे–वैसे लक्ष्मी की वृद्धि होती है। अगर सत्संगति आदि के द्वारा धर्म करने की मति उत्पन्न होती भी है, तो भी धर्म करने में समर्थ नहीं होता, बल्कि किसी भी अन्तराय के योग से संकट में पड़ जाता है। उस दुःख से पैदा हुई दानादि की मति भी नष्ट हो जाती है। यदि पुनः अधर्म

की इच्छा होती है, तो वह दुःख नष्ट हो जाता है। विराधक का पुण्य, पाप–वृद्धि का कारक होता है। जैसे विश्वभूति ब्राह्मण का हुआ। उसकी कथा इस प्रकार हैः–

पापानुबंधी पुण्य पर विश्वभूति ब्राह्मण की कथा

एक बड़े नगर में विश्वभूति नामक ब्राह्मण रहता था। उसके पूर्वकृत अज्ञान–कष्ट रूप लौकिक धर्म के फलस्वरूप पापानुबंधी पुण्य के उदय से व्यवसाय में अत्यधिक लाभ हुआ। जहाँ पाँच रूपये के लाभ का विचार करता था, वहाँ पच्चीस रूपये प्राप्त होते थे। ज्यादा क्या? हानि का विचार लाभ के लिए ही होता था। इस प्रकार अनेक व्यवसायों को करता हुआ वह लखपति बन गया था। पर स्वभाव से वह अत्यन्त कंजूस था। किसी को एक कौड़ी भी नहीं देता था। दान की बात से ही उसे गुस्सा आ जाता था। घर में भी जितना चाहिए, उससे आधा धान लाता था। स्वल्प मूल्यवाले और मोटे वस्त्र धारण करता था। घर पर प्रतिदिन तेल ही लाता था। घी तो किसी पर्व दिन पर ही लाता था और वह भी अत्यन्त थोड़ा स्पर्श–मात्र जितना ही लाता था। पुत्र–परिवार आदि द्वारा भोजन किये जाने पर उनके कवलों को गिनता था।

उसके चार पुत्र थे। उनको भी अपनी आज्ञा में बाँधकर रखता था। किसी को कोई हक नहीं था। उसके कहे हुए कार्य–मात्र को करके ही रहना होता था। अगर थोड़ा भी न्यूनाधिक करते थे, तो उनको घर से निकाल देता था। कौड़ी–मात्र के लाभ के प्रयोजन के लिए सिर फोड़कर भी ग्रहण कर लेता था, पर कौड़ी–मात्र भी नहीं छोड़ता था। सुबह–सवेरे कोई भी उसका नाम नहीं लेता था। इस प्रकार कृपण शिरोमणि वह हजारों की संख्या में व्यापारों को करता था।

उसी नगरी में एक देवभद्र नामक श्रेष्ठी रहता था। उसके भी घर में उस विश्वभूति ब्राह्मण द्वारा हजारों की सख्या में ब्याज से धन स्थापित किया हुआ था। कितना ही समय बीत जाने के बाद एक दिन पिछली रात्रि में नींद उड़ जाने से वह ब्राह्मण अत्यधिक लोभ से व्यवसाय–जागरणा करने लगा। तब देवभद्र के घर में स्थापित द्रव्य स्मृति–पथ पर आया–"अहो! देवभद्र श्रेष्ठी के घर में अनेक हजारों प्रमाण द्रव्य मैने स्थापित कर रखा है, पर बहुत समय बीत गया। मैंने उसका हिसाब नहीं किया। चढ़ा हुआ ब्याज भी ग्रहण नहीं किया। अतः आज प्रातःकाल होने पर मुझे उसके घर जाना चाहिए। जाकर चढ़े हुए ब्याज का लेखा करके मूल द्रव्य में मिलाकर पुनः नया खाता करवाऊँगा। उसके बाद ही अन्य कार्य में प्रवृत्त होऊँगा।" इस प्रकार की लोभ–युक्त जागरणा के साथ रात्रि व्यतीत करके प्रभात होने पर वस्त्र पहन कर चतुष्पथ पर गया।

तब बाजार में स्थित लोग परस्पर में बातें करने लगे–"हे अमुक! तुम्हे कौतुक दिखाता हूँ।"

उसने पूछा–"कौन सा कौतुक?"

तब पहले व्यक्ति ने कहा–"देखो! यह दरिद्रता की मूर्ति–स्वरूप ब्राह्मण जाता है। बताओ कि इसके पास धन होगा या नहीं?"

पहले व्यक्ति ने कहा–"इस बिचारे के पास धन कहाँ से हो सकता है? भिक्षा–वृत्ति के द्वारा कैसे भी निर्वाह करनेवाला दिखाई देता है। इसके पास धन कहाँ से आयेगा? धनिक का मुख क्या छिपा रहता है।"

तब बाजार के स्वामी ने हँसकर कहा–"हे भाई! इस प्रकार के दिखनेवाले इस ब्राह्मण के पास लाखों की संख्या में विपुल धन है। इस नगर में इसके समान धनी कोई नहीं है। समस्त नगर–जन इसे पहचानते हैं, पर कोई भी शुभ कार्य में इसका नाम भी नहीं लेता। इस प्रकार का यह कृपण–शिरामणि है।"

उसकी यह बात सुनकर उसे नहीं जाननेवाले लोग मुख में अंगुली डालकर सिर धुनने लगे–"अहो! इस अपरिमित धन के स्वामी का स्वरूप तो देखो। धन का क्या करेगा? इसके जन्म को धिक्कार है। इसने अपना नर–भव हार दिया है। आयुष्य पूर्ण होने पर यह तो चला जायेगा, पर इसका धन यहीं रह जायेगा। पूर्व में भी धन किसी के साथ नहीं गया, न वर्तमान में जाता है, न भविष्य मे जायेगा।"

इस प्रकार बाजार में हर–कोई विप्र को देखकर बातें करने लगा। पर अपने ही ध्यान मे लीन वह ब्राह्मण महानगर से देवभद्र श्रेष्ठी के घर पहुँचा। श्रेष्ठी के गृह–द्वार पर स्थित सेवकों ने उसे रोका–"हे विप्र! आप यहीं पर रुकिए। मैं अपने स्वामी को बताता हूँ।"

यह कहकर सेवक ने देवभद्र के पास जाकर कहा–"स्वामी! एक दरिद्रमूर्ति ब्राह्मण आपसे मिलना चाहता है।"

श्रेष्ठी ने कहा–"कोई दानार्थी आशा को धारण करके आया होगा। अतः उसे जो चाहिए, वह देना चाहिए, क्योंकि–

सति सामर्थ्ये निराशवालने महत् प्रायश्चित्तम्।

अर्थात् सामर्थ्य होने पर उसे निराशापूर्वक वापस लौटाना महान प्रायश्चित्त का कारण है। स्व–शक्ति के अनुरूप उसे दूँगा। अतः मना मत करो।"

इस प्रकार स्वामी के निर्देश को प्राप्त करके उसने विप्र को कहा–"सुखपूर्वक अंदर जाओ।"

विप्र ने चिन्तन किया–"किस प्रकार का व्यापारी है, जो राज–द्वार की तरह रोकता है। ये सेवक द्वार पर रहकर क्या करते हैं? इनसे तो धन का निरर्थक व्यय होता है। क्या यहाँ चोर का भय है? क्या यहाँ धाड़ पड़नेवाली है? जो कि इन्हें यहाँ स्थापित किया गया है। निश्चय ही यह अनीति के प्रवर्तन से थोड़े ही दिनों में निर्धन हो जायेगा–ऐसा दिखायी पड़ता है।"

इस प्रकार विचार करते हुए वह अंदर के आस्थान में प्रविष्ट हुआ। वह आस्थान किस प्रकार का था–

प्रत्येक खम्भे की दीवार पर विविध प्रकार के विशिष्ट चित्र अंकित थे, जो कि अनेक आश्चर्यो से युक्त एवं सारे द्रव्य के साथ साध्य थे। चीनांशुक से विनिर्मित चन्द्रमा के उदय से शोभित थे। चित्रों में अत्यधिक प्रफुल्लित केदार के पुष्पों की नकल दृष्टि को व्यामोहित करती हुई विस्तीर्ण थी। अति मृदु गुण से युक्त शारीरिक अवयवों के सहारे से सुखद रूप से ऊँची उठी हुई दीवारें चारों ओर शोभित थीं। अनेक सुर, असुर, नर, किन्नर, विद्याधर, हाथी, घोड़े, हँस, सारस, मयूर, चकोर, कबूतर, वनलता, पद्मलता आदि की प्रमुखतावाले विचित्र चरित्रों से दिवारें चित्रित थीं। सोने व चाँदी के बने हुए मसि–पात्र व पान–दानियों से वहाँ का भू–प्रदेश शोभित था। सभी प्रकार से वह भवन राजा के महल का अनुकरण करता था।

यह सब देखकर विश्वभूति चिंता करने लगा–"अहो! निष्प्रयोजन धन का व्यय करनेवाला यह कैसा व्यापारी है? यह तो कोई उड़ाऊ व्यक्ति प्रतीत होता है। इस प्रकार निरर्थक व्यय करने से घर में कितने दिनों तक लक्ष्मी रहेगी? यह तो थोड़े ही दिनों मे निरर्थक व्यय करके निर्धन हो जायेगा। लोगों को यह क्या देगा? इस प्रकार की व्यवस्था तो राज–द्वार में घटित होती है, जहाँ सहज वृत्ति से धन आता रहता है। साहुकार को तो नीति द्वारा प्रवर्त्तन करना ही श्रेष्ठ है। मेरा तो भाग्योदय हुआ है, जो कि इस प्रकार की बुद्धि पैदा हुई है। मैंने यहाँ आकर अच्छा ही किया। अब मैं इसके पास से मूलधन व ब्याज लेकर अन्य किसी नीतिवादी के घर में दूँगा।"

इस प्रकार आस्थान द्वार पर स्थित जब वह चिन्ता कर रहा था, तभी देवभद्र श्रेष्ठी ने उसे देखा। श्रेष्ठी भी आसन से उठकर उसके सम्मुख गया–"आइए ब्राह्मण श्रेष्ठ! अपने पाँवों को यहों विश्राम दीजिए। इस आसन को अलंकृत कीजिए।" इत्यादि शिष्टाचार–पूर्वक अपने आसन के बराबर आसन पर उसे सम्मान–पूर्वक बैठाया, क्योंकि–

द्विजो निर्गुणोऽपि कृपणो धनी सर्वत्र मानमाप्नोति।

ब्राह्मण गुण–रहित और धनी कृपण होने पर भी सर्वत्र सम्मान को प्राप्त होता है। कहा भी है–

सर्वत्र सेव्यते लोकैः धनी च कृपणो यदि।
स्वर्णाचलस्य परितो भ्रमन्ति भास्करादयः।।

अर्थात् धनी कृपण होते हुए भी सर्वत्र लोगों द्वारा सेवित होता है। स्वर्णमय सुमेरु–पर्वत के चारों ओर सूर्यादि परिभ्रमण करते हैं।

सुख–क्षेम आदि की वार्त्ता पूछकर आने का प्रयोजन पूछने पर द्विज ने कहा–"पूर्व में मैंने आपके पास धन स्थापित किया था। अब कुछ जरूरी कार्य आ पड़ा है, अतः वह सारा धन ग्रहण करने के लिए आया हूँ। कृपया ब्याज सहित मेरा धन प्रदान कर दीजिए।"

तब श्रेष्ठी ने कहा–"अच्छी बात है, लेखा–जोखा करके ब्याज सहित अपना सारा धन ग्रहण कीजिए।"

इस प्रकार कहकर बड़े लेखाकार को बुलाकर कहा–"इन ब्राह्मण श्रेष्ठ के धन का लेखा–जोखा करके ब्याज सहित इनका धन इन्हें दिया जाये। विस्तारपूर्वक इनका लेखा किया जाना चाहिए। एक कौड़ी–मात्र धन भी इनके धन में से कम नहीं होना चाहिए, ब्राह्मण को धन देना तो श्रेष्ठ है, पर उनसे लेना श्रेष्ठ नहीं है।"

लेखाकार ने भी विशद–रीति से लेख्यक करके, वह हिसाब द्विज को सुनाकर उसके आगे धन का ढ़ेर लगा दिया। ब्राह्मण भी उस धन को लेने लगा, इतने में श्रेष्ठी ने कहा–"द्विजवर! पिछला दिन थोड़ा ही शेष है। आपका घर तो बहुत दूर है। धन लेकर जाते हुए तो रात हो जायेगी। रात्रि में आपका धन लेकर जाना युक्त नहीं है। अतः आज की रात आप ही यहीं रुक जाइए। सवेरा होने पर आप सुखपूर्वक चले जाना। अतः आप अपनी इच्छित भोजन सामग्री ग्रहण करें। हमारे घर की वाटिका में रसोई बनाकर भोजन करके हमें पवित्र करें।"

सेठ के इस प्रकार कहने पर द्विज ने भी सहमति दे दी। वह हर्षित हो गया कि धन भी प्राप्त हो गया और स्वेच्छा से भोजन भी मिल गया।

तब सेवक उसे घर की वाटिका में लेकर गया। इच्छा से भी अधिक आटा, घृत, शक्कर आदि विविध व्यंजन, धान्य, दाल, दूध आदि सामग्री उसे दी गयी। द्विज स्नान करके रसोई बनाता हुआ विचार करने लगा–"मैं तो अकेला हूँ और इतनी सारी सामग्री लाकर रखी गयी है। इस प्रकार अनीति से धन व्यय करेगा, तो थोड़े ही दिनों में यह निर्धन हो जायेगा। इसलिए मैंने जो किया, वह ठीक ही किया।"

इस प्रकार विचार करते हुए रसोई बनाकर यथेच्छा भोजन करके रात्रि के प्रथम प्रहर में आकर सेठ के समीप बैठ गया। श्रेष्ठी ने ही अपने सेवक को आज्ञा दी–"घर की ऊपरी भूमि पर मेरे शयन–कक्ष में मेरे पलंग के पास ही भव्य पलंग सजाकर पंडित जी को सोने के लिए दो।"

सेवक ने वैसा ही करके सेठ को आकर के सूचना दी। तब श्रेष्ठी ने ब्राह्मण से कहा–"दूर से आने के कारण आप थक गये होंगे। अतः ऊपरी भूमि पर आप सुखपूर्वक सो जायें। समय होने पर मैं भी सोने के लिए वहीं आ जाऊँगा। फिर हृदय में रही हुई वार्ता एकान्त में करेंगे।"

यह सुनकर द्विज ऊपर जाकर शय्या पर बैठा। इधर–उधर देखते हुए देवविमान के सदृश शय्या को देखकर पुनः विह्वल हो गया।

पंलग के ऊपर पुष्प–मालाओं का जाल गूँथा हुआ था। उसके ऊपर स्वर्णमय धागे से निष्पन्न वस्त्र का चन्दोरबा शोभित होता था। दीवारों पर पुरुष–प्रमाण दर्पण चारों और शोभा को धारण करते थे। छत आदि में चित्त को रंजित करनेवाली, विविध प्रदेशों में उत्पन्न अति निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित स्वर्ण, चाँदी तथा

काष्ठमय पुतलियाँ इस प्रकार की थीं, जो राजमहलों में भी नहीं होती। शय्या के चारों और कृष्णगुरु, कस्तुरी, अम्बर, तुरुष्क–प्रमुख धूप–द्रव्यों को चाँदी की घटिकाओं में डालकर जगाया गया था। उन धूपों का धूम्र चारों ओर महक रहा था। आम्र, चन्दन अत्तर आदि से विचित्र किये हुए वस्त्रादि की सुरभि इधर–उधर परिभ्रमण कर रही थी। जहाँ–तहाँ सोने–चाँदी आदि की फूल–दानियाँ आदि पात्रों को पड़ा हुआ देखकर द्विज के हृदय में बहुत चिन्ता उत्पन्न हुई।

वह विचारने लगा–अहो! इसकी मूर्खता! क्यों इस प्रकार की चीजों में हजारों का द्रव्य खर्च किया? यह रचना किस कार्य में काम आयेगी? इन चीजों को लेने में जितना द्रव्य लगता है, बेचने पर तो उसका चौथा भाग भी नहीं मिलता। बहुत सारा द्रव्य खर्च करने पर यह सेटक प्रमाण अगुरु प्राप्त होता है, जिसे अग्नि में डालकर यह राख बना डालता है, तो फिर हाथ में क्या आता है? यह पुष्पों का समूह प्रभात होते ही फेंकने योग्य हो जाता है। ये दर्पण हजारों का मूल्य देने से प्राप्त होते हैं, पर सहज ही किसी के भी संघट्टन से चूर–चूर हो जाते हैं। कौड़ी–मात्र भी दाम इसके चूर्ण का नहीं मिलता। यह मूर्ख इस प्रकार का पागलपन क्यों करता है?

इस प्रकार उसके चिंता करते हुए प्रहर रात्रि बीत गयी। श्रेष्ठी भी सोने के लिए ऊपर आया।

ब्राह्मण को जागते हुए देखकर पूछा–"द्विजवर! अभी तक जाग रहे हो? सोये क्यों नहीं?"

द्विज ने कहा–"चिंता के कारण नींद नहीं आयी।"

श्रेष्ठी ने पूछा–"किसकी चिंता?"

विप्र ने कहा–"आपकी चिंता।"

श्रेष्ठी ने चौंककर पूछा–"मेरी चिंता?"

विप्र ने कहा–"हाँ। तुम्हारे धननाशक आचरण को देखकर बहुत चिंता होती है।"

श्रेष्ठी ने पूछा–"वह आचरण क्या है?"

द्विज ने कहा–"जो तुम अनर्थक व्यय करते हो।"

श्रेष्ठी ने पूछा–"वह कैसे?"

द्विज ने कहा–"यह पुष्पों का समूह एक प्रहर तक भोगने योग्य है। उसके बाद फेंकने योग्य हो जायेगा।" इत्यादि जो–जो पूर्व में सोचा था, वह सभी श्रेष्ठी को बता दिया। इसलिए मुझे चिंता होती है कि इस प्रकार करते हुए भविष्य में आपकी क्या गति होगी?

श्रेष्ठी ने उसकी पूरी बात सुनी, फिर हँसकर कहा–"द्विजवर! आप जैसे वृद्ध, शास्त्रज्ञ तथा हेय–उपादेय को जाननेवाले को इस प्रकार की विपरीत बुद्धि

कैसे पैदा हुई?''

विप्र ने कहा–''क्यों?''

तब श्रेष्ठी ने कहा–''सुनिए! क्या लक्ष्मी अपनी शक्ति से ठहरती है या धर्म की शक्ति से? यदि आत्म बल से रहती है, तो लोक में सभी धनार्थी बहुत ही कृपण होंगे। प्रतिदिन थोड़ा रांधनेवाले होने से द्रव्य का व्यय नहीं करेंगे। तब उनके घर में लक्ष्मी स्थिर रहनी चाहिए–यही योग्य जान पड़ता है। पर ऐसा दिखायी नहीं पड़ता। धर्म–बल से प्राप्त लक्ष्मी पुनः धर्म से जोड़ी जाये, तभी वृद्धि को प्राप्त होती है। जैसे कि जल में उगा हुआ वृक्ष पुनः जल–सिंचन से वृद्धि को प्राप्त होता है। पूर्व में कृत पुण्य–बल से प्राप्त लक्ष्मी पुनः पुण्य से बढ़ती है। ये भोग तो उसके आनुषांगिक फल है। जैसे–जल से सींचा जाता हुआ वृक्ष तो अखण्ड रहता है, उसमें फल आदि का प्राप्त होना उस वृक्ष का अनुषांगिक फल है। वृक्ष तो अखंड पुण्य–स्वरूप ही है। इसी प्रकार धर्म में भी जानना चाहिए।

जिस प्रकार कुएँ से जल निकाले जाने पर भी वह क्षय को प्राप्त नहीं होता। अगर नहीं निकाला जाता, तो वृद्धि को भी प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार धर्म से प्राप्त लक्ष्मी दान–भाग आदि में योजित किये जाने पर भी क्षय को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती ही है। इसमें कोई शक नहीं है। सभी दर्शनों तथा सभी शास्त्रों का एक ही कथन है। उन शास्त्रकारों से हम ज्यादा ज्ञानी नहीं है। अतः धर्म को मुख्य व्यवहार जानना चाहिए। भोग तो उसका आनुषांगिक फल है। अतः हे प्रियवर! विपरीत बुद्धि छोड़कर धर्म में रति करो।''

यह कहकर श्रेष्ठी तो अपनी शय्या पर गया और निद्रा के अधीन हो गया।

द्विज तो संदेश के झूले में पड़कर चिंता करने लगा – ''धर्म व पुण्य से लक्ष्मी बढ़ती है–यह सभी शास्त्र कहते हैं, तो भी मिथ्या क्यों कहते हैं? खर्च करने पर तो सारा धन खर्च हो जाता है। कोई भी उसका रक्षक दिखाई नहीं देता।

इस प्रकार ध्याते हुए अर्ध–रात्रि के समय एक सुन्दर–श्रेष्ठ तरुणी द्वार खोलकर कक्ष के अंदर आयी। समस्त वस्त्रालंकार से भूषित दिव्य–रूपवाली वह ब्राह्मण द्वारा देखी गयी। वह सोचने लगा–''अहो! यह सेठ मुझे तो धर्म का उपदेश देता है, पर इस प्रकार का पर–स्त्री–गमन का कार्य करता है। यह पराई स्त्री किसी भी प्रकार के पूर्व के संकेत से आयी है। इसकी पत्नी को तो मैं पहचानता हूँ, यह तो वह नहीं है। यह तो कोई पर–दारा है। यह श्रेष्ठी तो मासाहस पक्षी के तुल्य दिखायी देता है। इसके वचन में क्या प्रतीति? देखता हूँ,

क्यों आयी है? क्या करती है? मेरी मर्यादा करती है या नहीं? अथवा तो दोनों ही निर्लज्ज है? मैं यह कौतुक देखता हूँ।''

तब उस स्त्री ने श्रेष्ठी के पलंग के चारों और घूमकर श्रेष्ठी के उत्तरीय पल्ले को धूप की घटिका में गिरा हुआ देखकर शीघ्र ही उसमें से निकालकर हाथ से मसलकर उसकी आग बुझाकर रख दिया। फिर घटिका को थोड़ा दूर रखकर सभी वस्तुएँ सुव्यवस्थित करके वापस लौटने लगी।

विप्र ने विचार किया–''किस कारण से आयी थी? श्रेष्ठी को भी नहीं जगाया। केवल पलंग का चक्कर लगाया। क्या मुझे देखकर लज्जित हो गयी?'' इस प्रकार विचार करने लगा।

जब वह विप्र के पलंग के पास से गुजरी, तो विप्र ने उसका आँचल पकड़कर पूछा–''तुम कौन हो? किस कारण से आयी थी? जैसे आयी, वैसे ही क्यों जा रही हो? क्या मेरे कारण से तुम्हे अंतराय हुई?''

विप्र के इस प्रकार के वचनों को सुनकर वह कुछ कुपित होती हुई बोली–''हे मूर्खशेखर! पागलों की तरह क्या असंबद्ध प्रलाप करते हो। इस पुण्यवंत श्रेष्ठी के घर की मैं लक्ष्मी हूँ। श्रेष्ठी की सार–सम्भाल के लिए मैं आयी थी। इसके उत्तरीय–वस्त्र को धूप–घटिका में जलता हुआ देखकर मैंने आकर उसके पल्ले को बुझाया और अब जा रही हूँ। इसमें तुम्हें क्या दुःख है?''

विप्र ने कहा–''मेरे घर में भी तुम प्रचुर–मात्रा में रहती हो, फिर मेरी सेवा क्यों नहीं करती? मेरी सार–सम्भाल क्यों नहीं करती? क्या केवल इसी पर तुम्हारी भक्ति है?''

लक्ष्मी ने कहा–''हे निर्गुण शिरोमणि! इस सेठ ने पूर्व–जन्म में आगम में कहे हुए के अनुसार त्रिकरण–शुद्धि से दान–पुण्य आदि किया। इस प्रकार पुण्यानुबंधी पुण्यवाले इस सेठ की मैं दासी रूप परिचारिका हूँ। विवेक रहित अज्ञान कष्टकारी पापानु–बंधी पुण्यवाले तुम हो, अतः मैं तुम्हारी स्वामिनी हूँ। तुम तो मेरे दास के भी दास हो। किंकर के ऊपर कैसी भक्ति?''

विप्र ने कहा–''हे लक्ष्मी! इसके व मेरे ऊपर इस प्रकार का पक्षपात क्यों रखती हो? इसने तुम्हे क्या दिया और मैंने तुम्हारा क्या चोरी कर लिया? इस प्रकार मनुष्यत्व रूपी समानता होने पर तुम्हारा पँक्ति–भेद घटित नहीं होता। मैं तो तुम्हारी यत्नपूर्वक रक्षा करता हूँ। यह तो तुम्हारा जैसे–तैसे, जहाँ–तहाँ व्यय करता रहता है। फिर भी इस पर तो तुम्हारा स्नेह है और मुझसे तुम पराङ्मुख रहती हो। बोलो, इसका क्या कारण है?''

लक्ष्मी ने कहा–''हे अज्ञ शिरोमणि! पश्चात्–बुद्धि! इसके द्वारा शुद्ध श्रद्धायुक्त

होकर विनय सहित, दया सहित, नय सहित, विवेक सहित, हर्षपूर्वक, उल्लास–पूर्वक एक ही शरण रूप, विष–गर –अन्योन्य अनुष्ठान रहित, निदान रहित श्रीमद् जिनधर्म आराधित है, जिसकी अतुल फल–लब्धि है। इस भव में भी दान–पुण्य आदि विशिष्ट कार्यों में अहर्निश द्रव्य व्यय करता है। धर्म की ईहा को कभी नहीं छोड़ता। भोग तो पूर्वकृत धर्म के आनुषांगिक फल होने से इसके द्वारा भोगे जाते हैं। इसी सुगंध के समान अनुषांगिक फल होता है। अतः मैं पूर्व जन्म में दोष रहित धर्म बल से आत्मसात की गयी हूँ। पुनः इस भव में भी दान, पुण्य, विनय, लज्जा, दाक्षिण्य, आर्जव आदि गुणों से नियंत्रित होकर इसकी सेवा भक्ति करती हूँ। शास्त्र में भी कहा गया है–

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः।
विभवो दानशक्तिश्च सदाज्ञा तपसः फलम्।।

भोज्य पदार्थ होने पर भोजन की शक्ति, श्रेष्ठ स्त्रियाँ होने पर रति शक्ति, वैभव होने पर दान शक्ति–ये सभी सद् आज्ञा में किये गये तप के फल होते हैं।

तुम्हारे द्वारा तो पूर्वजन्म में केवल निर्दयता, निर्विवेकता से अज्ञान कष्ट करके पापानुबंधी पुण्य उपार्जित किया गया है, जिसके उदय से पाप मति ही तुम में रहती है, क्योंकि दोष सहित किये गये कष्ट के फल के द्वारा दोष सहित ही वैभव प्राप्त होता है। इस जन्म में पुनः लोभ से अभिभूत असत्य भाषण आदि पाप–स्थानों का सेवन करने से, वैभव प्राप्त करके भी बिना दिये, बिना खाये नरक आदि में जाता है। कदाचित् सत्संगति करने में दानादि की मति होती भी है, तो भी कोई न कोई अंतराय आ ही जाती है, जिसमें उत्पन्न मति भी नष्ट हो जाती है। दान करने के लिए समर्थ नहीं होता।

जैसे–कोई कंजूस, निर्दयी पुरुष धन की लालसा से तथा महत्वाकांक्षी होने से बहुत कष्ट सहन करके भी एकाग्रता से राजा की सेवा करता है। बहुत दिनों बाद राजा ने जाना कि यह मेरी अहर्निश सेवा करता है। मेरे लिए कष्ट सहन करता है। अतः इसकी सेवा के फल के रूप में कोई भी अधिकार इसे दे दूँ।

पुनः राजा ने विचार किया कि इसे क्या अधिकार दिया जाये? तब राजा ने चतुर बुद्धि से विचार किया–क्योंकि यह सेवा में दृढ़ है, पर कृपण और निर्दयी भी है। अतः इसे भाण्डागार का पद देना चाहिए। यह कृपण होने से द्रव्य का व्यय नहीं करेगा। दापित होने पर भी शीघ्र ही नहीं देगा। अतः इसी को ही यह अधिकार देना चाहिए, अन्य कोई इस पद के लिए योग्य नहीं होगा। इस प्रकार विचार करके राजा ने उसे भाण्डागारिक बना दिया।

राजा जिस किसी को भी धन देने के लिए कहता, वह निर्दयी होने से उसे धन नहीं देता था। धन के बदले उल्टे वह उसे कष्ट देता था। राजा के सामने उसके दोषों को कहकर राजा द्वारा उस पर क्रोध करवाता था। अगर कोई पुनः राजा के समीप जाते, तो राजा की दृष्टि कोपयुक्त देखकर सभी मौन होकर रह जाते थे। किसी–किसी को थोड़ा धन देकर बही में पूरा लिख देता था। इस प्रकार से समय बीतने के साथ ही बहुत से लोग एवं राजकीय कर्मचारी उसके दुश्मन हो गये थे।

एक बार राजा के अधिकारियों को घोड़े पर बैठे हुए देखकर भाण्डागारिक सोचने लगा–मैं भी राज्याधिकारी हूँ। अतः मैं भी घोड़े पर आरूढ़ होकर महान विभूति से युक्त होकर चतुष्पथ पर जाऊँ। इस प्रकार विचार करके घुड़सवारी करते हुए सुखासन पर आरूढ़ होकर महान विभूति के साथ चलने लगा। उसकी अश्वचारिका देखकर सभी राजकीय लोग क्रुद्ध हो गये। अवसर पाकर राजा के आगे कहा–"आपका धन यह स्वेच्छा से व्यय करता है।" और भी शिकायतें की।

राजा ने उसे बुलाकर पूछा–"इनका द्रव्य क्यों नहीं देते?"

तब उनके दोषों को प्रकट करते हुए कहने लगा–"यह तो बहुत खाता है, इसे क्या देना?"

यह सब सुनकर राजा ने कहा–"अहो! मेरे द्वारा आदेश दिये जाने पर भी यह नहीं देता है, बल्कि चुगली करता है, तो अन्यों को तो यह निश्चय ही दुःखदायक होगा।"

राजा के इस प्रकार कहे जाने पर सभ्यों द्वारा भी खेदित होकर वैसा ही कहा गया। तब राजा ने क्रुद्ध होकर उसका सर्वस्व लेकर देश से निकाल दिया।

इसी प्रकार हे द्विज! तुम्हारे द्वारा भी निर्दय, निर्विवेक तथा दूषण सहित कष्टतर तपस्या किये जाने पर कर्म परिणाम रूपी राजा ने पापानुबंधी पुण्यवाले तुमको मुझ रूपवाली लक्ष्मी के रक्षक रूपी भाण्डागार की तरह नियुक्त किया है। अतः तुम धन–रक्षक बनकर दान, भोग आदि के द्वारा धन का उपभोग करते हो, तो मैं और कर्म–परिणाम रूपी राजा कुपित हो जायेंगे। अतः द्रव्य–रक्षक के रूप में तुम मेरे किंकर हो। श्रेष्ठी के रूप में तुम्हारी तुलना कैसे हो?"

इस प्रकार के लक्ष्मी के कथन को सुनकर द्विज ने कहा–"हूँ! तुम्हें स्थिर करने का रहस्य मैंने जान लिया है। जो मैं पापानुबंधी पुण्य का स्वामी हूँ, तो पुण्य जब तक खर्च नहीं होता, तब तक तुम मेरे घर में हो। तब क्या चिंता है? आज ही प्रभात में दान–भोग आदि की निश्चित रूप से प्रवृत्ति करके मैं भी

तुम्हे दासी रूप बना लूँगा।''

लक्ष्मी ने कहा–''अपना मुख तो देखो। भारवाहक को उठाने के लिए दी गयी गाँठड़ी क्या भारवाहक की हो जाती है? हे मूर्ख–शिरोमणि! पूर्व–जन्म में किये गये शुद्ध–धर्म से, लक्ष्मी आदि अनुकूल होने से ही दान–भोग आदि करना शक्य होता है, अन्यथा नहीं। अगर तुम हर्षित होकर दान–भोग आदि करोगे, तो मैं तुम्हारे नौ अंगों में डाम दूँगी। इसे तुम सत्य ही मानना।''

विप्र ने कहा–''मेरे द्वारा उपार्जित द्रव्य मैं ही दान–भोग आदि में खर्च करूँगा, मुझे कौन मना कर सकता है? इससे तो बल्कि मेरी यश–शोभा में वृद्धि ही होगी।''

लक्ष्मी ने कहा–''इस प्रकार की इच्छा कदापि न करना, क्योंकि कर्म–फल रूपी राजा की आज्ञा का तीन जगत में कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। जो तीन जगत के स्वामी हैं, वे जगत ध्वंसन के रक्षण में तो समर्थ हैं, पर अनन्त बल से युक्त तीर्थंकर भी कर्म परिणाम के अनुकूल ही प्रवृत्ति करते हैं। वे भी भोग का उदय होने पर भोगों को भोगकर ही कर्म परिणाम के अनुकूल दान देकर व्रत ग्रहण करते हैं। अतः तुम कर्म परिणाम रूपी राजा के प्रतिकूल होकर कितनी–मात्रा में दान व भोग करोंगे? फिर भी अगर करोगे, तो मैं तुम्हारे नौ अंगों में डाम दूँगी।''

विप्र ने कहा–''जाओ–जाओ! तुम से जो बने, वो कर लो।''

लक्ष्मी ने कहा–''तो फिर ठीक है, ऐसा ही हो जाये। जो तुम्हे रुचे, वही करो।'' यह कहकर लक्ष्मी चली गयी।

वह पलंग पर सोये–सोये विचार करने लगा–''प्रभात होने पर कुछ परिमाण में धन लाकर उदार वृत्ति से जिस प्रकार यह श्रेष्ठी त्याग और भोग करता है, उसी प्रकार उससे भी ज्यादा करूँगा। धन तो मेरे पास इससे भी अधिक है। अतः देशान्तर में जिस प्रकार यश का प्रचार हो, वैसा ही करूँगा।

इस प्रकार विचार करते हुए रात्रि बिताकर प्रभात में सेठ के पास से पाँच हजार रूपये लेकर एक कर्मचारी के द्वारा बहुत सारा द्रव्य खर्च करके भव्य व नवीन वस्त्र मँगवाकर, उन्हें धारण करके अंग–उपांग आदि में आभूषणों को धारण करके मार्ग में जाते हुए दीन–हीन याचकों को मुट्ठी भर–भर कर दान देने लगा। याचक भी आश्चर्य–चकित रह गये–अहो! आज तो महान आश्चर्य है कि विश्वभूति दान दे रहा है।

इस प्रकार लोग हजारों की संख्या में मिलकर कहने लगे कि हे मित्रों! दौड़ो–दौड़ो। आओ, कौतुक दिखाता हूँ। लोग दौड़ते हुए आये। इस प्रकार

चौराहे–चौराहे पर लोगों के टोले के टोले आश्चर्य को प्राप्त हुए। इस विश्वभूति को क्या हुआ? जो दान के नाम से भी काँपता था, वह आज अगणित द्रव्य दान में दे रहा है।

इस प्रकार थोड़े ही समय में नगर–भर में बात फैल गयी। लोगों ने पहले तो सुनकर विश्वास नहीं किया। पर जब देखा, तो आश्चर्य को प्राप्त हुए।

कुछ अति परिचित लोग पूछने लगे–हे विश्वभूति! तुम्हें क्या हुआ? पहले कभी दान का अनुभव ही नहीं किया, तो अब कैसे दान का मनोरथ उत्पन्न हुआ?

द्विज ने कहा–भाई! इतने दिनों तक अविद्या तथा विपर्यास से ज्ञात नहीं हुआ। अब तो शास्त्र के परिचय से रहस्य पा लिया है। दान–भोगादि के बिना लक्ष्मी नरक–प्रदायिनी है, उभय लोक से भ्रष्ट करती है। अतः दान दे रहा हूँ।

कुछ ही क्षणों में ये सारी बातें कुछ लोगों ने उस द्विज के पुत्रों से कही–अरे! सुनो। तुम्हारे पिता खूब दान दे रहे हैं।
तब उसके पुत्रों ने कहा–''भाई! क्यों मजाक करते हो? पता नहीं, किस दुष्ट कर्म से हमारा सम्बन्ध हुआ है? क्या किया जाये? सम्पूर्ण त्याग, भोग आदि का संयोग प्राप्त होने पर भी हम दारिद्र्य भाव से व्यवहार करते हैं। तुम पुनः क्यों हमारा पेट जला रहे हो?''

उस व्यक्ति ने कहा–''नहीं–नहीं। मैं खुद देखकर आ रहा हूँ।'' इसके बाद किसी दूसरे ने भी इसी प्रकार कहा। फिर तीसरे ने भी कहा। तब आशंकित होते हुए पुत्रादि पिता के सम्मुख गये। जैसा सुना था, वैसा ही देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए?

पिता को कहने लगे–''हे पुत्रों! मैंने अब जाना है कि लक्ष्मी नरक–प्रदायिनी है। इसलिए यथा इच्छा भोगों को भोगूँगा। दान दूँगा। इतना काल मैंने व्यर्थ ही गँवा दिया। तुम लोगों के लिए भी मैं अन्तराय–कारक बना। अब तुम लोग भी द्रव्य ग्रहण करो और यथा–इच्छा सुख में रमण करो।

उस महा–कृपण को इस प्रकार बोलते हुए तथा मुट्ठी भर–भर कर दान देते हुए देखकर समस्त स्वजनों तथा परिजनों ने कहा–''निश्चय ही इस पर भूत का आवेश हुआ है, जिससे यह असंबद्ध प्रलाप करता है एवं द्रव्य विकीर्ण करता है। इसे घर ले जाकर कुछ भी मंत्रादि औषध करो, जिससे यह स्वभाव में स्थित हो जाये।''

सभी एक होकर उसे घर ले गये, तो पत्नी को भी इसी प्रकार बोलने लगा–''हे मुग्धे! यह दरिद्र–वेष त्यागो। अच्छे–अच्छे वस्त्र–आभूषण धारण करो।''

वह भी चकित हुई। इन्हें क्या हो गया? क्यों असंभव बातें बोल रहे हैं।

तब किसी पढ़े–लिखे व्यक्ति ने कहा–"इस पर प्रेत का आवेश है या फिर किसी वायु आदि की विकृति से जल स्फुरित हो रहा है। अतः इसके प्रच्छन्न रूप से नौ बार तप्त शलाका द्वारा नौ ही अंगों में डाम दो, जिससे यह स्वभावस्थ हो जायेगा। नहीं तो इसकी विकृति की वृद्धि होती जायेगी। इसका यह रोग असाध्य हो जायेगा। अतः शीघ्रता करो।"

पुत्र आदि द्वारा वैसा ही किया गया। स्वजनों ने उसे हाथों से गाढ़ रूप से पकड़ लिया। किसी अन्य द्वारा नौ अंगों में नौ डाम दिये गये।

तब किसी ने कहा–"ऐसा करने पर अगर स्वस्थ न हो, तो फिर क्या करना चाहिए?"

तब एक व्यक्ति ने कहा–"बेड़ी में बाँधकर एक अंधकार–मय कोटड़ी में डालकर इक्कीस दिनों तक भूखा रखना चाहिए।"

विप्र ने जाना–"कार्य हो गया। अगर मैं आग्रह का त्याग नहीं करूँगा, तो बेड़ी में बाँध दिया जाऊँगा। देव–वचन अन्यथा नहीं होते।"

इस प्रकार विचार कर वाचालता का परित्याग करके कपट मूर्च्छा को प्राप्त हुआ। चार घड़ी मौन करके बाद में कष्टपूर्वक जागृत होकर पुत्रों को पूछा–"ये लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं? मैंने आभूषण आदि क्यों पहन रखे हैं?"

पुत्रों ने कहा–"तात! आप पर किसी भूत अथवा वात आदि का प्रकोप हो गया था। आपने तो दो हजार रूपये व्यर्थ कर दिये।"

यह सुनकर वह कपट–पूर्वक हाहाकार करने लगा–"हाय! हाय! यह क्या हो गया? इतने रूपये वापस कैसे मिलेंगे?" इस प्रकार दुःख करने लगा।

तब सभी ने कहा–"अब यह स्वभावस्थ हो गया है।" वह कृपण भी पुनः पहले के समान रहने लगा।

इसलिए दान की मति भी पालना सुलभ नहीं है। यदि पुण्यानुबंधी पुण्य होता है, तो उसके उदय में ही पात्र–दान की मति होती है, अन्यथा नहीं। अतः भव्यों को सुपात्र–दान में आदर करना चाहिए।

पात्र–दान की विधि इस प्रकार है–जो पुरुष उत्साह–पूर्वक, उदारता से समस्त राजलक्ष्मी के निदानपूर्वक सुपात्र–दान देता है, वह धन्यात्मा धन्यकुमार के समान जगत–प्रशंसनीय सम्पदा को प्राप्त करता है। जो पुरुष निःसत्व दान देकर भी बाद में पश्चात्ताप करते हैं, वे पुरुष परभव में दुःखी होते हैं, लक्ष्मी–विहीन होते हैं। जैसे कि धन्यकुमार के तीनों बड़े भाई हुए। उन तीनों का तथा **धन्यकुमार का चरित्र प्रारम्भ किया जाता है–**

इस भरत क्षेत्र के दक्षिण दिशा भाग में कल्याण–श्री, ऋद्धि–समृद्धि के

गुरु–स्थान को प्राप्त नर–रत्नों का प्रतिष्ठान– स्वरूप श्री प्रतिष्ठानपुर नामक नगर था। उस नगर के परिसर में गोदावरी नामक नदी बहती थी। उस विषय में कवि उत्प्रेक्षा करता है–मैं मानता हूँ, कि गोदावरी नदी के जल में अनेक स्वर्ण, रत्न, अलंकार आदि से युक्त नारियाँ स्नान के लिए आती हैं। जल–क्रीड़ा करते हुए उनके कण्ठ आदि अंगों से परिच्युत होकर नदी के प्रवाह से प्रवाहित रत्नों द्वारा ही समुद्र का नाम रत्नाकर प्रसिद्ध हुआ।

उस नगर में प्रचण्ड काँति के गुणों से युक्त जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। जिसकी आज्ञा के भय से शत्रुओं द्वारा प्रीति से मित्रों के प्रियकर व्यवहार किया जाता था। उस भूपति की तलवार की नयी–नयी धार मानो धारा–प्रवाह मेघ से प्रकटित थी। जिस प्रकार प्रचण्ड मेघ की धारा में पर्वत भी पृथ्वी–तल में निमग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार उसके मार्ग को रोकनेवाले पर्वत के समान प्रचण्ड शत्रु भी उसके प्रताप रूपी समुद्र में डूब जाते थे। जगत में उस राजा के चार स्वरूप दृष्टिगोचर होते थे–ऐसा लोग मानते थे। जो गुरु अर्थात् कुलवृद्ध थे, वे विनय आदि गुणों से उसे बालक मानते थे। जो शत्रु थे, वे शौर्य आदि गुणों से उसे काल अर्थात् यम मानते थे। नागरिक लोग न्याय–निष्ठा से उसे राम मानते थे और नगर की युवतियाँ उसके अद्‌भुत रूप से उसे कामदेव मानती थीं।

उसी नगर में यश से धवलित, नागरिकों के मध्य दानादि गुणों से श्रेष्ठ, यथा नाम तथा गुणवाला धनसार श्रेष्ठी था। उस श्रेष्ठी के दानादि गुणों के द्वारा वणिक–पुत्रों के समूह की तरह स्पर्द्धा से बंधी हुई यश–सुरभि दसों दिशा में परिव्याप्त थी। उसके चित्त की लज्जाशीलता, दयालुता आदि गुणों की प्रमुखता से होनेवाली गरिमा अर्थात् मनोहरता किसी के द्वारा भी कहने में शक्य नहीं थी। उसके हृदय में त्रिजगत्पति जिनेश्वर देव नित्य–स्थिति रूप से बिराजमान थे। अतः वह नित्य ही जिनेश्वर के ध्यान में तत्पर रहता था।

उस व्यवहारी श्रेष्ठी के शील आदि गुणों से युक्त शीलवती नामक प्रिया थी। अपने कुल की लज्जा व मर्यादा के अनुकूल वह घर के भार का वहन करती थी। श्री जिनेश्वर देव के धर्म का अनुराग रग–रग में अस्थि–मज्जा की तरह बहता था। उसके रूप–सौन्दर्य की शोभा एवं अति स्वच्छ स्वभाव के कारण सुरलोक की रमणियाँ भी उसकी उपमा को प्राप्त नहीं होती थी। उन दोनों के सुखपूर्वक गृहस्थ आश्रम व्यतीत करते हुए क्रम से तीन पुत्र प्राप्त हुए। अर्थियों को धन देकर सुख देनेवाले के समान धनदत्त प्रथम पुत्र का नाम था। दूसरे का नाम धनदेव था, मानो लक्ष्मी के धनदेव के ही समान हो। तीसरा नाम से धनचन्द्र

था, जो चन्द्र के समान उज्ज्वल गुणवाला था। ये तीनों ही पुत्र दान, मान, भोग आदि गुणों से समन्वित थे। उन तीनों के क्रमशः धनश्री, धनदेवी एवं धनचन्द्रकांता नाम की पत्नियाँ थीं, जो गुणों से युक्त थीं। इस प्रकार वे सुखों का अनुभव करने लगे। धनसार ने अपने पुत्रों को समर्थ जानकर अपने घर का भार उनके कंधों पर डाल दिया। स्वयं धर्म करने में तत्पर बना।

वह प्रतिदिन ब्रह्म–मुहूर्त्त में उठकर पाप से विमुक्ति पाने के लिए सकल–श्रुतों के सार रूप पंच–परमेष्ठि नमस्कार महामंत्र का जाप करता था। दोनों संध्या में प्रतिक्रमण करता था। त्रिसंध्या में जिन–अर्चना विधिपूर्वक करता था। दिन व रात के दरम्यान वह सात चैत्यवंदन करता था। प्रतिवर्ष वह हर्षपूर्वक श्री तीर्थयात्रा व रथयात्रा का महा–महोत्सव करता था। यथा–अवसर सुपात्र–दान, अनुकम्पा दान आदि का पोषण करता था। प्रतिदिन बढ़ती हुए श्रद्धा से वह शास्त्र–श्रवण तथा गुरु उपासना करता था। इस प्रकार एक चित्त से धर्म में रमण करते हुए वह गृहस्थ धर्म का पालन करता था।

इस प्रकार उस दम्पत्ति को बढ़ती हुई सम्पदा के साथ यथेच्छा–पूर्वक वैषयिक–सुख भोगते हुए चौथे पुत्र रूपी सम्पदा की प्राप्ति हुई। उस बालक की नाभि–नाल की स्थापना के लिए जब भूमि खोदी गयी, तो उस भूमि से स्वर्ण निधान निकला। धनसार ने उस निधान को देखकर विचार किया–यह बालक किसी अतुल पुण्य की निधि दिखायी देता है। पैदा होते ही पूर्ण निधान की प्राप्ति में कारणभूत बना है। इसी कारण से उस बालक का गुण निष्पन्न नाम धन्यकुमार स्थापित किया गया।

पाँच धायों द्वारा लालन–पालन किये जाते हुए दूज के चाँद की तरह वह सौभाग्य व शरीर से वृद्धि को प्राप्त होने लगा। पिता के हृदय के मनोरथों को नयी–नयी अठखेलियों से पूर्ण किया। इस प्रकार बढ़ता हुआ वह आठ वर्ष का हो गया। तब पिता ने अध्ययन का समय जानकर शुभ दिन में महोत्सवपूर्वक कला ग्रहण करने के लिए लेखशाला में भेजा।

उस कुमार ने पूर्व पुण्य के अनुभाव में लीला–मात्र में ही सकल कलाओं को ग्रहण कर लिया। अध्यापक साक्षी–मात्र ही सिद्ध हुआ। समस्त शास्त्र रूपी पर्वत पर आरोहण करने के समान पद्य के अनुरूप शब्द–शास्त्र को कण्ठस्थ किया। प्रमाण आदि न्याय शास्त्रों में प्रवीण धुरा को वहन किया। शृंगार रस के शास्त्रों में तात्पर्य अर्थ का वेत्ता हुआ। कवित्व कलाओं में कुशल होकर पूर्व कवियों द्वारा रचित काव्यों में दूषण–भूषण आदि को प्रकट करता था। साहित्य में स्वच्छ मति द्वारा अवसरोचित वचन कहता हुआ वंचित नहीं होता था। पुराण

शास्त्र में नवीन मति को धारण करता था। ज्योतिष शास्त्रों में द्योतित बुद्धि द्वारा ग्रहों की गति आदि को विशद रीति से प्रकाशित करता था। प्रश्नोत्तर रूप विवादों में कुशाग्र बुद्धि द्वारा शीघ्र ही उत्तर देता था। पहेलियाँ, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका व अलंकार शास्त्रों में उसकी मति खेल खेलने जैसी थी। समस्याओं को सुनने–मात्र से वह उत्तर देकर समाधान कर देता था। अनेक प्रकार की लिपियों को पढ़ने में वह स्खलित नहीं होता था। लीलावती आदि संख्या–वेदियों में वह अद्वितीय था। निघण्टु आदि वैद्यकी के आदान–निदान आदि क्रियाओं में उसकी निर्दोष मति ख्यात थी। सभी औषधियों के योग–प्रयोग में वह अभ्यस्त मतिवाला था। वाचालता से क्रीड़ा करनेवालों के मध्य अनल्प बुद्धि से अबाध्य उत्तर देता था। गूढ़ श्लोकों के अर्थ को अगूढ़ की तरह प्रकट करता था। अन्तर्धान आदि विद्याओं में एकाग्रतापूर्वक परम्परा से आया हुआ गुरु–प्रदत्त अभ्यास उसने आत्मसात् कर लिया था। औषधि, रस, रसायन, मणि–परीक्षा में निमित्त शास्त्रों में, बिना उपदेश के पढ़े हुए शास्त्र की तरह अस्खलित बोलता था। कठिन इन्द्र–जाल–विद्या के रहस्य को सहजता से प्रकट कर देता था। वसन्तराज आदि शकुन शास्त्रों में दृष्टि पथ पर अवतीर्ण–मात्र में ही भूत–भविष्य में होनेवाले पदार्थों का अभिज्ञान–सहित पहले ही कथन कर देता था। संगीत, छंदशास्त्र आदि के अर्थ के निर्णय में वर्ण, मान, ताल,–मात्रा सहित अनुभव–प्रस्तार आदि को विशद रीति से बता देता था। समस्त राग रूपी समुद्र का वह पारीण था।

अत्यधिक सुस्वर नामकर्म के उदय से सम्पूर्ण जनों के मन को वश में करनेवाले लय, मूर्च्छना, रस आदि से युक्त गीत इस प्रकार गाता था कि जिससे वन में रहे हुए हाथी, हिरण आदि भी निःशंक रूप से बहुत जनों से संकुलित नगर में आ जाते थे।

हाथी व घोड़ों की परीक्षा में तथा उनकी दमन शिक्षाओं में भी अत्यन्त कुशल था। मल्ल युद्ध की क्रियाओं में भी मर्मज्ञ रूप से कल–बल द्वारा प्रतिद्वंद्वी मल्ल को पराजित करने में कुशल था। धनुष आदि शस्त्र–क्रियाओं में भी परिकर्मित मति द्वारा बुद्धि की प्रगल्भता से तिरस्करपूर्वक प्रतिद्वंद्वी सैनिक को जीत लेता था।

चक्रव्यूह, गरुडव्यूह, सागरव्यूह आदि में सैन्य–टुकड़ियों को निवेशित करने में अति माहिर था, जिससे शत्रु पराभव करने में समर्थ नहीं होता था।

व्यापार में गान्धिक व्यापारियों के विविध माल के क्रय–विक्रय की कला में दक्ष था। सौगन्धिक वस्तुओं में अत्यधिक चतुराई से गंध–संस्कार में परस्पर संयोग आदि को जानता था। दूष्य के व्यापार में अत्यन्त अदूषित मति थी।

मणि–रत्न के वाणिज्य में गुण–दोष का ज्ञाता होने से समस्त रत्न–व्यापारियों द्वारा प्रमाणित था। स्वर्ण के व्यवसाय में सोने–चाँदी के व्यापारियों द्वारा प्रशंसित था। मणिकारों के वाणिज्य में अनेक देशों में होनेवाली वस्तुओं में गुण–दोष के प्रकटन को पहले ही जानकर फिर ग्रहण करता और देता था। सार्थवाह के कर्म में उत्साहपूर्वक, सत्त्वयुक्त, अनेक देशों के आचार, भाषा और मार्ग–कुशलता के द्वारा व्यापारियों को सुखपूर्वक इच्छित स्थान प्राप्त करवाता था।

राज–सेवा में सर्व अवसर पर सावधानीपूर्वक तथा अवसरोचित वाक्पटुता के द्वारा राजा का अतिवल्लभ था। देवों की भक्ति में दृढ़ धैर्य–युक्त, समस्त देव–पूजन–विधि में कुशल होने से स्वल्प समय में ही देवों को प्रसन्न कर लेता था।

प्रधानमंत्री के कर्म में अति तेज बुद्धि के द्वारा राजा के चित्त के अभिप्राय को जान लेता था एवं छल–बल से राज्य की रक्षा करता था।

योग क्रियाओं में यम–नियम–आसनादि योग के अंगों को प्रभेद सहित जानता था। औत्पत्तिकी आदि बुद्धि द्वारा बुध–जनों के मन को खुश कर देता था। समस्त नीतियों में विनीत रूप से शोभित होता था।

ज्यादा क्या कहा जाये? सर्व विज्ञान में वह पारगामी था। समस्त कलाओं, तेजों, यशों, विविध गुणों में और बुद्धि में वह कुमार प्रिय संगम–तीर्थ रूप जाना जाता था। बाल–भाव होने पर भी वह गुणों से वृद्ध था।

क्रम से बचपन का अतिक्रमण कर वह तरुणियों के मन को हरनेवाले क्रीड़ावन रूपी यौवन को प्राप्त हुआ। जन्म के समय से ही लेकर धनसार श्रेष्ठी के घर में धन्य–कुमार के भाग्य के अनुभाव से चारों ओर से धन–धान्यादि लक्ष्मी की वृद्धि ही होती गयी। चारों ओर से लक्ष्मी की वृद्धि देखकर उसके पिता करोड़ों लोगों के सामने उसकी प्रशंसा करने लगे। नीति में पुत्र–प्रशंसा निषिद्ध होने पर भी उसके पिता उसके गुणों से आकृष्ट होकर प्रतिक्षण उसकी प्रशंसा करते थे। कहा भी है–

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्रबान्धवाः।
कर्माऽन्ते दासभृत्याश्च, पुत्रा नैव मृता स्त्रियः।।

अर्थात् प्रत्यक्ष में गुरु की स्तुति करनी चाहिए। परोक्ष में मित्र बान्धव की, कार्य के अन्त में दास–भृत्य आदि की तथा मरने के बाद स्त्री की स्तुति करनी चाहिए, पर पुत्र की कभी भी स्तुति नहीं करनी चाहिए।

"जिस दिन से यह पुत्र हुआ है, उस दिन से मेरे घर में मंत्र से आकर्षित की तरह लक्ष्मी सर्व ओर से वृद्धि को प्राप्त हुई है। समस्त पौरजनों के चित्त को चुरानेवाले इस पुत्र के गुण किसी भी निपुण के द्वारा गिनना शक्य

नहीं है। किसी पूर्वजन्म कृत भाग्योदय के कारण ही मेरे घर में किसी कल्प–वृक्ष ने इस पुत्र रूप से अवतार लिया है"–इत्यादि अनेक प्रकार से जैसे–जैसे धन्यकुमार का वर्णन करते, वैसे–वैसे तीनों बड़े भाई धन्य की प्रशंसा सहन नहीं कर पाने से ईर्ष्या से जलने लगते।

तब वे ज्वलित अंतःकरणवाले क्रोध रूपी अग्नि में स्नेह रूपी वाणी की आहूति करके भुजाओं को उत्तम्भित करके धनसार पिता को बुलाकर गर्वपूर्वक कहने लगे–"हे तात! हमने अनेक प्रकार का माल एक पात्र रूपी यान–पात्र में भरकर मत्स्य आदि द्वारा ग्राह्य सागर में पुनः–पुनः अवगाहन किया। पुनः–पुनः विविध देशों का पर्यटन किया। साहस धारण करके स्वर्ण से गाड़ियों को भरकर दुस्तर अटवी में भ्रमण किया। रास्ते में होनेवाले शीतादि क्लेशों को सहन किया। ग्रीष्म–सूर्य से तप्त क्षेत्रों में क्षेत्र–व्यापार किया। दरिद्र–कणों को घट्टी में पीसकर उसकी पिष्टि बनाकर और पानी भर–भर कर हमने भोजन किया है। चतुष्पथ पर दूकानों में हमने वाणिज्य किया है। अनेक व्यापारियों को उघराणी द्रव्य तथा माल दिया है। प्रतिदिन उनके लेखे–जोखे के कष्ट को सहन किया। प्रतिदिन उनके घर में तगादा लाने के लिए उघराणी की है। राजद्वार में चतुरंगी सभा में विविध आशयों से युक्त वितर्क रूपी कर्कश वाचा का प्रत्युत्तर देकर चतुरजनों के मन को रंजित किया है। दुर्जन रूपी जीवों से ग्राह्य दुस्तर कल्लोलों के वश में रही हुई दुर्धरा रेवा नदी को हाथियों के द्वारा पार करने की तरह हमने राज–सेवा बजायी है। इस प्रकार हमारे द्वारा किये हुए उद्यम की, कष्ट की अवगणना करके धन्यकुमार की आप प्रशंसा करते हैं। जबकि वह आज भी निर्लज्ज होता हुआ बाल–क्रीड़ाओं से निरत नहीं है। व्यापार–उद्यम से तो वह दूर है ही, पर सुलभ गृह–कार्यों को, अपने वस्त्र–पात्रादि को भी स्थान पर नहीं रखता है। बही–खाते की लेखन आदि क्रियाओं में भी अति लालसा नहीं है। अपने घर में आये हुए सज्जनों की उचित प्रतिप्रत्ति करना भी नहीं जानता है। फिर भी आपकी मूढ़ता कितनी अनुत्तर है कि इस धन्य की बार–बार प्रशंसा करते हैं और घर का भार वहन करनेवाले हम लोगों की निंदा करते हैं। जो मनुष्य सद्–असद् की अभिव्यक्ति करना नहीं जानता, वह किसकी हँसी का पात्र नहीं बनेगा? लोक में भी कहा जाता है–

काके कार्ष्ण्यमलौकिकं धवलिमा हँसे निसर्ग –
स्थितिर्गाम्भीर्ये महदन्तरं वचसि यो भेदः स किं कथ्यते?
एतावत्सु विशेषणेष्वपि सखे! यत्रेदमालोक्यते,
के काकाः खलु के च हँसशिशवो? देशाय तस्मै नमः।

कौए का कालापन अलौकिक है, हँस में शुक्लता स्वाभाविक स्थिति रूप है। पर दोनों की गम्भीरता में महान अंतर है–ऐसा वचनों में जो भेद है, वह क्यों कहा जाता है? इतने विशेषणों के रहते हुए भी जहाँ यह भेद देखा जाता है, तो वहाँ कौन कौआ और कौन हँस शिशु है? ऐसे कथन को नमस्कार हो।

हे तात! आपके द्वारा ही हमें प्रौढ़ पद पर स्थापित किया गया है और अब आप ही महा–इभ्यों के आगे धन्य–कुमार का ही गुण–वर्णन करते हैं, जिससे हमारी निंदा होती है। धन्य की प्रशंसा करने से हमारी लघुता होती है। जैसे कि तुला के एक पलड़े को भारी करने से दूसरा पलड़ा हल्का हो ही जाता है।

हे तात! सभी पुत्रों पर आपका समान वात्सल्य होना चाहिए। जैसे कि सभी तटवर्ती वृक्षों को नदी समान जल से सिंचित करती है। पुत्रों में समान गुणों की स्वीकृति से ही पिता उचित जाननेवालों की पंक्ति में आते हैं। जैसे कि सभी महाव्रतों का विधिपूर्वक समान पालन करने पर प्रतिरेखा को प्राप्त हुआ जाता है। हे तात! आपने धन्य में ऐसी क्या अधिकता देखी है और हममें ऐसी क्या न्यूनता देखी है, जो कि अहर्निश देवता की तरह धन्य के गुणों का ही वर्णन करते हैं?

हे तात! यदि हम चारों भाइयों में स्नेह भाव की वृद्धि चाहते हैं, तो आज के बाद धन्य की प्रशंसा रूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित नहीं करेंगे। समान दृष्टि से हम सभी को देखेंगे।''

पुत्रों के इस प्रकार के वचनों को सुनकर धनसार ने अपने कुपित पुत्रों से कहा–''हे पुत्रों! तुम लोग गडुल जलाशय की तरह मलिन आशयवाले हो। मेरे समान निर्मली फल के सहयोग से अब स्वच्छ हो जाओ।

हे पुत्रों! हँस की तरह ही उभय पक्ष की पवित्रता में कहीं भी मेरी सद्–असद् की अभिव्यक्ति में क्या मूढ़ता देखी है? ग्वाल से भूपाल तक सभी लोगों के समूह में मेरी सुसमीक्षित–कारिता विख्यात है। अतः परीक्षण में कुशल मेरे द्वारा इसमें रहे हुए गुणों की ही स्तुति की जाती है। यदि गुणवान मनुष्यों के गुणों के प्रति मौन रहा जाये, तो हमें प्राप्त वाणी ही निष्फल है। इस कारण से पुत्र की स्तुति निषिद्ध होने पर भी मैं इस गुणी की स्तुति करता हूँ।

हे पुत्रों! पहले हमारे घर में उतनी लक्ष्मी नहीं थी, जितनी की धन्य के पैदा होने के बाद हुई है। इसीलिए धन–वृद्धि का कारण धन्य ही है, यह अन्वय–व्यतिरेक से जाना जा सकता है।

हे पुत्रों! जैसे चन्द्र का उदय समुद्र की लहरों की वृद्धि के लिए ही होता है, सूर्योदय से ही कमलों का विकास होता है, वसंत–ऋतु ही फूलों के

उद्गम में हेतु है, बीज से ही अंकुर प्रस्फुटित होता है, बादलों से ही सुभिक्ष–काल की वर्षा होती है, धर्म से ही मनुष्यों की जय होती है, वैसे ही यह भी निश्चित रूप से जान लो कि हमारे घर में भी धन्य के भाग्य से ही धन की वृद्धि हुई है। जिस प्रकार का भाग्य और सौभाग्य, जिस प्रकार की बुद्धि की विशुद्धता पुत्र में है, वैसी क्या अन्य किसी में देखी है? कहीं भी नहीं है।

हे पुत्रों! अगर तुम्हे मेरे वचनों पर विश्वास नहीं है, तो मेरे द्वारा अर्पित धन से अपने–अपने भाग्य की परीक्षा कर लो। समान उद्यम होने पर भी भाग्यानुसार ही फल प्राप्त होता है। तालाब के पूर्ण रूप से भरे होने पर भी घट–मात्र जल ही घड़े में आता है।"

इस प्रकार श्रेष्ठी के कहे जाने पर आरोग्य को चाहनेवाले की तरह वैद्य द्वारा उपदिष्ट और इष्ट औषधि की तरह उसके वचनों को पुत्रों ने स्वीकार किया। श्रेष्ठी ने व्यवसाय के लिए चारों ही पुत्रों को तीस–तीस मासा सोना देकर इस प्रकार कहा–"हे पुत्रों! इस स्वर्ण को लेकर अलग–अलग दिनों में व्यवसाय करके अपने–अपने भाग्य के अनुसार लाभ लेकर उससे प्राप्त धन द्वारा कुटुम्ब को भोजन कराना।'

सबसे बड़े पुत्र ने तीस मासा सोने के बराबर धन लेकर व्यापार में लगा दिया। उसके द्वारा बहुत ज्यादा उपाय करने पर भी बहुत थोड़ा लाभ हुआ, क्योंकि–

प्राणिनां कर्मोदयसदृशं फलं, न तु प्रक्रमनुरूपम्।

अर्थात् प्राणियों के कर्मोदय के सदृश ही फल प्राप्त होता है, पराक्रम के अनुरूप नहीं। उसने भूख को रोकनेवाले चने तथा तीन रत्ती तेल लाकर अपने कुटुम्ब को भोजन करवाया। दूसरे दिन दूसरे भाई ने अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य से चवला नामक धान्य लाकर कुटुम्ब का पोषण किया।

तीसरे दिन तीसरे भाई ने उस द्रव्य से व्यवसाय करके उसके द्वारा प्राप्त धन से जैसे–तैसे कुटुम्ब को भोजन कराया।

चौथे दिन पिता ने करोड़ों के धन का अर्जन करने को तैयार धन्य को तीस मासा सोना दिया। धन्य भी पिता द्वारा प्रदत्त सोना लेकर आषाढ़ के मेघ की तरह धन रूपी जीवन को अर्जित करने के लिए चतुष्पथ रूपी सागर को प्राप्त हुआ।

वहाँ शुभ शकुनों द्वारा प्रेरित वह महा–इभ्य, महा–ईश्वरों के बाजार में भाग्यवशात् व्यवसाय के लिए गया। उस समय वह महेश्वर नौकर के द्वारा लाये गये अपने मित्र के बंद पत्र को खोलकर मौनपूर्वक पढ़ रहा था। पत्र में लिखा

था–

।। स्वस्ति श्री।।

प्रतिष्ठानपुर पत्तन में सार्थ–स्थान से मित्र नामक व्यापारी प्रीतिपात्र व क्षेमपात्र अपने परम मित्र महेश्वर के प्रति विस्तार–पूर्वक लिखता है। प्रणाम बंचना। यहाँ सब कुशल है। आपकी कुशलता का पत्र भेजना। जो जरूरी कार्य है, वह अब कहता हूँ–"उत्तर पथ से बादल की तरह उन्नत सार्थवाह अगणित माल भरी गाड़ियों के साथ आया है। पुनः वहीं जाने की इच्छा है। हे बन्धु! भेंट में आया हुआ, दारिद्रय को दूर करनेवाला बहुत सारा माल महा–इभ्यवाले उस सार्थपति के पास है। और भी, यह सार्थवाह किसी कारण से स्वल्प लाभ होने पर भी अपने माल को कैसे भी बेचकर स्व–स्थान जाने को उत्सुक है। इस कारण से हे मित्र! तुम शीघ्र ही उस सार्थवाह के सम्मुख जाकर माल का करार कर लो। तुझे बहुत लाभ होगा।

इस प्रकार के व्यतिकर गर्भित लेख मैंने पहले बहुत सारे लिखे, पर तुमने एक भी पत्र का जवाब नहीं दिया या फिर मेरे द्वारा लिखित एक भी लेख तुम्हारे हाथ में स्वर्ण–निधि की तरह प्राप्त ही नहीं होता। अतः अब तो तुम्हे शीघ्र ही आना चाहिए।" इस प्रकार मन में लेख के अर्थ को पढ़कर और अवधारण करके अनार्य की तरह प्रभात में भी क्षुधा–पीड़ित की तरह चित्त में इस तरह विचार करने लगा–"भाग्य से अगणित माल से आढ्य सार्थ नजदीक आ गया है, पर अभी तक व्यवसाय में अग्र–मुखिया, नगर के व्यापारियों में से किसी को भी ज्ञात नहीं है। अतः क्षुधार्त्त मैं पहले घर जाकर, खाकर स्वस्थ चित्त हो जाऊँ, क्योंकि–

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति।

स्वस्थ चित्त में ही बुद्धि सम्भवित है। न्याय से बुद्धि–साध्य माल होता है। बाद में दूरतर जाकर सार्थवाह का जोत्कार आदि शिष्टाचार करके एकाकी ही सम्पूर्ण माल ग्रहण कर लूँगा। इस माल को खरीदने पर पुनः बहुत लाभ होगा, क्योंकि इस बाजार में इस प्रकार का माल किसी के भी पास नहीं है।"

इस प्रकार विचार करके वह महेश्वर नौकर को कहकर भोजन के लिए चला गया, क्योंकि उत्सर्ग–अपवाद मार्ग की तरह सभी को क्षुधा बाधित करती है।

तब महेश्वरों के बाजार में स्थित धन्य ने अति–स्वच्छ भूर्ज–पत्र में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित वर्णावलि को गुप्ताकार में होने पर भी तीक्ष्ण बुद्धि से पढ़कर विचार किया–"अहो! इस विचार–मूढ़ की मूर्खता! मित्र के द्वारा रहस्य ज्ञापित

कर देने पर भी लेख पढ़कर भोजन करने के लिए चला गया। इस प्रकार के व्यापारियों की गति नहीं होती। अतः जब तक यह घर से भोजन करके वापस आता है, उससे पहले ही मैं सार्थ में जाकर उस माल को आत्मसात् कर लूँ, क्योंकि लक्ष्मी का बीज उद्यम को कहा गया है।" ऐसा विचार करके वह घर पर जाकर विपुल शृंगार करके घोड़े पर आरूढ़ होकर अपने योग्य सेवकों व मित्रों के साथ सार्थ के सम्मुख गया। वह आधे प्रहर में ही बहुत सारा रास्ता पार करके मार्ग में ही सार्थ और सार्थपति से मिला।

कुशल वार्त्ता करके धन्य ने सार्थपति से माल का भाण्डार, उसका स्वरूप, संख्या आदि पूछी। तब उस सार्थपति ने भी यथास्थिति बताया। धन्य ने सार्थेश को माल ग्रहण करने का आशय बताया। श्रेष्ठी ने अपने हाथ की संज्ञाओं से सार्थकों व अपने मित्रों के साथ विचार करके क्रयाणक मूल्य कहा। धन्य ने भी स्वीकार कर लिया।

धन्यकुमार ने माल की भव्यता–अभव्यता के परीक्षण के लिए प्रत्येक माल को थोड़ा–थोड़ा देखकर वह सभी हस्त–ताल देकर आत्मसात् कर लिया। उसके करारनामे पर अपनी मणि–मुद्रिका देकर निश्चित हो गया।

फिर वह महा–इभ्य महेश्वर अपने घर में भोजन आदि करके गमन करने को उत्सुक हुआ। इतने दूसरे भी व्यापारी सार्थ के आगमन को जानकर जाने को इच्छुक होकर महेश्वर के साथ सार्थ के सम्मुख चले। मार्ग में जाते हुए सार्थ–युक्त सार्थपति से मिले। सार्थ–नायक को क्रयाणक ग्रहण करने का आशय दर्शाया।

तब उस सार्थ–नायक ने हँसकर महेश्वर आदि व्यापारियों को इस प्रकार कहा–"आपका कल्याण हो। पर क्या करूँ? यह क्रयाणक तो मैंने पहले ही धन्य को अर्पित कर दिया है। मैंने इसका करार भी ले लिया है। अतः किये हुए निर्णय से अन्यथा व्यवहार करता हूँ, तो मेरी अपकीर्ति होती है।"

महेश्वर के मित्र ने भी कहा–"मैंने तो पहले ही तुम्हे गोपनीय पत्र दिया था, पर तुमने प्रमादवश अवसर को नहीं जाना, तो हमारा क्या दोष? इस समय तो तुम्हे धन्य को ही मनाना चाहिए। कुछ भी उचित लाभ देकर माल ग्रहण करोगे, तो भी तुम्हारा बहुत लाभ होगा।"

यह सुनकर वह महेश्वर व्यापारी धन्य के पास गया और कहा–"हे पुण्यनिधे! आप द्वारा गृहित माल हमें अर्पित कर देवें और लाभ का लक्ष सुवर्ण ग्रहण करें, जिससे हमारा आना सफल हो जाये। आपको भी बिना प्रयास के लाख की प्राप्ति हो जायेगी। इन महा–इभ्यों का लाज की आप रक्षा करें। इस प्रकार करने पर आपको धन व यश दोनों को लाभ मिलेगा। हम भी आपका चिर

उपकार मानेंगे।''

स्थूल लक्ष्य के शिरोमणि धन्य ने अपना मनोरथ पूर्ण हो जाने पर भी उन चापलूसी आदि से भरे वाक्य आदि को सुनकर हर्षपूर्वक कहा–''आप माल ग्रहण कीजिए। इस माल में लाभ तो बहुत ज्यादा है, पर आप तो लक्षमात्र ही दे देवें। आप जैसे बड़े लोगों के वचन कैसे विफल कर सकता हूँ? कहा भी गया है–

कुलजानां तु वृद्धानां विनय एवोचितः।

कुलीनों के लिए बड़ों का विनय ही उचित है।''

इस प्रकार साम वचनों द्वारा सभी को प्रसन्न करके उन्हें क्रयाणक पत्र देकर तथा लक्ष–धन लेकर अपने घर आ गया। पिता को प्रणाम करके वह द्रव्य उनके आगे रखकर सम्पूर्ण घटना बतायी।

हजार द्रव्य के व्यय से भोज्य पदार्थ मँगवाकर रसोइयों द्वारा विविध प्रकार के संयोग से विविध द्रव्यों के संस्कार–पूर्वक रसोई बनवायी। फिर ज्ञातिजन, स्वजन तथा मित्रों आदि को निमत्रंण दिया। वे भी आये।

सभी भोजन करने के लिए यथास्थान बैठे। सबसे पहले कुल की कन्याओं ने स्वादिष्ट फल, नारंगी, खजूर, द्राक्षा आदि परोसे। उन फलों का आस्वाद लेते हुए, धन्य के गुणों का वर्णन करते हुए सभी ने विविध रसों की तृप्ति का अनुभव किया।

उसके बाद सुस्वादिष्ट, चित्त को मोद प्रदान करनेवाले, विविध राज–द्रव्यों से युक्त मोदक परोसे गये। फिर घी से सरोबार, अपने गर्व से स्वर्ग से च्युत हुए की तरह, चन्द्र–मण्डल के सदृश, शुभ्र आमोद के पूरक घेवर परोसे गये।

फिर माधुर्य–रस की आतुरता को मिटानेवाले नट–नागर के गोटकों की तरह गल–रन्ध्र में प्रवेश करके 'गटक' इस प्रकार बोलनेवाले अति उज्ज्वल पेठे को परोसा गया।

उसके बाद आहार–शरीर की ऊष्मा से उद्भूत तृष्णा के आतप को खण्डित करनेवाला श्री खण्ड तथा पानी से निकले हुए, किनारे से बहती हुई हवा द्वारा शीतल सिकता–कणों से भी ठण्डी, खाण्ड से मण्डित पतली पूड़ी परोसी गयी।

उसके बाद माधुर्य रस से आप्लावित अन्तःकरणवालों के आहार–शक्ति की मंदता को चूर करनेवाली, नमक हल्दी–मिर्च आदि बहुत सारे द्रव्यों से युक्त अति उष्ण पूड़ी तथा समस्त समिश्रित खर्जुर आदि परोसे गये। फिर सुरभि, शुभ्र, कोमल, चिकने, सुक्षेत्र में उत्पन्न आदि गुणों से युक्त खण्ड, कलम, शालि जाति

के चावल तथा नींबू से मिश्रित, समुद्री नमक से मिश्रित मूँग तथा नगर–जनों की प्रीति के लिए पीली तुवर की दाल परोसी गयी। फिर अत्यधिक खूशबूदार खूब सारा घी तथा अठारह प्रकार के संस्कारों से संस्कारित विभिन्न व्यंजन यथास्थान परोसे गये। फिर सुन्दर स्त्रियों ने हास्य के संरम्भ की तरह मिश्र गंधवाला दही परोसा। इस प्रकार विविध भोजन युक्तियों से प्रसन्न होते हुए सभी स्वजन तथा ज्ञातिजन धन्य के गुणों की प्रशंसा करते हुए अपने–अपने घर चले गये।

उसके बाद बचे हुए द्रव्य का व्यय करके सभी भाभियों के लिए विविध आभरण भेंट किए। जैसे–हार–अर्धहार, तिलड़ा, पंचलड़ा, सतलड़ा, नवलड़ा, अठारहलड़ा आदि तथा दूसरे कनकावलि, रत्नावलि, मुक्तावलि प्रमुख कमर–कन्दोला, कानों के झुमके व हाथों के सुन्दर–सुन्दर आभूषण करवाकर अर्पित किये।

सब भाभियाँ प्रसन्न होती हुई देवर को बोलीं–"हे देवर! हमारे पूर्वकृत पुण्य के कारण ही तुमने अवतार लिया है। अहो! तुम्हारी सौभाग्य रचना! कैसा अद्भुत भाग्य! अहो! लक्ष्मी के उपजाऊ बीज की तरह तुम्हारा वाणिज्य कौशल है। अहो! सर्व क्रियाओं में निपुण होते हुए भी तुम्हारी मृदुता! अहो! लघु वय में भी तुम्हारी गति बड़ों के लिए अनुकरणीय है। हे देवर! तुम चिरकाल तक जीओ। चिरकाल तक प्रसन्न रहो। चिरकाल तक जय प्राप्त करो। चिरकाल तक हमारा पालन करो। चिरकाल तक स्वजनों को खुश करो। चिरकाल तक अपने सच्चरित्र से निज वंश को पवित्र करो।"

इस प्रकार अपनी पत्नियों द्वारा अत्यधिक व अद्भुत गुण–स्तुति करते हुए सुनकर धनदत्त आदि तीनों बड़े भाई ईर्ष्या से जल–भुन गये। तब पिता ने उनके मत्सर–भाव को जानकर पुत्रों से कहा–"हे पुत्रों! तुम गुणों में मत्सर भाव रखते हो, यह साधु–जनों के योग्य नहीं है। शास्त्र में भी कहा है–

ज्वालामालासङ्कुले वह्नौ निहितं स्वशरीरं वरं युक्तं।
परन्तु गुणसंपन्ने पुरुषे स्वल्पमति मात्सर्यकरणं न युक्तं।।

ज्वाला की लपटों से घिरी हुई अग्नि में अपने शरीर को जलाना युक्त है, पर गुण–सम्पन्न पुरुष में थोड़ी भी मात्सर्यता करना युक्त नहीं है। जो पुण्यहीन होते हैं, वे पुण्य से आढ्य पुरुष की यशोग्नि के अतिशय से जलते हुए भाग्य–हीन होकर उसके पथ पर चलने में असमर्थ होते हुए पग–पग पर स्खलित होते हैं। जिन गुणियों द्वारा सम्पूर्ण भूतल दूर रहते हुए भी भूषित है, पृथ्वीतल जिनके गुणों से मण्डित है, उनमें पुनः जिनका गुणानुराग होता है, वे पुरुष भी तीन जगत में पूज्य होते हैं।

हे पुत्रों! गुणों से द्वेष करने से पूज्य भी अपूज्य हो जाता है तथा

तेजहीन होते हुए भी जो व्यक्ति गुणानुरागी होता है, वह भी पूज्य हो जाता है। गुण के राग व द्वेष पर एक यामल मुनि का दृष्टांत है, वह सुनो–

गुण के राग व द्वेष–विषयक पार्श्वस्थ मुनि यामल का दृष्टांत

बहुत समय पहले कोई एक इन्द्रिय चपलता को गुप्त करनेवाले, तप से कृश शरीरवाले ज्ञान रूपी समुद्र को पार पाये हुए, भव–भीति से उद्भूत मुनि हुए। एक दिन गोचरी चर्या में भिक्षा के लिए नगर में घूमते हुए ईर्या समिति से युक्त मानसवाले, नित्य अप्रमत्त वे मुनि किसी स्त्री के घर पर गये। स्त्री के हाव–भाव, विभ्रम, कटाक्ष आदि विलासों को देखकर भी अक्षुब्धमना होकर कछुए की तरह इन्द्रियों को गोपित करते हुए घर में प्रविष्ट होते हुए, कषाय रूप शत्रुओं का घर्षण किये हुए महर्षि जगत पर कल्प–वृक्ष के समान 'धर्मलाभ' इस प्रकार वाणी को फैलाते हुए उचित देश में स्थित हुए। तब घर के मध्य रही हुई युवती उन ऋषिराज को आया हुआ देखकर धर्म–स्पृहावाली बुद्धि का निर्माण करती हुई भिक्षा को हाथों में लेकर जब बाहर आयी, तब तक तो वे मुनि भिक्षा को लिए बिना ही अन्यत्र चले गये।

तब वह श्राविका भिक्षा लिए बिना ही मुनि को गया हुआ देखकर हताश होती हुई अपने भाग्य की निंदा करती हुई खेद करने लगी।

तभी क्षणान्तर में ही भाग्य योग से गुण–रंजित वेषमात्र धारी साधु आये। पुनः उस श्राविका ने उन्हें आया हुआ देखकर भिक्षा–द्रव्य हाथों में लाकर मुनि को निमंत्रित किया। मुनि ने भी उस भिक्षा को स्वीकार किया।

तब उस श्राविका ने प्रथम व द्वितीय मुनि में परस्पर अन्तर देखकर इस प्रकार कहा–"हे ऋषि! यदि आप क्रुद्ध न हों, तो कोई प्रश्न पूछना चाहती हूँ।"

तब वेषमात्र–धारी मुनि ने वाणी से कहा – "हे कल्याणी! हे स्वच्छमते! जो इच्छा हो, पूछो। मैं तो रोष रूपी दोष का शोषक हूँ। किसी के भी क्रोधोत्पादक वचन सुनकर रोष नहीं करता हूँ।"

तब उस श्राविका ने कहा–"आपसे पहले आप जैसे ही एक साधु आये थे। वह मेरे द्वारा दी जानेवाली भिक्षा को देखते ही लौट गये। पुनः क्षण भर बाद ही आप आये और आपने वह भिक्षा ग्रहण कर ली। इसमें आप दोनों की विषमता का क्या कारण है?"

श्राविका के इस प्रकार कहने पर उन वेषमात्र – धारी साधु ने कहा–"हे कल्याणी! वे मुनि प्राणी–रक्षा में परायण महात्मा तथा नौ ब्रह्मगुप्ति से युक्त हैं। वे ममत्व रहित मुनि इस धर्म शरीर की यात्रा–मात्र के लिए रूक्ष भिक्षा का आहार करते है। अन्त आहार, प्रान्त आहार, तुच्छ आहार उंछ–वृत्ति से आया हुआ हो

तथा इंगाल, धूम आदि दोषों से रहित हो, तो ही ग्रहण करते हैं। न तो अति स्निग्ध आहार ग्रहण करते हैं, न अति मधुर आदि।

हे भद्रे! नीचे द्वार से युक्त होने से तथा अंधकार से युक्त तुम्हारे गहन घर में चक्षु का विषय न होने से उन कृपालु मुनि ने भिक्षा ग्रहण नहीं की और वापस लौट गये।

अब तुम्हें शंका होगी कि मैंने कैसे ग्रहण किया? तो हे भद्रे! सुनो। मैं वेष–मात्र उपजीवी होने से साधु का आभास–मात्र हूँ, लेकिन वास्तविक नहीं हूँ। हे कल्याणी! पूर्व में आये हुए साधु के धैर्य की तो क्या बात! जो प्राणांत होने पर भी कामना–रहित होते हैं। ऐसे गुणवान के सामने हीन–सत्त्ववाला देह का लालन करने की लालसा से युक्त मेरा कद कितना? मैं क्या हूँ? शिकारी से हरण किये गये मृग के शत्रु के सामने शृगाल कितना–मात्र होता है? सूर्य मण्डल के आगे खद्योत का उद्योत कितना? वह तात्त्विक–भाव युक्त मुनि सर्व गुण–रत्नों से विभूषित हैं। हे भद्रे! मैं तो खेत में खड़े किये हुए तिनकों से बने हुए चंचा–पुरुष की तरह नाम–मात्र का धारक हूँ। वेष के आडम्बर से उदर–वृत्ति करता हूँ। अतः उनके व मेरे बीच तो बहुत अन्तर है।"

उनके इस प्रकार कहने पर वह श्राविका विचार करने लगी–"अहो! इन दोनों मितभागी मुनियों को धन्य है! एक गुण–रत्नों के रत्नाकर हैं, तो दूसरे गुणरागी हैं। अतः दोनों ही श्लाघनीय हैं। कहा भी है–

नाऽगुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी।
गुणी च गुणरागी च, सरलो विरलो जनः।।

अगुणी गुणी को नहीं जानता, गुणी गुणियों में मत्सरी होता है। गुणीजन सरल व गुणरागी विरल ही होते हैं।

जगत में प्रमाद से मोहित लोग पग–पग पर स्व–स्तुति तथा पर–निंदा करते देखे जाते हैं, लेकिन पर स्तुति व स्व–निंदा करनेवाले कोई भी नहीं होते।" इस प्रकार वह दोनों मुनियों के गुणों का अनुमोदन करती रही।

इसी अवसर पर कोई एक विगोपित व्रतवाले पार्श्वस्थ श्रमण भिक्षा के लिए आये। वे किस प्रकार के थे? गुणियों पर प्रबल द्वेषी, पर–छिद्रान्वेषी, ईर्ष्या से ज्वलित हृदयवाले वेष–मात्र उपजीविक थे। उन्हें आया हुआ देखकर उस श्राविका ने घर के अन्दर से अन्न आदि लाकर उस लिंगधारी को प्रतिलाभित किया।

उसके बाद उसने पुनः पूर्व के समान घटना निवेदन कर पूछा। तब उस अधम श्रमण ने कहा–हे भद्रे! वे दोनों ही महत्वाकांक्षी हैं। मैं दोनों को जानता

हूँ। उसमें प्रथम तो मायावी की तरह माया से लोगों के मन को अनुरक्त करता है तथा दूसरा पटु–चाटु वचनों द्वारा वणीपक की तरह मायापूर्वक स्व.–दोष–कथन आदि रंक–कला करके सुखपूर्वक सदा उदर की पूर्ति करता है और साधुत्व तो अन्य की स्तुति से प्रकट करता है। परन्तु दोनों ही दम्भ के समुद्र हैं।

हे कल्याणी! मैं तो दम्भ के संरम्भ से वर्जित हूँ। माया रहित हूँ। जैसे भी अन्न–पान आदि का लाभ हो, तो ग्रहण कर लेता हूँ, लेकिन प्रतिक्षण, प्रतिद्रव्य में दोष–प्रच्छन्नता आदि कपट–कदाग्रहकारी नहीं हूँ। सरल स्वभाव से प्रवृत्ति करता हूँ।

हे भद्रे! पहले मेरे द्वारा भी इस प्रकार की जन–रंजन–कारिणी माया शोभा के लिए बहुत सारी तथा बहुत बार की गयी। भद्र–जनों को छलकर उत्कर्षपूर्वक और पोषित करके खाया गया। इसी कारण से इन दोनों का छल मैंने जान लिया है। मैंने तो इसमें कोई सार नहीं देखा, अतः मैंने तो इसका त्याग कर दिया है एवं सरलता स्वीकार कर ली है।'' यह कहकर वह पार्श्वस्थ लिंगी चला गया।

तब क्रोधित होती हुई वह उपासिका विचार करने लगी–''अहो! यह ईर्ष्यालु लिंगी किस प्रकार का असम्बद्ध वचन प्रलाप करता है। मात्सर्य–त्याग रहित बुद्धिवाले के कांजिक कुथित वचन सुनने के लिए अयोग्य है। एक इसकी निर्गुणता जगत में नही समाती। अहो! इसमें बिना कारण ही ईर्ष्यालुता दिखाई देती है।

प्रथम मुनि तो गुणियों में अग्रणी, समस्त गुण–रत्नों के भण्डार थे। दूसरे मुनि गुणानुरागी, गुणियों के गुण–वर्णन में शतमुख थे। बिना किसी शंका के स्व–दोष प्रकटन में पटु थे। अतः लोक में दोनों ही मुनि शुभाशयवाले होने से इन दोनों को पूज्यतम जानना चाहिए। तीसरे मुनि तो पापी, दोष–व्यापी, गुणों में मत्सर–भाव रखनेवाले होने से उनका मुख देखना भी योग्य नहीं है। वे पूजा आदि के भी योग्य नहीं है।''

जिस प्रकार उस श्राविका द्वारा निर्गुण भी गुणरागी तथा गुणी मुनियों को पूजा गया तथा नित्य मत्सरी–लिंगी मुनि का दूर से ही त्याग किया गया। उसी प्रकार हे पुत्रों! मात्सर्य दोष को छोड़कर साधुवाद रूपी कल्पलता–गुणरागता को स्वीकार करो।'' इस प्रकार गुणों के अनुराग को सम्बोधित करनेवाली, धनसार की सुन्दर वाणी को सुनकर तीनों भाइयों के सिवाय शेष सभी स्वजनों ने प्रमोद भाव को धारण किया।

।। इस प्रकार तपागच्छाधिराज श्री सोमसूरि पट्ट के प्रभाकर–शिष्य श्री

जिनकीर्ति सूरि द्वारा विरचित पद्यबन्ध श्री दान–कल्पद्रुम रूपी धन्यचरित्र–शाली का–महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य की अल्प मति द्वारा गूँथा हुआ गद्य–रचना प्रबन्ध में भक्त–दान नामक प्रथम शाखा में स्वर्ण–लक्ष–उपार्जन नामक प्रथम पल्लव पूर्ण हुआ।

द्वितीय–पल्लव

तब पुत्रों ने वर्चस्वी–जनों की रीति द्वारा पिता को कहा–"हे तात! हमारे मन में कभी भी मात्सर्य की स्थिति नहीं रही, परन्तु किसी के भी द्वारा किया गया देवों का भी मिथ्या प्रशंसन हम क्षमा नहीं कर पाते, तो अन्य देहियों की मिथ्या–कथा सुनकर हम कैसे सहन कर सकते हैं?

हे तात! आपके द्वारा बार–बार धन्य के गुणों का वर्णन किया जाता है, पर धन्य ने छल से लेख पढ़कर ठग की तरह छल–क्रिया करके लक्षधन उपार्जित किया। यह उपार्जन तो काकतालीय है, सर्व–कालिक नहीं है। व्यवहार–नीति से तो यथा–योग्य धन सर्वथा प्राप्त होता है। यह धन तो कादाचित्क होने से शिष्ट–जनों द्वारा प्रामाणिक नहीं है।"

पुत्र के इस प्रकार के वचनों को सुनकर उन पुत्रों की प्रतीति के लिए पुनः धनसार ने चौंसठ–चौंसठ मासा स्वर्ण दिया। तब वे तीनों भी उस स्वर्ण को लेकर यथाक्रम से चतुष्पथ पर गये। वे सभी लक्ष्मी की समीहा से अपने–अपने कला–कौशल का विस्तार करते हुए भी अपने–अपने कर्मों के योग्य लाभ–हानि लेकर अपने घर आ गये। बत्तीस मासा सोने से भी कम अथवा उसके बराबर लाभ हुआ, पर धन्य की तुलना कोई भी नहीं कर पाया।

दूसरे दिन पिता की आज्ञा से धन्य चौंसठ मासा स्वर्ण लेकर वाणिज्य रूपी आम्र–लता का सेवन करने लगा। कपूर, स्वर्ण, माणिक्य, वस्त्र आदि के व्यापारवाली दूकानों की वीथी पर जाते हुए अशुभ शगुन रूपी हवा द्वारा निषेध किये जाने पर वह वापस लौट आया। पुनः कुछ क्षण रुककर शगुन देखते हुए पशु–क्रयवाले चतुष्पथ पर उसे शुभ शकुन हुए। तब शकुनों को वंदन करके उसी चतुष्पथ पर व्यवसाय के लिए गया।

वहाँ पर सद्गुणी, शास्त्र में कहे हुए लक्षणों से लक्षित एक मेंढ़े को देखा। मेंढ़े को शुभ लक्षणों से पूर्ण जानकर पाँच मासा सोने में उसे खरीदकर जब वह वापस आ रहा था, तो राजपुत्र लाख स्वर्ण हाथ में लेकर अपने मेंढ़े को आगे करके खड़ा था। मेंढ़े के युद्ध के रसिक अन्य भी अनेक व्यक्ति अपने–अपने

मेंढ़े को हाथ में लिए चारों ओर खड़े थे।

राजपुत्र के आगे रहे हुए अनुचर पुरुष ने कहा–"स्वामी! धनसार व्यापारी का पुत्र मेंढ़े को लेकर आ रहा है। इसके पिता धनाढ़्य हैं। अतः इसको साम–वचनों द्वारा तुष्ट करके इसके साथ मेंढ़े की होड़ लगाकर लक्ष धन ग्रहण करेंगे।"

इस प्रकार विचार करके वे धन्य के सम्मुख गये। धन्यकुमार को बुलाकर कहा–"हे धन्यकुमार! हमारे मेंढ़े के साथ यदि तुम्हारा मेंढ़ा युद्ध करने के लिए समर्थ है, तो लक्ष द्रव्य की शर्त से युद्ध करवाया जाये। यदि तुम्हारा मेंढ़ा जीतेगा, तो हम लक्ष स्वर्ण देंगे और यदि हमारा मेंढ़ा जीतेगा, तो हम लक्ष स्वर्ण तुमसे ग्रहण करेंगे।"

राजकुमार का कहा हुआ सुनकर धन्य ने विचार किया–"सर्व लक्षण से युक्त मेरा मेंढ़ा दुर्बल होते हुए भी युद्ध में जीतेगा। अतः आये हुए लक्ष धन को कैसे छोड़ दूँ। इस प्रकार मन में निश्चित करके राज–मेंढ़े के साथ अपने मेंढ़े का युद्ध करवाया। मेंढ़े के सर्व लक्षण युक्त होने से तथा धन्य की भाग्यातिरेकता होने से मेंढ़ा जीत गया। धन्य ने लक्ष स्वर्ण ग्रहण कर लिया। कहा भी है–

यतो द्युते युद्धे रणे वादे यतो धर्मस्ततो जयः।।

अर्थात् जुए में, रण में, युद्ध में, वाद में, सर्वत्र ही जहाँ धर्म है, वहीं जय है।

तब राजकुमार ने चिंतन किया–"अहो! इसके दुर्बल मेंढ़े ने मेरे मेंढ़े को हरा दिया। यह मेंढ़ा जिस किसी भी देश में उत्पन्न हुआ हो, सुलक्षणों से पूर्ण है। अतः मैं इसे ग्रहण कर लूँ, तो अन्य मेंढ़ों को जीतकर अनेक लक्ष द्रव्य उपार्जन कर लूँ।"

इस प्रकार विचार कर राजपुत्र ने धन्यकुमार से कहा–"श्रेष्ठी–पुत्र! आपका यह मेंढ़ा हमारे योग्य है। आप जैसे महा–इभ्यों द्वारा इस प्रकार का पशु–पालन प्रशस्त नहीं है। मेंढ़े आदि का खेल राजपुत्रों को ही शोभा देता है, व्यापारियों को नहीं। अतः इस मेंढ़े का जितना मूल्य लगा हो, उतना या फिर यथा–इच्छा इसका मूल्य ग्रहणकर यह मेंढ़ा हमें दे दीजिए।"

तब धन्य ने राजकुमार के वचनों को सुनकर विचार किया–"क्योंकि यह मेंढ़े के युद्ध आदि की क्रिया–इभ्यों के पुत्रों के लिए यशस्कारी नहीं है। अतः जो भी इच्छित मूल्य देकर यह ग्रहण करना चाहते हैं, तो मैं दे देता हूँ।"

इस प्रकार विचार कर धन्य ने हँसते हुए कहा–"हे स्वामी! यह मेंढ़ा समस्त लक्षणों से अ–न्यून (युक्त) है। बहुत ही खोज करने पर मिला है। बहुत

ज्यादा धन व्यय करके खरीदा हुआ यह कैसे दिया जा सकता है? पर स्वामी के वाक्य का निरर्थक उल्लंघन भी कैसे किया जा सकता है? अतः मेरा जितना धन लगा है, उतना देकर इसे ग्रहण कर लीजिए। आपके कार्य में अधिक मूल्य करना उचित नहीं है। अभी इसकी खरीद में एक लाख से कुछ अधिक द्रव्य लगा है। अतः लक्ष–मात्र धन देकर सुखपूर्वक इसे अपनी क्रीड़ा का पात्र बनाइए।"

राजपुत्र ने भी कुमार द्वारा कहा गया मूल्य देकर मेंढ़ा ग्रहण कर लिया। ग्राहक की आतुरता होने पर व्यापारी मूल्य बढ़ाता जाता है। ग्राहक भी अपनी इच्छा की आतुरता की पीड़ा के वश में ग्राह्य वस्तु की अपेक्षा करता है, पर मूल्य अधिक होने पर भी माल का त्याग नहीं करता है।

धन्यकुमार भी दो लाख के द्रव्य के लाभ के साथ घर गया। पहले से भी दुगुना लाभ देखकर कीर्ति और प्रशस्ति में वृद्धि हुई। सभी स्वजन परम संतोष का प्राप्त हुए, क्योंकि सुबह के सूर्य की तरह जगत में उगता हुआ व्यक्ति ही वंदित होता है।

तब बहुत प्रकार से स्वजनों तथा परिजनों द्वारा की गयी धन्यकुमार की प्रशंसा सुनकर धन्य के तीनों अग्रजों के मुख स्याह–वर्णी हो गये। तब ईर्ष्यावन्त उन तीनों को पिता ने हितकारी वचन कहे–"हे पुत्रों! सौजन्य सम्पदा का बीज है। दौर्जन्य आपदा का स्थान है। अतः नय–निपुण जनों द्वारा सज्जनता का ही आश्रय लेना चाहिए। मूढ़ व्यक्ति अन्य की उन्नति में द्वेष करता हुआ लोगों में दुर्जनता–वाद को प्राप्त होता है। चन्द्र का दोहन करनेवाले राहू को क्या बुधजन क्रूर नहीं कहते? कर्म की कर्तृत्व शक्तिवाले विश्व में सभी का वाँछित नहीं होता। सर्वत्र भाग्य रूपी कर्म ही फलित होता है। फिर अन्य विडम्बना से क्या? कहा भी है–

मिलिते लोके लक्षोऽपि, येन लभ्यं लभेत सः।
शरीरावयवाः सर्वे, भूष्यन्ते किम् चिबुकं बिना।।

अर्थात् लाखों के इकट्टे हो जाने पर भी जिसको जो लभ्य है, वह वही प्राप्त करता है। शरीर के सभी अवयव चिबुक के बिना शोभित होते हैं भला?

भाग्य के बिना श्रेष्ठ वस्तु बड़ों को भी प्राप्त नहीं होती। जैसे विष्णु के द्वारा समुद्र–मंथन किये जाने पर उन्हें चौदह रत्न प्राप्त हुए, पर महेश्वर के बड़े होने पर भी उन्हें कालकूट विषय ही प्राप्त हुआ। अतः भाग्य के बिना शुभ अन्वय होते हुए भी सौभाग्य नहीं होता। कीचड़ अमृत से पैदा होने पर भी जब पाँव में लगता है, तो उसे झाड़कर दूर करके उसका त्याग कर दिया जाता है। लोक

में भी कहा गया है–

अपि रत्नाकरान्तःस्थैर्भाग्योन्मानेन लभ्यते।
पिबत्यौर्वोऽम्बुधेरम्बु–ब्राह्मीवलय–मध्यगम्।।

रत्नाकर के अन्दर रहा हुआ भी भाग्य प्रमाण ही प्राप्त करता है। जैसे कि ब्राह्मी–वलय के मध्य रहा हुआ भी बड़वानल समुद्र के पानी को ही पीता है। हे पुत्रों! अति उन्नत व्यक्तियों के साथ असूया अपने विनाश के लिए ही होती है। मेघों की असूया से क्या अष्टापद जीव का अंग भंग नहीं होता? जो अन्यों का उत्कर्ष देखकर व सुनकर ईर्ष्या करते हैं, वे भाग्य के मारे पुरुष पंकप्रिय की तरह दुःख के भाजन होते हैं। जैसे–

ईर्ष्या के ऊपर पंकप्रिय की कथा

जंबूद्वीप के दक्षिण भरत में शत्रुओं द्वारा युद्ध के अयोग्य अयोध्या नामक नगरी थी। वहाँ इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुआ जितारि नामक राजा, श्री रामचन्द्र जी के समान नीतिमार्ग द्वारा राज्य का प्रतिपालन करता था।

वहाँ पर पंकप्रिय नामक कुम्भकार रहता था, जो वक्तृत्व–कुशलों का शिरोमणि, लक्ष्मीपति, विनीत एवं खर प्रकृतिवाला था। वह ईर्ष्यालु होने से अन्य के गुणों को सुनकर सहन नहीं कर पाता था। ईर्ष्या की अधिकता से उसके सभी गुण दूषित हो जाते थे। जैसे कि समुद्र क्षारता के कारण तथा चन्द्रमा कलंक के कारण दूषित हो जाता है।

यदि कोई भी किसी भी उन्नति की बात करता, तो उसकी बात सुनकर ईर्ष्या पैदा होती तथा उस ईर्ष्या से दुर्निवारणीय शिर की व्यथा उत्पन्न हो जाती थी। कभी किसी मनुष्य को स्वकीय या परकीय गुणों को बोलता हुआ देखकर उसका निषेध करने में अशक्त होने से अपने सिर को ईर्ष्या से कूटने लगता था। लोग गरीब होते हुए भी अपने घर में हुए विवाद आदि उत्सवों की प्रशंसा करते थे। आत्म–उत्कर्ष के लिए दुगुना–तिगुना खर्च बढ़ाकर बताते थे। मिथ्या बोलते हुए थोड़ा व्यय करके ज्यादा बताते थे, क्योंकि–

अनधिगतागमरहस्यानां सर्वसंसारिणामियमनादिका जगत्स्थिती।

आगम रहस्य को नहीं जाननेवाले सभी सांसारिक जीवों की अनादिकाल से यही जगत्स्थिति है। सभी अपने उत्कर्ष को प्रबल रूप से बोलते हैं, पर जड़ आशयवाले इस दोष से विरत नहीं होते।

इस प्रकार क्रोध से सिर कूटते हुए उसके सिर में घाव हो गये। ऐसा लगता था, मानो ईर्ष्या रूपी विष–वल्लरी से अरुण पल्लव की कतार हो गयी हो। कहा भी है–

हीनपुण्यस्य कोपः स्वघाताय जायते।

अर्थात् हीन पुण्यवाले का क्रोध अपने घात के लिए ही होता है।

हिताकांक्षिणी पुत्रों आदि के द्वारा समझाये जाने पर भी वह ईर्ष्या से विरत नहीं हुआ। अहो! धिक्कार है, इस जड़ चित्त को, जो निष्कारण हठ का वहन करता है। अपना उपघात होने पर भी उसका त्याग नहीं करता।

तब एक दिन उसके पुत्रों ने कहा–"हे तात! आपका अब निर्जन वन में रहना ही ठीक होगा, जहाँ पर ईर्ष्या लवमात्र भी उत्पन्न नहीं होगी। इसलिए यदि आपके चित्त की प्रसन्नता हो, तो हम वन के एकान्त स्थान में आपके लिए एक कुटिया बनाकर आपके वहाँ रहने की व्यवस्था कर देवें।" पुत्रों के वचन सुनकर कुम्भकार ने भी सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि उत्तर–काल में हित को कौन नहीं मानता?

तब पुत्रों ने किसी विजन में सरोवर के तट पर जंगली जानवरों से बचने के लिए ऊँची जगह पर कुटिया बनाकर भोजन, आच्छादन आदि सामग्री से पूर्ण करके अपने पिता को वहाँ पर स्थापित कर दिया। शास्त्रों में माता–पिता का उपकार दुष्प्रतिकार्य कहा गया है। फिर भी उन पुत्रों ने यह कार्य करके अपने प्रति अपने पिता के उपकार को कुछ कम करने की कोशिश की। वह कुम्भकार भी वन में उपसर्ग–रहित सुखपूर्वक रहने लगा। वहाँ ईर्ष्या को प्रेरित करनेवाला कोई नहीं था। इस कारण से स्वेच्छापूर्वक सुख से समय व्यतीत करने लगा।

एक बार उसी नगर का शिकार–व्यसनी राजा बहुत से सैन्य परिवार के साथ नगर के बाहर गहन वन में शिकार खेलने के लिए आया। वहाँ एक मृग–समूह को देखकर मारने के लिए घोड़ा दौड़ाया। दौड़ते हुए अश्व को देखकर मृग–यूथ भाग गया। राजा ने भी उस यूथ के पीछे भागते हुए बहुत सारा जंगल पार कर लिया। वह यूथ तो मानो अदृश्य होकर किसी पर्वत, गुफा आदि में छिप गया। लक्ष्य–मूढ़ राजा जंगल में दिशा–विहीन होकर इधर–उधर भटकने लगा। घूमते–घूमते सूर्य की किरणों के ताप से पीड़ित होते हुए तथा क्षुधा व तृषा से व्याकुल राजा किसी भी तरह से उस कुम्भकार की कुटिया के समीप पहुँचा। एक सघन वृक्ष के नीचे विश्राम करने बैठ गया।

पंकप्रिय ने देखा, तो अपने राजा को पहचान लिया। अपनी कुटिया में रहे हुए जलपात्र में स्थित गुलाब से सुवासित, स्वादिष्ट एवं सज्जनों के चित्त की तरह स्वच्छ–शीतल जल पिलाया। राजा भी बर्फ जैसा शीतल जल पीकर अत्यधिक सुस्थित हो गया। फिर पंकप्रिय ने यथा–सम्भव रसोई बनाकर विधिवत्

भोजन कराया। राजा भी उस बनी हुई रसोई को खाकर शीघ्र ही स्वस्थ एवं श्रम रहित बन गया। राजा पंकप्रिय के ऊपर अत्यधिक स्नेहवान बना, क्योंकि–

अवसरे कृता भोजनादिसेवा यद्वा तद्वापि महार्घ्या भवति।

अर्थात् अवसर पर की गयी जैसी–तैसी भोजनादि सेवा भी महा–मूल्यवान होती है।

तब अति स्नेह धारण करते हुए राजा ने पंकप्रिय से पूछा–"हे पंकप्रिय! तुम निर्जन वन में एकाकी किस कारण से रहते हो? गृहस्थ का वेष और वनवास–ये दोनों बातें एक साथ संगत नहीं बैठतीं। अतः बताओ कि तुम्हारे वन में रहने का कारण क्या है?"

तब पंकप्रिय ने कहा–"हे स्वामी। प्राणी अपने ही दोषों से क्लेश–कष्ट को प्राप्त होते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। आत्म–उत्कर्ष को चाहनेवाले प्रायः असम्बद्ध प्रलाप करते हैं। वृथा ही फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। वह सब सुनकर मुझे अत्यन्त दुःखकारिणी ईर्ष्या पैदा होती है। सिर की आर्त्ति के समान अत्यन्त दुःखद इस ईर्ष्या को रोकने में असमर्थ होता हुआ घाव रूपी वाहन से जर्जरित अपने सिर को कूटता था। इस तरह मैं प्रतिदिन लोगों के कूट–वचन को सुनकर सहन करने में अक्षम होता हुआ अपने सिर को कूटने से अत्यन्त दुःखित होता था। तब मेरे पुत्रों ने कहा–हे तात! दूसरों के उत्कर्ष–वचनों को सुनने में अक्षम आपका जन–संकुल नगर में रहना अयुक्त है। अतः आप गहन वन में ही रहें, क्योंकि निर्जन वन में मनुष्यों का अभाव होने से ईष्या सम्भव नहीं होगी। फिर कारण के अभाव में कार्य भी कैसे हो सकता है? इस प्रकार के पुत्रों के वचनों को सुनकर मैंने भी अनुमति दे दी। तब पुत्रों ने इस वन में खाद्य आदि सामग्री से युक्त यह कुटिया मेरे रहने के लिए बना दी है। अब मैं यहाँ सुख से रहता हूँ।"

पंकप्रिय के इस प्रकार के वचनों को सुनकर कृपा रूपी महासागर से युक्त मानसवाले दिव्य विक्रम से युक्त राजा भी उसकी दुःख संक्रान्ति से दुःखित हो गया। कहा भी है–

ये बहुश्रुतास्ते परदुःखवार्त्ताश्रवणेन मनागार्त्ता भवति।

अर्थात् जो बहुश्रुत होते हैं, वे पर–दुःख की बात सुनकर दुःखी हो ही जाते हैं।

जैसे कि समान आश्रय में रहनेवाले कान आँखों में दर्द होने पर पट्टी की व्यथा को सहन करते ही हैं। इसी प्रकार उसके दुःख से दुःखी होते हुए मन में उसके उपकार का स्मरण करते हुए कृतज्ञ जनों के शिखर रूप राजा ने सोचा

कि मैं इसका उद्धार करूँगा। कहा भी है–

यस्माद् येन मस्तकात् तृणमुत्तारितं, तस्यापि प्रत्युपकारकरणं महदप्युपायकरणे सुदुष्करं, तर्हि सर्वोपकारिणः प्रत्युपकारकरणं कथं भवति।

अर्थात् जिस कारण से जिसके द्वारा मस्तक से तृण भी उतारा जाता है, उसका महान उपायों द्वारा भी प्रत्युपकार करना सुदुष्कर है, तो सर्वोपकारी का प्रत्युपकार तो कैसे किया जा सकता है?

शास्त्रों में बहुत तरह के दान बताये गये हैं, जैसे–स्वर्ण दान, पृथ्वी दान, कन्या दान, रत्न दान आदि अनेक दान पृथ्वी पर दिये जाते हैं, परन्तु समय पर दिये गये अन्न के दान के करोड़वें अंश का भी मोल नहीं किया जा सकता। जैसे कहा भी गया है–

क्षुधाक्लीबस्स जीवस्य, पञ्च नश्यन्त्यसंशयम्।
सुवासनेन्द्रियबलं, धर्मकृत्यं रतिः स्मृति।।

अर्थात् भूख से पीड़ित जीव के पाँच चीजों का संशय रहित नाश होता है–सुवासना, इन्द्रिय बल, धर्म कृत्य, रति व स्मृति।

अतः किये गये भोजन रूप उपकार के लिए कुम्भकार को अनगिनत लक्ष्मी देकर कृतज्ञ भाव दरसाऊँ, जिससे थोड़ा बहुत उऋण हो पाऊँ।

इस प्रकार विचार करके राजा ने कहा–"हे भद्र! तुम सुखपूर्वक मेरे साथ नगर में आओ। मेरे दिये हुए आवास में रहकर मेरे पास ही मेरे द्वारा आदिष्ट व अर्पित भोगों का भोग करो। वहाँ रहते हुए यदि कोई शिक्षित नागरिक भी तुम्हारे सुनते हुए असंबद्ध प्रलाप करेंगे, तो मेरे द्वारा चौर–दण्ड से दण्डनीय होंगे।"

राजा के ऐसा कहने के तुरन्त बाद ही भूपति को खोजते हुए सामन्त, सचिव आदि चतुरंगिणी सेना से युक्त होकर दक्षिणावर्त्त शंख की पीठ पर सामान्य शंखों की तरह आ गये। राजा को देखकर वे सभी हर्षित हो गये। तब पंकप्रिय के साथ अश्व पर आरूढ़ होकर राजा चतुरंग चमू के साथ अपने पुर की ओर प्रस्थित हुआ।

मार्ग में जाते हुए राजा ने नगर के उपवन में अति रूपवती एक कन्या को कुब्ज–बेर के वृक्ष से बोरों को चुगते हुए देखकर उसको कहा–"हे सुभ्रु! तुम किसकी पुत्री हो?

राजा के इस प्रकार पूछने पर उसने कहा–"हे स्वामी! मैं खक्ख नामक कृषिकार की पुत्री हूँ।"

इस प्रकार सुधा–सिंचित उसकी वाणी अपने कर्ण–सम्पुटों से पी–पीकर

उसके रूप में मोहित हृदयवाला राजा उसी का मन में स्मरण करता हुआ अपने महल में आया। फिर मंत्री द्वारा उसके पिता को बुलवाकर उसका कुल अपने बराबर करवाकर उस कन्या के साथ राजा ने शादी कर ली। उस कन्या को राजा ने पट्टरानी का पद दे दिया, क्योंकि प्रिय–स्त्रियों को कुछ भी अदेय नहीं होता। उधर पंकप्रिय भी राजा द्वारा दी गयी सम्पदा को निःशंक रूप से भोगने लगा, क्योंकि सम्पदा का फल–भोग आदि ही है।

राजा ने अपने नगर में उद्घोषणा करवा दी कि जो पंकप्रिय कुम्भकार के आगे असम्बद्ध बोलेगा, वह मेरे द्वारा चौर–दण्ड से दण्डित किया जायेगा। अतः सभी जन अपने मन में विचार कर सरलता से बोलें। तब से पंकप्रिय सुखपूर्वक रहने लगा।

इस प्रकार सुखपूर्वक काल व्यतीत करते हुए वर्षाकाल के अन्त में एक दिन राजा खक्खा पट्टरानी तथा पंकप्रिय के साथ नगर के बाहर उद्यानों में घूम रहा था। पग–पग पर विविध वृक्षों को देखते हुए एक जगह बदरी–वन को देखा। तब राजा ने रानी से पूछा–"हे देवी! ये किस चीज के वृक्ष हैं? इनका नाम बताओ।" उस समय वह रानी अत्यन्त सुखों में निमग्न होने से पूर्व अवस्था को भूल गयी थी। राज–लीला में अवगाढ़ उसने राजा को कहा–"मैं नहीं जानती कि यह कौन–सा वृक्ष है अथवा इसका क्या नाम है।"

रानी के द्वारा कथित इस प्रकार के वाक्य को सुनकर ईर्ष्या से क्षुब्ध होते हुए पंकप्रिय शत्रु की तरह दृढ़ मुट्ठियों द्वारा अपने मस्तक को कूटने लगा।

तब राजा ने उसे इस स्थिति में देखकर परिजनों को कहा–"अरे! मेरी आज्ञा का विध्वंस करनेवाले, मृत्यु के इच्छुक किस व्यक्ति ने इसे ईर्ष्या–पोषक वचन सुनाये?"

राजा के वचनों को सुनकर परिजनों ने कहा–"हे स्वामी! आपकी आज्ञा को नष्ट करनेवाले वचन किसी ने नहीं कहे।" तब पंकप्रिय ने लोक–भाषा में एक चार चरणवाला दोहा कहा–

"कोलिं जि बोरां विंणती, आज न जाणे खक्ख।
पुणरवि अडवि करिसुं, पिं न सहु एह अणक्ख।।"

अर्थात् कल तक जो बोरों को चुनती थी, वह खक्खा आज उनका नाम तक नहीं जानती। अहो! इस अनाख्येय को सहन नहीं कर सकने के कारण मैं पुनः अटवी में घर बनाकर रहूँगा।

यह सुनकर नृप ने विचारा–"मेरे द्वारा दिये गये आधिपत्य के कारण मेरी प्रिया अपनी पूर्व स्थिति को भूल गयी है। अगर इस प्रकार की सौख्य लीला

की रचना नहीं होती, तो मेरी प्रसन्नता का वस्तुतः क्या फल प्राप्त होता? मेघ द्वारा बरसने पर भी यदि पृथ्वी अंकुरों से पूरित नहीं होती, तो बादल की क्या महिमा? यह लीलाधारिणी देवी दण्ड के सर्वथा योग्य नहीं है। इस पंकप्रिय की व्याधि सर्वथा अपरिहार्य है। अतः यह पंकप्रिय भले ही खुशी–खुशी वन में जावे। लेकिन इसके वचन–मात्र अपराध से रानी तिरस्कार के योग्य नहीं है।'' इस प्रकार विचार करके राजा द्वारा निकाला गया पंकप्रिय पुनः जंगल में चला गया और पहले की तरह कुटिया में रहने लगा।

इस प्रकार कितना ही काल बीत जाने के बाद एक बार उस वन में रात्रि में अत्यधिक भयंकर बाघों की दहाड़ सुनकर भयभ्रान्त शरीरवाला, अन्यत्र कहीं न जा पाने के कारण संकुचित अंग करके पंकप्रिय नरक–उत्पत्तिवाले स्थान के समान खुदी हुई भूमि में बनी हुई पत्थर की कुम्भिका में जल्दी–जल्दी प्रवेश करके मरण के भय से जैसे–तैसे अंगों को मरोड़कर रात्रि व्यतीत की। सवेरा होने पर म्लान मुख से आकुंचन–प्रसारण रहित अंगों में जड़त्व का प्रसार हो जाने से अंगों को मोड़ने में समर्थ नहीं हो पाया। अतः उस गर्त से बाहर नहीं निकल पाया। अंग–प्रत्यंग को मोड़ने से तीव्रतर वेदना से मरण दशा को प्राप्त होता हुआ दो गाथाओं को अपने परिपार्श्व में लिखकर मर गया।

पिता के वन–गमन के समाचार प्राप्त होने पर जब पुत्र उस वन में आये, तो बार–बार खोजने पर उन्हें अपने पिता मृतावस्था में उस कुम्भी में प्राप्त हुए। उनके परिपार्श्व में ये दो गाथाएँ लिखी हुई मिलीं–

वग्घभएण पविट्ठो, छुआहआ निग्गमम्मि असमत्थो।
अट्टवसट्टोवगओ, पुत्तय ! पत्तो अहं निहणं।
इहलोगम्मि दुरंते, परलोग–विवाहगे।
मय वयणेणं पावे, वज्जेजा पुत्तया! अणक्खे।।

''अर्थात् व्याघ्र के भय से मैं इस कुम्भी में प्रविष्ट हुआ और क्षुधा से आहत, निकलने में असमर्थ मैं आर्त्त–ध्यान के वश होकर हे पुत्रों! निधन को प्राप्त हुआ। इस लोक में दुरन्तकारी तथा परलोक में बाधा रूप दुःख विपाकवाली पाप रूपी ईर्ष्या को हे पुत्रों! तुम लोग मेरे वचन से छोड़ देना।''

इस प्रकार हितोपदेश के रहस्य से युक्त भूत पदार्थ की साक्षी रूप दोनों गाथायें पढ़कर तथा मन में धारण करके वे पंकप्रिय के पुत्र धर्म व नीति में तत्पर बने।

धनसार ने तीनों पुत्रों को यह दृष्टांत सुनाकर इसके माध्यम से शिक्षा दी–''उस पंकप्रिय कुम्भकार ने ईर्ष्या दोष के कारण इस भव व पर भव में

क्रोध तथा द्वेष रूपी वृक्षों के फलों की उपमावाले सहस्र दुःखों के समूह को बार–बार व बहुत तरह से प्राप्त किया। अतः सहेतुक या निर्हेतुक किसी भी प्रकार की ईर्ष्या सुख के लिए नहीं होती। सर्वप्रथम तो ईर्ष्या के आवेश–मात्र से हृदय जलता है। उसकी चिंता से रस व धातुएँ भी जलती है। कौवच नामक वनस्पति की लता का आलिंगन क्या किसी के सुख के लिए होता है भला? बल्कि होता ही नहीं।

इसलिए हे पुत्रों! अति पाप के उदय से उत्पन्न दुःसह दुःखों को फोड़ने का तुम्हारा मन है, तो ईर्ष्या दोष को छोड़कर सद्‌गुण के पक्षपात को भजो।" इस प्रकार बहुत प्रकार से शिक्षित करने पर वे तीनों पुत्र बाह्य रूप से कुछ सरलता दिखाने लगे।

।। इस प्रकार श्री तपागच्छाधिराज श्री सोमसुंदर आचार्य के पट्ट–प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्त्ति सूरि द्वारा विरचित पद्य – बंध श्री धन्य–चरित्रवाले श्री दान कल्प वृक्ष का महोपाध्याय श्री धर्म सागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य की अल्प मति द्वारा ग्रथित गद्य–रचना–प्रबन्ध में लक्ष द्रव्य अर्जन नामक द्वितीय पल्लव पूर्ण हुआ।।

तृतीय–पल्लव

धनसार श्रेष्ठी द्वारा शिक्षित किये जाने पर भी, नीति–मार्ग की युक्तियों से युक्त भी शिक्षा की युक्तियाँ ज्वाला से ज्वलित अन्तःकरण को, मेघ की धारा से मुद्‌ग शैल की तरह जड़ता रूपी आग्रह को बढ़ानेवाली सिद्ध हुई।

उन तीनों पुत्रों ने पुनः एक बार पिता से कहा–"हे तात! आप हमें शिक्षा देने के लिए उद्यत हैं। पर अपने चित्त में विचार तो करिए कि शर्त करके दो लाख द्रव्य उपार्जित किया, वह जुआ ही है, व्यापार की कला नहीं। हम जुए के व्यसन में कुशल धन्य की गुण–श्लाघा को कैसे सहन कर सकते हैं? जो व्यक्ति व्यापार–क्रिया द्वारा द्रव्य उपार्जित करता है, हम तो उसी की प्रशंसा करते तथा सुनते हैं। द्यूत–कला से तो कदाचित् ही लाभ होता है, पर हानि तो सर्वकाल में होती है। कुलीनों के लिए द्यूत–व्यवसाय अनुचित है। कदाचित् भीलों का बाण सरल गति को प्राप्त हो जाये, तो उससे क्या? व्यापार–क्रिया से ही परीक्षा सुभग होती है, छल आदि क्रिया से नहीं।"

इस प्रकार उन पुत्रों द्वारा की हुई वक्रोक्ति को सुनकर पुनः भाग्य की

परीक्षा के लिए धनसार श्रेष्ठी ने व्यापार के लिए सौ–सौ मासा स्वर्ण चारों पुत्रों को दिया। तीनों बड़े भाइयों ने स्वकृत अन्तराय के उदय से तथा मंद भाग्य के योग से सौ मासा स्वर्ण से व्यापार करने में मूल द्रव्य को भी शीघ्र ही गँवा दिया और लज्जित होकर घर पर आ गये।

दूसरे दिन धन्यकुमार वाणिज्य के लिए सौ मासा स्वर्ण लेकर निकला। पाटक द्वार पर आकर उसने शगुन देखे। स्वर्णादि व्यापार के चतुष्पथ की दिशा में शकुन नहीं हुए। इसी प्रकार अन्य व्यापार की दिशा में शकुन खोजने लगा। पर इच्छित अर्थ की सिद्धि करनेवाले शकुन नहीं हुए। तब कितना ही समय बीत जाने के बाद काष्ठ पीठी के चतुष्पथ की ओर अति लाभ करनेवाले शकुन हुए। अतः धन्यकुमार उन शकुनों को नमस्कार करके उसी चतुष्पथ की ओर चला।

इधर उसी नगर में धनप्रिय नामक श्रेष्ठी था। वह कैसा था? दान के नाम से भी त्रास को प्राप्त होता था। किसी के भी दान की बात सुनकर उसे ज्वर चढ़ जाता था। उसकी गाँठ में 66 छासठ करोड़ धन था, पर कृपण आत्माओं में प्रमुख व पुराने, सैकड़ों स्थानों से टूटे–फूटे हुए, दूसरों द्वारा परित्यक्त ऐसे घर में दास की तरह रहता था। अच्छा अन्न कभी नहीं खाता था। जल के व्यय के भय से वह कभी स्नान भी नहीं करता था। वह चीनक–चनक–वल्ल–चवले प्रमुख असार धानों को भी आधा पेट ही खाता था। संख्यातीत धन होते हुए भी तेलयुक्त अन्न को खाते हुए भी अपने पारिवारिक जनों के कवलों को दूर से ही गिनता था। वह ताम्बूल खाने के स्थान पर बबूल की छाल को चबाता था। गृहस्थ होते हुए भी वह प्रायः तपस्वी की तरह कंद–मूल–फल आदि का आहार करता था। हमेशा धन–व्यय का भय लगे रहने से वह कभी देव–भवन में भी नहीं जाता था। कभी भी गीत, नृत्य व संगीत में उसकी मति क्षण–मात्र भी आसक्त नहीं होती थी। तृण व काष्ठ के व्यय से भीरुप्राय वह लंगोटी पहनकर उपशांत तृष्णावाले की तरह वन में भ्रमण करता था और तृण–काष्ठादि का संग्रह करता था। भिक्षा के समय घर के सामने भिक्षुओं को देखकर वह दोनों कपाटों पर भीतर से अर्गला लगा देता था। कभी काक–ताली न्याय से कपाट खोलते ही कोई भिक्षुक आ जाता था, तो उसे अनर्गल रूप से गाली तथा गलहस्त देता था। लेकिन कण भी नहीं देता था।

एक बहुत बड़ा आश्चर्य यह था माँगने पर भी इस प्रकार की पाँच वस्तुओं का प्रदाता भी लोक में अदाता के नाम से विख्यात हुआ, क्योंकि *पुण्य के बिना तो यश भी नहीं होता।*

इस प्रकार के उससे कभी स्वजनों द्वारा जबरदस्ती से कौड़ी–मात्र भी

द्रव्य व्यय कराये जाने पर उसको सात मुख से प्राणहारी ज्वर चढ़ जाता था। उसके देखते हुए अगर कोई दान दे देता था, तो भी उसके सिर में लोगों द्वारा की गयी तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो जाती थी। गुणों से मुख्यता रहित तथा धन से मुख्यतावाले उसके द्वारा किसी विवाह आदि अवसर पर स्निग्ध पदार्थ आदि खाये जाने पर अतिसार रोगी की तरह उसका पेट खराब हो जाता था। माला, चन्दन आदि का भोग उसने रोग की तरह छोड़ दिया था। इसलिए स्वजन–वर्ग, कुटुम्ब–वर्ग आदि ने चाण्डाल के कुएँ की तरह उसके साथ आलाप–संलाप का त्याग कर दिया था।

एक दिन उस कृपण ने मन में विचार किया–"मेरे पुत्र जवान हो गये हैं। कदाचित् अवसर पाकर मेरा धन ग्रहण न कर लेवें।" इस प्रकार विचार करके छियासठ करोड़ द्रव्य के बदले मणियाँ खरीद लीं। फिर एक बहुत बड़ी खाट बनवायी। उसके चारों पायों को खोखला बनवाकर, उनमें अपने बहुमूल्य रत्न भरकर उसके ऊपर ढ़क्कन लगवाकर लेप आदि से लिप्त कर दिया। जिससे उसमें रहे हुए रत्नादि किसी को दिखायी न पड़े। इस प्रकार की रत्न–गर्भ उस खाट को सबसे छिपाकर बनवाकर सदैव उसी से नव–विवाहिता पत्नी की तरह चिपका रहता। उसे छोड़कर न तो किसी के घर जाता, न उससे नीचे उतरता। खाना–पीना भी उसी पर बैठकर करता। अज्ञान के वश में रहा हुआ घड़ी–मात्र भी उस खाट से दूर नहीं होता था। रात–दिन उसी खाट पर व्यतीत करता था।

जो धन के लोभी होते हैं, वे धन में ही आसक्ति को धारण करते हुए प्राण से भी जयादा धन को मानते हैं। पर यह नहीं जानते कि सुरक्षित की गयी लक्ष्मी किसी के साथ नहीं जाती। कहा भी है–

अभक्ष्यभक्षणेनशरीररक्षणतत्परं पुरुषं मृत्युर्हसति, अनेकव्यापारेणऽर्जितधनस्य क्षितौ क्षेपपरं पुरुषं धरा हसति, कुलटा वनिता पुत्रलालनतत्परं स्वपतिं हसति।

अर्थात् अभक्ष्य के भक्षण से शरीर के रक्षण में तत्पर पुरुष पर मृत्यु हँसती है। कैसे? देखो! संसारियों की मूर्खता! मृत्यु के आने पर शरीर का पोषण करना व्यर्थ है।

इसी प्रकार अनेक तरह से व्यापारों द्वारा अर्जित धन को पृथ्वी में छिपानेवाले पर यह धरा हँसती है। कैसे? मूढ़ता तो देखो! मन में तो जानता है कि यह धन कार्यकाल में मेरे भोग के लिए होगा। पर नहीं जानता कि लक्ष्मी भाग्यवानों के भोग के लिए होती है। नहीं जानता कि आगे क्या होनेवाला है। यह धन किसका होगा? कर्मों की गति विचित्र है। अतः धरा हँसती है।

कुलटा स्त्री पुत्र–लालन में तत्पर अपने पति पर हँसती है। कैसे? यह मूढ़ पति मन में हर्षित होता है, कि मैं अपने पुत्र को खिला रहा हूँ। पर नहीं जानता कि यह पुत्र किसके वीर्य से उत्पन्न है? स्वयं तो नंपुसक के तुल्य है, पर अपने वीर्य से उत्पन्न पुत्र के गर्व की तरह गरजता है। यह हँसने का अभिप्राय है।

पापानुबंधी पुण्य से युक्त पुरुष स्व–कृत अन्तराय रूपी कुकर्मों द्वारा प्राप्त लक्ष्मी को भी भोगने में समर्थ नहीं होता। क्या द्राक्षा–पाक के अशन–काल में कौए की चोंच पक नहीं जाती? अर्थात् पकती ही है। इस प्रकार वह कृपण–शिरोमणि वृद्धावस्था की अन्तिम अवस्था को प्राप्त करके भी अहो! मोह–ज्वर रूपी रस्सी का आलम्बन लेकर धन–व्यय के भय से औषध के द्वेष रूपी कीचड़ में फंसकर क्या मुक्त हो सकता था? ज्वर–बाधा से युक्त होने पर भी द्रव्य–व्यय के भय से औषधि नहीं लेता था।

रोग से व्याप्त हो जाने पर मृत्यु के समय परलोक में सुख के हेतु के लिए पुत्रों ने पिता से पूछा–"हे तात! धन कहाँ है? जिसे कि धर्म–स्थान में बोकर आपका भवान्तर सहायी बनाया जाये।"

तब वह कृपण मरण के समय भी पुत्रों से बोला–"हे पुत्रों! मैंने पूर्व में ही करोड़ों का द्रव्य धर्म–रीति द्वारा व्यय कर दिया है, अतः मैं पूर्वकृत सुकृत्यों से सुगंधित हूँ। अब तो मैं एक ही पाथेय की याचना करता हूँ। वह मुझे दे देना।"

पुत्रों ने कहा–"जो आपकी इच्छा हो, वह कह दीजिए।"

उसने कहा–'हे पुत्रों! मेरी सर्वाधिक प्रिय इस अखण्डित खाट के साथ ही मेरा अग्नि संस्कार कर देना। यही मेरा प्रिय पाथेय होगा। अन्य पाथेय की बात छोड़ो।" इस प्रकार बोलते–बोलते शीघ्र ही बेहोश होकर उस प्रिय खाट के साथ गाढ़ आलिंगन करके गिर गया।

जिस प्रकार से इंसान अपने कर्मों के उदय से जनित प्रकृति को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार वह भी अपने पुत्रों द्वारा पृथ्वी पर उतारे जाने के आशय से उठाये जाने पर भी मूर्च्छित–मरण दशा को प्राप्त होने पर भी मृतक–ग्रन्थि के पतन से बहुत कष्ट से भी उस खाट को नहीं छोड़ पाया।

तब उस कृपण की पत्नी ने अपने पुत्रों से कहा–"हे पुत्रों! यदि तुम पितृ–वत्सल हो, तो पितृ–भक्ति को दिखाते हुए अपने पिता की अन्तिम इच्छा के मुताबिक उनकी प्राणों से भी प्रिय इस खाट को मत छुड़वाओ।" तब माता के वचनों से उसके पुत्रों ने उसे खाट पर से नहीं उतारा और वह खाट पर रहा हुआ ही मर गया।

उसके बाद पिता के आज्ञा–पालक पुत्रों द्वारा खाट सहित पिता के शव को शमशान ले जाया गया। उसे उसी प्रकार खाट सहित ही जब चिता में अग्नि संस्कार के लिए रखा जाने लगा, तो श्मशान पालक चाण्डाल ने उस खाट की याचना की। पर उस कृपण के पुत्रों ने देने से इंकार कर दिया। उनका चाण्डाल के साथ झगड़ा हो गया। चाण्डाल ने उन्हें अग्नि संस्कार करने से मना कर दिया।

इस प्रकार कलह होते हुए देखकर स्वजनों ने कृपण के पुत्रों से कहा–"नीच–अन्त्यज जातिवालों के साथ कलह करना श्रेयस नहीं है। चूँकि यहाँ श्मशान में मृतक के ऊपर रहे हुए भव्य वस्त्रादि को चाण्डाल ही ग्रहण करता है, अतः इसे खाट दे दो। तुम लोगों द्वारा पितृ–वचनों के प्रमाण रूप खाट श्मशान तक तो लायी ही गयी है। अतः अब चाण्डाल को दे देनी चाहिए।" पुत्रों ने भी स्वजनों का मान रखते हुए वह खाट चाण्डाल को दे दी।

दाह–संस्कार के बाद चाण्डाल उस खाट को बेचने के लिए उसे चतुष्पथ पर ले गया, पर मृतक की खाट जानकर उसे किसी ने नहीं खरीदा। मर्म से अनभिज्ञ होने के कारण निपुणजन भी मृतक की शय्या रूप उस अशुभ खाट की अमाँगल्यता के भय से उपेक्षा करने लगे।

उसी समय धन्यकुमार भी अपने भाग्य की परीक्षा के लिए वहाँ आया हुआ इधर–उधर देख रहा था। तभी उसने मृतक की पलंग देखी। धन्यकुमार ने अपनी बुद्धि से लेप आदि के द्वारा, राल–संधि आदि अवगुंठन द्वारा, ज्यादा भारी एवं पाये आदि को स्थूल जानकर उस खाट को रत्न–गर्भा मानकर सात मासा सोना देकर उसे खरीद लिया। सेवकों द्वारा ग्रहण करवाकर घर जाकर गुण से उदार उसने पिता आदि को वह खाट दिखायी। तब पिता ने मोह से कुछ भी नहीं पूछा, बल्कि पिता द्वारा आदेश दिये जाने पर बहू उस खाट को उठाकर जल्दी–जल्दी में अन्दर ले जाने लगी, तो सम–विषम मोड़ने से उसके अंगों के विघटन से खाट के पायों से होनेवाली रत्न–वृष्टि ने धन्य के अहोश्री से विश्व को भरने की तरह घर को भर दिया। तब लाखों–करोड़ों के महामूल्यवाले रत्नों की श्रेणियों को देखकर सभी स्वजन धन्यकुमार की स्तुति करने लगे–

अहो भाग्यमहो भाग्यम्, अहो बुद्धि विशालता।
अहो दक्षत्वं धीरत्वं पुत्रोऽयं कुलदीपकः।।

अहो भाग्य! अहो भाग्य! अहो बुद्धि की विशालता! अहो इसकी दक्षता! अहो इसकी धीरता! यह पुत्र तो कुल–दीपक है।

इस धन्यकुमार के द्वारा अर्थी–जनों की स्पृहा दान से भरी गयी, द्रव्य

से घर भरा गया, कीर्त्ति से तीन जगत भरा गया। मित्रजन हर्ष से भर गये तथा सहोदर ईर्ष्या से भर गये।

इस प्रकार स्तुति करते हुए लोग उगते हुए सूर्य की तरह धन्य को बहुत ही मानने लगे, किन्तु अन्धकारमय प्रकृतिवाले धुवड़ की तरह उसके अग्रज उसे नहीं मानते थे। समस्त स्वजनों से धन्य का वर्णन सुनकर तीनों ही अग्रज ईर्ष्या से जलते थे।

तब असूया करनेवाले पुत्रों को पुनः धनसार श्रेष्ठी ने अनुशासित किया, मधुर वाणी द्वारा उपदेश दिया–"हे पुत्रों! मत्सर भाव से रहित बनो। गुण ग्राह्यता को भजो, क्योंकि–

पङ्कजान्यपि धार्यन्ते गुणादानाज्जनैर्हृदि।
राजाऽपि पद्मसादगुणद्वेषी न क्षीयते कथम्?।।

अर्थात् कीचड़ से उत्पन्न होने पर कमल गुण–आदान से लोगों द्वारा हृदय में धारण किये जाते हैं तथा ग्रहों का राजा चन्द्रमा भी पद्म के गुणों से द्वेष करने के कारण क्षय को प्राप्त होता ही है। जो मनुष्य गुणवानों के गुणों की ईर्ष्या–दोष से प्रशंसा नहीं करते, वे क्षुद्र नर रुद्राचार्य की तरह परभव में अति दुःखित होते हैं। रुद्राचार्य की कथा इस प्रकार हैं–

रुद्राचार्य–कथा

किसी देश में पूर्वकाल में बहुत सारे गुण–समूहों से अलंकृत शरीरवाले बहुश्रुत, बहु परिवार युक्त, पंचाचार पालन में तत्पर रुद्र नामक आचार्य हुए। उनके गच्छ में विदित कीर्त्तिवाले चार साधु हुए। वे दानादि के मूर्तिमान रूप अति उज्ज्वल धर्म–भेदों की तरह शोभित होते थे।

उन चारों में प्रथम बन्धुदत्त नामक मुनि वाद–लब्धि से युक्त थे। वे सभी स्व–पर तीर्थिक तर्क–ग्रन्थों के वेत्ता थे। अत्यधिक विकट, उत्कट तर्क–कर्कश युक्तियों द्वारा सभी वादियों को पराजित कर देते थे। वे पण्डित लोगों से इस प्रकार कल्पना किये जाते थे–जिन मुनि के द्वारा वाद में जीतने पर भी अत्यन्त लघुता को प्राप्त गुरु शुक्राचार्य तूल की तरह गणना में घूमते हैं।

जो मुनि गद्य रचना तथा पद्य रचना में क्रमशः दोष रहित भूषणों से युक्त एवं कवित्व–शक्ति से युक्त थे। ओष्ठ से रहित तथा दाँत से रहित उच्चारित होनेवाले शब्दों के वाद आदि में वर्गादि नियम से युक्त अत्यधिक, स्व–पक्ष–मण्डन से युक्त वाद को रचते हुए, जो एक वर्ष तक भी लगातार इस प्रकार का वाद करते हुए हारते नहीं थे। इस प्रकार के प्रथम बन्धुदत्त मुनि थे।

दूसरे प्रभाकर नाम के मुनि थे, जो अर्हत् शासन रूपी कमल के विकास

में नदी के तुल्य थे। सदा मासखमण आदि अति दुष्कर तप में तप्तर रहते थे। जिन्होंने अपने शरीर को अपने द्वारा बनायी गयी तप–श्री द्वारा मांस–रक्त को लेकर योग व कार्मण योग से वशीकृत करके कृश कर दिया था। जो मुनि कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, लघु सिंह निष्क्रीड़ित, बृहत् सिंह निष्क्रीड़ित तप, वर्धमान आयम्बिल तप, भिक्षु प्रतिमा, भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा आदि अनेक तपस्याएँ करते थे। इस प्रकार जिनशासन के उद्योतकारी वे महातपस्वी दूसरे मुनि थे।

तीसरे सोमिल नामक मुनि नैमित्तिकों में अग्रणी थे। अष्टांग निमित्त शास्त्रों में कुशल, त्रय हस्त–रेखाओं की तरह तीनों कालों के स्वरूप को अमोघ रूप से जानते थे। **जैसे–**

(1) अंतरिक्षम्–आकाश में रहे हुए भावी शुभाशुभ, चेष्टा, कपि–हसित, गन्धर्वनगर, उल्कापात, ग्रह आदि के ज्ञापक थे।

(2) भौमम्–भूकम्प आदि के ज्ञाता थे।

(3) अङ्ग विद्या–बाँये तथा दाहिने नेत्र आदि अंग की स्फुरणा का तथा जिस अंग को स्पर्श करते हुए कोई प्रश्न पूछता–उसमें फलाफल के ज्ञाता थे।

(4) स्वरोदयम्–सूर्य–स्वर तथा चन्द्र–स्वर एवं इनके समान अनेक प्रकार के स्वरों को जाननेवाले, उन स्वरों को उठाने आदि से सत्–तत्त्व–स्वरूप के निरूपण में पारंगत थे।

(5) चूडामणिम्–पूर्व जन्म कृत पाप–पुण्य को जानने का जिनके पास विज्ञान था।

(6) शकुनम्–दुर्ग आदि पक्षी–स्वर, गति, चेष्टा आदि एवं ज्योतिष्क ग्रह की गति के ज्ञाता थे।

(7) सामुद्रिकम्–पुरुष–स्त्री में रहे हुए शुभाशुभ लक्षणों के ज्ञाता थे तथा धूम, ध्वज, सिंह आदि आयानों के ज्ञाता थे।

(8) शुभाशुभ फल के सूचक स्वप्नों के ज्ञाता थे।

इस प्रकार अष्टांग–निमित्त शास्त्रों में सर्वत्र अमोघ वचन युक्त, राजा मंत्री आदि को प्रतिबोधित करनेवाले–इस प्रकार के तीसरे सोमिल नामक मुनि थे।

चौथे कालक नाम मुनि थे, जिन्होंने अति गाढ़ दुष्कर क्रिया द्वारा तीन जगत के कण्टक रूप प्रमाद शत्रु को जीत लिया था। जो ईर्यासमितिपूर्वक साढ़े तीन हाथ भूमि सामने देखते हुए उपयोगपूर्वक मानो नरक में रहे हुए जीवों के उद्धार की चिंता करने के समान नीचे मुख करके धीरे–धीरे विचरण करते थे।

जो बहुत काल तक विनय आदि उपक्रम–विधि के द्वारा अभ्यस्त होने से आकण्ठ विद्या का अध्ययन करके उसके निर्गमन के डर से मानो उघाड़े मुख नहीं बोलते थे। जो बाह्य व अभ्यन्तर रज की शंका से ही बिना प्रत्युपेक्षा किये भाण्ड आदि को ग्रहण नहीं करते थे, न ही रखते थे। जो देखकर पवित्रित भूमि पर चरण धरते थे। सत्य भाषा के साथ प्रथम व चतुर्थ भंग युक्ति द्वारा मधुर, निपुण आदि अष्ट गुण से पवित्रित जिनाज्ञा–युक्त वाक्य बोलते थे। सम्यक्–शास्त्र के अनुकूल मनोयोग–पूर्वक उस आचार का आचरण करते थे। ज्यादा क्या कहें? सर्व–पवित्रता से युक्त वे मुनि सर्व–जनों द्वारा श्लाघनीय थे।

और भी, तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ रूप अष्ट–प्रवचन –माता की निरन्तर आराधना करते थे। इस प्रकार के कालक मुनि शासन को शोभित करते थे।

उनके गुणानुरागी व्यक्ति तो सदैव उन मुनि की विशेष रूप से पूजा–सत्कार आदि करते थे। तब उनके उत्कर्ष को न सह सकने के कारण रुद्राचार्य हृदय में खेद का अनुभव करते थे, क्योंकि ईर्ष्यालु–जन गुणों के स्फुरायमान होने से दीप्तिमान बने अन्य जनों को देखने में समर्थ नहीं होते, बल्कि उसके अपकार के चिंतन से युक्त होते हैं। कहा भी है–

शलभो दुर्जनो दीप्तिमतिं प्रदीपशिखां दृष्ट्वा स्वकीयं प्राणं दत्वाऽपि प्रदीपार्चिं किं नाऽपहरति?

अर्थात् दुर्जन शलभ दीप्तिमती दीपशिखा को देखकर क्या अपने प्राण देकर भी दीपक की लौ का अपहार नहीं करता? करता ही है।

एक बार वहाँ पर रुद्राचार्य के पास कुसुमपुर से श्री संघ द्वारा प्रेषित मुनि–युगल आये। रुद्राचार्य को वंदन करके बैठ गये। तब रुद्राचार्य ने उनके आने का कारण पूछा। उन दोनों ने कहा–"स्वामी! इस समय एक षट्तर्की भिदुर नामक विद्वान वादी प्रत्येक ग्राम के बहुत से वादियों को जीतते हुए पाटलिपुत्र आया है। अब वह तार्किक विजयोन्मत्त बनकर जैन–मुनियों को भी जीतने की इच्छा रखता है, क्योंकि अत्यधिक दग्ध इंधन की अग्नि पत्थर को जलाने में भी समर्थ होती है। वहाँ कोई भी वैसा नहीं है, जो उसके साथ वाद करके उसका निर्घाटन करे। अतः उस दुर्वादि को जीतने के लिए आपको शीघ्र ही वहाँ आना चाहिए। इस प्रकार के वचन श्रीसंघ द्वारा आज्ञापित हैं और–

अनुल्लंघ्य सङ्घशासनं कर्त्तव्यं भवति।

अर्थात् संघ–शासन का कर्त्तव्य अनुल्लंघ्य होता है।"

इस प्रकार आगन्तुक मुनियों के मुख से सुनकर प्रसन्न होते हुए विद्यासमुद्र

रुद्राचार्य पाटलिपुत्र जाने के लिए व्यवस्था करने लगे। जिस प्रकार चतुर मल्ल और चतुर राजा जीतने की इच्छा से अपनी जाति के विपक्ष को सुनकर उसे निकालने के लिए विलम्ब नहीं करते, शीघ्र ही जाकर निरुत्तर कर देते हैं, उसी प्रकार जब अतिशीघ्र रुद्राचार्य जाने के लिए प्रवृत्त हुए, तब छींक आदि अत्यधिक अशुभ अपशकुनों के द्वारा उन्हें रुकना पड़ा। अतः रुद्रचार्य ने स्वयं का जाना तो स्थगित कर दिया, क्योंकि–

बहुश्रुता निमित्तद्वेषिणो न भवन्ति।

अर्थात् बहुश्रुत निमित्त–द्वेषी नहीं होते।

फिर वादी–वृन्द के दमन में समर्थ बन्धुदत्त मुनि को उस दुर्वादी को जीतने का आदेश दिया, मानो प्रभात में अंधकार रूपी शत्रु का हनन करने के लिए अरुण को आदेश दिया गया हो।

तब बन्धुदत्त मुनि रुद्राचार्य के आदेश को प्राप्त करके पाटलिपुत्र के लिए रवाना हुए। अविच्छिन्न रूप से चलते हुए पाटलिपुत्र पहुँचे। परवादियों द्वारा अधिष्ठित राजसभा को प्राप्त हुए। उस राज सभा में मुनि को आया हुआ सुनकर व देखकर वाद–वदन–कौतुक को देखने के लिए हजारों लोग इकट्ठे हो गये। तब भाग्य से एक जगह प्राप्त सत्–तत्त्व–विवेकी व संकीर्ण बुद्धिवाले दोनों के ही अभिमत गुण–दोषों को तथा तत्त्व को जाननेवाले बहुत सारे सभ्य–जन भी सभा में आये। दुर्नय को परास्त करनेवाला अति निपुण गुणानुरागी राजा भी सिंहासन के मध्य आसीन हुआ।

इस प्रकार चतुरंगी सभा के सम्मिलित हो जाने पर पहले सौगत मत का आलम्बन लेकर भिदुर नामक वादी ने तर्क सहित युक्ति जाल बिछाया। "जैसे–जो सत् है, वह सभी क्षणिक है। जैसे–दीप ज्वाला का समूह। सम्पूर्ण भाव सत् हैं, अतः क्षण भर में नष्ट होनेवाले हैं।"

भिदुर वादी द्वारा अपने पक्ष की स्थापना के लिए कृत प्रतिज्ञा आदि से विरत होने के बाद स्याद्वाद–वदन में कोविद, बुद्धिनिधान बन्धुदत्त मुनि ने उसको उत्तर देने के लिए जोरदार न्याय पटली को कहा–"जो सत् है, वह कभी क्षणिक नहीं होता। क्योंकि यह वही है–इस प्रकार की स्थिरता के बल से उत्पन्न सत्तामात्र बल से उद्भव होनेवाली अविसंवादिनी प्रत्यभिज्ञा आपके ही अनुमान से बाधित होती है। तत् शब्द पूर्व परामर्शकारी पूर्वानुभूत स्वरूप सत्ता का ग्राहक होता है। अगर सत्ता–ग्राहकता नहीं होती, तो वहाँ यह वही है–इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती।"

यह उत्तर सुनकर पुनः भिदुर ने कहा–"तो फिर स्व केश आदि के छिन्न

होते हुए पुनः अंकुर आदि भाव से उगते हुए देखे जाते हैं और उनमें–यह वही है–इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है, वह ज्ञान विसंवादी होता है। जैसे कि देखा गया है, वैसे स्तम्भ, कुम्भ, जल, कमल, सभा, राजा, भवन आदि में अन्यथा–असिद्ध ही होता है–इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान इष्ट होता है, ना कि पूर्व अनुभूत सत्ता का ग्राहक होता है।"

इस प्रकार के उत्तराभास को सुनकर पुनः बन्धुदत्त मुनि ने कहा–"हे प्रतिवादी! जैसे प्रत्यक्ष–दृष्ट जल मृगतृष्णा होता है, वैसे ही प्रत्यक्ष घट आदि भी मिथ्या कैसे नहीं हो सकते? और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रत्यक्ष पदार्थों में अप्रमाणता के प्रसंग से तुम्हारा अनुमान भी प्रमाण के योग्य नहीं है, क्योंकि वह अनुमान भी प्रत्यक्ष–पूर्वक ही होता है और प्रत्यक्ष तो तुम्हारे द्वारा असत् रूप से परिकल्पित है। और भी, पदार्थ के एकान्त रूप से क्षण–विनाशी होने पर कोई भी मातृ–घाती नहीं होगा, क्योंकि जिस माता से वह पैदा हुआ, वह तो उसी समय विनष्ट हो गयी और जिस का घात किया, वह तो आपके मत से कोई दूसरी ही है। इसी प्रकार स्त्रियों के लिए कोई भी अपना पति नहीं होगा, पुरुष की कोइ भी पत्नी नहीं होगी। जब स्त्री–पुरुष का विवाह हुआ, तो वे तो उसी समय विनष्ट हो गये। इस प्रकार होने पर कोई भी स्त्री पतिव्रता नहीं होगी, क्योंकि जिस पुरुष के साथ पाणिग्रहण हुआ, वह तो उसी समय नष्ट हो गया।

इसी प्रकार व्रत–ग्राहक कोई ओर होगा तथा व्रत–पालक कोई और। फिर व्रत–विराधक भी कोई नहीं होगा, क्योंकि व्रत को ग्रहण करनेवाला तो उसी समय में नष्ट हो गया। उत्तर–काल में तो कोई अन्य ही होगा और उस अन्य ने तो प्रतिज्ञा की ही नहीं, तो फिर विराधना का पाप कैसे लगेगा?

हे वादी! तुम्हारे मत में तो एक के द्वारा धरोहर रखी जाती है, और दूसरे के द्वारा माँगी जाती है। अर्पक तो नष्ट हो गया। उस धरोहर का ग्राहक तो कोई और ही होगा। धन भी नष्ट हो गया। तब कौन देगा और किससे माँगेगा?

और भी, भोजन की याचना किसी अन्य द्वारा की जायेगी और खायेगा कोई और ही। अत याचक कोई अन्य होगा, भोक्ता कोई अन्य होगा तथा तृप्त कोई अन्य होगा। इस प्रकार तुम्हारे मत में सारी व्यवस्था का ही लोप हो जायेगा। इसलिए हे भद्र! भद्रकारी जैन शासन की सेवा करो!"

इस प्रकार बन्धुदत्त मुनि ने न्याय की वाणी से प्रतिवादियों को जीतकर जयश्री प्राप्त की। सम्पूर्ण नगर में जैनियों की जीत हुई–यह उद्घोषणा फैल गयी। राजा ने बन्धुदत्त मुनि को अत्यधिक सम्मान दिया। राजा को धर्म–रुचि

उत्पन्न हुई।

फिर सभी महा–महोत्सव से युक्त होकर आचार्य की ओर चले। कुछ दिनों में रुद्राचार्य के समीप पहुँचे। जैन मार्ग में कुशल भट्टारक आदि बहुत–सी उपमाओं द्वारा स्तुति किये जाते हुए उपाश्रय में प्रविष्ट हुए। जैसे– "वादी–गरुड़–गोविन्द! निर्जित वादी वृन्द! षट् भाषा वल्लिमूल! परवादी मस्तक शूल! वादी कन्द कुद्दाल! वादी वृन्द भूपाल! वादी समुद्र अगस्ति! वादी गगन गभस्ति! वादी गोधूम घरट्ट! वादी मान मरट्ट! वाचाल सरस्वती! शिष्यी कृत बृहस्पति! सरस्वती भाण्डागार! चतुर्दश विद्या अलंकार! सरस्वती कण्ठाभरण! वादी विजयलक्ष्मी शरण!" इत्यादि अनेक उत्कृष्ट उपमाओं की वर्षा से एवं बिरुद की हवाओं से कर्णों को अवरुद्ध करती हुई ध्वनियों से नीति–निपुण भी रुद्राचार्य रोष–मुद्रित हो गये। क्योंकि–

महतोऽपि भवेत् द्वेषः सेवके तुङ्गतेजसि।
कामदेवं महादेवः किं सेहेऽधिकविक्रमम्।।

अर्थात् बड़े लोगों को भी सेवक के अधिक तेज को देखकर द्वेष पैदा हो जाता है। जैसे–महादेव कामदेव के अधिक विक्रम को देखकर रोष के उदय से क्या उसे सहन करते हैं? अर्थात् नहीं करते।

संघ सहित बन्धुदत्त मुनि द्वारा वंदन किये जाने पर भी, बहुत सी स्तुतियों द्वारा स्तुति किये जाने पर भी वे रुद्राचार्य ईर्ष्यालु होकर एक भी शब्द नहीं बोले। जलते हुए पाषाण पर पानी डालने पर क्या वह पानी को नहीं सोख लेता? अतः रुद्राचार्य ने बन्धुदत्त मुनि की प्रशंसा करना तो दूर रहा, परन्तु बात तक नहीं की। आने पर पानी तक के लिए नहीं पूछा। जिस कारण से वह मुनि अत्यन्त असूया की वजह से मूढ़ हो गया। अहो! धिक्कार है ऐसे कषाय को! जिसके वशीभूत होकर बहुश्रुत भी विपर्यास को प्राप्त होते हैं। जो अन्दर से मलिन होते हैं, वे अपने नजदीकी सेवक का भी निरादर करते हैं। जैसे कि अन्दर से मलिन लोचन पार्श्व में रही हुई मूँछों को भी नहीं देख पाते हैं।

इस प्रकार गुरु द्वारा सत्कार नहीं किये जाने पर बन्धुदत्त का अध्ययन में आदर कम हो गया। उसने अभ्यास, पठन आदि का त्याग कर दिया। इस प्रकार बिना अभ्यास के वह जड़मति हो गया। जैसे नये उपवन का सिंचन नहीं किये जाने पर वह पत्र, पुष्प, फलों आदि से रहित हो जाता है, वैसे ही बन्धुदत्त मुनि भी ज्ञान आदि क्रियाओं में शिथिल हो गये।

उधर साकेतपुर नगर में दया रहित, कृपण, क्रूर, सर्प के अनुज के

समान अदर्शनीय कृप नामक राजा था। वह राजा कुशास्त्र के श्रवण से विभ्रान्त चित्तवाला होने से कभी पाप करने से थकता नहीं था। शिकार आदि हिंसा को करता था। झूठ बोलता था। चोरी, अब्रह्म आदि महापापों को प्रतिदिन करता था। अज मेघ, अश्व मेघ, नर मेघ, गो मेघ आदि यज्ञों को दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर पुरोहितों द्वारा अनेक बार करवाता था। बिना उद्विग्न हुए ब्राह्मणों को बहुत सारा स्वर्ण, भूमि, लवण, तिल आदि देता था। गर्वपूर्वक तथा उत्साहपूर्वक सभी पर्वों में स्वर्ण आदि द्रव्यों से गाय आदि की आकृति बनवाकर तिल, गुड़ आदि के साथ देता था, ब्राह्मण कुगुरुओं द्वारा दी गयी वासना से प्रेरित होकर जैन अणगारों को वह दुष्ट बहुत बाधाएँ देता था। अतः जैन मुनियों ने साँपयुक्त घर की तरह साकेतपुर का त्याग कर दिया था।

इस प्रकार साकेतपुर की वार्त्ता सुनकर निमित्तज्ञान में कुशल सोमिल मुनि ने रुद्राचार्य से कहा–"हे स्वामी! अगर आप आदेश करें, तो मैं निमित्त–भाषण–कला के द्वारा साकेतपुर के कुराजा को प्रतिबोधित करूँ।" यह सुनकर गुरु के द्वारा भी उस दुष्ट राजा के प्रतिबोध के लिए आज्ञा दे दी गयी।

करुणा–सागर सोमिल ऋषि साकेतपुर गये। वहाँ राजा के मुख्यमंत्री के घर पर ठहरे। उसी दिन राजा द्वारा कराये गये नये आवास में प्रवेश के लिए ब्राह्मण द्वारा समर्पित लग्न में राजा द्वारा गृह–प्रवेश सामग्री करवायी गयी।

तब निमित्त–ज्ञान में कुशल सोमिल ऋषि ने निमित्त बल से भावी अशुभ के उदय का निर्णय करके सचिव को कहा–"हे मंत्रीश्वर! तुम्हे आज गृह–प्रवेश करते हुए राजा को रोकना होगा। अकाल में विद्युत्–पात का योग होने से बिजली गिरेगी। यह विद्युत–पात आज की रात्रि में ही होगा। इसका निवारण करनेवाला कोई नहीं है, क्योंकि–

अवश्यंभाविभावानां प्रतिकारो न विद्यते।

अर्थात् अवश्य होनेवाले भावी भावों का कोई प्रतिकार नहीं होता।

मैं जो भी कहता हूँ, वह अभिज्ञानपूर्वक कहता हूँ। अतः मेरा कहा हुआ सत्य ही मानो। इसकी सत्यता के विश्वास के लिए एक बात और बताता हूँ कि आज राजा ने रात्रि में मूर्तिमान काल की तरह एक साँप को स्वप्न में देखा हैं। अतः निर्णय करने के बाद तुम्हे जो अच्छा लगे, वैसा ही करो। उसी के अनुसार स्व–हित का आचारण करना।"

इस प्रकार के मुनिवाक्य को सुनकर मंत्री ने मुनि का कहा हुआ सारा वृत्तान्त राजा को बताया। राजा भी वह सब सुनकर विस्मित–चित्त से विचार

करने लगा कि "अहो! मुनि का ज्ञान तो देखो! रात्रि में मेरे द्वारा देखा गया स्वप्न कैसे जान लिया? अतः इसी कारण से आगे भी विद्युत्पात आदि का भी कथन सत्य ही होगा। इसलिए मुझे नूतन घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।"

इस प्रकार मन में निर्धारित करके मुहूर्त्तकाल प्राप्त हो जाने पर भी भय से राजा ने नये घर में प्रवेश नहीं किया। उसी रात्रि में विद्युत्पात से प्रसाद गिर गया।

तब राजा ने प्रासाद–पतन के द्वारा मुनि के ज्ञान के अतिशय को देखकर हृदय में निर्णय किया कि जैनों से ऊपर कोई भी ज्ञाता नहीं है। अतः प्रभात होते ही मिथ्या कदाग्रह को दूर करके राजा ने अपनी आत्मा में तप व क्रियावाले सोमिल मुनि को बुलाकर त्रिकरण शुद्धि द्वारा भूमि पर मस्तक लगाकर मुनि को वंदन किया। मुनि द्वारा बताया गया जैन धर्म अंगीकार किया एवं परम–आर्हत् मार्ग का आराधक हुआ।

राजा के द्वारा धर्म अंगीकार करने से श्री जिनधर्म की उन्नति में खूब अभिवृद्धि हुई। बहुत–से लोगों ने मिथ्या अभिनिवेश का त्याग करके श्री जिन धर्म को अंगीकार किया।

तब भूपति ने शासन–उन्नति की वृद्धि के लिए और अपनी भक्ति के प्रदर्शन के लिए धान उछालना, दान, मान, गीत, नृत्य, बाजे आदि के साथ मंत्री आदि को भेजना आदि अनेक प्रकार के उत्सव के साथ भक्ति रस से भरे हृदय से प्रणत लोगों के साथ सोमिल मुनि को रुद्राचार्य के पास भेजा।

रुद्राचार्य के पास आये हुए मुनि ने भक्ति से विधि–पूर्वक बारह आवर्त्त युक्त वंदन आदि किये जाने पर, साथ में आये हुए अमात्य आदि राजपुरुषों द्वारा आचार्य का वस्त्रादि से पूजन तथा प्रभावना आदि की गयी। सभी लोगों ने सोमिल ऋषि की खूब प्रशंसा की। बहुत ही गर्वपूर्वक दुर्वादि के निराकरण आदि की घटना का निवेदन किया। भक्ति के उत्सेक से पुनः–पुनः की गयी प्रशंसा को सुनकर रुद्राचार्य अन्दर ही अन्दर असूया के दोष से जलने लगा। लोक–लज्जा से कुछ भी बोलने में समर्थ नहीं हुआ। अतः असूया के विचार मन में द्वेष रूप से परिणत होने लगे। जैसे–जैसे सोमिल ऋषि द्वारा की गयी शासन की उन्नति को सुनता, वैसे–वैसे हिम से हत कमल के समान मुख म्लान होने लगा। अतः द्वेष के कारण लौकिक व्यवहार द्वारा भी आगमन की कुशल वार्त्ता भी नहीं पूछी।

तब वे प्रभाकर आदि पूर्वोक्त चारों मुनि तथा गच्छ में रहे हुए अन्य भी सुविहित साधु रुद्राचार्य का निरादर, असूया, जलन आदि को देखकर योग्य होते

हुए भी यथार्थ श्लाघा न किये जाने से हतोत्साही होकर अपने–अपने गुणों में शिथिलता को प्राप्त हुए। तब रण में अप्रशंसित सैनिकों के सैन्य की तरह समग्र साधु–परिवार ही दुःखित हुआ। टूटी हुई पालवाला तालाब क्या नहीं सूखता?

तब वह रुद्राचार्य गुणी–जनों के द्वेष से उत्पन्न किल्विषित्व से, उस पाप की आलोचना किये बिना ही मरकर किल्विषी देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ चाण्डाल तुल्य होने से उसके लिए देव–सभा में प्रवेश तक वर्जनीय था। चिरकाल तक देवों में जातिहीनता से तिरस्कार के दुःख को भोगकर वहाँ से च्युत होकर ब्राह्मण के घर में जन्म से ही मूक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। पूर्वकृत कर्मोदय से रोग से आक्रान्त व दरिद्री तथा अनेक दुःखों से अभिभूत होकर मरकर अनेक भवों में चिरकाल तक भ्रमण किया।

यदि इस प्रकार से आगम तत्त्व को जाननेवाले समस्त श्रुत के वेत्ता आचार्य–गुण के धारी भी रुद्राचार्य एकमात्र ईर्ष्या के कारण घोर दुःख को प्राप्त हुए, तो धमधमाते हुए आग के गोलक के समान ईर्ष्या से जलते हुए मनुष्य का तो कहना ही क्या?

इस प्रकार कथा कहकर पुत्रों से धनसार कहने लगा–"हे पुत्रों! सम्यक् प्रकार से विचार कर गुणरागी बनो।"

इस प्रकार के पिता के वचनों को सुनकर वे तीनों भाई अन्दर से ईर्ष्या–सहित, पर बाहर से भस्म से आच्छादित अग्नि की तरह कितने ही दिनों तक मौन को धारण करके रहे। वह धनसार श्रेष्ठी धन्यकुमार के पुण्य से छियासठ करोड़ द्रव्य का नायक हुआ। पृथ्वी पर लोगों की दुरावस्था को तोड़ने के लिए धनद के समान उसने अवतार लिया।

इस प्रकार गुणियों पर रुद्र मुनि के द्वारा की गयी अत्यधिक उपद्रवकारिणी द्वेष–भावना को जानकर तथा धन्यकुमार के समान सकल इच्छित को पूरा करनेवाली कामधेनु रूप गुणरागिता को सुनकर जो यहाँ इस भव में श्रेयस्कारी हो, बुधजन उसी का आश्रय करें, जिससे अविघ्न रूप से संसार से तिरा जा सके।

।। इस प्रकार श्री तपागच्छाधिराज श्री सोमसुन्दर सूरि के पट्ट प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्ति सूरि द्वारा रचित पद्यबंध धन्य चरित्रवाले श्री दानकल्पद्रुम का महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य की अल्प मति द्वारा ग्रथित गद्य–रचना–प्रबंध में षट्षष्टि–कोटि द्रव्यार्जन नामक तृतीय पल्लव पूर्ण हुआ।।

चतुर्थ पल्लव

धन्यकुमार के तीनों ही सहोदरों ने भाग्यशाली धन्य के साथ तात के मन की अनुवृत्ति से और लोक–लाज के भय से कितने ही दिनों तक भातृ–भाव दिखाया। परस्पर शिष्टाचारपूर्वक गृह कार्य का निर्वाह करते रहे।

इधर प्रतिष्ठान पुर के स्वामी के राज्य के एक देश में समुद्र के समीपवर्ती बन्दरगाह में किसी समय हवा से अत्यधिक प्रेरित होता हुआ मृत स्वामी से युक्त एक विशाल जहाज आया।

उस जहाज में रहे हुए लोगों ने प्रतिष्ठानपुर के राजा को बताया–"स्वामी! इस जहाज का स्वामी तो मार्ग में ही पंचत्व को प्राप्त हो गया। उसका कोई परिजन भी नही है। अतः बिना स्वामी का धन राजा का होता है। इसलिए यह धन आप ग्रहण कीजिए। जो हमारा है, वह पोत में रहे हुए मनुष्यों द्वारा निर्णय करके हमको दे दीजिए।"

तब राजा ने उनके कथनानुसार सब निर्णय करके जहाज में रहे हुए व्यापारियों का वस्त्रादि से सत्कार करके अपने–अपने सम्बन्धादि का धन देकर रवाना कर दिया। तब प्रवास का भाता लेकर वे सभी अपने–अपने स्थान पर गये।

फिर नाविकों द्वारा सागर–प्रवाह के स्रोत से जहाज को छोटे–बच्चों की तरह धीरे–धीरे खींचकर नगर के अन्दर लाया गया। तब राजा की आज्ञा से जहाज में रहे हुए क्रयाणक–माल को नाविकों ने नीचे उतारा। दूसरे जहाज के भी उपकरण निकालकर भूमि पर रखे गये। पुनः उसी जहाज के निचले भाग से क्षार मिट्टी से भरे हुए अनेकों की संख्या में कलश निकले। उसे देखकर राजा तथा प्रमुखजनों ने हृदय में अवधारण किया कि निश्चय ही इस पोतपति के नगर में लवण दुष्प्राप्य दिखायी देता है। इसी कारण से किसी बन्दरगाह से क्षार–मिट्टी से भरे हुए कलश ग्रहण किये होंगे। ऐसी संभावना लगती हैं।

फिर राजा ने प्रतिष्ठानपुर नगर में रहनेवाले व्यापारियों को बुलाकर उनको सारा माल दिखाकर कहा–"हे व्यापारियों! यह जहाज में रहा हुआ माल आप सभी व्यापारी–जन प्रसिद्ध मूल्य देकर ग्रहण कर लीजिए, जिससे किसी का भी द्रव्य टूटे नहीं। लाभ तो अपने–अपने भाग्य–अनुमान के योग्य प्राप्त कीजिए। उसमें हमारा लाभ का भाग नहीं होगा।

राजा के कथन को सुनकर उन व्यापारियों ने परस्पर मंत्रणा की कि नगर में रहे हुए सभी व्यापारियों को बुलाकर राजा द्वारा दिये गये माल को

विभक्त करके देना चाहिए, क्योंकि राज–देय अथवा राज–लभ्य को सभी द्वारा मिलकर ही करना चहिए। पुनः एक के द्वारा निर्वाह होना शक्य नहीं है। अतः कल सभी व्यापारियों को बुलाकर विभाग करके यथा–योग्य ग्रहण करेंगे। इस प्रकार मंत्रणा करके सभी अपने–अपने घर चले गये।

प्रभात के समय पुनः इकट्ठा होने पर किसी ने कहा – "धनसार श्रेष्ठी के यहाँ से कोई नहीं आया, अतः उन्हें भी बुलाना चाहिए।" तब उन्हें बुलाने के लिए एक आदमी को उनके घर भेजा गया।

धनसार ने वृत्तान्त सुनकर अपने तीनों बड़े पुत्रों को वहाँ जाने का आदेश दिया। तब अन्दर से मात्सर्य–भाव से युक्त उन पुत्रों ने कहा–"हे तात! हमें क्यों भेजते हैं? अपने दक्ष पुत्र को क्यों नहीं भेजते? इसकी दक्षता भी ज्ञात हो जायेगी कि इसके वस्तु–ग्रहण का कौशल किस प्रकार का है? अतः इसी को भेजकर लाभ ग्रहण कीजिए।" इस प्रकार की पुत्रों की उक्तियाँ सुनकर धनसार ने धन्य को वहाँ भेज दिया।

पवित्रता की निधि धन्य भी पिता के आदेश को पाकर चारों ओर से शुभ शकुनों से प्रेरित होकर उत्साहित होता हुआ वहाँ आया। फिर सभी बड़े–बड़े सेठों ने अपने–अपने वाणिज्य के अनुकूल वस्तु–क्रयाणकों को विभक्त करके ले लिया। परीक्षक शिरोमणि धन्य तो वहाँ खड़ा–खड़ा सभी क्रयाणकों को दृष्टि पथ पर अवतीर्ण करके अपनी बुद्धि से परीक्षा करके मौन धारण करके रहा।

तब तक तो क्षार–मिट्टी से भरे कलशों के विभाजन का अवसर आया। पर उसे ग्रहण करने के लिए किसी ने भी हाथ नहीं फैलाये। तब सभी ने मिलकर विचार किया–"इस बालक धन्यकुमार को ही ठगना चाहिए, क्योंकि यह बालक होने से सीधा–उल्टा कुछ भी नहीं जानेगा।"

अतः बात बनाकर बालक के योग्य वस्तु बालक को ही दी जानी चाहिए। फिर उन्होंने कहा–"हे धन्य! तुम प्रथम वय में प्रथम व्यापार के लिए आये हो। अतः मंगल रूप इस मिट्टी को ग्रहण करो। शुरूआत में थोड़ा प्रयत्न तथा थोड़ा व्ययवाला कार्य करना चाहिए। बाद में बहु–बहुतर कार्य किया जाना चाहिए। तभी अधिक–अधिकतर बुद्धि संभव होती है और मति–विभ्रम नहीं होता। कहा भी है–

अल्पारम्भा क्षेमकराः भवन्ति।

अर्थात् अल्पारम्भी कार्य कल्याणकारी होते हैं।

और भी, इसका राजदेय द्रव्य भी स्वल्प ही होगा। प्राप्त की हुई वस्तु के कर–ग्रहण में राजा जल्दबाज होता है। इसलिए स्वल्प–मूल्यवाली वस्तु का

विक्रय भी यथावसर शीघ्र ही हो जाता है एवं राज–देय भी शीघ्र ही देने में समर्थ हुआ जा सकता है। तुम्हारे पिता भी हम पर प्रसन्न हो जायेंगे कि मेरे बाल पुत्र को भद्रिक जानकर स्वल्प द्रव्य–व्यय के प्रयासवाली वस्तु दी। अतः मिट्टी ग्रहण करके सिद्धि करो। भव्य ही होगा।''

तब धन्यकुमार ने भी शिष्टाचार की रीति से प्रत्युत्तर दिया–

''महान्तो वृद्धा ईदृशा एव भवन्ति, बालादीनां वृद्धा हितकरा भवन्ति। महाजनानामयं प्रसादः सर्वकामदो भविष्यति।''

अर्थात् बड़े बुजुर्ग ऐसे ही होते हैं, बालक आदि के लिए वृद्धजन हितकर होते हैं। बड़े लोगों का यह प्रसाद सर्व मनोरथ पूर्ण करनेवाला बनेगा।

इस प्रकार मीठे वचनों द्वारा उन्हें संतुष्ट किया। फिर धन्य मन में विचार करने लगा–''देखो! स्वार्थ–पूर्ति के लिए इनका दम्भ–कौशल! मुझ में बाल–भाव जानकर कैसे–कैसे वचन कहकर परीक्षा–ज्ञान में विकल ये लोग कुत्सित वस्तु की बुद्धि से यह मिट्टी मेरे सिर पर मारकर चले गये। ठीक ही है–

संसारे स्वार्थं विना न कस्यापि कोऽपि वल्लभो भवति।

अर्थात् संसार में स्वार्थ बिना कोई भी किसी को प्रिय नहीं होता।

मैंने तो देव–गुरु के चरण–प्रसाद से सहज रूप से अपरिमित लाभ प्राप्त कर लिया।''

इस प्रकार परीक्षक–शिरोरत्न धन्य स्वल्प मूल्य द्वारा उस मिट्टी को अपने घर ले गया। तब उसके तीनों अग्रज–भ्राताओं ने क्षार–धूलि से भरे उन कलशों को देखकर ईर्ष्या के दोष के वश में ताली बजा–बजाकर हँसते हुए पिता के आगे धन्य पर मूर्खता का आरोप लगाने लगे–''हे तात! देखो! आपके दक्ष पुत्र के वस्तु ग्रहण करने के कौशल को तो देखो। विविध देशों में उत्पन्न, विचित्र प्रभाववाली दुर्लभ तथा इस देश में अपूर्व, महामूल्यवाली, पहले कभी न सुनी गयी, न देखी गयी–ऐसी भाग्य से लभ्य वस्तुएँ इस जहाज में बहुत थीं। उनके मध्य से जो–जो लोग व्यापारों में, क्रय–विक्रय कर्म में कुशल, क्रयाणक के उत्पत्ति गुण–संयोजन भेदों में दक्ष थे, उन्होंने उन अभीष्ट साधक अपनी–अपनी वस्तुओं को ग्रहण किया तथा अपना प्रयोजन पूर्ण किया। लेकिन आपका प्रिय पुत्र तो उनके द्वारा ग्रहण किये जाने के बाद जो वस्तु उद्‌गीर्ण थी, जिसे किसी ने भी ग्रहण नहीं किया था, उस निकुत्सित, धूलि के पुंज रूप, हीन जनोचित लवण को लेकर आया है। इसमें तो शुद्ध लवण भी नहीं है। लवण–ग्राहक तो इसका हाथ से स्पर्श भी नहीं करेंगे। इसने तो केवल धूलि से घर को भर दिया। अब इस लवण का किस रीति से क्रय–विक्रय होगा? पूर्व में जिनके द्वारा

सुवर्ण–रत्न–वस्त्र आदि का भव्य जनोचित व्यापार किया गया, उसकी जगह लवण का व्यापार करते हुए पूर्व उपार्जित प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी। येन–केन–प्रकारेण बाल मूर्खादि की व्यापार क्रिया द्वारा घर का निर्वाह हो जाये, तो निपुणों को कौन पूछेगा? गुणवानों की तो अवसर पर ही परीक्षा होती है। कभी काक–ताली–न्याय से मूर्ख का साहस–कार्य एक दो बार सफल हो जाये, तो भी हे तात! मन में हर्ष की उत्सुकता से उसी की ही प्रशंसा व प्रचार करना उचित नहीं है। शिष्ट–जनों के आचरित–व्यवहार काल में वही प्रचार जन–गर्हा को प्राप्त होता है। इसका द्रव्य तो शीघ्र ही देना होगा, वस्तु–विक्रय तो निर्लवण पृथ्वी ही होगी, तभी जानना। जैसे कि लोकोक्ति है कि लंका लूटने के समय निर्भागियों ने अपने हाथों द्वारा पीडा ही प्राप्त किया। अतः आप और आपका यह प्रिय पुत्र मिलकर विचार करें कि इस व्यापार में कितने परिमाण में लाभ होगा।''

इस प्रकार धन्य की हँसी उड़ाये जाते हुए देखकर कुछ–कुछ आशंकित होकर धनसार ने धन्य को बुलाकर पूछा–''पुत्र जहाज में बहुत सारा माल होने पर भी तुम यह धूलि के पुंज–स्वरूप क्षार–मिट्टीवाली वस्तु क्यों लेकर आये हो?''

पिता के कथन को सुनकर धन्य ने विनयपूर्वक अपने पिता से कहा–''हे तात! आपके चरण–प्रताप से दरिद्रता रूपी वन को जलानेवाली वस्तु हाथ में आयी है। सभी महा–इभ्य श्रेष्ठीयों ने तो इस वस्तु के प्रभाव से अनजान होने से इसे तुच्छ जानकर कपट–रचना करके मेरे सिर पर मढ़ दिया। मैने तो श्रीमद् गुरु–चरण–प्रभाव से इसे पहचानकर सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस तुच्छ कही जानेवाली वस्तु का प्रभाव तो सुनिए–इस मिट्टी को सामान्य न समझें। इसके स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है। पारस पत्थर की खान में रही हुई इस धूलि का नाम तेजमतूरी है। यह विश्व के दारिद्र्य का हरण करनेवाली है। इसकी रत्ती–भर–मात्रा सूराख किये हुए आठ पल प्रमाण ताम्बे को सोना बना देती है।

इस प्रकार पिता के आगे निवेदन करने के बाद उसी समय धन्य ने उक्त क्रिया द्वारा ताम्बे और लोहे का स्वर्ण तैयार किया। माता–पिता तो अत्यन्त हर्षित हो गये। तीनों भाइयों को छोड़कर बाकी सभी परिजन प्रतिक्षण धन्य की प्रशंसा करने लगे। भाइयों का अन्तःकरण तो ईर्ष्या से और ज्यादा जलने लगा।

तभी किसी व्यक्ति को धन्य का भाग्योदय सहन नहीं हुआ। उसने चुगली करते हुए राजा से निवेदन किया–''स्वामी! धनसार का पुत्र धन्यकुमार सभी बड़े सेठों को तथा आपको भी ठगकर स्वल्प–मात्र मूल्य देकर तेजमतूरिका से भरे हुए कलशों को घर ले गया। किसी को भी उसने नहीं बताया। अतः वह

तेजमतूरिका राज–भण्डार के योग्य है। उसे लाकर आपको कोष्ठागार भरना चाहिए, जिससे उस धूर्त को सीख मिले।" यह कहकर वह चुगलखोर चला गया।

तब नीतिप्रिय राजा ने विचार किया–"मैने तो जहाज में रहा हुआ सारा माल समस्त व्यापारियों के समुदाय को दे दिया था एवं कहा था कि जिस मूल्य में गाँव में क्रय–विक्रय होता है, वह मूल्य आप मुझे दे देना। उसके आगे तो आप लोगों का जैसा भाग्योदय होगा, वैसा ही लाभ मिलेगा। यही कहकर मैंने माल दिया था। इसके आगे मेरा बोलना अयुक्त होगा। पर महान आश्चर्य तो यह है कि जो अति निपुण, बहु–बहुतर क्रयाणकों के गुण–दोष के परीक्षण में कुशल, विविध देशों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति के जाननेवाले, क्रय–विक्रय करने में होशियार, परिणत वय वाले अनेक लोग हैं, उनके मध्य में धन्य कितना है? कितनी उसकी वय परिणति है, जो उसने उन परिणत वयवाले सेठों को ठग लिया है। अतः चुगलखोर के वचनों में क्या विश्वास करना? धन्य को ही बुलवाकर सारी बात पूछी जाये।"

तब राजा ने धन्य को बुलाने के लिए अपने सेवकों को भेजा। उन्होंने भी जाकर धनसार से कहा–"आपके पुत्र धन्य को राजा ने बुलाया है।"

तब शंकित होते हुए धनसार ने धन्य को बताया–"तुमको राजा ने बुलाया है।"

धन्य ने कहा–"महान भाग्योदय हुआ है। बहुत अच्छा हुआ, क्योंकि अति–पुण्योदय से ही राज–प्रसंग होता है। कोई–कोई तो राजा से मिलने के लिए अति प्रयत्न करते हैं, लेकिन मुझे तो महाराज ने स्वयं बुलाया है। अतः आपके भाग्योदय से भव्य ही होगा। इसमें कोई भी शंका नही करनी चाहिए।"

यह कहकर वस्त्र–अलंकार से विभूषित होकर सेवक आदि परिजनों से युक्त होकर कुछ अद्‌भुत उपहार लेकर राजा के पास गया।

जब यह बात धन्य के तीनों अग्रजों को पता चली, तो तीनों फुसफुसाने लगे–"अहो! यह लोकोक्ति सत्य ही साबित हुई–

कीटिकासंचितं धान्यं तित्तिरिर्भक्षयति।

अर्थात् कीड़ियों द्वारा संचित धान्य तित्तिरि खाती है।

हमारे अनुज ने माया–पूर्वक काला–सफेद करके इधर – उधर से धन इकट्ठा किया, पर आज तो पहले का रहा हुआ भी सारा धन राजा ग्रहण कर लेगा। इसके पाप से हमारा पुराना धन भी चला जायेगा। पिताजी तो आज भी धन्य के गुणों का ही वर्णन करते है।" यह सुनकर मझला भाई बोला–

"अन्धः शिरःस्फालनम् विना सरलो न भवति।"

अर्थात् अन्धा व्यक्ति सिर फूटे बिना सीधा नहीं होता।

हमारे पिता भी रागान्ध होने से कुछ भी नहीं जानते। अतः अब सब जान जायेंगे।" इस प्रकार की बातें बनाते हुए वे तीनों भाई बैठे रहे।

इधर धन्य ने राजा के समक्ष उपहार रखे तथा नमस्कार करके राजा के आदेश से यथास्थान बैठ गया। राजा भी उस भाग्यशाली, रूप, वय, चातुर्य–भूषित धन्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर बोले–"हे धन्य! तुम्हारे सुख–समाधि तो है?

धन्य ने कहा–"आपके चरणों की कृपा है, क्योंकि प्रजा के सुखों का एकमात्र कारण राजा होता है। माता–पिता तो केवल जन्मदायक होते हैं, उसके बाद के सभी सासांरिक सुखों का अनुभव तो राजकृपा से ही होता है। आज तो मेरा महान भाग्योदय हुआ है कि महाराज ने महती कृपा करके मुझे याद किया है। इससे मेरे सुखों पर परम सुख प्राप्त हुआ है। कुछ भी कमी नहीं रही।"

धन्य के इस प्रकार के प्रति–वचनों को सुनकर राजा अत्यधिक सन्तुष्ट हो गया। पुनः धन्य से कहा–"हमारे जहाज के माल से तुमने भी कोई भाग ग्रहण किया या नहीं?"

तब धन्य ने कहा–"महाराज की जैसे शिशु के ऊपर कृपा है, वैसा ही भाग भी मैंने प्राप्त किया है।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

तब धन्य ने आमूल–चूल सारी घटना राजा को निवेदन की कि वस्तु को नहीं पहचान पाने से यह कुत्सित है – इस प्रकार निश्चित करके तथा मुझे बालक जानकर मेरे सिर पर मिट्टी डाल दी। मूल्य भी उन्होंने ही निश्चित किया। मैंने तो उस वस्तु को गुरु–कृपा से पहचानकर मौन रहकर उन्होंने जो दिया, उसे ही प्रामाणिक रूप से ग्रहण किया। इस रीति से मैंने जहाज में रहा हुआ भाग प्राप्त किया। उस भाग में रही हुई तेजमतूरी बहुत सारी मेरे घर में है। इससे आगे तो आपकी आज्ञा ही प्रमाण है।"

इस प्रकार धन्य के अवितथ व्यतिकर को सुनकर राजा ने हँसकर सभ्य–जनों से कहा–"देखो! संसारी लोगों की पर–सुख से ईर्ष्या–दोष की प्रबलता को देखो। अपने अज्ञान से वस्तु–गुण से अनजान तथा स्वार्थ को असाधक जानकर कपट–रचना रचकर धन्य के सिर पर डाल दी। उस समय तो उन्होंने निश्चित कर लिया होगा कि इस कुत्सित वस्तु को यह अज्ञ बालक ग्रहण कर लेगा। अगर इसके पिता आये होते, तो वे तो इसे ग्रहण ही नहीं करते। अच्छा

ही हुआ, जो इस बालक को भेज दिया। इसीलिए तो वे श्रेष्ठी शीर्ष से उतरा हुआ किसी के भी सिर पर गिरे–इस कुटिल बुद्धि से धन को देकर अपने आप को विचक्षण मानते हुए अपने–अपने इष्ट क्रयाणक को ग्रहण करके चले गये। सभी को अपना स्वार्थ प्यारा होता है। किसी ने भी इसकी दया नहीं विचारी। अतः इसने सभी की दुर्जनता को विलसित देखकर अपनी विचक्षणता के द्वारा मौन धारण करके अपना इष्ट ग्रहण कर लिया। क्योंकि :–

दुर्जनानां मर्मकथने स्वस्यैव दुःखाय भवति।

अर्थात् दुर्जनों को मर्म का कथन करना ही दुःख के लिए होता है। इस नीति वाक्य का स्मरण कर वह वस्तु लेकर घर चला गया। धन्य का तो स्व–भाग्योदय होने से अनुपम माल हाथ आया। इसमें किसी का कोई उपकार नहीं है। क्योंकि–

यद् दुर्जनैरुद्वेगाय कृतं तत् स्वभाग्योदयेन परमसुखाय जातम्।

दुर्जनों द्वारा उद्वेग के लिए किया गया कार्य स्व भाग्य के उदय से परम सुख के लिए होता है।

उस सुखोदय को देखकर कोई दुर्जन इसके उदय को नहीं सह सकने के कारण मुझे दुर्बुद्धि देने के लिए आया था। लेकिन मेरा अनीति में प्रवर्तित होना युक्त नहीं है, क्योंकि अनीति से इस लोक में राज्य का नाश होता है और परभव में दुर्गति का पात्र होता है। यदि पूर्व में सभी महाजनों तथा मेरे भी द्वारा तेजमतूरी पहचान ली जाती, तो किसी की भी देने की प्रवृत्ति नहीं बनती। अतः धन्य ने अपने भाग्य के अनुरूप पाया है। भाग्योदय से प्राप्त धन धन्य द्वारा भोगा जाना ही युक्त है, दूसरे के द्वारा नहीं। अतः मैं भी इसे आज्ञा देता हूँ, कि सुखपूर्वक स्वेच्छा से उपभोग करे।''

इस प्रकार राजा ने सभा के समक्ष अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। धन्य ने भी उठकर ''महाराज की मुझ बाल पर महती कृपा''–इस प्रकार कहकर प्रणाम किया।

राजा पुनः उसके गुणों से रंजित होता हुआ सभ्य–जनों के आगे धन्य के सौभाग्य आदि गुणों की प्रशंसा करने लगा–'हे लोगों! देखो! बालक होते हुए भी धन्य की बड़ों के समान पक्व–प्रज्ञा देखो। इसकी दक्षता तो देखो। जो नित्य माल के क्रय–विक्रय में कुशल हैं, अनेक देशों में परिभ्रमण करने से अनेकों मालों की उत्पत्ति–निर्णय के विज्ञान में निपुण हैं, परिणत वयवाले हैं, उन महा–इभ्यों द्वारा भी जो ज्ञात नहीं हुआ, वह सभी इसने जान लिया। अतः मेरे नगर के नागरिकों के बीच यह धन्य ही धन्य है। ऐसे पुरुषों से ही यह पृथ्वी रत्नगर्भा

कहीं जाती है।''

इस प्रकार बहुत तरह से प्रशंसा कर वस्त्र–आभरण आदि द्वारा उसका सत्कार किया। फिर कहा–''हे धन्य! तुम नित्य ही मेरी सभा में आना। तुम्हारे जैसे सत्पुरुष से ही सभा शोभती है।''

सभी मंत्री–सामन्त आदि को भी आज्ञा दी कि जो भी हमारी सभा में शिष्ट–अशिष्ट गत न्याय आदि करने की मंत्रणा हो, वह सभी इस बुद्धि–निधान के आगे निवेदन करके इसके अनुकूल करना। इस प्रकार कहकर धन्य को भेज दिया।

धन्य भी राजा द्वारा प्रदत्त वस्त्र–अलंकार आदि को धारण करके राजा द्वारा दत्त वाहन पर आरूढ़ होकर राजा को प्रणाम करके निकल गया। तब राजा ने आतोद्य–वादक, ध्वजा–कारक, बिरुद–पाठक आदि को आज्ञा दी कि रोज महा–आडम्बरपूर्वक धन्य को गमन–आगमन के समय सावधान होकर यावद् घर से लाया व ले जाया जाये।

तब धन्य ने राजा द्वारा प्रदत्त महा–आडम्बरपूर्वक नगर के चतुष्पथ से होकर अपने घर आकर माता–पिता को प्रणाम किया। पिता भी उसके इतने बड़े राज्य–सम्मान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। पर उसके तीनों अग्रज विषय–विष से मूर्च्छित हो गये।

सम्पूर्ण नगर में धन्य की सर्व न्याय–विदों में मान्यता द्वारा, अपने पुण्य–तप व तेज द्वारा यशःकीर्ति की प्रौढ़ता से मित्र–जन तो पोषित हुए और अमित्र शुष्कता को प्राप्त हुए। राजा का कृपापात्र तथा सामन्त आदि का पूज्य धन्य सभा में बैठा हुआ लोगों द्वारा अपर राजा के रूप को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार कितना ही समय बीत जाने के बाद एक बार राजसभा से राजा को प्रणाम करके उठता हुआ, दिव्य वस्त्र–आभरण से भूषित, अनेक मणि–मुक्ता–फल–झुम्बनक आदि विचित्र रचना से सुखासन पर अधिरूढ़, अनेक देशों से आये हुए भाटों द्वारा उद्‌गीर्ण यश से यशस्वी, अनेक सामन्त–श्रेष्ठी–महा–इभ्यों के द्वारा विनयपूर्वक प्रणत, मार्ग में दीन–हीन– दरिद्र–जनों के दारिद्र्य को उच्छेदन करनेवाला दान देते हुए, अनेक हाथी–घोड़े–सैनिक व सैन्य से घिरा हुआ, अनेक देशों में उत्पन्न अनारोहित रत्नाभरणों से भूषित, आगे किये हुए घोड़ों के नृत्य से युक्त, पाँच प्रकार के वादिंत्र के घोषपूर्वक राजमार्ग का उल्लंघन करके धन्य जब अपने घर के नजदीक पहुँचा, तो धन्य के अग्रज अपने–अपने गवाक्षों में स्थित पूर्ण आश्चर्य से देखने लगे।

उस अवसर पर नागरिक परस्पर बातें कर रहे थे–''हे लोगों! देखो–देखो! पूर्व जन्म कृत पुण्य बल को देखो! कि यह छोटा होते हुए भी अपने तेज द्वारा

वृद्धों का भी माननीय बन गया है। तेजस्विता ही महत्व का कारण होता है, वृद्धत्व नहीं। क्योंकि–

तेजस्विनां हि न वयः समीक्ष्यते।

तेजस्वियों के वय की समीक्षा नहीं की जाती है। तेजस्वी व्यक्ति लघु होते हुए भी प्रशंसनीय होता है, न कि स्थूल। कहा भी गया है–

हस्ती स्थूलतनुः स चाऽङ्कुशवशः
किं हस्तिमात्रेऽङ्कुशः?
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः,
कः दीपमात्रं तमः?
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः,
किं वज्रमात्रो गिरिः?
तेजो यस्य विराजते स बलवान,
स्थूलेषु कः प्रत्ययः?

स्थूल शरीरवाले हाथी को अंकुश वश में करता है, तो क्या अंकुश हाथी जितना होता है? दीप के प्रज्वलित होने पर तम का नाश होता है, तो क्या अंधकार दीपक–मात्र ही होता है? पर्वत वज्र से भी आहत होकर गिर जाता है, तो क्या पर्वत वज्रमात्र होता है? जिसका तेज शोभित होता है, वही बलवान है, स्थूलता का क्या?

अतः धन्य छोटा होते हुए भी कुलदीप है। इसके ही तीनों अग्रज शरीर आदि से स्थूल होने पर भी अकिचिंत्कर है। केवल इसके पीछ ही अपने उदर की पूर्ति करते हैं।"

इस प्रकार के पौरजनों के वचनों को सुनकर तीनों ही भाई अत्यधिक ईर्ष्या रूपी अग्नि–पात से सद्बुद्धि रूपी अंकुरों को दग्ध करते हुए क्रूर आशयवाले होकर परस्पर मंत्रणा करने लगे–"ओह! इस धन्य के जीवित रहते क्या हमारी प्रौढ़ता की वृद्धि होगी? नहीं ही होगी। सूर्योदय होने पर किरणों के स्फुरित होने पर क्या तारे स्फुरित क्रांतियुक्त होते हैं? अतः यह अपना अनुज है–इस प्रकार विचार कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अपने अंग से व्याधि की उपेक्षा क्या पीड़ा नहीं करती? इसलिए सहोदर भाव का परित्याग करके इसको विनष्ट करने पर ही हमारे तेज की वृद्धि होगी। दीप भी बाती को जलाकर ही दीप्त होता है, अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार परस्पर विचार करके धन्य के विनाश के आर्त्त – ध्यान में लीन हो गये। उनका यह अत्यधिक गुप्त कार्य बुद्धि की प्रगल्भता से तथा कुछ

इंगित आदि विज्ञान के द्वारा धन्य ने जान लिया, क्योंकि पाताल में रहा हुआ भी जल बुध–जनों द्वारा क्या बुद्धि से नहीं जाना जाता? कहा भी है–

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्ट्या भाषणेन च।
भ्रू–नेत्रा–ऽऽस्यविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः।।

अर्थात् इंगित, आकार, गति, चेष्टा, भाषण, भ्रू, नेत्र तथा मुख के विकार द्वारा अन्दर रहा हुआ मन लक्षित होता ही है। पुनः–

उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते,
हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः,
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः।।

अर्थात् उदीरित अर्थ पशु द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। हाथी व घोड़े प्रेरित किये जाने पर ही चलते हैं। पण्डित जन अनुक्त पर भी विचार कर लेते हैं। पर–द्वारा इंगित–ज्ञान–फलवाली ही बुद्धि होती है।

धन्य के गुणों से आकृष्ट चित्तवाली भाभियों ने एकान्त में अपने पतियों का इरादा भक्तिपूर्वक धन्य से कहा–"अतः हे देवर! तुम सावधानी से रहना। हमारे स्वामी तो दुर्जन स्वभाववाले होने से असूया–दृष्टि के दोष से सन्मति–मूढ़ हो गये हैं, क्योंकि–

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः, सर्पात् क्रूरतरः खलः।
मन्त्रेण शाम्यते सर्पः, खलः केन न शाम्यते।।

अर्थात् सर्प क्रूर होते हैं, दुर्जन क्रूर होते हैं। पर सर्प से क्रूरतर दुर्जन होते हैं। सर्प को तो मंत्र से शमित किया जा सकता हे, पर दुर्जन किसी के द्वारा भी शमित नहीं होता। इसलिए वे विश्वसनीय नहीं होते है।"

इस प्रकार भाभियों द्वारा कहा हुआ सुनकर धन्य ने विचार किया– "धिक्कार है उस पुरुष को! विवेक रूपी तालाब में तत्त्व–अतत्त्व को जानने के गुण द्वारा कलहंस के समान होते हुए भी अपने अनुसंग से कलह को प्रदीप्त करता है, पर कलह–कारण से विराम नहीं लेता। अतः अन्वय–व्यतिरेक से मेरा यहाँ रहना युक्त नहीं है। किसी देशान्तर को चला जाता हूँ, क्योंकि देशान्तर–गमन चतुरता का मूल है। कहा भी है–

देशाटने पण्डितमित्रता च, वाराङ्गना राजसभा प्रवेशः।
अनेकशास्त्रार्थ विलोकने च, चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च।।

अर्थात् देशाटन, पण्डित की मित्रता, वेश्या, राजसभा में प्रवेश तथा अनेक शास्त्रार्थों का विलोकन–ये पाँच चातुर्य के मूल हैं।

दीसई विविहचरिअं, जाणिज्जइ सज्जण—दुज्जण विसेसो।
अप्पाणं च कलिज्जइ, हिंडिज्जइ तेण पुहवीए।।

देशाटन करने से विविध चारित्र दिखायी देते हैं, सज्जन व दुर्जन की पहचान होती है, आत्मा दक्ष होती है। अतः पृथ्वी पर घूमना चाहिए।"

अपनी कलाओं में कौशल की, भाग्य की, बल की, स्थिरता की व बुद्धि—वैभव की—इन पाँच बातों की देश—भ्रमण रूपी कसौटी पर परीक्षा होती है। वे मनुष्य धन्य हैं, जो मनो—विनोदकारी, निधानों की तरह कौतुकों को पग—पग पर देखते हैं। धर्म शास्त्रों में भी कहा है, कि संक्लेशकारी स्थान का दूर से ही परित्याग करना चाहिए। नीति—शास्त्रों में भी कहा गया है—

गजं हस्तसहस्रेण, शतहस्तेन वाजिनम्।
शृङ्गिणं दशहस्तेन, देश—त्यागेन दुर्जनम्।।

अर्थात् हाथी का हजार हाथ दूर से, घोड़े का सौ हाथ दूर से, बैल का दस हाथ दूर से तथा दुर्जन के लिए देश का परित्याग कर देना चाहिए।"

इत्यादि मन में विचार करके धनसार का पुत्र धन्य नये—नये देशों के अवलोकन की क्रीड़ा के लिए अपने घर रूपी नीड़ से उन्मुक्त पक्षी की तरह उड़ गया।

उसी रात्रि में समस्त नागरिकों के सो जाने पर धन्य एकाकी ही घर से निकल गया। नमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ मालव देश की ओर प्रस्थित हुआ। स्त्रियों की क्रीड़ा के क्रियापद रूप मालव जनपद की ओर चलते हुए अनेक गाँव, नगर, जनपद, वन आदि को देखते हुए एक दिन मध्याह्न के समय उसे बहुत तेज भूख का अनुभव हुआ।

उसी समय मार्ग में स्थित एक खेत को देखा। उस खेत के समीप वट—वृक्ष के नीचे भूख से बाधित होते हुए कुछ क्षणों के लिए विश्राम करने के लिए बैठा। उसी खेत में कोई किसान खेत जोत रहा था। इतने में उस किसान की पत्नी कोई पर्व दिन होने से चावल—दाल—घी से युक्त लापसी आदि मिष्ठान्न युक्त भोजन लेकर आयी। तब किसान ने सुन्दर आकृति तथा क्षुधा—ताप आदि से म्लान मुख वाले धन्यकुमार को देखकर विचार किया—"अहो! यह सुन्दर आकृतिवाला कोई सत्पुरुष ताप आदि से पीड़ित होकर यहाँ पर वृक्ष के नीचे विश्रान्त दिखाई पड़ रहा है। अतः उसे भोजन के लिए आमंत्रित करता हूँ।"

यह विचार कर धन्य के समीप आकर आदर सहित भोजन के लिए निमंत्रित किया। धन्य ने भी उसका कहा हुआ सुनकर साहसपूर्वक कहा—"हे चिन्तज्ञ—शिरोमणि! मैं अपनी भुजा से अर्जित भोजन करता हूँ। क्योंकि—

सिंहाः सत्पुरुषाश्च क्षुधिता अपि परोपार्जितं भक्ष्यं न भुञ्जन्ति।

सिंह और सत्पुरुष भूखे होने पर भी पर द्वारा उपार्जित भक्ष्य नहीं भोगते हैं। अतः शिष्ट–सिद्धान्त की परिपालना के लिए यदि तुम्हारी आज्ञा हो, तो कुछ क्षणों तक हल चलाकर खेत जोत लूँ, फिर मैं अमृत का भोजन करूँगा। कहा भी है–

गुरु–वंशस्य स्वभुजार्जिता भुक्तिः गौरवं–महत्त्वं दत्ते।

उच्च वंशवालों द्वारा स्व भुजा द्वारा अर्जित भोजन ही उन्हें गौरव–महत्त्व को देता है।"

इस प्रकार धन्य की उक्ति को सुनकर उस किसान ने आज्ञा दे दी–"हे सज्जन! जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा करके भोजन कीजिए।"

इस प्रकार किसान की आज्ञा लेकर, स्वयं ही उठकर हल ग्रहणकर जोतना प्रारम्भ कर दिया, तभी हल खन की आवाज के साथ स्खलित हुआ।

तब धन्य ने अपने भुजबल से हल को खींचते हुए भूमिगत शिला को तोड़कर भूमिगृह में रहे हुए अपरिमित द्रव्य–संख्या रूप निधान को प्रकट किया। भाग्यवालों को सर्वत्र ही अनीप्सित भी संपदा प्रकट होती है। कहा भी है–

निरीहस्य निधानानि प्रकाशयति काश्यपि।
बालकस्य निजाङ्गानि न गोपयति कामिनी।।

अर्थात् पृथ्वी भी निरीह लोगों को निधान प्रकाशित करती है। कामिनी बालक से अपने अंगों को नहीं छिपाती।

स्वर्ण से परिपूरित निधि देखकर उदार–चित्तवाले धन्य ने वह कृषक को समर्पित कर दी। जिस प्रकार सम्यग् ज्ञानवाले योगियों को क्या अज्ञेय रहता है? उसी प्रकार उदार चित्तवाले सत्पुरुषों के लिए क्या अदेय रहता है?

तब किसान ने कहा–"हे सज्जन शिरोमणि! तुम्हारी भाग्य–निधि के हेतुभूत यह अमर्यादित खजाना प्रकट हुआ है। अतः इसे तुम्ही ग्रहण करो।"

तब धन्य ने कहा–"हे भाई! मेरे पराया धन ग्रहण करने की बाधा है। भूमि तुम्हारी है, अतः यह धन भी तुम्हारा है। तुम्हे जो अच्छा लगे, वह करो।"

तब अत्यधिक विस्मय तथा भक्ति से युक्त किसान ने कहा–"हे महाभाग! तुमने अनर्गल धन देकर मेरी गरीबी का उच्छेद कर दिया है। अब तो भोजन करो।"

तब अत्याग्रह करने पर धन्य ने किसान द्वारा लाया गया भोजन किया, फिर कृषक से पूछकर आगे चला गया। क्योंकि–

विश्वोपकारकारकाः सज्जनाः सूर्यवद् नैकत्रस्था भवन्ति।

अर्थात् विश्व पर उपकार करनेवाले सज्जन सूर्य की तरह एक जगह स्थिर नहीं रहते।

धन्य के चले जाने के बाद कृषक ने विचार किया–"सत्पुरुष धन्यकुमार से प्राप्त यह विशाल निधि निःशंक होकर भोगूँगा, तो दूसरों के घरों को तोड़नेवाले अनेक प्रकार की बाते बनायेंगे। इस प्रकार परस्पर चर्चा द्वारा कदाचित् यह बात राजा के कानों तक चली जायेगी, तो कान का कच्चा राज चुगली द्वारा प्रेरित होकर मुझे कारागार में डालकर मेरा र्स्वस्व ग्रहण कर लेगा और मैं अति दुःखी हो जाऊँगा। अतः में सबसे पहले राजा को यथा–स्थिति सब कुछ बतलाकर फिर जैसा आदेश प्राप्त होगा, वैसा ही करूँगा। तब मुझे भविष्य–काल में सुख प्राप्त होगा।"

इस प्रकार विचार करके कृषक ने जाकर राजा को यथास्थिति धन्य का सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा। राजा ने भी विस्मित चित्त से कृषक द्वारा कथित धन्य–कथा को सुनकर उससे कहा–"हे कृषक! खेत से महा–निधान प्राप्त होना आश्चर्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी में तो पग–पग पर निधान है। लेकिन जो निधान को पाकर भी त्याग दे, वह बड़ा आश्चर्य है। उसी पुरुष से पृथ्वी रत्न–गर्भा है–यह उक्ति सत्य साबित होती है। तुम भी भाग्य–निधि हो, जो तुमने ऐसे पुरुष के दर्शन किये, भोजन कराया, उसके द्वारा दिया गया प्रसाद तुमने प्राप्त किया, अतः तुम भी धन्य हो। अगर उस पुरुष–सिंह ने वह निधान तुम्हे दे दिया, तो मैंने भी वह निधान तुमको दे दिया। महापुरुष का आदेश कौन नकार सकता है? लेकिन उस महापुरुष का नाम विख्यात हो, ऐसा कार्य करना।"

इस प्रकार राजा का आदेश प्राप्त कर किसान ने धन्य की ख्याति फैलाने के लिए उसी क्षेत्र–भूमि में धन्य नामक गाँव बसाया एवं राजा को निवेदन किया। राजा ने भी उस गाँव का आधिपत्य उसी किसान को समर्पित किया। कृषक भी राजा द्वारा प्रदत्त आधिपत्य पाकर सुख का अनुभव करता हुआ धन्य के उपकार को कभी नहीं भूला।

धन्य भी आगे बढ़ता हुआ विविध नगरों, वनों आदि को देखता हुआ दिन व्यतीत होने पर किसी गाँव के समीप पहुँचा, जैसे ताप के व्यतीत होने पर हंस मानसरोवर को प्राप्त होता है।

वहाँ संध्या में नदी के किनारे अनाकुल मन से बालुका को लेकर अपने हाथ से ऊँची–नीची करके समतल स्थान बनाकर निःशंक वृत्ति से रति तुल्य पलंग की तरह उस पर स्थित होकर अपने हृदय–कमल में सिद्धचक्र की स्थापना करके यथाक्रम अर्हंत आदि पद का अपने मन में ध्यान करते हुए प्रहर भर जाप

की क्रिया करके, चौरासी लाख जीवायोनि में रहे हुए जीवों से क्षमा–याचना करके, अट्ठारह पापस्थान का त्याग करके, चार शरण रूप शुभ भावना को भाते हुए, निद्रा के वशीभूत होता हुआ सो गया।

प्रहर रात्रि बाकी रहने पर वह पुनः उठ गया। नवकार का स्मरण करते हुए उसने आँखें खोली, क्योंकि–

उत्तमानां निद्रा–ऽऽहार–कलह–क्रोध–कामा एते पञ्चापि दोषा प्रबला न भवन्ति।

इस प्रकार के उत्तम व्यक्तियों के निद्रा, आहार, कलह, क्रोध व काम–ये पाँचों ही दोष प्रबल नहीं होते, बल्कि मंद ही होते हैं।

उसी समय धन्य ने शुभ–सूचक किसी सियाल के शब्द को सुना, क्योंकि पुण्यवान व्यक्ति के प्रायः निमित्त भी शुभ व सानुकूल मिलते हैं। धन्य ने उस स्वर को सुनकर पूर्व में अभ्यासित शकुन शास्त्र का विचार करके निर्धारित किया कि दिन में दुर्गा शकुन फल और रात्रि में शिवा शकुन फल निष्फल नहीं होते। अतः सूक्ष्म बुद्धि से फल का विचार करने लगा, तभी शिवा इस प्रकार से बोला–"कोई धीर पुरुष इस नदी के प्रवाह से शव निकालेगा, उसके कटि–स्थान से रत्न ग्रहण करेगा और शव मुझे खाने के लिए देगा, तो अति भव्य होगा।"

इस प्रकार से शिवा के शब्दार्थ का विचार करके धन्य उस स्थान से उठा और शिवा के कथनानुसार नदी के तट पर गया, क्योंकि–

धनार्थी भोजनार्थी कौतुकी चालसो न भवति।

अर्थात् धन चाहनेवाला, भोजन चाहनेवाला और कौतुकी आलसी नहीं होते। जब धन्य ने नदी के किनारे देखा, तो स्वकृत पुण्य से आकृष्ट की तरह स्वयमेव जल–प्रवाह में तैरता हुआ नदी के तट पर आता हुआ एक मृतक देखा। तब जल–प्रवाह से उसे निकालकर उसकी कटि में रहे हुए रत्न लेकर उस मृतक को शिवा को दे दिया, जिससे शकुन का अर्चन शुभ के लिए हो। पुनः शयन स्थान पर आकर देव–गुरु के स्तवन से शेष रात्रि का अतिक्रमण करके प्रभात होने पर आगे बढ़ गया। क्रमपूर्वक सफल बुद्धिवाला वह धन्य दुर्गम संसार की तरह विन्ध्य पर्वत को लांघकर सुखपूर्वक मुनीन्द्र की निवृत्ति की तरह उज्जयिनी को प्राप्त हुआ।

वहाँ प्रद्योतित प्रतापवाला प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था। वह चौदह महाराजाओं का स्वामी था। जिसके खड्ग हाथ में लेते ही अरि–वर्ग काँपने लगता था। वह राजा अपने राज्य की चिंता करनेवाले तथा बुद्धि से अभयकुमार के सदृश अमात्य की खोज में था। अपनी नगरी में बुद्धिमानी की

परीक्षा करने के लिए राजा ने पटह–वादनपूर्वक घोषणा करवायी–"जो बुद्धिमान पुरुष समुद्र नामक सरोवर के मध्य रहे हुए स्तम्भ को स्वयं किनारे पर ही रहते हुए रस्सी से गाँठ लगा देगा, उसे मंत्री पद दिया जायेगा।" इस प्रकार की पटह की उद्घोषणा सुनकर बहुत से लोग उस स्तम्भ को बाँधने के लिए उपाय का विचार करने लगे, पर कोई उपाय नहीं सूझा।

इस प्रकार के पटह को बजता हुआ देखकर तथा सुनकर धन्य ने आते ही उस पटह को रोककर स्तम्भ को बाँधना स्वीकार कर लिया। तब राजपुरुषों ने कहा–"आप राजसभा में आइए।"

तब निर्मल बुद्धिवाला वह धनसार का पुत्र बहुत से लोगों से घिरा हुआ सेवकों के साथ राजा के समीप गया। जाकर राजा को नमस्कार किया। राजा ने भी उस उदार रूप आदि गुणों से युक्त धन्य को देखकर अपने मन में निश्चित कर लिया कि यही श्रेष्ठ पुरुष मेरे आदेश का पालन करेगा। मेरा किया हुआ उद्यम फलवान होता हुआ दिखाई देता है।

यह विचार करके राजा ने धन्य से कहा–"हे बुद्धिनिधे! मेरे आदेश को सफल करके अपनी बुद्धि का फल प्राप्त करो और लोगों की कौतुकी इच्छा पूरी करो।"

तब सुधी धन्य चण्ड प्रद्योत राजा की आज्ञा प्राप्त करके उस सरोवर के सरस, शाल वृक्षों के समूह से युक्त किनारे पर आया। वहाँ किनारे पर स्थित शाल वृक्ष के मूल को खूब लम्बी रस्सी से बाँधकर पानी के चारों और घूमते हुए स्तम्भ को रस्सी से लपेट दिया। रस्सी के किनारे के बंध–स्थान पर आकर दोनों किनारों को जोड़कर गाँठ देकर बाँधकर एक–एक किनारा पकड़कर पूर्व–पश्चिम दिशाओं में जैसे–जैसे गया, वैसे–वैसे गाँठ स्तम्भ के नजदीक जाती गयी और गाँठ ने स्तम्भ को छू लिया। इस रीति से स्तम्भ में गाँठ देकर राजा के आदेश को सफल किया।

इन सभी क्रियाओं को नागरिकों व राजा ने देखकर उसके गुण रूपी रज्जु से बंधे हुए मनवाले होकर खूब प्रशंसा की–"अहो! इसकी बुद्धि की पटुता! अहो! इसका प्रतिभा प्रागल्भ्य!"

उसके बुद्धि के आलोक से मुदित होते हुए लोगों ने उस बाल सूर्य को प्रणाम रूपी अर्ध्य दिया, क्योंकि उसने अदृष्ट और अश्रुत को पूर्व में कृत की तरह किया। उसके गुण से रंजित राजा ने व दर्शन से मुदित लोगों ने बाल सूर्य को अर्ध्य देने की तरह धन्य को मंत्रीपद दिया। तब उस धन्य मंत्री ने भूपति के सकलाधिक शुचि पक्ष रूप प्रसाद को प्राप्त कर समस्त भूमि मण्डल को अति

शुद्ध नीति रूपी ज्योत्स्ना से उल्लासित किया।

इस प्रकार प्रतिदिन अधिकाधिक कीर्ति और लक्ष्मी से प्रवर्द्धमान धन्यकुमार मंत्री का पद निर्वाहित करते हुए एक बार अपने महल के वातायन में स्थित चतुष्पथ के ऐश्वर्य को देख रहा था। तभी अमावस्या के चन्द्रमा के समान दुर्दर्श, विगलित धनवाले, दारिद्र्य रूपी उपद्रव से पीड़ित, अति दीन दशा को प्राप्त, क्षुधा–तृष्णा से बाधित तनवाले कुटुम्ब के साथ अपने पिता को इधर–उधर नगर में भ्रमण करते हुए देखा। उन्हें देखकर पहचानकर विस्मितिपूर्वक विचार किया–

विचित्रा कर्मणां गतिः।

अर्थात् कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। अनेक कोटि धन–वैभव से युक्त घर को छोड़कर मैं यहाँ आया था, वह सभी इतने से दिनों में कहीं चला गया है, इस प्रकार की दशा को प्राप्त मेरा कुटुम्ब प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। श्री जिनागम में कहा हुआ अन्यथा नहीं होता। जिनागम में कहा है–

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात् किये हुए कर्म से छुटकारा नहीं होता। तथा–

अघटितघटितानि घटयति, सुघटिघटितानि जर्जरिकुरुते।।
विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान् नैव चिन्तयति।।

अर्थात् अरचित रचना ही रचित होती है, अच्छी प्रकार से घटित को जर्जर कर देती है। विधि ऐसी ही रचना करती है, जिसके बारे में पुरुष सोच भी नहीं सकता।

इस प्रकार विचार कर आदरपूर्वक अपने कुटुम्ब को घर ले जाकर पिता और भ्राताओं को नमस्कार करके स्नान–वस्त्र–भोजन आदि से सत्कार करके यथावसर प्राप्त होने पर पूछा–"पिताजी! बहुत सारा धन, यश और कुशलता से भरपूर आपकी ऐसी अवस्था कैसे हुई? सारी बातें मुझे बताने की कृपा करें।"

तब धनसार ने धन्य के वचनों के सुनकर कहा–"हे पुत्र! श्री जिनागम तत्त्व में कुशल होकर भी वैभव–धन के नाश का प्रश्न पूछते हो? लक्ष्मी आदि वैभव मेरा लाभ नहीं था, किन्तु कर्मोदय का लाभ था। चूँकि कर्मोदय दो प्रकार का है–पुण्योदय और पापोदय। जब पुण्योदय होता है, तो बिना चाहे भी जबरदस्ती धन–सम्पदा से घर भर जाता है। जब पाप का उदय होता है, तो सुसंचित और सुरक्षित भी हाथी द्वारा खाये हुए कपित्थ की तरह घर को निस्सार कर देता है, क्योंकि–

कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्वमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

अर्थात् सैकड़ों, करोड़ों प्रयत्नों द्वारा भी कृत–कर्म का क्षय नहीं होता है।

किया हुआ शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगना पड़ता है।

इत्यादि हेतुओं से पूर्व में पुण्योदय से सब कुछ अनुकूल था। पर अब तो पाप का उदय होने से सब कुछ नष्ट हो गया। ज्यादा क्या कहूँ?

दूसरी बात यह है कि घर में पुत्र–नारी आदि पारिवारिक– जनों के मध्य कोई भी एक भाग्यशाली होता है, तो उसी के भाग्य से सारा कुटुम्ब सुख का अनुभव करता है। उसके चले जाने पर तो वही स्वजन–वर्ग दुःख का अनुभव करता है। इस शास्त्रोक्ति को प्रत्यक्ष रूप से देखकर अनुभूत की है।

हे पुत्र! कलावान, भाग्यनिधि रूप तुम्हारे चले जाने पर किसी की चुगली से प्रेरित राजा भी प्रतिकूल हो गया। उसने हमें कारागार में डालकर बहुत दण्ड देकर धन भी ग्रहण कर लिया। कुछ धन चोरों द्वारा चुरा लिया गया। कुछ धन अग्नि ने भस्मसात् कर दिया। कुछ धन मूढ़ व्यापार क्रिया द्वारा नष्ट हो गया। जो कुछ धन भूमिगत निधान के रूप में था, वह दुष्ट देवों द्वारा हरण करके मिट्टी रूप कर दिया गया। इतना धन नष्ट हुआ कि एक दिन के निर्वाह जितना भी अन्न नहीं बचा। तब कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान कला रहित हम सभी के जगतमित्र! महान कष्ट से तुम्हारी खोज करते हुए किसी पूर्वकृत भाग्य के उदय से तुम्हारे दर्शन हुए। तुम्हारे दर्शन–मात्र से चारों ओर से अभ्युदय होने से मेरा दुःख नष्ट हुआ। चित्त आनंद से सरोबार हो गया।"

इस प्रकार पिता के वचनों को सुनकर धन्य ने सविनय प्रणाम करके कहा–"हे तात! मुझ सेवक का भी प्रचुर पुण्योदय हुआ है कि पिता के चरणों के दर्शन हुए। यह राज्य–सम्मान, सम्पत्ति की प्राप्ति आदि आज ही सफल हुए हैं। अतः अब बीते दुःख को विसारकर, सुखानंद में मग्न होकर रहें। मैं तो आपके आदेश का पालन करनेवाला किंकर हूँ। कोई भी अधीरता मन में न रखें।"

इस प्रकार माता, ज्येष्ठ भ्राताओं, भाभियों आदि को मधुर वचनों द्वारा संतृप्त करके वस्त्र–धन–आभरण आदि से सत्कार किया। सज्जनों की यही रीति युक्तिमती है। जैसे कलाओं से युक्त चन्द्रमा अपने आश्रितों को उदित बनाता हुआ कुमुदों को श्री शोभा देता है, इसी प्रकार अन्तःकरण की प्रीति से युक्त धन्य भी समस्त कुटुम्ब को विविध सुखों के प्रकारों से पोषित करने लगा। फिर भी उस धन्य रूपी सूर्य की द्युति का तेज तामस प्रकृतिवाले अग्रजों को सहन नहीं हुआ। युक्त भी है, क्योंकि अंधकार दिन के भय से अन्य का तेज भी सहन नहीं कर पाता है।

एक बार धन्य राजसभा में जाकर राजा को नमन करके राज्य–कार्य–चिंता को करके पुनः राजा के आदेश को प्राप्त करके उचित वेला में सुखासन पर

आरूढ़ होकर विविध हाथी, घोड़े, रथ, भट आदि सेना से परिवृत विविध देशों से आये हुए भाट–जनों के विचित्र रचनामय रूपक गीतों द्वारा स्तुत्यमान अनेक वादिंत्रों के वादनपूर्वक अपने घर आया।

तब चतुष्पथ पर रहे हुए मनुष्य धन्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहने लगे–"देखो–देखो। मनुष्य भव में देवत्व को देखो। जिस कारण से उदारता, शौर्य, गम्भीरता, धीरता आदि गुण इसमें रहे हुए उपमान रूप हो जाते हैं। चार भाइयों के बीच सबसे छोटा होते हुए भी परोपकार करनेवाला, दीन–हीन का उद्धार करनेवाला, स्व–कुटुम्ब आदि का परिपोषण करनेवाला, उनके नीचे–ऊँचे आदि शब्दों को सहन करनेवाला आदि विविध गुणों से युक्त वह बड़ों की तरह दिखाई देता है।"

तभी दूसरा व्यक्ति बोला –"गुणवालों का वय से क्या प्रयोजन? ये इस पुण्य– निधि धन्य के अग्रज किम्पाक फल के समान आकृतिवाले इसी के प्रसाद से यथेच्छित सुख का अनुभव करते हैं। जब ये लोग यहाँ आये थे, तो भिखारी से ज्यादा दुर्दशा को प्राप्त सभी जनों द्वारा देखे गये थे। अब तो अभिमानी होकर तिरछी नजरें करके लोगों के नमस्कार का भी प्रत्युत्तर देने की उचित प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं। लेकिन उससे क्या? इस टेढ़ेपन का निर्वाह तो ये लोग गुणनिधि धन्य के प्रभाव से ही करते हैं। इनके खुद के प्रभाव से नहीं।"

इस प्रकार वे तीनों भाई स्थान–स्थान पर धन्य का गुण वर्णन सुनकर यवासक वृक्ष की तरह जलते हुए लोभ से अभिभूत होकर पिता के पास आकर बोले–"हे तात! हम सब पृथक–पृथक घर में रहेंगे। आज के बाद हम धन्य के साथ नहीं रहेंगे। अतः हमारी लक्ष्मी का भाग हम सब को दे दीजिए।"

तब धनसार ने उनके वचनों को सुनकर कुछ हँसकर प्रत्युत्तर दिया–"बेटों! तुम इस समय धन माँग रहे हो, तो क्या तुम लोगों ने पहले इस धन्य को धन अर्पित किया था, जो कि ग्रहण करने के लिए उत्सुक बन रहे हो? और भी, तुम वह सभी क्यों याद नहीं करते हो कि अपने नगर से शरीर–मात्र लेकर अति दीन अवस्था में हम सभी यहाँ आये थे। तब धन्य ने ही अपनी सज्जनता, विनय आदि गुण–गौरवता के द्वारा स्वाभाविक स्नेहपूर्वक तुम्हारे द्वारा किये गये दोषों को भुलाकर इच्छित धन–वस्त्र आदि के द्वारा सत्कार किया। उसे क्यों नहीं स्मरण करते?"

इस प्रकार पिता के मुख से सुनकर सुजनता के दुश्मन वाचाल उल्लु की तरह वाणी से घोर वे तीनों धन्य के अग्रज अपने पिता को इस प्रकार बोले–"हे तात! आप तो दृष्टि राग से अंधे होकर किसी के भी दोष को नहीं

देखते हैं। इसे गुणनिधि ही मानते हैं। यह जो कुछ भी करता है, वह सभी आपके मन में अत्यन्त कल्याण के रूप में प्रतिभासित होता है, पर इसका चरित्र तो हम ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जानता। स्नेहहीन इसने हमारे घर से चोरों की तरह बहुत सारे धन को ले लिया और भाग गया। यहाँ आकर उस धन से राजवर्ग को कुछ भी रिश्वत आदि देकर इस प्रकार की महत्वपूर्ण अवस्था को प्राप्त करके बैठ गया है। लक्ष्मी से क्या नहीं होता? कहा भी है–

सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते।

अर्थात् सभी गुण धन को आश्रित करके ही रहते हैं। वैभव की खान होने के कारण ही अति खारा व अपेय जल होने पर भी सागर रत्नाकर की प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः हे तात! हृदय से वक्रता को छोड़कर समृद्धि का भाग हमें अर्पित करें।"

इस प्रकार पिता–पुत्रों के परस्पर होनेवाले कलह का मूल स्वयं को मानते हुए बुद्धिमान धन्य लक्ष्मी आदि से भरे हुए घर को छोड़कर पुनः निकल गया। प्रयाण के समय शुभ शकुनों के रूप में चास पक्षी तथा काग आदि के स्वर से सुशब्द, चेष्टा आदि द्वारा प्रेरित उनको वंदन करके मगध देश की ओर रवाना हुआ।

विविध ग्राम–नगर–वन–उपवन को देखते हुए एकाकी सिंह की तरह निर्भय होकर चलने लगा। इसी समय नदी के समीप अशोक वृक्ष के नीचे शांत–दान्त–समग्र गुण राशि की दो खानों के रूप में धर्म के मूर्तिमन्त स्वरूप मुनि युगल को देखा। धन्य ने उन्हें देखकर चन्द्र के उद्योत में चकोर की तरह, मेघ दर्शन में मयूर की तरह, अपने पति के दर्शन में सती स्त्री की तरह हर्ष से भरे हृदय से विचार करने लगा–"अहो! मेरा भाग्य जागृत हुआ, जो इस गहन वन में, विजन प्रदेश में अचिन्तित चिंतामणि के लाभ से भी कितने ही शकुन होते हुए दिखायी पड़ रहे हैं, ग्रीष्म ताप की पीड़ा से तृषित को मानसरोवर की तरह मुनि का मिलना हुआ। इसभव व परभव में द्रव्य व भाव तृषा को बुझानेवाला अति–दुष्कर मुनि का संयोग हुआ।"

इस प्रकार विचार करते हुए हर्ष से पुलकित हृदयवाला होकर पंच–अभिगम आदि से विधिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर पंचांग–प्रणिपातपूर्वक वंदना करके–

गोयम सोहम्म जंबू पभवो सिज्जंभवाइया।
सव्वे ते जुगप्पहाणा तइ दिट्ठे ते सवि दिट्ठ।।
अहो! ते निज्जिओ कोहो, अहो! माण पराजओ।
अहो ते अज्जवं साहू! अहो ते मुत्तिमत्तवो।।

"गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी, प्रभव स्वामी, शय्यम्भव स्वामी–इन सभी युग–प्रधानों के दर्शन आपश्री के दर्शन से हो गये। अहो! आपका निर्जित क्रोध! अहो! मान की पराजयता! अहो! आपकी आर्जवता! हे साधु। अहो! आपका मूर्त्तिमान तप! आज मेरा जन्म कृतार्थ हुआ।"

इत्यादि पद्य रूप से स्तुति करके संयम व शरीर का सुख पूछकर यथा–अवग्रह स्थान को आश्रित करके मुनि के संमुख स्थित हुआ।

मुनि भी उसमें धर्म–श्रवण की पिपासा जानकर श्री जिनागम–तत्त्व को समझाने के लिए प्रवृत्त हुए–"हे भव्य! यहाँ इस अपार भव–संसार में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग रूप चार कारणों से पीड़ित जीव विविध जाति, कुल, स्थान व योनियों में परिभ्रमण करते हैं। जन्म, जरा, रोग व मरण–इन चार प्रकार के दुःखों से दुःखित हैं। मोह राजा के कुराज्य का निर्वाहक मिथ्यादर्शन नामक मंत्री सभी जीवों को अपनी आज्ञा में प्रवर्त्तित करने के लिए अविरति, कषाय, योग के विपर्यास रूप मदिरा का पान कराकर उन्हें उन्मत्त करता है। वे जीव उन्मत्त होते हुए न देव को, न गुरु को, न धर्म को, न हित को, न अहित को, न कृत्य को, न अकृत्य को, न स्व को न पर को, न इसलोक को, न परलोक को अर्थात् किसी को भी जानने की इच्छा नहीं रखते। केवल महानिद्रा, भय, मैथुन आदि संज्ञाओं में गाढ़ आसक्त होते हुए संसार को बढ़ाते हैं। इनमें से जो विषय हैं, वे कषायों के साथ क्या–क्या कुकर्म और कुचेष्टा नहीं कराते? जन्म से ही सभी संसारी जीव किसी के द्वारा भी नहीं सिखाये जाने पर भी अपने–अपने शक्ति–ग्राह्य विषयों में आसक्त रहते हैं। आगम में भी विषयों को विष से भी ज्यादा शक्तिशाली कहा गया है। क्योंकि कहा गया है–

विषयाणां विषाणां च दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि।।

अर्थात् विषय और विष में महान अन्तर है। विष तो खाने के बाद मारता है, पर विषय तो स्मरण–मात्र से मार देते हैं। विष से एक अक्षर–मात्र अधिक विषय किस प्रकार की दुश्चेष्टा करते हैं? तो कहते हैं, कि जो रसना–इन्द्रिय के आसक्त हैं, वे उत्कृष्ट से नव अंगुल–मात्र विषय के पूरण के लिए एकेन्द्रिय आदि से लगाकर पंचेन्द्रिय तक निर्दय परिणति से आकुट्टी हिंसा करते हैं, करके अन्तर्मुहुर्त्त में मरकर नारकी में उत्पन्न होते हैं। जैसे–तन्दुल मत्स्य। अथवा राजगृह उद्यानिका में अपने अन्तराय रूपी कर्मोदय से एक दमड़ी भी अप्राप्त भिक्षुक की तरह अकाम दुर्गति में जाते हुए चिकने कर्म–विपाक का अनुभव करते हुए संसार में घूमते रहते हैं।

चक्षु–इन्द्रिय में आसक्त जीव अनुकूल–प्रतिकूल वर्णादि की प्राप्ति और अप्राप्ति में राग–द्वेष की प्रबल परिणति द्वारा पाप–कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति व रस बंध को रचता हुआ अनन्त भवों में परिभ्रमण करता हैं।

इसी प्रकार शब्द के विषय में आसक्त जीव श्रवण के सुख या दुःख–मात्र से दुर्गति के कुएँ में गिरता हुआ क्लेश का अनुभव करता है। जैसे–संग्राम में बंदी–जन द्वारा गाये जाते हुए कुल–जाति आदि की प्रशंसा के श्रवण से शूर सैनिक की तरह या फिर सनत् कुमार की तरह।

इसी प्रकार गंध के विषय में अनुकूलता की प्राप्ति से जीव दुष्कर्म का पोषण करता है। मल से मलिन मुनियों के शरीर की दुगुंछा–मात्र से दुर्गति में परिभ्रमण करता है। जैसे–राजपत्नी दुर्गन्धा की तरह या फिर सुगन्ध में आसक्त भ्रमर की तरह।

स्पर्शनेन्द्रिय में आसक्त का तो कहना ही क्या? क्योंकि परदारा में आसक्त जीव अठारह ही पापों का अति तीव्र संक्लेश से आचरण करता है। उससे इसलोक में राज्य–धन–यश –भोग–आयु आदि को हारता है और परलोक में अनन्त काल तक यावद् नरक–निगोद में परिभ्रमण करता है। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

एक महान आश्चर्य यह है कि जो जीव जिन विषयों को अति आदर से सेवन करते हैं, वे ही अन्य जन्म में अन्य–अन्य शरीर–इन्द्रियों के जघन्य से दस गुणा, सौ गुणा अथवा हजार गुणा, लाख गुणा अथवा करोड़ गुणा अथवा उससे भी अधिकतर अथवा उत्कृष्ट आकुट्टी आसेवन में बीज–परम्परा से अनन्तगुणा यावत् प्रतिकूल, असहनीय, अकथनीय, केवलीगम्य–इस प्रकार दुःख को प्राप्त होते हैं। जो केवली द्वारा भी जानने में तो समर्थ है, पर बोलने में तो वे भी समर्थ नहीं है।

इस प्रकार के कितने ही खल विषयों को जानते हुए भी पुनः–पुनः उसके लिए दौड़ते हैं और क्लेश को प्राप्त होते हैं। उनकी प्राप्ति में महान हर्ष तथ अप्राप्ति में चिन्तामणि से भी मूल्यवान नर–भव को व्यर्थ ही गिनते हैं। ऐसे विषय उन मनुष्यों को दुःख ही देते हैं, क्योंकि–

निर्दयः कामचाण्डालः पण्डितानपि पीडयेत्।
अज्ञपीडने किं चिंत्रं विषयान् सेवते स तु।।

अर्थात् यह निर्दय काम रूपी चाण्डाल पण्डितों को भी पीड़ित करता है, तो अज्ञानियों को पीड़ा दे, तो इसमें क्या विचित्रता है? वह तो विषयों की सेवा करता है। विषय–सेवक भव संकट में गिरता है, वह तो घटित होता ही है, कि

जैसा करता है, वैसा पाता है। परन्तु विषय की इच्छा—मात्र से भी असेवित विषयवाला भी दुर्गति को प्राप्त करता है। इस अर्थ में एक कथानक है, उसे सावधान मन से सुनो।'''

धन्य ने कहा—''बड़ी कृपा होगी। आप फरमावें।'' मुनि ने कहा—

सुनन्दा—रूपसेन की कथा

पृथ्वीभूषण नामक नगर में कनकध्वज राजा राज्य करता था। उसकी यशोमति नामक नारी थी। उनके गुणचन्द्र व कीर्त्तिचन्द्र नामक दो पुत्र थे। एक सुनन्दा नामक पुत्री थी, जिसका रूप—यौवन गुणों से भरा हुआ था। वह चौंसठ कलाओं में कुशल थी। वह बाल—भाव में अनुदय कामावस्थावाली, सखियों से घिरी हुई सातवीं मंजिल पर स्थित होकर नगर के स्वरूप को देख रही थी। अति ऊँचे प्रसाद पर स्थित होने से दृष्टि बहुत दूर तक जाती है।

इसी समय एक महा—इभ्य के घर में एक श्रेष्ठ तरुणी रूप—सौन्दर्य—गुण से देवियों को भी जीतनेवाली थी। जिनके विनय आदि गुण से, माधुर्य—वचन से और दर्शन—मात्र से क्रोधियों का भी क्रोध उपशमित हो जाता था। इस प्रकार की कामिनी का पति कुछ भी सच्चा—झूठा अभ्याख्यान देकर दया रहित होकर उसे चाबुक से मार रहा था। वह पुनः—पुनः पति के चरणों में सिर रखकर चाटु—वचनों से कह रही थी—''स्वामी! प्राणधार! मैंने कोई भी अपराध नहीं किया। किसी दुष्ट चित्तवाले के कह देने से आप मुझे निरर्थक क्यों मारते हो? अच्छे कुल मैं उत्पन्न मैंने आपकी आज्ञा के विरुद्ध आज तक कुछ भी नहीं किया। आगे भी नहीं करूँगी। जब उसकी खोज—बीन से यथार्थ का निर्णय हो जायेगा। तब आपको पश्चात्ताप ही होगा। अतः हे प्राणनाथ! इस झूठे दोष की खोज—बीन करें। जब मुझ में यह दोष सत्य साबित हो, तभी आपको जो अच्छा लगे, वही करना। निरर्थक मारने से आपको क्या हासिल होगा?

इस प्रकार विनयपूर्वक पुनः—पुनः प्रणामपूर्वक प्रार्थना व विज्ञप्ति करती थी, फिर भी वह पुरुष ताड़ना देने से पीछे नहीं हटा। यह सब देखकर सुनन्दा ने अपनी सखी से कहा—''सखी! देखो! इस पुरुष की निर्दयता। इस प्रकार की रूप—यौवन से युक्त विनयवती, गुणवती स्त्री के प्रति कुछ भी मिथ्या जानकर चाण्डाल की तरह ताड़ना करता है। थोड़ी भी दया नहीं आती। यह देखकर मेरा हृदय करुणा से भेदित होता है। पर इसको अपनी प्राणप्रिया पर लेश—मात्र भी दया का उदय नहीं होता।

इसलिए स्त्रियों के लिए पुरुष के अधीन रहना दुःख का कारण है। यद्यपि पुरुष घर का नायक होता है—यह लोकोक्ति है, पर यह भी यत्किचिंत ही

है, क्योंकि प्रिया के बिना घर–घर नहीं होता। लोगों द्वारा बिना प्रिया का पुरुष पथिक कहा जाता है। प्रिया ही घर की शोभा है। उदर की पूर्ति करने–मात्र उपकार से स्त्री यावज्जीवन पुरुष की आज्ञा से प्रवर्त्तित होती है।

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर जल भरकर लाती है। गृह–पूजन, प्रमार्जन, कचरा साफ करना, घर में रहे हुए गाय आदि पशु द्वारा कृत गोबर की व्यवस्थापना आदि कर्मकर क्रिया करती है। फिर चावल आदि धान्य को चुगना, खांडना, पीसना, दालों का चूर्ण बनाना आदि क्रियाएँ करती है। फिर इंधन–विधि द्वारा रसोई बनाती हैं। पति आदि को भोजन कराती है। उसके बाद स्वयं भोजन करती है। फिर रसोई के पात्र साफ करती है। घर में आये हुए मनुष्यों का आदर–सत्कार करती है। सास–ननद आदि की यथोचित विनय–प्रतिपत्ति करती है। पति के बड़े भाई आदि की लज्जा करती है। मंद गति, मंद भाषण, मंद हँसना आदि के द्वारा पति के घर की शोभा बढ़ाती है। घर में आये हुए मुनियों को प्रतिलाभित करके पुण्य की वृद्धि करती है। दीन–हीन प्राणियों और सम्पूर्ण भिक्षुओं को अनुकम्पा दान देकर पति के यश व पुण्य को पोषित करती है।

पुनः दूसरी बेला में रसोई आदि बनाते हुए उसका दिन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार वह दिन भर घर के काम में उलझी रहती है। फिर पति की प्रसन्नता के लिए स्नान–मज्जन–शृंगार आदि करती है। संध्या के समय दीप जलाकर घर को उज्ज्वल करती है। फिर शय्या–समारण–रचना आदि करती है। जब तक पति का आगमन नहीं होता, तब तक नहीं सोती। भोग देती है, कुल–वृद्धि के लिए संतान देती हैं। प्रातः पति के जागने से पहले जाग जाती है। उठकर पुनः गृह – कार्य में प्रवृत्त हो जाती है। अति दुःख की अवस्था में माता–पिता–भाई –बहन आदि भागकर दूर चले जाते हैं, पर पत्नी दूर नहीं जाती। वीर पुरुषों द्वारा नारी का त्याग बहुत बार सुना जाता है, पर कुलवती नारी द्वारा कभी भी पति–त्याग नहीं सुना गया।

और भी, जो भी इस जगत में निन्दनीय, गर्हणीय, क्रूर कर्म हैं, वे सभी पुरुष द्वारा ही किये जाते हैं। जैसे–समस्त व्यसनों का बीज रूप जुआ पुरुषों द्वारा ही खेला जाता है। शिकार के द्वारा वनस्थ पशुओं का घातक पुरुष ही हैं। अति उग्र पापकारी कन्द–मूल, मांस, आदि अभक्ष्य के भक्षण में आसक्त पुरुष ही हैं, क्योंकि पुरुषों द्वारा लाया हुआ ही स्त्रियाँ पकाती है। चेतना को उग्र करनेवाला, समस्त सद्बुद्धि का निवारक, अति दुर्लभता से प्राप्त नरभव का हारक रूपी मदिरा–पान पुरुष ही करता है।

जाति–कुल–धर्म–मर्यादा की अवगणना करके अनेक वेश्यागामियों द्वारा

पूर्वभुक्त वेश्या में पुरुष ही गमन करते हैं तथा अपनी विनयादि गुणों से युक्त पुत्रों को पैदा करनेवाली, रूप–यौवन युक्त, पतिव्रता, धर्म–परायणा अपनी पत्नी का त्याग करके इस भव में राज–धर्म तथा परभव में चोरी के पाप से युक्त परदारा का पुरुष ही सेवन करते हैं। शीघ्र ही प्राण व्यय करनेवाला, दुर्गति मार्ग को ले जानेवाला, सभी का अप्रिय, मार्ग–गृह–ग्राम आदि को लूटने का चौर्य कर्म पुरुष ही करते हैं। निरपराधी तृण–जल–वायु विहित प्राण–वृत्तिवाले वनवासी जीवों की व्यर्थ ही हिंसा पुरुष ही करते हैं।

परदेश जाकर, कष्ट–सहनपूर्वक पर–सेवा करके, अति संकोच से प्राणवृत्ति करके, प्राण–व्यय का डर नहीं रखते हुए समुद्र को उल्लंघकर द्वीप के अन्दर बहुत से क्लेशों द्वारा धनार्जन करके, अपने घर में गमन, स्वकीय कुटुम्ब के पोषण, मिलन, विवाहादि–करण आदि मनोरथों से भरे हुए पथिकों को विविध जाति–वेश–भाषा–विनिमय–मधुर–भाषण आदि दम्भ के विलास से, विश्वास की फांसी रूपी अधिकरणों से उनको मारकर उनका सर्वस्व पुरुष ही हरण करते हैं।

विषय–लुब्धक पुरुष कितने ही सैकड़ों–हजारों की संख्या में स्त्रियों का परिग्रह करते हैं, पर कुल–प्रसूता तो अपने कर्म के उदय से प्राप्त पति की सेवा से ही घर का निर्वाह करती है। अपनी कुल–मर्यादा को नहीं छोड़ती।

इसलिए हे प्रियसखी! पुरुषों के अधीन स्त्रियों का जीवन धिक्कार–युक्त ही समझना चाहिए। अतः मैं पाणिग्रहण के संकट में नहीं गिरुँगी। कल ही मैंने माता–पिता को बातें करते हुए सुना कि अब सुनन्दा का विवाह कर देना चाहिए। अतः तुम माता के पास जाकर निवेदन करो कि अभी सुनन्दा विवाह नहीं करेगी। शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।"

यह सुनकर सखी ने कहा–"स्वामिनी! तुम तो बालभाव में हो, पर यौवन वय प्राप्त होने पर स्त्रियों के लिए पुरुष ही जीवन है। यौवन में पति से विहीन स्त्री धूलि से भी निस्सार जाननी चाहिए।

इस जगत में दो ही सुख है, उनमें एक पौदगलिक है और दूसरा आत्मिक है। पौद्गलिक सुख भी दो प्रकार का है–कारण सुख व स्पर्श सुख। इसमें कारण तो धन आदि है एवं स्पर्श में खान–पान आदि है। दोनों ही पौद्गलिक सुखों का रहस्य स्त्रियों के लिए पुरुष एवं पुरुषों के लिए स्त्री ही है, क्योंकि धन – धान्यादि समग्र इन्द्रिय सुख से भरे घर में सब कुछ होने पर भी एकमात्र पति के वियोग में विधवा–स्त्री अग्नि में प्रवेश करती है। अतः जाना जाता है कि संसार में अग्नि से ज्यादा दुःसह्य विरह है।

दूसरे प्रकार के सुख का हार्द तो समता ही है। उसके बिना तप, जप,

दानादि वृथा ही है, क्योंकि व्यवहार–राशि में रहे हुए जीवों को संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त पुद्‌गल परावर्त्तन बीत गये हैं। वहाँ किसी एक जीव द्वारा अनेक भवों में क्या–क्या धर्म–कृत्य नहीं किया गया? सभी धर्म–कृत्य किये गये, पर एकमात्र समता–भाव के बिना सब कुछ बेकार है। उसके बिना वे धर्म–कृत्य अनन्तगुणा नहीं हुए।

अतः हे स्वामिनी! सहसा कुछ भी नहीं बोलना चाहिए। जितनी निर्वाह–शक्ति हो, उतना ही बोलना चाहिए। जब यौवन काल का उदय होगा, तब ही जानोगी। आगम में भी समस्त व्रतों के मध्य में ब्रह्मचर्य को ही दुष्कर कहा गया है, जिसकी रक्षा के लिए नव–वाड़ कहीं गयी हैं। अतः धैर्यशालिनी बनो। अज्ञता में कुछ भी मत कहो।''

तब सुनन्दा ने कहा–''तुमने जो कहा, वह मैंने अवधारण कर लिया। पर अभी तो मैं विवाह नहीं करूँगी। अतः तुम माता के समीप जाकर बोलो–सुनन्दा का विवाह अभी नहीं करना चाहिए। आगे जब मेरी इच्छा होगी, तब बता दूँगी। मेरे आवास में किसी भी कारण से पुरुषों को नहीं भेजा जाये। सखियों अथवा दासियों द्वारा ज्ञापित कराया जाये।''

सखी ने भी जाकर जननी को उसका आशय बता दिया। माता ने पूछा–''ऐसा क्यों बोलती है?''

सखी ने कहा–''किसी कारण से उदासीन हो गयी है। अतः शादी के लिए ना बोलती है। परन्तु यौवन का उदय होने पर स्वयमेव चाहेगी। चिंता न करें।''

सखी ने वापस आकर सब कुछ सुनन्दा को बताया। सुनन्दा भी वह सब सुनकर शान्त–चित्त से अपने आवास में सखियों से घिरी हुई सुख से काल व्यतीत करने लगी।

उसी नगर में आढ्य, दीप्त, धन–धान्य से भरे घर में वसुदत्त नाम व्यापारी रहता था। उसके चार पुत्र थे। उनमें पहला धर्मदत्त, दूसरा देवदत्त, तीसरा जयसेन तथा चौथा रूपसेन था। चारों भी निपुण, उपमान–गत रूपवाले, सभी व्यापार आदि कार्यों में कुशल, अपने द्वारा अंगीकृत कार्यों का निर्वहन करने मे दक्ष थे।

इन सब में चौथा रूपसेन काम–शास्त्रों में अति निपुण तथा चतुर पुरुषों में अग्रणी था। पिता तथा ज्येष्ठ भ्राताओं को अति प्यारा होने से निश्चिन्त था। उसे कोई भी कष्ट–साध्य कार्य नहीं देता था। वस्त्र–आभरण से भूषित होकर अश्व पर आरूढ़ होकर अथवा पैदल ही यथा–इच्छा नगर में, चतुष्पथ में, राजपथ

में और वन–उपवन आदि में गीत, नृत्य, आतोद्य, पुष्प आदि के आश्चर्य देखता हुआ सुखपूर्वक काल का निर्वहन करता थ। नित्य ही वह कौतुक–प्रिय रहता था।

कितना ही समय बीत जाने पर वह सुनन्दा यौवन को प्राप्त हुई। एक बार सखियों से घिरी हुई अपने आवास के ऊपर लकड़ी के बने हुए छत के छज्जे पर खेल रही थी। समस्त कामों के उद्दीपन का कारण रूप, आम्र–मंजरी के खिलने स्वरूप एवं कोयल के पंचम स्वर रूपी सैन्य से युक्त वसन्त का आगमन हो गया था।

इसी अवसर पर किसी महा–इभ्य के आवास की ऊपरी भूमि में सुगन्धित जल छिड़ककर स्थान–स्थान पर बहुत सारे पुष्पों की रचना की गयी थी। चंदन, कस्तूरी, अम्बर से मिश्रित कृष्णागुरु घटिका में जल रहा था। उससे समस्त भवन सुगन्ध से आपूरित था। चारों दिशाओं में बहुत सारे सुगन्धित पुष्पों की जाली व पर्दा रचा हुआ था। उपरितन शोभा देता था। उसके नीचे विचित्र सुकुमार तूले से निर्मित तकिया व आच्छादन वस्त्र आदि कृत रचनापूर्वक स्वर्णमय पलंग में सुकुमार, उज्ज्वल, स्नान–मज्जन के बाद चंदन विलेपन किये हुए, आभूषण पहने हुए, मखमल के समान कश्मीर में बने हुए वस्त्र के आच्छोटन रूप रचना से रचित वस्त्रादि के द्वारा शृंगार करके परस्पर अभिनव स्नेह–बन्धन से गूँथे हुए की तरह बाँहों से गरदन को लपेटे हुए, अत्यधिक अद्‌भुत सुख–विलसित शय्या के चारों ओर सखी–वृन्द से सेवित, विषय को उद्दीपन करनेवाले वर्णक, कविता, पद्यमय, पंचम राग में गीतों को गाते हुए कटाक्ष–विक्षेप, हास्य–विलास, ताली–दान आदि के द्वारा उत्साहपूर्वक वह दम्पति स्थित था।

उन सभी क्रियाओं को अति ऊँचे आवास पर स्थित सुनन्दा ने देखा और देखकर अवस्था के उदय के बल से कुछ कामोद्दीपन हुआ। वह प्रीतिपूर्वक टकटकी लगाकर देखने लगी। जैसे–जैसे देखती थी, वैसे–वैसे उसका काम दीप्त होता जाता था। वह सोचने लगी कि अगर ऐसा ही सुख मुझे भी मिले, तो अच्छा हो।

सात्त्विक भाव के उदय से शरीर में जड़ीभूत होती हुई देखने लगी, कुछ बोली नहीं। बल्कि उस दृश्य का अनुमोदन करती हुई पुलक के उद्‌गम से शृंगार रस का रस लेने में रसिका बन गयी।

उस समय उसकी प्रिय सखी ने पूछा–"स्वामिनी! एकटक क्या देख रही हो?"

इस प्रकार पूछने पर जब वह कुछ नहीं बोली, तब सखी ने अपनी

चतुराई से उसके दृष्टि–पथ का अनुगमन करते हुए वह दृश्य देखा। देखते ही सुनन्दा का आशय समझ गयी–"इस दम्पति के विलास भाव को देखकर यौवन के प्राग्भाव के उदय से इसका चित्त विकृत हो गया दिखाई देता है। अपने लिए भी ऐसे ही सुख के आर्त्त–ध्यान में पड़ गयी है।"

तब थोड़ा हँसकर मर्म–वचन से कहा–"हे विदुषी स्वामिनी! जो तुम देखती हो, वह तुम्हे रूचता है या नहीं?"

इस प्रकार दो–तीन बार बोलने पर वह भी थोड़ा हँसकर अत्यधिक दीर्घ–निःश्वास छोड़कर बोली–"हे सखी! मुझे ऐसा सुख कहाँ?"

प्रिय सखी ने कहा–"स्वामिनी! इस प्रकार के दीन वचन मत बोलो। अभी माता के पास जाकर तुम्हारा आशय कहकर थोड़े ही दिनों में तुम्हारा दुःख दूर कर दूँगी और सुख–समुद्र में स्थापित कर दूँगी। क्यो निरर्थक आर्त्त–ध्यान करती हो? सब अच्छा ही होगा।"

सखी के इस प्रकार कहने पर सुनन्दा ने कहा–"सखी! अभी तुम माता के पास कुछ भी न कहना। मुझे बहुत लज्जा आती है। अतः धीरे–धीरे किसी उपाय के द्वारा उन्हें बतायेंगे। पर अभी तो नहीं।"

उसके इस प्रकार कहने पर सखी ने कहा–"स्वामिनी! अब यहाँ से हट जाइए। यहाँ पर आप जैसे–जैसे देखेंगी, वैसे–वैसे विरह आर्त्ति बढ़ेगी। अतः चलो। नीचेवाले प्रस्तर में बैठकर आपकी आर्त्ति को दूर करने का उपाय करें।"

इस प्रकार कहकर उसका हाथ पकड़कर निचले प्रस्तर में चतुष्पथ की ओर स्थित गवाक्ष में आकर चतुष्पथ को देखती हुई बैठ गयी।

इसी अवसर पर वह कौतुक–प्रिय रूपसेन सायंकालीन भोजन करके दिन की दो घड़ी अवशेष रहने पर भव्य वस्त्र–आभरण धारण करके सुनन्दा के आवास के सम्मुख पान की दुकान पर आया। पनवाड़ी ने भी उसे अत्यन्त आदरपूर्वक ऊँचे आसान पर बिठाया। क्योंकि–

धनी सर्वत्र मानमाप्नोति।

अर्थात् धनी सर्वत्र मान को प्राप्त होता है।

ताम्बूलिक ने उसे भव्य बीड़ा दिया। रूपसेन भी उसे चबाता हुआ नगर के आश्चर्य को देखता हुआ बैठ गया। इसी बीच कामदेव के रूप को जीतनेवाला रूपसेन सुनन्दा के दृष्टि–पथ पर आया। अति अद्भुत रूप से युक्त उस कुमार को देखकर गाढ़ अनुरक्त होते हुए सुनन्दा ने सखी से कहा–"हे सखी! उस ताम्बूलिक की दूकान पर स्थित उस श्रेष्ठ पुरुष को तुम देखो। कैसा इसका रूप! कैसी वय! कैसी आँखें! किस प्रकार की वस्त्र–आभरण धारण करने की

चतुरता! कैसा मुख–नेत्र–हाथ–पैर आदि का हाव–भाव! मानो काम ही शरीर धारण करके चल आया हो। इस प्रकार के इस पुरुष को देखकर इसके साथ पूर्वदृष्ट दम्पति के विलास का मनोरथ प्रवर्तित होता है।''

तब उसकी सखी ने हँसकर कहा–''हे स्वामिनी! पहले तो पुरुष के नाम–मात्र से रुष्ट होकर लाल नेत्रोंवाली बन जाती थी और अब अपरिचित के दर्शन–मात्र से क्यों आतुर बनती हो? आखिरकार मेरा कहा हुआ सत्य ही साबित हुआ, कि–

पूर्वापरं विचार्य वक्तव्यम्।

अर्थात् पूर्वापर विचार करके ही बोलना चाहिए।''

सुनन्दा ने कहा–''हे सखी! मेरा मूर्खत्व मुझ में ही आया। पर अब तुम क्यों जले हुए पर नमक छिड़कने के समान बोलती हो? किसी भी उपाय से मेरा मनोरथ पूर्ण करने में ही तुम्हारा कौशल्य है–यही हार्द है।''

सखी ने कहा–''हे स्वामिनी! तुम्हारा मनोरथ तो अभी ही पूर्ण कर दूँ, ऐसी मुझमें कुशलता है। परन्तु पूर्व में तुमने पुरुष–आगमन के निषेध के छल से मनोरथ रूपी भवन के द्वार पर साँकल लगा दी है। फिर भी धैर्य धारण करो। पहले इसके साथ परिचय करके फिर मनोरथ पूर्ण कराऊँगी। सर्वप्रथम दृष्टि–मिलन प्रीतिलता का बीज है। इसलिए अन्योन्य दर्शन के जल से सिंचित करने से ही यह लता फलवती होती है। इसलिए तुम अपने आशय–गर्भ रूप पदार्थ लिखकर मेरे हाथ में समर्पित करो। उसे लेकर वहाँ जाकर उसके हाथ में दूँगी। यदि चतुर होगा, तो शीघ्र ही उत्तर देगा। नहीं तो मूर्ख के मिलन से क्या सुख? शास्त्र में भी कहा है–

सज्जनस्य घटिकामिलनतुल्यो मूर्खस्य समग्रावतारोऽपि नागच्छति।

अर्थात् सज्जन के घड़ी भर के मिलन के तुल्य मूर्ख का सम्पूर्ण जीवन भी नहीं होता। इसलिए सुनन्दा द्वारा पत्रिका में स्व–आशय–गर्भ को पद्यार्थ के रूप में लिखकर दे दिया गया। प्रिय सखी ने उस संदेश को ले जाकर किसी भी तरह से रूपसेन के पास जाकर उसे प्रच्छन्न वृत्ति से पढ़ाया। जैसे–

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या।
यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।।

अर्थात् नलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया, जिसके द्वारा चन्द्र–बिम्ब का दर्शन नहीं किया गया।

यह पढ़कर अपना चातुर्य दिखाने के लिए रूपसेन ने प्रत्युत्तर लिखकर दिया, जिसे लेकर घर आकर सुनन्दा के हाथ में अर्पित किया। उसने भी पढ़ा–

उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव,
दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन।

अर्थात् चन्द्रमा की उत्पत्ति भी निष्फल ही है, जिसने कि विकसित पद्मिनी नहीं देखी।

इस प्रकार अभिप्राय–युक्त प्रत्युत्तर मानकर उसे गाढ़ अनुराग हो गया। सखी को कहा–"जैसा सोचा था, वैसा ही निपुण प्रतीत होता है। अतः पुनः तुम वहाँ जाकर प्रीतिलता के बीज रूप बीटक को देकर–प्रतिदिन दर्शन देना, अन्यथा भोजन नहीं करूँगी–यह विज्ञप्ति कराकर आना।"

सखी ने पुनः कुमार के समीप जाकर, भौंहों की संज्ञा से एकान्त में ले जाकर जैसे कोई जानता व सुनता न हो, वैसे कथन के योग्य घटना कही। वह भी उस आश्चर्यकारी कथन को सुनकर उस सखी को बोला–"हे सुभ्रू! वह तो लोक में पुरुष–द्वेषिणी के नाम से सुनी जाती है, तो इस प्रकार मुझ पर गाढ़ अनुराग कैसे हो सकता है?"

उसने कहा–"श्रेष्ठी! वह तो तुम्हारे दर्शन–मात्र से प्रेम–पंक में निमग्न होकर जल बिन मीन की तरह तुम्हारे विरह–दुःख से दुःखित होती हुई एकमात्र तुम्हारा ही ध्यान ध्याती हुई तुम्हारी ही बातें करती है। दूसरा कुछ भी नहीं जानती। अतः उसके हाथ से दिये गये इस बीटक को ग्रहण करो। आज से आगे प्रतिदिन एक बार अति दर्शन–दान का प्रत्यायक रूप ताली बजाकर करार देवें।"

कुमार भी रूप, धन, यौवन तथा चातुर्य के गर्व से गर्वित होकर सखी के कहे हुए वाक्यों को सुनकर प्रेम–पाश में बंधा हुआ विचार करने लगा–"अहो! जो पुरुष के नाम–मात्र से भी अत्यन्त क्रुद्ध होती थी, वह मेरे ऊपर स्वतः ही गाढ़ अनुरक्त होती हुई विरह दुःख को धारण कर रही है, उसे त्यागना कैसे शक्य है? अबला के प्रार्थना बल से कैसे छूटा जा सकता है?"

इस प्रकार कहकर बीटक के ग्रहणपूर्वक हस्त–ताल–दान से करार किया। सखी ने कुमार से वचन लेकर हर्षपूर्वक सारी बात जाकर सुनन्दा को बतायी। वह हर्ष में निमग्न हो गयी। उस दिन से लेकर प्रतिदिन कुमार वहाँ आकर दृष्टि–मिलन करता। सुनन्दा भी राग रूपी कसौटी पर उल्लिखित अति तीक्ष्ण कटाक्ष रूपी बाणों द्वारा कुमार के कमल दल के समान कोमल देह को व्यथित करती थी। मोह से वह भी उसे ही अति सुख मानते हुए गाढ़ अनुराग से अनुरक्त होकर अहर्निश उसी का स्मरण करता था। इस प्रकार दोनों के ही दिन विरह–वेदना सहते हुए व्यतीत हो रहे थे।

इस बीच कुछ दिनों बाद कौमुदी महोत्सव जानकर राजा ने सम्पूर्ण नगर में पटह बजवाया–"हे नगरजनों! अमुक दिन महोत्सव है। उस दिन प्रत्येक घर में रहे हुए दुःखित, व्याधि से पीड़ित जरा से जर्जरित को छोड़कर सभी लोग नगर के बाहर प्रति वर्ष होनेवाले इस महोत्सव के स्थान रूपी उद्यान में आने चाहिए। अगर कोई नहीं आया, तो वह राजा के अपराध का पात्र बनेगा।" यह पटह सुनकर सभी नागरिक महोत्सव में जाने की तैयारी करने लगे।

सुनन्दा ने भी अपने परिजनों के मुख से यह सब सुनकर मन में विचार किया कि"अहो! मेरे मनोरथ को सफल करने का दिन प्राप्त हुआ। अगर करने में समर्थ हुई, तो उसी दिन मेरे प्रिय के संयोग का अवसर है।"

सखी से कहा–"किसी भी तरह रूपसेन को महोत्सव की बात कहकर मिलन का अवसर बताओ कि उस रात्रि में कोई भी मनुष्य नगर में नहीं रहेगा। अतः तुम भी शरीर की किसी व्याधि का बहाना करके घर पर ही रुक जाना। मैं भी कोई छल करके घर पर ही रुक जाऊँगी। बाद में पहर रात्रि बीत जाने के बाद मेरे आवास के पिछले भाग में झरोखे के एकान्त स्थान में मोटी रस्सी लटकवा दूँगी। तुम वहाँ रस्सी के अवलम्बन से ऊपर आकर मेरे आवास को अलंकृत करना। बहुत दिनों से आतुर हम दोनों का संयोग होगा। लाखों सुवर्ण से भी अति दुर्लभ वह दिन है। अतः भूलना मत। इस प्रकार संकेत करके आओ।"

सखी ने भी यथा अवसर वह सब घटना रूपसेन को कहकर संकेत का निर्णय किया। वह भी चिर–इच्छित संयोग के निर्णय को सुनकर हर्ष से पुलकित हृदयवाला होकर अच्छा कहकर अपने स्थान पर चला गया।

प्रिय सखी ने भी लौटकर सुनन्दा को सारी बात बता दी। वह भी यह सुनकर हर्ष से अपनी मनोरथ रूपी माला गूँथने लगी। बहुत ही मुश्किल से चार–पाँच दिन का समय बिताया। महोत्सव का दिन आने पर राजा अपने परिवार सहित नगर से बहार निकला। साथ में प्रजा भी निकली। सुनन्दा को बुलाने माता स्वयं आयी। उससे पहले ही सुनन्दा मस्तक पर औषध का लेप करके पलंग पर औंधा मुख करके लेट गयी।

यह देखकर माता ने पुत्री से पूछा–"पुत्री! तुम्हें क्या दुःख है?

माता द्वारा पूछने पर सुनन्दा ने मंद व म्लान स्वर में प्रत्युत्तर दिया।–"आज दिन की छः घड़ी शेष रहने पर ही मस्तक में अकथनीय आर्त्ति उत्पन्न हुई है। मुख ऊपर करने में भी समर्थ नहीं हूँ।

माता ने कहा–"तब तो मैं वन में नहीं जाऊँगी। तुम्हारे ही पास बैठूँगी।"

पुत्री ने कहा–"नहीं, माता! यह युक्त नहीं है, क्योंकि आप राजा की अग्र–महिषी हैं। आप स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं। अतः आपके नहीं जाने पर देवता प्रसन्न–चित्त नहीं होंगे, बल्कि कोई भी महा–विघ्नकारी देव–कोप उपस्थित हो जायेगा। अतः आप सपरिवार चली जायें। विशेषतापूर्वक महोत्सव करें। मैं भी दो–चार घड़ी में शिर की आर्त्ति कम हो जाने पर शीघ्र ही उपस्थित हो जाऊँगी। अतः मेरी प्रिय सखी को छोड़कर बाकी की सभी सखियों को लेकर चली जायें। मेरी चिंता न करें। बीच–बीच में जब कभी भी ऐसा सिर–दर्द होता है, तो एक–दो दिन रहकर ठीक हो जाता है। अतः विषाद न करें। इच्छापूर्वक तथा हर्षपूर्वक महोत्सव कीजिए।"

इस प्रकार कहकर माता को भेज दिया। दो प्रिय सखियों को छोड़कर सभी दास–दासी, द्वारपाल, अन्तपुर–रक्षक आदि से युक्त पट्टरानी उद्यान में चली गयी। सुनन्दा ने भी संकेतित अवसर जानकर पिछवाड़े के झरोखे में रस्सीमय निस्सरनी लगाकर छोड़ दी। प्रिय सखी क्षण–क्षण में वहाँ आकर रूपसेन के आगमन को देखती थी और सुनन्दा अटारी के गवाक्ष के बीच घूमती थी।

इधर उसी नगर में महाबल नामक एक जुआरी रहता था। प्रतिदिन जुए में आसक्त रहते हुए द्युत–क्रीड़ा करते हुए काल व्यतीत करता था। एक बार उसने जुए में बहुत सारा धन हार दिया। मस्तक पर अत्यधिक ऋण हो गया। अन्य जुआरी धन के लिए उसे पीड़ित करने लगे।

तब महाबल ने सोचा–"ऋण तो बहुत हो गया, पर वापस देने में कैसे समर्थ होऊँगा? आज अवसर हैं, सभी आबाल–वृद्ध आज महोत्सव के लिए नगर के बाहर जायेंगे। पूरा नगर सूनसान हो जायेगा। अतः मैं अर्ध–रात्रि में नगर में प्रवेश करके किसी भी धनिक के घर या दूकान से नकली चाबी का प्रयोग करके ताला खोलकर धन लेकर मेरा ऋण चुका दूँगा, अन्य उपाय नहीं है।"

इस प्रकार विचार करके उसी रात्रि में धन के लिए तिराहे–चौराहे, गली–कूचे में घूम रहा था। इस तरह भ्रमण करते हुए भाग्य से उसी सांकेतित स्थान पर आया। वहाँ गवाक्ष के नीचे निसरनी आदि संकेत चिह्न देखकर उस कुबुद्धि के निधान धूर्त्त ने विचार किया–"आज किसी स्त्री ने किसी जवान के साथ संकेत किया है, ऐसा दिखायी पड़ता है। वह अभी तक नहीं आया है, ऐसा ज्ञात होता है। अतः चोरों के बीच मयूर के न्याय से मैं ही जाता हूँ। देखते हैं, क्या होता है?"

इस प्रकार विचार करके गवाक्ष के निचले प्रदेश में जाकर निसरनी हिलायी। उसे प्रकम्पित देखकर प्रिय सखी ने गवाक्ष के नीचे झांका। वहाँ किसी

पुरुष को खड़ा हुआ देखकर उसने जाना कि निश्चय ही रूपसेन आ गया है।

यह मानकर वहीं रहते हुए उसने सुनन्दा को बताने के लिए कहा–"तुम्हारा प्राणप्रिय आ गया है।"

उसने भी हर्षित होते हुए कहा–"घर के अन्दर ले जाओ।"

तब प्रिय सखी ने कहा–"क्या तुम आ गये?"

धूर्त्त ने कहा–"हाँ!"

प्रिय सखी ने रूपसेन के भ्रम से कहा–"आइए, पूज्यपाद! इस घर को अलंकृत कीजिए। अपने आगमन से हमारी स्वामिनी के मनोरथ को पूर्ण कीजिए।"

इस प्रकार के शिष्टाचार–युक्त वचन को सुनकर धूर्त्त ने जाना–"मैंने जो अनुमान लगाया, वह सत्य साबित होता है। अतः सुखपूर्वक ऊपर जाता हूँ।"

इस प्रकार विचार करके निसरनी के मार्ग से चढ़ते हुए जैसे ही गवाक्ष के अन्दर पाँव रखा, वैसे ही महोत्सव के लिए उपवन में स्थित रानी ने पुत्री के गाढ़ अनुराग से रंजित होते हुए अपने सखी–वृन्द को आज्ञा दी कि तुम लोग राज–सैनिकों को लेकर राजमंदिर जाओ। जाकर मेरी प्राणों से भी प्रिय सुनन्दा के कुशल आदि समाचार विशद रीति से ज्ञात करो। सुख प्रश्न पूछो। उसके बाद अमुक मंजूषा में स्थित अमूक पूजा का द्रव्य सावधानी से निकालकर पुनः पुत्री की कुशलता लेकर सैनिकों के साथ चली आना।"

इस प्रकार रानी के द्वारा प्रेषित सखी–वृन्द को सैनिकों के साथ उसी समय राजमंदिर में प्रवेश करते हुए दूर से ही देखकर–"हाय! यह क्या हुआ? यह अन्तराय कर्म कहाँ से उदय में आ गया? रूपसेन का आगमन कहीं ये लोग न जान लें।"

यह विचार कर उसकी प्रिय सखी ने हाथ से दीपक बुझा दिया और धूर्त को हाथ से पकड़कर अंधेरे में ही सुनन्दा के पलंग पर छोड़कर "कुछ भी बात मत करना' ऐसा कहकर प्रिय सखी प्रवेश करती हुई सखी वृन्द के सम्मुख चली गयी।

उन्होंने भी पूछा–सुनन्दा कहाँ है? उसकी हालत कैसे है? हमें बताओ। सुनन्दा कहाँ सोयी हुई है? हमें बताओ! और हाँ! आज राजमहल में अंधकार क्यों दिखायी दे रहा है।

इस प्रकार के उनके शब्द सुनकर प्रिय सखी ने उनसे कहा–"हे बहिनों! सुनन्दा को सिर के दर्द से अत्यन्त पीड़ा हुई। ऐसी पीड़ा तो शत्रु को भी न हो। उसे जो दर्द हुआ, उसे तो देखा भी नहीं जा सकता। उसने बिस्तर पर तड़पते हुए कहा–'मैं इस दीप के परिताप को सहन नहीं कर पा रही हूँ। अतः

दीपक बुझा दो।' इसलिए मैंने दीपक बुझा दिया है। घड़ी, आधी घड़ी–मात्र ही हुआ होगा, जरा–सी आँख लगी है। अतः अभी उसकी तबियत पूछने का अवसर नहीं है। अभी तो जोर से बोलना भी नहीं चाहिए। जब तक उसकी सुखपूर्वक आँख लगी हुई है, तब तक तो घर के अन्दर भी नहीं आना चाहिए। जब वह स्वयं जग जाती है, तब कुशल–क्षेम पूछना।"

तब एक सखी ने कहा–"रानी के महल में चलते हैं। जब तक सुनन्दा की आँख लगी हुई हे, तब तक रानी जी के कहे कार्य को सम्पन्न कर लेते हैं। पुनः लौटते हुए सुनन्दा की खोज–खबर लेंगे।" यह कहकर सखी वृन्द दूसरे भवन में चली गयीं।

उधर प्रिय सखी के द्वारा सुनन्दा के पलंग पर छोड़ा गया वह धूर्त कामातुर होता हुआ कर–स्पर्शादि के द्वारा उद्दीप्त कामवाला होता हुआ सबसे पहले सुरत–क्रिया करने लगा।

सुनन्दा ने सोचा–"बहुत दिनों से मिलन को आतुर मेरे इस प्रिय को कैसे रोका जाये? सुखपूर्वक इच्छा की पूर्ति हो जाये और मेरे विरहाग्नि भी शांत हो जाये। वार्त्ता आदि तो फिर कभी मिलने पर करेंगे। अगर सखीवृन्द आ गयी, तो अन्तराय न पड़े।"

इस प्रकार जानकर सुनन्दा ने कुछ भी नहीं कहा। वह बलशाली धूर्त यथेच्छापूर्वक सूरत–क्रीड़ा करके जब तक निवृत्त हुआ, तब तक तो हाथ में दीप लेकर सखी वृन्द पुनः आयी। खोज–खबर के लिए स्थित प्रिय सखी ने दूर से ही देखकर दौड़कर कक्ष में जाकर कहा–"शीघ्र ही अपने प्रिय को भेज दो। क्या करें? अपने ही कर्मों का दोष है, जो कि बहुत दिनों से इच्छित संयोग होने पर भी स्वेच्छा से एक बात तक नहीं की। अभी तो जल्दी जाइए, पुनः भाग्योदय से मिलन होगा, तब दिल में रही हुई सभी बातें करेंगे।"

धूर्त ने भी विचार किया–अब रुकने से क्या लाभ? अज्ञात रहना ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विचार करके सुरत–क्रीड़ा से च्युत हुए हारादि आभूषण लेकर शीघ्र ही उसी मार्ग से उतर गया। मन में हर्षित होता हुआ सोचने लगा। आज मैं अच्छा शगुन लेकर निकला, जो राजकुमारी के साथ प्रथम सुरत सुख मिला तथा धन का भी लाभ हुआ। इस प्रकार प्रसन्न मन से वह अपने स्थान पर लौट गया। प्रिय सखी भी जल्दी से निःश्रेणी छिपाकर सुनन्दा के पाँव दबाने लगी।

तब तक दीपक हाथ में लेकर सखी–वृन्द भी आ पहुँचा। सुनन्दा को रानी द्वारा कही हुई कुशलता पूछने लगी। सुनन्दा ने भी अपने अंगों आदि का संकोच करते हुए मंद स्वर से कहा–"सखियों! पहले तो मुझे बहुत वेदना हुई।

ऐसी किसी को भी न हो। अभी दो–तीन घड़ी से शांति है। पुनः चेतना आयेगी, तो अच्छा है। अतः माता से मेरा प्रणाम कहना। जैसा देखा है, वैसा कह देना। पूर्व में अत्यधिक वेदना से पराभूत होने से ज्यादा बोलने में समर्थ नहीं हूँ। पर जान पड़ता है कि माता के शुभ चिन्तन से वेदना चली गयी है। माँ मेरी चिंता न करें–ऐसा बोल देना।''

इस प्रकार सुनन्दा की हालत पूछकर तथा पूजा–द्रव्य आदि ग्रहण करके सखी–वृंद सैनिकों के साथ उपवन चली गयीं और रानी को सब कुछ निवेदन किया। रानी भी स्वस्थ–चित्त होकर महोत्सव में लीन हो गयीं।

अब विषय से आकुल रूपसेन की घटना सुनो। रूपसेन भी शरीर की अस्वस्थता का बहाना बनाकर पिता आदि को छलकर अकेला ही घर पर रह गया। सुनन्दा के मिलने के मनोरथ से पूर्ण हृदयवाला होकर रात्रि का प्रथम प्रहर बीत जाने के बाद सम्पूर्ण भोग सामग्री लेकर घर के कपाट पर ताला लगाकर उसे दृढ़तर करके निकल गया। मन में विविध मनोरथों का चिंतन करते हुए मार्ग में चलने लगा। जैसे–''आज मेरी रात्रि धन्य है कि मन–वचन–काया की एकतानता के साथ प्रेम करनेवाली राजकुमारी से मिलन होगा। मूर्ख के साथ सम्पूर्ण जन्म की संगति से जो सुख नहीं होता, वह सुख चतुर–जनों के घटिका–मात्र के संयोग से होता है। उसे कह पाना शक्य नहीं है। मैं वहाँ जाकर से उत्पन्न दुःख का नाश करके विविध सूक्ति–सुभाषित–पहेलियों–छन्द–छप्पय–अन्तर्लापिका–बहिर्लापिका–समस्या–गाथा –गूढ़ दोहे आदि निपुण उक्तियों द्वारा उसके चित्त का रंजन करूँगा। वह भी अत्यधिक विदुषी है। विविध आशय से गर्भित हाव–भाव, कटाक्ष– विक्षेप, वक्रोक्तियों द्वारा मेरे हृदय को आह्लादित करेगी। हम परस्पर चित्त–विरह से उत्पन्न दुःख को कहेंगे तथा चाटु वचनामृत से सिचिंत मनोरथ रूपी वृक्ष नव–पल्लवित होगा। मेरे चातुर्य से आह्लादित हृदयवाली वह कल्पलता की तरह मनोरथ–फल को देनेवाली होगी। विविध आसन, काम के निवास रूप स्थानों के मर्दन, आलिंगन आदि सुरत–क्रियाओं द्वारा देवी–देवताओं की तरह सुरत–क्रीड़ा करेंगे।''

इत्यादि मनोरथों द्वारा आर्त्तध्यान से भरे हृदयवाला रात्रि तथा राग के अधंकार में उसे ही स्मरण करता हुआ मार्ग में जा रहा था। तभी किसी स्वामी रहित आवास की बहुत बड़ी भींत वर्षा जल के प्रवाह से शिथिल तथा अपरिकर्मित होती हुई उस रूपसेन के ऊपर गिर गयी। उसके पतन के घात से अंगोपांग के चूर–चूर हो जाने से रूपसेन पंचत्व को प्राप्त हुआ और एक दिन की ऋतु–स्नाता सुनन्दा की कुक्षि में जुआरी–कृत संयोग से जन्य वीर्य रक्त में गर्भ

रूप से उत्पन्न हुआ। कहा भी है–

विचित्रा ही अध्यवसानां गतिः, शतशो वैरयुक्तो वैरी यद् दुःखं न ददाति तद् विषयो ददाति।

अध्यवसायों की गति विचित्र है। सैकड़ों वैर से युक्त वैरी भी जो दुःख नहीं देता, वह दुःख विषय देते हैं। क्योंकि–

विषयाणां विषाणां च, दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि।।

विषयों में और विष में महान अन्तर दिखाई देता है। विष तो खाने के बाद हनन करता है, पर विषय तो स्मरण–मात्र से ही हनन करते हैं।

उधर सुनन्दा ने सखी–वृन्द के जाने के बाद सुरत–क्रिया से च्युत आभूषणों को ढूंढ़ा, तो कितने तो प्राप्त हुए और कितने ही प्राप्त नहीं हुए। तब उसने सोचा–"टूट गये हैं"–यह जानकर प्रिय ले गये होंगे। ठीक करवाकर भेज देंगे।

पुनः विचार किया–"सारे भूषण क्यों नहीं ग्रहण किये?"
सखी ने कहा–"सखी–वृन्द के आगमन से संभ्रान्त–चित्त हो जाने से जो हाथ में आया, वही लेकर चले गये। कल उसकी खबर लेंगे।" इस प्रकार बातें करते हुए वे दोनों सो गयीं।

प्रभात होने पर सभी लोग व राजा अपने–अपने घर लौट आये। रूपसेन के पिता भी परिवार सहित घर आ गये। घर के दरवाजे पर ताला लगा हुआ देखकर अनुमान लगाया–"किसी आवश्यक कार्य या देह–चिंता के लिए गया होगा।" दो घड़ी द्वार पर खड़े रहे, फिर भी नहीं आया, तो कुछ–कुछ चिंतित होते हुए सभी परिचित स्थानों पर भाई आदि तथा अन्य भी सम्बन्धी गवेषणा के लिए दौड़े। पर कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ।

पिता, भाई आदि सभी सम्बन्धी अत्यन्त दुःख व चिंता करते हुए समस्त नगर में, उपवन आदि में उसे ढूंढ़ने के लिए घूम–घूम कर थक गये, पर कहीं भी लेश–मात्र भी वार्त्ता नहीं सुनी।

तब रूपसेन के पिता लोहार के पास से ताला खुलवाकर शोकाकुल पत्नी आदि परिवार को घर पर छोड़कर रूपसेन की चिंता से व्याकुल होते हुए राजद्वार पर गये। दीर्घ निःश्वासों और अश्रुओं को छोड़ते हुए राजा को नमस्कार करके खड़े रह गये।

राजा ने भी उसे उस हालत में देखकर पूछा–"हे इभ्यवर! तुम्हे ऐसा कौन–सा असह्य दुःख उत्पन्न हुआ है, धीरज धरकर निवेदन करो, जिससे कि

मैं तुम्हारे दुःख को दूर कर सकूँ। तुम मेरे नगर के मण्डन–स्वरूप हो। मेरे अति प्रिय हो। तुम्हारा दुःख देखकर मेरा चित्त संक्रान्त हो गया है।"

तब फटे हुए हृदय से पिता ने जैसे–तैसे सारी घटना बतायी। राजा भी वह सभी सुनकर महान आश्चर्य और शोक को प्राप्त हुआ। श्रेष्ठी को धैर्य बंधाकर तथा सैकड़ों सेवकों को बुलाकर रूपसेन की खोज–बीन करने के लिए समग्र नगर में, नगर–वन में, ग्रामान्तर में, बावड़ी, कुएँ आदि में, वेश्या–गृह में, सैकड़ों कोसों तक की दूरी पर ऊँट आदि के प्रयोग से गवेषणा करवायी। पर वे लोग जैसे गये थे, वैसे ही खाली हाथों लौट आये। उसकी गंध का लेश–मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ।

राजा भी महान आश्चर्य व दुःख के संकट से घिर गया कि आखिर वह कहाँ गया? पर कर्मों की गति विचित्र है। अतिशय ज्ञानी मुनि के बिना यह सब कौन बता सकता था?

श्रेष्ठी निराश होकर घर आ गया। छः मास तक खूब द्रव्य व्यय करके गवेषणा करवायी, पर वार्त्ता का लेशमात्र भी प्राप्त नहीं हुआ। दैव–गति को कौन हटा सकता है? श्रेष्ठी उसके वियोग–शल्य से होनेवाले दुःख को वहन करते हुए दुःखपूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

एक दिन सुनन्दा की प्रिय सखी ने लोगों के मुख से वह सारी बात सुनकर सुनन्दा को बतायी। वह भी सुनकर अत्यन्त दुःखित होते हुई सखी को कहने लगी–"क्या यहाँ आकर किसी दुष्ट ने आभरण के लोभ से मार दिया या अपहरण कर लिया?"

उसने भी बहुत खोज करवायी, पर कहीं भी कुछ भी पता न चला। एक माह से ऊपर कुछ दिन निकल जाने पर इधर सुनन्दा में गर्भ के चिह्न वमन, शरीर दुःखना आदि प्रकट होने लगे। उसने सखी को वह सब बताया। सखी ने भी उड्डाह कारण मानकर जन्म आदि करानेवाली कुट्टिनी आदि को बुलाकर बहुत सारा द्रव्य देकर क्षार औषधि आदि के प्रयोग से गर्भपात करवा दिया। तब रूपसेन का जीव मरकर सर्पिणी की कुक्षि में तीसरे भव में नाग के रूप में उत्पन्न हुआ।

सुनन्दा ने भी सखी द्वारा माँ को कहलवा दिया कि अब मेरा विवाह कर दीजिए। यह सुनकर माता ने भी राजा को निवेदन करके हर्षपूर्वक क्षितिप्रतिष्ठितपुर के राजा के साथ उसका पाणिग्रहण करवा दिया। बहुत सारा सुवर्ण, रत्न, गज, तुरंग आदि देकर जामाता को प्रसन्न करके सुनन्दा को पति के साथ भेज दिया। क्षितिप्रतिष्ठितपुर का राजा भी उसे ग्रहण करके उत्साहपूर्वक अपने नगर में

आया। उसके साथ पाँच प्रकार के काम–भोग भोगने में प्रवृत्त हुआ। इस तरह सुखपूर्वक दोनों का काल व्यतीत होने लगा।

इधर वह रूपसेन का जीव सर्पिणी के गर्भ से उत्पन्न होता होता भी आयु के योग से माता के भक्षण रूपी विघ्न से निकलता हुआ वृद्धि को प्राप्त हुआ। पृथ्वी के आहार आदि के लिए भ्रमण करता हुआ एक बार कर्मोदय के योग से राजमहल में गया।

उस समय ग्रीष्मकाल होने से वह दम्पत्ति अपनी आवास वाटिका में जल–यंत्र आदि द्वारा किये गये शीतल प्रदेश में स्वेच्छा से रमण कर रहा था। नाग भी भाग्य योग से वहाँ आकर सुनन्दा को देखकर पूर्वबद्ध राग के उदय से फण रूपी छत्र को स्तम्भित करके सम्मुख बैठ गया और मस्तक धूनने लगा। सुनन्दा उसे देखकर डर गयी। चिल्लाकर भागने लगी, तो सर्प भी उसके पीछे–पीछे जाने लगा। तब सुनन्दा और भी जोर से चिल्लायी–"अरे! दौड़ो–दौड़ो। यह सर्प मुझे डसने के लिए मेरे पीछे–पीछे लग गया है।"

रानी के शब्द सुनकर सेवकों ने उस सर्प को शस्त्र से मार दिया। वहाँ से मरकर चौथे भव में काग जाति में कौए के रूप में उत्पन्न हुआ। क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ वह कौआ नगर में परिभ्रमण करने लगा।

एक बार घूमता हुआ वह कौआ राज–वाटिका में बड़े वृक्ष की शाखा पर बैठकर फल आदि खाने लगा। उसी समय राजा व सुनन्दा पुष्प आदि के झुमकों की शोभा को देखने के लिए उस वाटिका में बहुत सारे दास–दासियों से युक्त होकर चतुर्मुखी आवास में बैठकर विलास कर रहे थे। उनके मुख के सामने गायक–जन समयोचित दिव्य, मधुर तथा अनेक वाद्यों से मिश्रित ध्वनि द्वारा संगीत–गान कर रहे थे। वे दोनों गान रस में लीन होते हुए एक चित्त से सुन रहे थे। कोई भी अन्य आवाज नहीं आ रही थी। पूर्ण शांति का माहौल था।

इसी अवसर पर रूपसेन का जीव रूपी कौआ उड़ता हुआ वहाँ आया। आवास के सामने के वृक्ष पर बैठकर इधर–उधर देखने लगा। तभी उसके दृष्टि पथ पर सुनन्दा आयी। पुनः पूर्व भव के राग का उदय हुआ। उस रागोदय से हर्ष को प्राप्त होता हुआ इधर–उधर उड़ता हुआ काँव–काँव करने लगा। तब उसके अशुभ नाम कर्म के उदय से जनित अति कर्कश कर्ण–कटु शब्दों के उच्चारण से वह संगीत भंग होने लगा।

तब राजा ने सेवकों को कहा–"हे मूर्खजनों! इस प्रकार के समय पर भी गीत रस में विघ्न करनेवाले इस पक्षी को क्यों नहीं उड़ाते हो?"

राजा के आदेश से सेवकों ने कौए को उड़ाया, फिर भी क्षण भर बाद

व वापस आकर काँव–काँव करने लगा। इस प्रकार दो–तीन–चार बार भी उड़ाये जाने पर भी व मोह के उदय से नहीं गया। तब कुद्ध होते हुए राज ने गोलिका के प्रयोग से उसे मारकर भूमि पर गिरा दिया।

वह मरकर उसी नगर के उपवन में सुन्दर हंस के रूप में उत्पन्न हुआ। गर्भ की स्थिति पूर्ण होने पर हंस रूप में पैदा हुआ। वृद्धि को प्राप्त होते हुए आहारादि के लिए तालाबों में, वृक्षों पर घूमते हुए स्वेच्छा से काल का निर्वहन करने लगा।

एक बार ग्रीष्म–ऋतु में सघन वृक्षों के कुंज–प्रदेश में जलयंत्र से सिचिंत शीतल भूमि प्रदेश में सघन छाया द्वारा ताप की पीड़ा को निवारण करनेवाले वट वृक्ष के नीचे सुनन्दा तथा राजा विराजमान थे। उनके आगे गायकजन अनेक रस गर्भित उक्तियों द्वारा गीत–गान कर रहे थे। ऐसे समय में रूपसेन का जीव हँस परिभ्रमण करते हुए उसी वट वृक्ष की शाखा पर आकर जैसे ही बैठा, वैसे ही सुनन्दा को देखा। पुनः मोह का उदय होने से पुनः–पुनः उसी का मुख देखते हुए मधुर स्वर से शब्द करने लगा और एक दृष्टि से सुनन्दा को ही देखने लगा।

उसी समय कोई कौआ उड़ता हुआ उसी हंस के पास आकर बैठ गया। उस कौए ने राजा के शुभ्र वस्त्र देखकर उस पर बींट कर दी। उसे देखकर कुपित होते हुए राजा ने जैसे गोलिका यंत्र धनुष्क हाथ में लेकर गोली छोड़ी, वैसे ही अवसर को पहचाननेवाला कुटिल कौआ तो उड़ गया। गोली मोह से मूर्च्छित हंस को लग गयी। उसके आघात से तड़फड़ाता हुआ हंस राजा के सामे गिर गया।

सभ्यजनों ने कहा–"संगति का फल ऐसा ही होता है।"

उस हंस को देखकर राजा भी करुणार्द्र हो गया। पर क्या किया जाये? होनहार बलवन होती है।

हंस क्षण भर में ही मरकर उसी देश के जंगल में हरिणी की कुक्षि में हरिण के रूप में उत्पन्न हुआ। गर्भ की स्थिति पूर्ण होने पर हरिण माता का दूध पीता हुआ, उसके साथ घूमता हुआ वृद्धि को प्राप्त होकर युवा होता हुआ हरिणों के यूथ के साथ घूमने लगा। तृण तथा जल–वृत्ति से संतुष्ट होता हुआ सुखपूर्वक काल निर्गमन करने लगा।

एक बार सुनन्दा ने राजा से पूछा–"आप जब शिकार खेलने के लिए वन में जाते हैं, तो कैसे अत्यधिक चंचल गतिवाले हिरणों को अपने वश में करके उनका शिकार कर लेते हैं?"

राजा ने कहा–''प्रिये! गान में अति कुशल अपने सेवकों को साथ लेकर गहन वन में जाता हूँ। वहाँ सेवक वृक्ष के नीचे खड़े रहकर अति मधुर स्वर में गाना गाते हैं। उन्हीं रागों के स्वर की मूर्च्छा में रागान्ध होकर हिरण धीरे–धीरे समीप आने लगते हैं। टोडि, सारंग, सिंधु प्रमुख राग–ध्वनियों में मूर्च्छित, उनमें एकचित्त, गायक के समीप आये हुए निर्भय हरिण हस्त से ग्राह्य सुखपूर्वक खड़े रहते हैं। तब अन्य सेवक दूर जाकर मोटी रस्सी के बड़े जाल द्वारा चारों और से वन को बाँध देते हैं। फिर गाने को विराम दिया जाता है। उसके बाद मृग भागने लगते हैं, पर वन चारों ओर से बंधा हुआ होने से कहाँ जायेंगे? तब हम दौड़ते हुए उनको मार देते हैं। अगर जीवित भी हों, तो उनको पकड़ लेते हैं।

सुनन्दा ने कहा–''उन तृण से भरे मुखवाले निरपराध बिचारों को इतनी कष्ट क्रिया द्वारा मारने से क्या लाभ?''

राजा ने कहा–''यह हमारा राज–धर्म है। हमारी पृथ्वी पर हमार ही तृण चरते हैं, पानी पीते हैं और हमें कुछ नहीं देते। अतः हमारे अपराधी होने से हमने कितने ही हरिणों को मारा है। इसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि लाभ ही है। कहा भी गया है–

परिचयश्चललक्षनिपातने।

अर्थात् चलित लक्ष के निपातन में परिचय होता है।''

सुनन्दा ने भी राजा का कहा हुआ सुनकर सर्व सत्य की तरह मान लिया। जिनके कानों में जिनवाणी ध्वनित ही नहीं हुई हो, उन्हें तत्त्व की प्राप्ति कैसे हो? तब सुनन्दा ने कहा–''प्राणनाथ! महान आश्चर्यकारी यह क्रीड़ा मुझे भी दिखायें।

राजा ने कहा–''ठीक है। अब कभी जाऊँगा, तो तुम्हें साथ लेकर ही जाऊँगा।

कुछ दिन व्यतीत होने के बाद राजा ने कहा–''कल आखेट क्रीड़ा के लिए जाऊँगा। यदि तुम्हारी देखने की इच्छा हो, तो साथ चलना।''

दूसरे दिन रानी को साथ लेकर सैन्य सहित राजा गहन वन में जाकर एक विशाल वृक्ष के नीचे ठहर गया। सेवकों को आदेश दिया–''गीत–गान आदि के प्रयोग से हरिणों के समूह को बुलाओ।''

सेवकों ने भी पूर्वोक्त व्यतिकर के अनुसार गीतकला के द्वारा हरिण–यूथ को बुला लिया। तब राजा और रानी घोड़े पर सवार होकर वहाँ गये। राग से आकृष्ट चित्तवाले चित्रलिखित मूर्त्ति की तरह एक ध्यान से हरिण समूह वहाँ उपस्थित था। उन सबके बीच हरिण रूप से पैदा हुआ रूपसेन का जीव भी वहाँ

था। इधर–उधर घोड़े पर भ्रमण करती हुई सुनन्दा को उसने देखा। पुनः मोह का उदय हुआ और वह रागान्ध हरिण उसे देखकर मोहान्ध भी हो गया। वह हर्षपूर्वक नृत्य करने लगा। पुनः–पुनः उसे एक दृष्टि से देखता हुआ हर्षित होने लगा।

तभी सेवको ने गाना रोक दिया। सभी हरिण विभिन्न दिशाओं में भागने लगे। रूपसेन का जीव रूपी हरिण मोहान्ध होकर वहीं खड़ा रह गया।

राजा ने उसको उस अवस्था में देखकर रानी से कहा–"प्रिये! यह राग में पूर्ण रूप से आसक्त मृग है, क्योंकि अन्य मृग तो राग के रुकते ही भाग गये, पर यह राग के आशय से रुका हुआ है। यह मृग भर–यौवन से उपचित मांसल कमरवाला दिखायी देता है। इसका मांस अति भव्य होगा।" इस प्रकार कहकर कान तक बाण खींचकर उसे मार डाला। वह भूमि पर गिर गया और क्षण भर में ही प्राण मुक्त होकर विन्ध्य पर्वत पर हथिनी की कुक्षि में हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ।

राजा उस मृत हरिण के शरीर को सेवकों द्वारा ग्रहण करवाकर अति सुन्दर अपनी वाटिका के आवास में भिजवाया। रसोइयों को आदेश दिया–"इसका मांस सुन्दर रीति से पकाओ। विविध, शुभ, मिलानेवाले द्रव्यों द्वारा इसका संस्कार करो।"

राजा के आदेश को प्राप्त करके सेवकों ने विविध मेलापक राजद्रव्यों द्वारा संयोजन करके घी से मांस पकाकर स्वर्णमय–मात्र में भरकर राजा के आगे रखा। राजा ने भी यथायोग्य अन्यों को दिया। फिर राजा व रानी दोनों खाने के प्रवृत्त हुए। स्वाद ले–लेकर पुनः–पुनः प्रशंसा करने लगे। यह मृग का मांस बहुत अच्छा है। पूर्व में बहुत बार खाया, पर इसकी तुलना किसी के साथ नहीं है।

उसी समय भाग्य योग से अतिशय ज्ञान युक्त मुनि–द्वय वहाँ पर पधारें। मार्ग में गमन करते हुए असमंजस युक्त अनुचित कार्य देखकर एक मुनि ने ज्ञानोपयोगपूर्वक वह सभी भूत तथा वर्तमान को जानकर दूसरे मुनि से कहा–"देखो! निरर्थक कर्मों का विपाक फल। यह केवल मनयोग की विकल्पना–मात्र से किया हुआ कर्म बंध किस रीति से भव–भव में मन, वचन, काया से विभिन्न प्रकार के रूपों में वेद्यमान होने पर भी निर्जरा को प्राप्त अकाल में मरण को प्राप्त होता है। जिसके लिए यह जीव भव–भव में बोलने में अशक्य कर्म क्लेश से जनित दुःख को देता है, वह तो सहर्ष उसी का मांस खा रही है। अतः–

धिगस्तु असारसंसारगतसांयोगिकभावप्रतिबन्धम्।

अर्थात् धिक्कार है, असार–संसार में रहे हुए संयोग–जन्य भाव

प्रतिबंध को।''इस प्रकार कहकर सिर हिलाते हुए मुनि आगे बढ़ गये। वह सभी आस्थान द्वार पर स्थित उस दम्पति ने देखा। देखकर संदेह निवारण के लिए राजा ने मुनि के पास जाकर कहा–''हे मुनि! आपने जो मस्तक हिलाया, वह हमारे द्वारा मांस भक्षण की क्रिया तो परम्परा से हमारे कुल की प्रवृत्ति ही है। आप जैसे महापुरुष तो बिना कारण सिर नहीं हिला सकते, न ही आपको जुगुप्सा होती है। अतः आप कारण बताने की कृपा करें कि आपने किस कारण से सिर हिलाया है?''

तब मुनि ने कहा–''राजन! जो तुमने कहा कि माँस–भक्षण तो हमारे कुल की प्रवृत्ति ही है, यह तो हम भी जानते हैं। अनादि काल से वैभाविक भाववाला यह जीव जिनवाणी के श्रवण के बिना इन्द्रियों के वशीभूत होकर सुख के लिए क्या–क्या नहीं करता? क्योंकि–

आत्मभूपतिरयं सनातनः पीतमोहमदिराविमोहितः।
किङ्करस्य मनसोऽपि किङ्करैरिन्द्रियैरहह! किङ्करीकृतः।।

यह आत्मा सनातन काल से भूपति है, पर मोह मदिरा के पान से विमोहित होते हुए किंकर मन को भी किंकर इन्द्रियों द्वारा अहो! किंकर बना दिया गया है।

संसार–विज्ञान से रहित जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगादि से प्रेरित होकर इन्द्रिय सुख से बंधा हुआ अट्ठारह पाप स्थानों का समाचरण करता है। मार्ग के ज्ञान से रहित हठपूर्वक निकले बिना ही घूमता रहता है, उसमें क्या आश्चर्य है? और भी, जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। पर कुकर्म के चिंतन–मात्र से किया हुआ कुकर्म भी, किये हुए कुकर्म से अधिक क्लेश प्राप्त कराता है। ज्ञान से यही देखकर मैंने सिर हिलाया। इसमें अन्य कोई कारण नहीं है।''

मुनि के इस प्रकार कहकर चुप हो जाने पर राजा ने कहा–''आपने ज्ञान से जो देखा कि मनोरथ–मात्र से किया गया अपराध भी कृत अपराध से अधिक दुःख प्राप्त करता है, वह कौन है? किस रीति से कुकर्म के चिंतन–मात्र से अति कष्ट का अनुभव करता है? कृपा करके यह निवेदन करें, जिससे मेरे सदृश अज्ञानी का भी कुछ उपकार हो जाये।''

मुनि ने कहा–''राजन! विषय–कषाय के वश में रहे हुए जीव जगत में जो कुछ नहीं देखा जाता, नहीं सुना जाता, न अनुभूत किया जाता है, उसका चिंतन करके दुर्ध्यान द्वारा नरक–निगोद रूपी महादुःख के समुद्र में गिर जाते हैं। उसमें स्वरूप से तो कुछ भी नहीं किया जाता है, पर अति विषय–कषाय

से युक्त निरर्थक विकल्प करके परम्परा से अनन्त काल तक यावत् वध–बंधन–ताडना–ताप–छेदन–भेदन आदि बहुत से दुःख को प्राप्त करते हैं। जिसे कहने के लिए ज्ञानी भी समर्थ नहीं है।"

राजा ने कहा–"स्वामी! जो आपने कहा कि नरक–निगोद रूपी महादुःख के समुद्र हैं। तो कृपा करके आसन पर स्थित होकर हमें उसके स्वरूप का उपदेश दीजिए। स्वामी के मार्ग में स्खलना करना युक्त नहीं हैं, पर सज्जनों के मार्ग में की गयी स्खलना से गुण ही होता है। अतः मेरा उपकार करने में आप समर्थ है, इसी से प्रार्थना करता हूँ।"

तब मुनि ने भी लाभ जानकर वहाँ बैठकर आगम शैली में नरक–निगोद के विपाकों का कारणों सहित उपदेश द्वार से वर्णन किया। राजा यह सब सुनकर चमत्कृत हुआ। भयभीत होते हुए मुनि को नमन करके कहा–"यदि अनर्थ की बहुलतावाला यह संसार है, तो मेरे जैसे प्रतिक्षण कुकर्म करनेवाले की क्या गति होगी?"

साधु ने कहा–"राजन! अभी भी कुछ गया नहीं है। अगर जागृत होकर आप मन–वचन–काया की शुद्धि से धर्म की आराधना करेंगे, तो थोड़े ही समय में दृढ़ प्रहारी–कालकुमार– चिलातीपुत्र –चुलिनी आदि अत्यधिक कुकर्मियों की तरह सकल कर्म क्षय करके मुक्ति–सुख को प्राप्त करेंगे। जिसकी तुलना में तीन जगत में कोई नहीं आता है। अतः सावधान होकर यथाशक्ति धर्म का आचरण करो।"

राजा ने कहा–"स्वामी! जिस निमित्त से वार्त्ता में अश्रुतपूर्व सुखासिका प्राप्त हुई, वह आप नहीं कहेंगे? अब तो दया करके वह बताइए।"

साधु ने कहा–"राजन! कर्मों की गति विचित्र होती है। कर्मों का उदय महा–बलवान होता है। उसके ऊपर किसी का भी बल समर्थ नहीं है। जिससे जो भव्य कुल में जन्म लेते हैं, वे कुकर्म–प्रवृत्ति की मन से भी इच्छा नहीं करते। *करना तो दूर रहा, कुकर्म की वार्त्ता को भी बुरा मानते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति* की मति भी प्रबल विषय–कषाय के उदय के बल से पूर्व–निबद्ध कर्मों के उदय से विपर्यास को प्राप्त हो जाती है। उसे सुनकर अन्य जीव सत्य नहीं मानते, प्रत्युत, बोलनेवाले को ही उपालम्भ देते हैं। लेकिन उनको तो कर्मोदय ही इस प्रकार का कुकर्म करने की प्रेरणा देता है। इसीलिए किसी प्राणी द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोदय के बल से कुकर्म की प्रवृत्ति की गयी, पर पुण्य–बल से किसी ने भी नहीं जानी, पर गुरु–चरण–प्रसाद से जान ली। पर वह जीव उस स्व–कृत कर्म–वार्त्ता को सुनकर मन से दुःख हो, लज्जित हो, सम्बन्धी सुनकर उस पर

निःस्नेही हो जावे अथवा द्वेष करने लगें, अति निकट सम्बन्ध में ताड़ना आदि भी करें। उस दुःख से पीड़ित वह जीव शत्रु की तरह द्वेषी हो जावे। उस निमित्त से वह बहुतर कर्म का उपार्जन भी कर लेवे। ज्यादा क्या कहा जावे? सम्बन्ध भी त्यक्त हो जावे। अतः कहने की अपेक्षा नहीं कहना ही श्रेष्ठ है।"

मुनि के इस प्रकार कहने पर सुनन्दा ने कहा–"भगवन! आपके उपदेश से सभी कर्माधीन हैं। भोगे बिना कृत–कर्मों से छुटकारा भी नहीं है। ऐसी श्रद्धा स्थिरतर चित्त में प्रविष्ट भी हो गयी है। पूर्वकृत कर्मोदय के बल से जीव कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को करते हैं। साधक को उसमें विस्मय नहीं करना चाहिए। बल्कि अकर्त्तव्य का पश्चात्ताप करना चाहिए, जिससे आगे वृद्धि की प्राप्ति न हो। आपके वचन उपकार से ही यह जाना है। अतः सुखपूर्वक उस कर्मोदय जनित विपाक को कहिए।"

साधु ने कहा–"कुछ भी तुम्हारे से सम्बन्धित होगा, तो उसे सुनकर अप्रीति तो उत्पन्न नहीं होगी? अगर नहीं होगी, तो ही कहूँगा। अन्यथा नहीं।"

रानी ने कहा–"भगवन सुख से कहिए। अज्ञान से विलसित अपने उस दुष्कृत्य को सुनकर आपके पास से उस दुष्कृत्य के नाश का भी उपाय मिल जायेगा।"

राजा ने भी कहा–"स्वामी! आपके उपदेश से–अमुक ने सुख या दुःख दिया है–यह भ्रम–स्खलना, जो चिरकाल से परिचित थी, वह दूर हो गयी है। जो जीव दुष्कृत्य करता है, वह कर्मोदय से, अज्ञान के वश से तथा कर्मोदय और अज्ञान के गौण व मुख्य भाव से यथावसर प्रवृत्त होता है। इसीलिए आपकी कृपा से राग–द्वेष की वृद्धि नहीं होगी। अतः आप खुशी से कहिए।"

तब साधु ने कहा–"हे सुनन्दा! पूर्व में बचपन में महा–आवास के ऊपर सखी के साथ स्थित तुमने किसी इभ्य के घर में दूर से किसी रूप–यौवन–विनय आदि गुण से युक्त स्त्री को पति द्वारा कुछ भी झूठा अभ्याख्यान देकर कोड़े से ताड़ना देते हुए देखकर तुम्हारा पुरुष–मात्र के प्रति द्वेष उत्पन्न हुआ। यह सत्य है या असत्य?"

मुनि का यह कथन सुनकर चमत्कृत होते हुए सुनन्दा ने कहा–"हे स्वामी! आपका वचन सत्य है। असत्य नहीं है।"

"उस द्वेष से दुःखित होते हुए पाणिग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा करने हेतु उद्धत तुम्हे सखी ने रोका। पुनः कालान्तर में यौवन वय आने पर पुनः तुम्हारे द्वारा वैसे ही किसी महा–इभ्य के आवास के ऊपर दम्पति का विलास देखकर तुम्हे तीव्र कामोदय हुआ। सखी ने तुम्हे शिक्षा देकर आवास की उपरितन भूमि

से उतारकर झरोखे में बिठाया। उस अवसर पर अमुक महा–इभ्य के पुत्र को अत्यधिक रूप–यौवन–चतुरता–वस्त्राभूषण से भूषित चतुष्पथ पर ताम्बूलिक की दूकान में बैठा हुआ देखकर तुम्हारा उस पर काम राग से व्यामोह हो गया। सखी के हाथ में दी गयी पत्रिका–प्रमुख के प्रयोग से पूर्वोक्त व्यतिकर द्वारा तुम दोनों में गाढ़ स्नेह हो गया, पर मिलन का अवसर तो दुष्कर था। इस प्रकार मिलन के आर्त्त–ध्यान को धारण किये हुए तुम दोनों को कितना ही समय बीत जाने पर कौमुदी महोत्सव का अवसर प्राप्त हुआ। उस अवसर पर रस्सी की निसरनी के प्रयोग से आगमन का संकेत किया गया। उसने व तुमने शरीर की अस्वस्थ स्थिति का बहाना बनाकर घर रहने का निश्चय किया। रात्रि का एक प्रहर बीत जाने पर सखी द्वारा निःश्रेणी का प्रयोग किया गया। उस अवसर पर तुम्हारे द्वारा अज्ञानता में जो हुआ, उसे सुनो–

उस नगर में एक महाबल नाम का जुआरी रहता था। उसने द्युत–क्रीड़ा में बहुत सारा धन हार दिया। उस दुःख से व्यथित होकर वह घूम रहा था। इसी समय महोत्सव का आगमन जानकर सोचने लगा–'आज रात में समस्त नागरिक परिवार सहित बाहर जायेंगे और नगर वीरान हो जायेगा। उस अवसर पर मैं नगर में किसी भी धनिक के घर में नकली चाबी के प्रयोग से ताला खोलकर धन ले जाऊँगा। इस प्रकार मेरा दुःख दूर हो जायेगा।'–यह विचार कर अवसर देखकर एक प्रहर बीत जाने पर धन के लिए निकला हुआ वह घूमता हुआ दैवयोग से तुम्हारे द्वारा कृत सांकेतिक स्थान पर आया। संकेत देखकर कुबुद्धि रूपी शक्ति द्वारा उसने जान लिया कि यहाँ किसी विशेष हेतु द्वारा संकेत किया गया है। अतः मैं भी अपनी कला आजमाता हूँ। इस प्रकार विचार कर उसने निःश्रेणी हिलायी।

उसे हिलती हुई देखकर सखी ने वहाँ आकर धूर्त्त को कहा–"तुम आ गये?"

धूर्त्त ने भी कहा–"हाँ।"

सखी ने जाना कि अमुक सांकेतिक पुरुष ही आया है। अतः वहीं रहते हुए उसने तुम्हे बधाई दी। तुम्हारा चित्त भी प्रसन्न हो गया।

तब सखी ने कहा–"स्वामी! आइए।"

तब धृष्ट हृदयवाले उस धूर्त्त ने उसके कहते ही जैसे ही ऊपर चढ़कर गवाक्ष में पाँव रखा, वैसे ही सखी–वृंद के आगमन को देखकर सखी ने हाथ से दीपक बुझा दिया। उस धूर्त्त का हाथ पकड़कर तुम्हारी शय्या पर छोड़कर सखी–वृन्द को उत्तर देने के लिए अन्दर चली गयी। जाकर सखीवृन्द को कहा

कि ताप के भय से दीपक बुझा दिया है। अभी ही सिर की पीड़ा कुछ कम हुई है। अतः आँख लग गयी है। तुम लोग घर के अन्दर जाकर कार्य करके आ जाओ।

सखी का कहा हुआ सुनकर सखीवृन्द घर के अन्दर चली गयी। वहाँ पुनः अन्ध–तमस में रूपसेन की भ्राँति से उस जुआरी के साथ तुम्हारा संयोग हुआ। सखीवृन्द के भय से और लज्जा से कोई भी वार्त्तालाप तुमने नहीं किया। संयोग के विराम पर पुनः सखीवृन्द के आगमन को जानकर सखी ने कहा–"अभी तो आप शीघ्र ही चले जायें।" यह सुनकर सुरत क्रिया द्वारा त्रुटित हार आदि लेकर वह चला गया। बोलो, यह सत्य है या असत्य?"

मुनि द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर चिंतित अर्थ से विपरीत जानकर दीर्घ निःश्वास लेते हुए सुनन्दा ने कहा–"स्वामी! आपके कथन में क्या संदेह? निःसंदेह ही है। पर रूपसेन की क्या गति हुई?"

मुनि ने कहा–"अब उसकी भी घटना सुनो–

रूपसेन भी यथावसर भोग सामग्री लेकर अपने घर से निकला। मिलन की उत्सुकता से हर्षपूरित हृदयवाला, अनेक बातें करने के लिए, मिलन को उत्सुक, अनेक हास्य–विलास आदि करने के लिए, सूक्तियाँ कहने के लिए, समस्या आदि द्वारा अपना चातुर्य प्रकट करने के लिए, विविध आसन आदि के प्रयोग–पूर्वक सुरत क्रिया करने आदि मनोरथों को करता हुआ–अहो! यह राजपुत्री मेरे ऊपर निष्कपट किरमिची रंग के समान राग को धारण करती है। इसलिए मैं भी–जो भावी है, वह हो जाये–पर इसके साथ आजीवन स्नेह–सम्बन्ध बनाये रखूँगा। इत्यादि, अनेक मनोरथ रूपी आर्त्तध्यान से भरे हुए हृदयवाला जब आधे मार्ग तक पहुँचा, तभी स्वामी रहित एक आवास घर की दीवार परिकर्म रहित होने से जल–वृष्टि द्वारा शिथिल होती हुई भाग्य–योग से उसी के ऊपर गिर गयी। उसके आघात से उसका शरीर टुकड़े–टुकड़े हो गया। दीवार के गिरने से उसके नीचे शरीर दब गया। अतः गुप्त हो जाने से कोई भी नहीं जान पाया। मरकर जुआरी–कृत संयोग से तुम्हारी ही कुक्षि में गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। कहा भी है–

विचित्रा हि कर्मणां गतिः।

अर्थात् कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। उसने सोचा कुछ ओर था, हुआ कुछ ओर ही। एक माह बाद गर्भचिह्न प्रकट होने लगे। तब सखी ने औषध के प्रयोग से गर्भ का नाश करवाया। वहाँ से च्युत होकर रूपसेन का जीव इसी नगर में राजभवन के निकट की भूमि में सर्प रूप से उत्पन्न हुआ। उसके बाद

तुम्हारी माता ने तुम्हारा आशय जानकर पाणिग्रहण करवा दिया। बहुत दानपूर्वक तुम्हे विदा किया। तुम इस राजा के साथ यहाँ आ गयी।

एक बार वह सर्प घूमता हुआ राजभवन में प्रविष्ट हुआ और वहाँ घूमने लगा। दैव–योग से तुम दोनों आवास वाटिका में क्रीड़ा कर रहे थे, वह चला आया। तुम्हें देखा, तो मोह का उदय हुआ। उससे जड़ीभूत होता हुआ एकटक एक ही जगह स्थित होता हुआ तुम्हें देखते हुए हर्षित होने लगा। उस समय भयभीत होते हुए तुम घर के अन्दर जाने के लिए उठी, तो वह भी मोहवश तुम्हारे पीछे–पीछे आने लगा। तुम भय से चिल्लायी, तो राजा के सेवकों ने उसे मार डाला। मरकर वह इसी नगरी में कौए के रूप में उत्पन्न हुआ। वह भी नाटक देखने के समय तुम्हे देखकर हर्षपूर्वक कूजन करने लगा। तब रस–भंग होने से राजा ने उसे मार डाला। वहाँ से च्युत होकर वह हंस बना। वहाँ भी वटवृक्ष के ऊपर बैठ हुआ तुम्हे देखकर विह्वल बना और कौए के अपराध–स्थान पर स्वयं मारा गया।

मरकर हरिण रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ भी शिकार के समय तुम्हे देखकर मोह के उदय से भागने के लिए समर्थ नहीं हुआ और नृत्य करने लगा। राजा ने उसे मारा और उसका मांस पकवाकर तुम दोनों सहर्ष उसका भक्षण कर रहे हो। ऐसी कर्मों की गति है। यह जानकर हमने सिर हिलाया, अन्य कोई कारण नहीं है।''

यह सारी वार्त्ता सुनकर राजा व रानी संसार–वास से विरक्त हो गये।''हा! क्या ऐसा संसार का स्वरूप है?''

यह कहकर राजा ने पुछा–''हे मुने! क्या राग में आसक्त जीवों की यही गति होती है?''

मुनि ने कहा–''राजन! किस निद्रा में सोये हुए हो? हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति–अरति, पर–परिवाद, माया–मृषावाद, मिथ्यात्व–इन अट्ठारह दोषों के मध्य से एक–एक भी दोष एक ही भव में आचरित किया हुआ अनन्तकाल तक यावत् अनंत भवों तक नरक–निगोद आदि में भटकाता है। अनेक विरूप रूपवाले विपाकों को प्राप्त कराता है। उसका स्वरूप सर्वज्ञ केवली ही जानते हैं, पर एक मुख से कहने में समर्थ नहीं है। इसके विपाक विचित्र हैं–देव मरकर पशु होता है, पशु भी मरकर देव होता है। माता मरकर पुत्री रूप से पैदा होती है और पुत्री भी मरकर माता के रूप में पैदा होती है। पत्नी भी माता के रूप में पैदा होती है। पिता पुत्र के रूप में तथा पुत्र भी पिता अथवा सेवक के रूप में पैदा

होता है अथवा कुत्ता चाण्डाल अथवा अश्व अथवा बान्धव अथवा दास होता है। शत्रु मरकर मित्र अथवा पत्नी अथवा पुत्र होता है। इसी प्रकार मित्र भी शत्रु अथवा दास अथवा सुभग अथवा दुर्भग अथवा अनिष्ट अथवा इष्ट होता है। इसी प्रकार राजा भी मरकर दास अथवा ब्राह्मण अथवा चण्डाल अथवा चक्रवर्त्ती अथवा भिखारी अथवा गधा अथवा वृक्ष अथवा कीट–पतंग या वेश्या या बाघ या हरिण या मत्स्य होता है। इस प्रकार सभी जाति के जीवों के साथ सम्बन्ध होता है।

पूर्वकाल में एक–एक जीव के साथ सभी सम्बन्ध अपने जीव ने अनन्त बार प्राप्त किये हैं, वे भी हमारे जीव के साथ अनन्त बार सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं। कोई भी नियम नहीं है। चौरासी लाख जीवायोनि के मध्य में जीव सभी योनियों में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार सभी जातियों में, सभी कुलकोड़ियों में, सभी स्थानों में अनन्त बार जन्म–मरण पूर्व में किया है, कोई भी जगह नहीं है, जिसे हमने प्राप्त नहीं किया है। आगे भी जब तक भागवती दीक्षा प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक यहाँ परिभ्रमण करते रहेंगे।

राज्यादि सुख तो शरद ऋतु के बादलों की तरह अस्थिर है। भविष्य में बहुत दुःख प्रदान करनेवाला है। इस प्रकार का संसार का स्वरूप श्रीमद् जिनेश्वरों द्वारा भाषित है। इसलिए जो अच्छा लगे, वही करना चाहिए।''

मुनिराज द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर राजा, रानी व सभी निकटस्थ सभ्य वैराग्य को प्राप्त हुए। राजा स्वयं उठकर मुनि के चरणों में गिरकर बोला–''हे जगत के निष्कारण बन्धु! हे दयानिधे! हे अनाथों के नाथ! हे अशरण के शरण! हे समता के सागर! अपार संसार रूपी कूप में डूबे हुए हमको आपने आकर **मस्तक हिलाने–मात्र** से उबार लिया है। हमारे समस्त दुष्कृत्यों का उद्धार कर दिया है। अगर आपका आगमन नहीं होता, तो हमारी क्या गति होती?

सुनन्दा भी बेर जितने मोटे–मोटे अश्रुकणों को गिराती हुई साधुओं को वंदन करके बोली–''हे दयानिधे! अभागिनी, दुःशीला, कुकर्म करने में तत्पर, अत्यधिक पाप भार से भारी मेरी क्या गति होगी? कैसे इसका प्रायश्चित होगा? किस उपाय से कर्मों का स्फोटन होगा? कृपा करके उसका उपाय रूपी प्रसाद भी देवें।''

मुनि ने कहा–''भद्रे! तुम्हारे पाप सम्भार से भी ज्यादा पाप चारित्र ग्रहण करने से और श्रीमद् जिनाज्ञा के अनुकूल पालने से छूट जाते हैं और कल्याण प्राप्त होता है।''

तब सुनन्दा ने कहा–''स्वामी! मेरे लिए क्लेश सहन करता हुआ यह रूपसेन का जीव मृग के भव से च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुआ है?''

मुनिराज ने कहा–"विन्ध्य अटवी में सुग्राम नाम के ग्राम से सीमा के समीप गहन वन में हाथिनी की कुक्षि से हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है।"

पुनः सुनन्दा ने पूछा–"भगवन! इसका कभी उद्धार भी होगा या नहीं?"

मुनि ने कहा–"तुम्हारे मुख से अपने सात भवों की विडम्बना सुनकर उसे जाति–स्मरण ज्ञान होगा। तुमसे धर्म प्राप्त करके तप करके समाधिपूर्वक मरकर सहस्रार देवलोक में देव होगा। वहाँ से च्युत होकर सिद्ध होगा। अतः तुम दीक्षा अंगीकार करके अपना भव सफल करो।"

तब सुनन्दा ने राजा से कहा–"स्वामी! जाति, कुल, धर्म व नीति के विरुद्ध आचरण करके पाप–भार से भारी बनी, कुलटा, कुकर्म करने में परायण, निर्लज्जा मुझे यदि आप आज्ञा देवें, तो मैं दीक्षा लेकर भव का निस्तार करूँ।"

राजा ने कहा–"हे सुभ्रू! सभी जीव कर्म के अधीन होकर उसके उदय बल से जो अकर्त्तव्य है, उसको करते हैं। अकृत्य करके जन्म–जरा–मरण–रोग से संकुल नरक–तिर्यंच आदि रूप चातुर्गतिक गहन ससांर में परिभ्रमण करते हैं। सभी की यह भित्ति आगे से ही है। जब तक गृहवास की स्थिति है, तब तक निर्दोषता कहाँ से हो? अतः मैं भी नरक–फल रूप राज्य का त्याग करके संयम लेने के लिए उत्सुक हूँ। अतः जिस किसी को भी संसार से भय हो, वह सुख से भागवती दीक्षा अंगीकार करें। वे सभी मेरे आत्मीय, प्रशंसनीय, धन्य शूरतम तथा प्रेम–सम्बन्धी जानने चाहिए।"

इस प्रकार के राजा के कथन को सुनकर सभी सभ्यों ने राजा से निवेदन किया–"स्वामी के साथ हम सभी भी चारित्र ग्रहण करेंगे। सेवक स्वामी का अनुसरण करनेवाले होते हैं। इस सेवक–धर्म को हम सफल करेंगे।"

इस प्रकार की उनकी वाणी सुनकर हर्षित होते हुए राजा ने मुनि से कहा–"स्वामी! लोक–व्यवहार से मुझे राज्य पुत्रादि के अधीन करना होगा। वह कार्य करके आपके पास चारित्र ग्रहण करूँगा। अतः दया करके इस नगर के उद्यान में मात्र दो दिन के लिए रुक जाइए, जिससे मेरा मनोरथ रूपी वृक्ष सफल हो जाये।"

मुनिराज ने कहा–"राजन! यदि तुम्हारा ऐसा मनोरथ है, तो गाऊ–परिमाण मार्ग के नजदीक गाँव में हमारे गुरु पधारे हैं, वहाँ आ जाना और चिंतित अर्थ को सफल करना। हम तो गुरु आज्ञा के बिना रुकने में समर्थ नहीं है। तुम्हारा धर्मलाभ हो, हम जाते हैं।"

यह कहकर दोनों मुनि गुरु के पास चले गये। राजा ने भी घर आकर, अपना राज्य पुत्रों को दे दिया। सभी को जिन आज्ञा समझाकर महा–ऋद्धि के

साथ गुरु के पास जाकर, गुरु को नमन करके परिवार के साथ राजा और सुनन्दा ने विनयपूर्वक दीक्षा की प्रार्थना की। मुनि–युगल द्वारा घटना की जानकारी होने से गुरु ने उनकी प्रशंसा करते हुए परिवार युक्त राजा को तथा भव से उद्विग्न सुनन्दा को शिक्षापूर्वक दीक्षा दी। राजर्षि भी अति उत्कट भाव से हर्षयुक्त ग्रहण व आसेवन शिक्षा का अभ्यास करने लगे। सुनन्दा को बड़ी आर्या प्रवर्त्तिनी के पास रखा।वह भी वहाँ श्रुताभ्यास तथा शक्ति के अनुरूप तप करने लगी। राजर्षि बारह वर्ष तक उत्कट और निरतिचार संयम की आराधना करके कर्म खपाकर केवलज्ञान प्राप्त करके अन्त में योग का निरोध करके मोक्ष में चले गये। राजा के परिकर–जनों में से कुछ मोक्ष में गये और और कुछ स्वर्ग में चले गये। कुछ मनुष्य भव प्राप्त करके मोक्ष में जायेंगे।

सुनन्दा साध्वी अति वैराग्य से रंजित हृदय द्वारा उत्कट तपोबल से अवधिज्ञान उत्पन्न करके अत्यधिक आह्लाद से निरतिचार संयम का पालन करने लगी। एक बार प्रवर्त्तिनी के आगे पूर्वोक्त व्यतिकर बताकर कहा–"माता! उस जीव ने मेरे लिए सात–सात भव किये हैं। निरर्थक क्लेश का अनुभव करते हुए अनिवर्चनीय दुःख की खान में गिरा हुआ है। अतः यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं वहाँ जाकर उसे प्रतिबोधित करके दुःख की खान से उसका उद्धार करूँ।"

प्रवर्त्तिनी ने कहा–"वत्से! तुम ज्ञान–कुशल हो। यदि तुम्हारे ज्ञान में लाभ प्रतिभासित होता है, तो वहाँ जाकर सुखपूर्वक उसे प्रतिबोधित करके धर्म प्राप्त कराओ, जिससे वह आराधक बने।"

तब सुनन्दा ने महत्तरा की आज्ञा लेकर चार साध्वियों के साथ विहार किया। क्रम से सुग्राम नामक ग्राम को प्राप्त किया। गृहस्थों के पास वसति की याचना करके वहाँ चातुर्मास किया। प्रतिदिन भव्य श्राविकाओं को धर्मोपदेश द्वारा धर्मवृद्धि प्राप्त कराती थी।

उसी ग्राम के नजदीक गहन पर्वत–वन में रूपसेन का जीव हाथी के रूप में उत्पन्न होकर निवास करता था। वह जब घूमता हुआ गाँव की सीमा में आता, तो सीमा पर रहे हुए लोगों में उपद्रव करता था। लोगों के पीछे दौड़ता था। कई लोग वृक्ष पर चढ़ जाते थे। कई लोग दौड़कर गाँव में चले जाते थे। कई लोग अन्य स्थान प्राप्त न कर सकने के कारण उसकी दृष्टि को ठगकर लताओं के अन्दर अथवा संकीर्ण जालों के बीच अदृश्य रूप से छिप जाते थे।

अगर कोई उसके दृष्टि पथ पर आ जाता था, तो उसे सूंड से उठाकर आकाश में उछाल देता था। उससे आगे तो जैसा आयुष्य बल होता, कोई तो पीड़ा प्राप्त करके भी जीवित रह जाते थे, कोई मर भी जाते थे। किसी को मुँह

से पकड़कर भूमि पर गिराकर मारता था, किसी को जीर्ण वस्त्र की तरह फाड़ देता था। इस प्रकार के उपद्रव करके पुनः गहन वन में चला जाता था। जिस किसी को भी सीमा में आवश्यक कार्य से जाना होता था, तो उसके चित्त से भय शल्य निकलता ही नहीं था। उस ग्राम में सभी लोग हाथी के भय से त्रस्त थे।

एक बार सुनन्दा आर्या ने अपने ज्ञान–बल से जाना–कल प्रभात के समय गाँव की सीमा पर हाथी का आगमन होगा। यह विचार कर प्रभात सम्बन्धी प्रतिलेखना करके स्थण्डिल भूमि जाने के बहाने से एक अन्य साध्वी के साथ निकली।

जब गोपुर के समीप आयी, तब हाथी के भय से त्रस्त, भय से कम्पित भागते हुए लोगों ने पुर से बाहर जाती हुई साध्वियों को देखकर कहा–"माता! आर्यिका! बाहर न जावें, क्योंकि यम का सहोदर हाथी ग्राम के समीप घूम रहा है। मनुष्य को देखकर तो अवश्य ही दौड़ता है। सूंड पर चढ़ाकर मारता ही है। अतः यहाँ से लौटकर अपने स्थान पर चली जावें। अभी बाहर जाने का अवसर नहीं है।"

उनके वचन सुनकर सुनन्दा साध्वी ने अपने साथ आयी हुई साध्वी से कहा–"हे आर्ये! तुम यही ठहरो।"

उसने कहा–"जैसी आपकी आज्ञा। परन्तु ये भय से काँपते हुए, आते हुए लोग बाहर जाने का निषेध कर रहे हैं। फिर आप वहाँ क्यों जा रही हैं?"

सुनन्दा आर्या ने कहा–"मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि उसी को प्रतिबोध देने के लिए जा रही हूँ। यह हाथी प्रतिबोध को प्राप्त होगा। गाँव के लोगों का भय भी दूर होगा और शासन की उन्नति भी होगी। अतः थोड़ी भी चिंता नहीं करनी चाहिए। सब अच्छा ही होगा।"

इस प्रकार शिक्षा देकर एकाकी ही सुनन्दा आर्या बाहर जाने के लिए प्रवृत्त हुई, तब दूर व निकट रहे हुए लोग चिल्लाये–"हे आर्यिके! बाहर मत जाओ। हाथी तुम्हारा पराभव कर देगा। क्यों निष्कारण अनर्थ में गिरती हो?"

सुनन्दा तो मौन धारण करके अपने मार्ग पर चलने लगी। गाँव से बाहर निकली, तो वट आदि महा–वृक्षों के ऊपर स्थित लोगों ने बाहर जाती हुई साध्वी को देखकर उसका निषेध करते हुए कहा–"मत जाओ–मत जाओ।"

इस प्रकार बार–बार निषेध करने लगे। पर सुनन्दा ने न तो कोई प्रत्युत्तर दिया, न ही ध्यान दिया। निर्भीकता से चलती गयी।

तब लोग परस्पर बोलने लगे–"क्या यह साध्वी बहरी है? क्या यह

ग्रथिल है? क्या यह भूत से आविष्ट चित्तवाली है? जो कि मना करने पर भी वापस नहीं लौटती है। इसके हृदय की कठोरता तो देखो।''

तभी किसी ने कहा–''यह आर्या तो सभी आर्याओं में बड़ी है। कठोर–हृदया भी नहीं है, न ही कानों से बहरी है। यह ग्रथिल भी नहीं है, बल्कि यह तो गुणवती है। बहुश्रुतधारिणी है। देशना रूपी अमृत के दान से इसने बहुत से लोगों के विषय–कषाय की अग्नि को बुझाया है। इसके दर्शन–मात्र से ही अतुल पुण्य होता है। इतना तो जानता हूँ, कि यह जो करेगी, अच्छा ही करेगी।''

पुनः एक ने कहा–''जो तुमने कहा, वह तो सत्य है। पर क्या जानते हो कि साध्वी मरण–भय से मुक्त होती है? हस्ति–उपसर्ग को सहन करने के लिए निस्पृह होकर तो नहीं जा रही है? पूर्व में भी सुना है कि अनेक मुनियों द्वारा सम्मुख जाकर उपसर्ग सहन किया गया। मुनि तो उपसर्ग–सहन के द्वारा कार्य–सिद्धि करते ही हैं, पर जब गाँव की सीमा में मुनि का उपसर्ग होता है, तो वह उस गाँव के लिए अशुभ होता है। अतः चित्त में विषाद पैदा होता है।''

इस प्रकार बोलते हुए लोगों को उसी समय हाथी दिखायी दिया। हाथी ने भी आर्या को देखा। सामान्य मनुष्य की भ्रांति से हाथी उस आर्या की ओर दौड़ा। जब निकट आया। दोनों का दृष्टि–मिलन हुआ, तो पुनः मोह का उदय हुआ। क्रोध शांति में बदल गया। वहीं स्थित होकर मस्तक को हिलाने लगा और मन में आह्लाद को प्राप्त होने लगा।

तब साध्वी ने कहा–''हे रूपसेन! जागो! जागो! क्यों मोह में अंधे होकर दुःख को प्राप्त करते हुए भी मेरे ऊपर स्नेह का त्याग नहीं करते? मेरे लिए क्लेश सहन करते हुए तुम्हारा यह सातवाँ भव है। मेरे निमित्त से छह भवों में निरर्थक ही छह बार मारे गये।

यह सातवाँ भव प्राप्त हुआ है। अब भी समस्त दुःखों के एकमात्र कारण रूप प्रेम–बंधन को क्यों नहीं छोड़ते हो? प्रत्येक भव में अनर्थदण्ड के द्वारा दण्डित किये जाते हो। क्योंकि :–

[1]रूपसेनो [2]गर्भगतः [3]सर्पो [4]ध्वाङ्क्षोऽथ [5]हंसकः।
[6]मृगोऽपि मारितो जातो [7]हस्तित्वं सप्तमे भवे।।

अर्थात् रूपसेन, गर्भस्थ जीव, सर्प, कौआ, हंस और मृग के रूप में मारे जाने पर भी सातवें भव में हस्ति के रूप को प्राप्त हुए हो। अतः स्नेह बंधन का त्यागकर वैराग्य भाव को जागृत करो।''

साध्वी का कथन सुनकर हाथी ऊहा–अपोह करने लगा–''मैंने इस प्रकार की अवस्था को कहीं अनुभूत किया है, ऐसा लगता है।''

इस प्रकार से चिंतन करते हुए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हुआ। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय होने से उसने अपने सातों ही भव देखे। जो भी सुख या दुःख अनुभूत किया था, वह दृष्टि–पथ पर आया। तब वज्र से आहत हुए की तरह क्षण भर जड़ के समान निश्चेष्ट होकर पुनः सावधान हुआ।

दीर्घ निःश्वास को छोड़ते हुए हाथ में आये हुए चिंतामणि को छोड़ने के समान शोक करने लगा–"हा! मैंने काम राग, स्नेह राग और दृष्टि राग से अंधे होकर यह क्या किया? करोड़ों चिंतामणि रत्नों से भी अधिक मूल्यवान मनुष्य भव को पाकर भी हार दिया और गहन दुर्गति के आभूषण रूप भ्रमण को अंगीकार किया। अपने अज्ञान के वशीभूत होकर बिना कुकर्म किये भी कृत कुकर्म से ज्यादा दण्ड–संकट में पड़ गया। जिससे मुझे साधन रहित दुर्गति रूपी कारागार प्राप्त हुआ। इस कारागार से मुझे कौन निकालेगा? हा! मेरी कैसी–कैसी गति हुई? इस हाथी के भव में भी बहुत से तिर्यंच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य आदि के घात के पापों को किया। अतः अब मेरा दुर्गति से निस्तारण कहाँ से होगा? धन्य है यह भाग्यवती! जिसने कर्म बाँध–बाँधकर भी तोड़ डाले। जिसने दुष्कर्म करके भी समस्त दुःख के निवारण में कुशल एकमात्र साधु धर्म को अंगीकार किया। अतः अब इसे क्या डर? पुनः इसे धन्यवाद देता हूँ कि इसने जैसा स्नेह किया था, वैसा ही निभाया भी है। जैसे स्वयं स्नेह की बेड़ियों से आजाद हुई, वैसे ही मुझे भी स्नेह बंध से मुक्त करने के लिए आ गयी। वरना तो इस स्वार्थी संसार में महा भयंकर दशा में कौन दुःख–निवारण के उपाय को करने के लिए प्रेरित हो? अतः यह शास्त्रोक्ति सत्य ही है कि–

स्वार्थिकाः संसारिणः, पारमार्थिकाः मुनयः।
जगति विना मुनिं न कोऽपि निष्कारणोपकारकोऽस्ति।।

अर्थात् संसारी व्यक्ति स्वार्थी और मुनि परमार्थी होते हैं। इस जगत में मुनि के सिवाय कोई भी निष्कारण उपकारक नहीं होते। मैं भी अब इसी की शरण ग्रहण करूँ, जिससे मेरा भविष्य शुभ हो। अन्य कोई उपाय नजर नहीं आता। अतः अब यह जो भी उपाय बतायेगी, वह मुझे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मुझ पापी के तो दर्शन–मात्र से भी पुण्यवानों के पुण्य विफल हो जाते हैं और इसके दर्शन–मात्र से सर्व प्रकार से ऐहिक और पारलौकिक सिद्धि होती है। कहा भी है–

पापीयानपि पापान्मुच्यते, सर्वगुणरत्नखानिः।

अर्थात् भयंकर पापियों के पाप भी दूर हो जाये–ऐसी यह गुण रत्नों की

खान है।''

इस प्रकार विचार करके जितने बड़े–बड़े अपने अज्ञान रूपी अश्रुकणों को बरसाते हुए साध्वी के निकट आकर सूंड से पुनः–पुनः नमस्कार करके कातर स्वर में विज्ञप्ति करने लगा–''हे भगवती! तुम तो भव समुद्र से तारनेवाले अमोघ प्रवहण तुल्य चारित्र रूपी यानपात्र में चढ़कर थोड़े ही काल में पार को प्राप्त कर लोगी, पर मेरी क्या गति होगी? सबसे पहली बात यह है कि आपने अन्धे को नयन–दान की तरह मुझ पर महान उपकार किया है, जिससे आपकी कृपा शक्ति से मुझे जाति स्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ और मैंने भव का विपाक देख लिया है। वह सब देखकर साधनों से विकल तिर्यंच भव की वेदना के भव से व्याकुल होता हुआ आपकी शरण में आया हूँ। जो मेरे लिए शुभ हो, वही कृपा करके बतायें।''

साध्वी ने अपने ज्ञान के बल से उसके आशय को समझकर कहा–''हे रूपसेन! कुछ भी चिंता मत करो। क्योंकि तुम पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय हो, कुछ क्षयोपशमशाली हो। पंचम गुणस्थान को प्राप्त करने के योग्य हो। जिनमार्गानुसारी जैसा जीव भी दुर्गति में जाने से रुक जाता है, तो शुद्ध श्रद्धावान का तो कहना ही क्या? अतः श्री जिन–आज्ञा में दृढ़ीभूत बनकर यथाशक्ति तप करो। तप–बल के प्रभाव से अनेक तिर्यंच योनि के जीव तिरे हैं। अतः विषय–कषाय का त्याग करके तपस्या में लीन बनो। उसी से तुम दुर्गति–पतन से बच पाओगे।''

इस प्रकार हाथी और आर्यिका के उत्तर–प्रत्युत्तर को सुनकर वृक्षों के ऊपर बैठे हुए लोग चमत्कृत होते हुए कहने लगे–''अहो! यह आर्या तो ज्ञान–गुण की भण्डार है। देखो! इसके दर्शन–मात्र से हाथी बोधित हुआ सेवक की तरह विनयपूर्वक मुख के आगे खड़ा होकर उत्तर–प्रत्युत्तर करता है। अत्यधिक क्रोधी होने पर भी समभावी होकर साध्वी के आगे खड़ा है। यह साध्वी तो तीर्थरूप है, परमोपकारिणी है। अतः हम लोग भी चलें। इसका अभिनंदन करें। अब कोई भय नहीं है। हमें सुखपूर्वक निर्भय होकर चलना चाहिए।

इस प्रकार परस्पर कहते हुए लोग वृक्षों से उतरकर आर्यिका को नमन कर उसकी स्तुति करने लगे। चारों ओर देखकर किले की दीवारों पर चढ़े हुए हजारों लोग भी उतरकर वहाँ आकर इकट्ठे हो गये। इस प्रकार यह बात फैलती हुई राजा के कानों तक पहुँची कि–''आज अपने गाँव की सीमा में महान आश्चर्यकारी घटना हुई है।''

राजा ने पूछा–''क्या आश्चर्य हुआ?''

तब किसी ने सम्पूर्ण घटना कही–''स्वामिन! आज से गाँव में हाथी का भय समाप्त हो गया।

राजा भी उस आश्चर्य को सुनकर बहुत से सैन्य से युक्त होकर वहाँ आ गया। आर्या को नमन करके पूछा–"यह आश्चर्यकारी घटना क्या है? कृपा करके अनुग्रह कीजिए।"

तब साध्वी ने समस्त विषयासक्त–विपाक बताया। हाथी के द्वारा की गयी विज्ञप्ति तथा अपने द्वारा बताये गये उपाय तक की सम्पूर्ण घटना कह सुनायी। वह सब सुनकर सभी चमत्कार और वैराग्य–धर्म को प्राप्त हुए।

पुनः साध्वी ने कहा–"राजन! यह सर्व गुणों से युक्त भद्र जातिवाला हाथी है, जिसके घर में रहता है, उसके घर में ऋद्धि और प्रताप बढ़ जाता है। इस प्रकार का सुलक्षणी, धर्मवान तथा धर्मरुचिवाला हाथी कहाँ मिलता है? अतः आप इसकी पालना करें। आपको जीवदया, गुणी की संगति, साधर्मिक वात्सल्य और तपस्वी की सेवा–इस प्रकार से चारों लाभ प्राप्त होंगे।"

इस प्रकार आर्या के कहे जाने पर राजा ने हर्षित होकर कहा–"अगर यह मेरे आलान में स्वयं आता है, सुख से रहता है, तो मैं आयु पर्यन्त जैसा साध्वीजी ने उपदेश दिया है, उस प्रकार से प्रतिदिन इसकी सेवा–शुश्रूषा करूँगा। यह धन्य है कि इसने तिर्यंच के भव में भी धर्म को अंगीकार किया है। अतः हे हस्तिराज! सुखूपर्वक मेरी हस्तिशाला में आओ।"

यह सुनकर हाथी स्वयमेव ही ग्राम के सम्मुख चला। हस्ति–निवास शाला में जाकर स्वयं ही अवस्थित हो गया। राजा भी साध्वी द्वारा दिखाये गये मार्ग से हाथी को पालने लगा। जैसे–हाथी दो दिन तक बेले का तप करता था। तीसरे दिन राजा दोष रहित आहार से पारणा करवाता था। पुनः वह छट्ठ तप करता था। इस प्रकार यावज्जीवन तप–धर्म और ब्रह्मचर्य तप की आराधना करते हुए, सकल श्रुत के सार रूप नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए, निर्विघ्न रूप से आयु को समाप्त करके, समाधि करके, सहस्रार देवलोक में अठारह सागरोपम की आयुवाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

सुनन्दा आर्या भी राजा आदि बहुत से भव्य–जीवों को प्रबोधित करके और जिनशासन की उन्नति करके पुनः प्रवर्तिनी के समीप गयी। प्रवर्तिनी ने भी उसकी प्रशंसा की। उस आर्या ने संयम की आराधना करके, अति तीव्र कर्मों का क्षय करके, केवलज्ञान को प्राप्त कर अक्षय पद को प्राप्त किया।

।। इति सुनन्दा–रूपसेन–कथा।।

इस प्रकार बिना सेवन किये हुए भी विषय अगर मन को इष्ट हो, तो संसार चक्र रूपी गहन दुर्गति में भ्रमण कराते हैं। तो फिर इष्ट और सेवित

काम–भोग का तो कहना ही क्या? उसकी क्या गति होगी? संसार चक्र में विषयों की अपूर्णता में भवाभिनन्दी जीव दुःख मानते हैं और उसकी पूर्णता में सुख मानते हैं। पर नहीं जानते कि जैसे धीवर मांस के टुकड़ों को देकर मत्स्यों को मरण संकट में गिराते हैं, वैसे ही विषय भी वैषयिक सुख के छोटे से टुकड़े को देकर अनन्त बार मरण के संकट में गिराते हैं। यह तो महान आश्चर्य ही है कि अनन्त बार भोगे हुए विषयों को अज्ञान के वश में रहा हुआ जीव कभी नहीं आस्वाद लिए हुए की तरह भोगते हुए आनन्द मानते हैं। जैसे–जैसे आनन्दित होते हैं, वैसे–वैसे दुष्ट कर्मों की स्थिति को बढ़ाकर नरक–निगोद रूपी कुएँ में गिरते हैं। इसलिए श्री जिनवाणी को सुनकर विषय–कषायों को दूर से ही त्यागकर श्री जिन–चरणों की सेवा और ब्रह्मचर्य का पालन करो।

इस महान मुनि की देशना को सुनकर विषयों को हेय दृष्टि से देखते हुए धन्य ने महान अनर्थ के मूल स्वरूप पर–नारी सेवन के निषेध रूप स्वपत्नी–संतोष व्रत मुनि के पास ग्रहण किया। तब धन्य अपने आपको धन्य मानता हुआ हर्षपूर्वक पुनः–पुनः मुनि–युगल को प्रणाम करके ब्रह्मचर्य भावना को भाते हुए आगे मार्ग तय करने लगा।

फिर श्रम–रहित होकर जो कुछ भी आहार आदि प्राप्त हुआ, उसे करके गंगा तट पर रही हुई मक्खन से भी कोमल बालुका का बिस्तर बनाकर संध्या के समय में श्रीमद् अमाप महिमावन्त परमेष्ठि नमस्कार को गिनता हुआ बैठ गया।

उसी समय क्रीड़ा के लिए निकली हुई गंगा नदी की अधिष्ठायिनी गंगा नाम की देवी वहाँ आयी। चंद्रमा की चाँदनी से धवल की हुई पृथ्वी की उस रात्रि में सकल गुणों की एक निधि रूप धन्य के अनुपम रूप, सौभाग्य और निर्माण को अत्यधिक अद्भुत देखकर वह देवी तीव्र वेद के उदय से तीव्र काम–राग से आतुर हो गयी। राग के अतिरेक से गंगा के चित्त में प्रबल आकुलता पैदा हो गयी। क्योंकि–

पुरुषवेदोदयात् स्त्रीवेदोदयोऽत्याधिकतरो भवति।

अर्थात् पुरुष वेद के उदय से स्त्री वेद का उदय अधिकतर होता है।

कामशास्त्र में भी पुरुष से स्त्री का काम अष्टगुणा निश्चित किया गया है। इस प्रकार के दुर्निवारणीय काम–बाण के आ पड़ने पर कौन स्थिर रह सकता है? जिसके कानों में जिनागम रूपी वाणी न पड़ी हो, वह तो कदापि स्थिर नहीं रह सकता।

वह देवी काम के वश में होकर लज्जा आदि का त्याग करके दिव्य रूप

में प्रकट होकर महा–मोह से धन्य को मोहित करने के लिए बहुत से हाव–भाव करने लगी। अमूढ़लक्ष्यी कटाक्ष–बाणों को उसके ऊपर फेंका। तब धन्य ने भी धीरता का अवलम्बन लेकर अजेय ब्रह्म रूप कवच को हृदय में धारण कर लिया। पुनः वह बाहु–मूल–त्रिवली–नाभि के मध्य भाग–भौंह–स्तर–केश आदि काम–कोष के अक्षीण विभ्रमों को बार–बार दिखाने लगी। युवाओं के मनोद्रव्य को पिघलाने में क्षार के सदृश किये गये उसके हाव–भाव–कटाक्ष–विक्षेप रूपी बाण शुद्ध खान में निष्पन्न वज्र पर लोहघन की तरह धन्य पर निष्फल ही साबित हुए।

तब हाव–भाव से अक्षुब्ध धन को देखकर पुनः वह उन्मादपूर्वक शृंगार–रस से गर्भित, परम उन्माद को उद्दीपन करनेवाले, अणगारों को भी क्षोभजनक, कामीजनों के मन को वश में करनेवाली वाणी में कहा–"हे सौभाग्य निधि! मैं ग्रीष्मकाल के मध्याह्न में अति थोड़े जलवाले सरोवर में तप्त मछली की तरह अत्यधिक काम रूपी अग्नि की ज्वाला से जलती हुई तुम्हारी शरण में आयी हूँ। अतः हे दयानिधे! शीघ्र ही अपने अंग के संगम रूपी सुधा–कुण्ड में मुझे क्रीड़ा कराओ। मेरा इच्छित पूर्ण करने में तुम समर्थ हो। यह मानकर ही तुम्हारे गुणों में आक्षिप्त चित्तवाली मैं प्रार्थना करती हूँ। तुम्हे मेरी आशा पूरी करनी चाहिए। प्रार्थना का भंग करने में महान दोष है। क्योंकि शास्त्र में भी कहा गया है–

तणलहुओ तूसलहुओ तहेव लहुआओ मग्गणो लहुओ।
पत्थगा वि हु लहुयरो पत्थणाभंगो कओ जेण।।

अर्थात् तृण लघु है, तूष लघु है, इन लघुओं से भी लघु, माँगना है। पर प्रार्थक अर्थात् माँगनेवाले से भी लघु वह है, जो सामनेवाले की प्रार्थना ठुकरा देता है। अतः यथेच्छापूर्वक मेरे साथ सुरत–क्रीड़ा करके मेरी आर्त्ति को बुझाओ।"

उसके इस प्रकार के वचनों को सुनकर पर–नारी–पराङ्मुख धन्य ने साहस का अवलम्बन लेकर गंगादेवी को इस प्रकार कहा–"हे जगत मान्या! हे माता! आज के बाद ऐसे धर्म–विरुद्ध वचनों को कभी मत बोलना। तुम्हारे हृदय में रहा हुआ तन रूपी राक्षस द्वारा किया हुआ विक्षोभ मेरे मन को भयभीत नहीं *करता है, क्योंकि कुविकल्प रूपी सेना का नाश करनेवाले श्री जिनागम रूपी* ब्रह्ममंत्र से मैं पवित्र हूँ। नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की वाड़ रूपी कवच से मैं सन्नद्ध हूँ। अतः उन दुर्निवार काम रूपी अस्त्रों से मेरा व्रत रूपी शरीर भेदित नहीं होता। कालकूट विष के समान उत्कट, मद से रहित तुम्हारे ये कटाक्ष श्री जिन–वाक्य रूपी अमृत से आर्द्र मेरे चित्त को पीड़ित नहीं करते।

हे मृगनयनी! तुम्हारे कुवाक्य रूपी ये मृग मुझ जागृत सिंह की गुफा को स्पर्श करने *तक में समर्थ नहीं है। इसी तरह तुम्हारे ये विचित्र विकृति से युक्त*

कामबाण रूपी वचन मेरे मन की भित्ति को भेदने में समर्थ नहीं है, क्योंकि शिरीष–पुष्पों के पुंज क्या पत्थर की दीवार को भेद सकते हैं?

हे मनोहर भौंहोंवाली! सरस होने पर भी तुम्हारे मेघधारा के सदृश शब्द ऊसर क्षेत्र के समान मेरे चित्त में राग के अंकुर उगाने में हेतु भूत नहीं हो सकते।

हे सुरम्य लोचना! दावानल के समान दुस्सह कामयुक्त विकारजनक तुम्हारे हाव–भाव भी श्रीमद् आगम–सागर में निमग्न मुझे तपित करने में समर्थ नहीं है। हे मुग्धे! नरक को प्राप्त करानेवाली दुःखदायी परस्त्री से पराङ्मुख मुझमें सौधर्म कल्प आदि में वास करनेवाली रम्भा, तिलोत्तमा आदि के प्रयत्न भी निष्फल है, तो तुम्हारे सदृश का तो क्या कहना?

हे देवी! नरक–ज्वाला की परम्परा के संग से जनित दुःख से त्रस्त कौन सचेतन पुरुष काम संज्ञा के उदय–मात्र से भी पर–स्त्री–संग से उत्पन्न गटर के कुएँ में रहने जैसे ऐहिक दुःख–मात्र को जाननेवाले ललितांग कुमार की तरह पर–स्त्री को भोगने की वांछा करेगा? अर्थात् कोई भी वांछा न हीं करेगा। हे भद्रे! जो नर इस भव में विषय–सेवन–काल में पर–स्त्री संयोग–जन्य क्षणमात्र के सुख को अनुभव करके प्रसन्न होते हैं, वे नर पर–भव में पर–स्त्री के संग से जनित कर्म–विपाक के उदय में नरक–क्षेत्र में नारकी रूप से उत्पन्न होकर संख्यातीत काल तक परमाधामी देवों द्वारा दिये गये क्षुधा आदि दस प्रकार के गाढ़ दुःखों का अनुभव करते हैं। कहा है–

नरयादसविहावेयणा सि–उसिण–खु–पिवास–कंडूहिं।
परवसं च जर – दाह – भय – सोगं च वेयन्ति।।

अर्थात् नारकी जीव शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, खाज, परवशता, जरा, दाह, भय और शोक–इन दस प्रकार की वेदना को वेदते हैं। पुनः–

खिणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा,
पगामदुक्खा अणिकाम सुक्खा।
संसारमुक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण य कामभोगा।।

अर्थात् क्षणमात्र का सुख बहुत काल के दुःख का जनक है। कांक्षित सुख प्रकाम दुःख का कारण है। इस तरह काम–भोग मोक्ष के विपक्षभूत संसार को बढ़ानेवाला एवं अनर्थों की खान है।

इत्यादि श्री जिन–आगमोक्त तत्त्वज्ञ, पुरुष काम–वल्ली के परवश कैसे हो सकते हैं? जलती हुई ज्वालाओं से युक्त अग्नि में प्रवेश करके मरना श्रेष्ठ

है, पर स्त्री की त्रिवली रूप राग, नरक रूपी समुद्र की तरंगों की तरह अति दुष्टतर है। योग शास्त्र में भी कहा है–

नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं दौर्भाग्यं च भवे भवे।
भवेद् नराणां स्त्रीणां चान्यकांताऽऽसक्तचेतसाम्।।

अर्थात् पुरुषों और स्त्रियों द्वारा क्रमशः पर नारियों तथा पर पुरुषों में आसक्त रहने पर भव–भव में नपुंसकता, तिर्यंचपना तथा दुर्भाग्य प्राप्त होता है। और भी–

वरं ज्वलदयस्तम्भपरिरम्भो विधीयते।
न पुनः नरकद्वारं रमाजघनसेवनम्।।

अर्थात् जलते हुए स्तम्भ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है, पर नरक के द्वार रूप नारी का जघन्य सेवन ठीक नहीं है।

हे भामिनी! नारी का साथ संध्या–समय के बादलों के रंग के तुल्य है। मनुष्य की आयु वायु के समान अस्थिर है। वह भी क्रिया–विशेष से अथवा द्रव्य अनुयोग से ही स्थिर होती है, अगर एक बार टूट जाये, तो फिर संधती नहीं। भोग तो नवोत्पन्न रोग की तरह उद्वेग के लिए ही है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में कहा है–

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्नि–भूभृद्भयं;
दास्ये स्वामिभयं, गुणे खलभयं, वंशे कुयोषिद्भयं
माने म्लानिभयं, बले रिपुभयं, देहे कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयाऽन्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाऽभयम्।।

अर्थात् भोग में रोग का भय, सुख में नाश का भय, धन में अग्नि और राजा का भय, दासता में स्वामी का भय, गुणों में दुष्ट का भय, वंश में कुनारी का भय है। मान में म्लानि का भय, बल में शत्रु का भय, शरीर में मृत्यु का भय है। अर्थात् सर्व वस्तु पृथ्वी पर भय से युक्त है। मनुष्यों के लिए वैराग्य ही अभय है।

इस प्रकार से सामान्य से भी काम–भोग प्रबल दुःख के हेतु होते हैं, तो पुनः विकृत विष की तरह अत्यधिक भव–भ्रमण के हेतु रूप पर–स्त्री के संगम से उत्पन्न काम–भोग का तो कहना ही क्या?

हे देवी! तुम भी मन को स्थिर करके मन में विचार करो। जो इस प्रकार की अत्यधिक सुख से संयुक्त दिव्य शक्ति तुमने प्राप्त की है, वह काम–भोग के त्याग का फल है या काम–भोग के आसेवन का फल है? काम–भोग में आसक्त जीवों की उत्पत्ति तो नरक व तिर्यंच में ही होती है। अतः हे नितम्बिनी!

तुम्हारा वैक्रिय दलिकों से निष्पन्न यह शरीर अतीव स्वच्छ व पवित्र है। मेरा शरीर तो औदारिक पुद्गलों से निष्पन्न होने से नित्य ही जैसे–तैसे मल–मूत्र–रुधिर–अस्थि आदि से भरा हुआ होने से अत्यधिक दुर्गन्ध से युक्त तथा दुर्गछनीय है। इन दोनों का संयोग कैसे हो सकता है?

अतः हे माता! सदाचार रूपी अंकुरों के उद्गम में मेघ की धारा के सदृश मन को वीतराग बनाकर वीतराग का स्मरण करो। जिससे भविष्य कल्याणकारी हो। कहा भी गया है कि "धर्मकार्य को सदैव उद्यमपूर्वक तथा शीघ्रता से करना चाहिए। अधर्म कार्य में उत्तम पुरुषों को गज–निमीलिका की तरह उद्यम करना चाहिए। अर्थात् अधम कार्यों में आलस करना चाहिए, क्योंकि देवों का आयुष्य भी बीत जाने पर पुनः लौटकर नहीं आता।"

इस प्रकार अमृत–तुल्य सुख श्री के संदेश रूप धन्य के उपदेश से राग रहित होते हुए गंगा ने कहा–"हे मेरे राग रूपी दावानल की अग्नि का शमन करनेवाले एकमात्र अम्बुद! तुम चिरकाल तक प्रसन्न रहो। हे मोहान्धकार का संहार करनेवाले दिवाकर! तुम चिरकाल तक जीओ। तुम्हारी चतुर्मुखी उन्नति हो। हे निष्कामी–शिरोमणि! तीन जगत में तुम ही धन्य हो। जो कि देवांगना द्वारा किये गये हाव–भाव से क्षुभित नहीं हुए। इसलिए हे वीरेन्द्र! अत्यधिक उत्कट, विकट, काम–सैन्य के संग्राम में अनेक कामास्त्रों के सन्निपात में भी अक्षुब्ध रहते हुए काम–बल के विजेता! तुम ही महाभट्ट हो। हे सदाचार शिरोरत्न! पृथ्वी रत्नगर्भा है–यह जो कहा जाता है, वह तुम जैसों के कारण ही कहा जाता है। हे निष्पाप! हे धार्मिक शिरोमणि! मैं भी तुम्हारे दर्शन से पवित्र हो गयी हूँ। हे दयानिधि! जल के विशाल पूर से भी नहीं बुझनेवाली मेरी कामाग्नि तुम्हारी अमृत–गुण युक्त गिरा द्वारा बुझ गयी है। हे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ! मैं दोनों लोक में अमित सुखदायी धर्मरत्न प्रदायक तुम्हें अभी बहुत सारे रत्न देकर भी कैसे उऋण हो सकती हूँ? कभी भी उऋण नहीं हो सकती। फिर भी इस चिंतामणि रत्न को ग्रहण करो एवं मुझे अनुगृहित करो। यह रत्न तो तुम्हारे उपकार के करोड़वें अंश जितना प्रत्युपकार करने में भी समर्थ नहीं है। पर अतिथि का आतिथेय अपने घर के अनुसार होता है। अतः कृपानिधे! तुम कृपा करके इसे ग्रहण करो।"

इस प्रकार अत्यन्त आदरपूर्वक एवं आग्रहपूर्वक देने पर धन्य ने चिंता–रत्न लेकर गाँठ में बाँध लिया। तब धर्म–रंग से अनुरंजित गंगा बहुत से स्तवनों से स्तुति करके अपने स्थान को चली गयी।

स्थिर सुव्रती धन्य भी राजगृह की ओर रवाना हुआ। भाग्यशाली, दान–प्रविण,

माननीय यशवाला धन्य देशान्तर में घूमते हुए योग्यता के साथ चिंतारत्न से पूरित तथा पूर्वदत्त दान के अनुभाव से सकल भोग–सामग्री सुख का अनुभव करते हुए सुखपूर्व मगध देश को प्राप्त हुआ।

अतः हे भव्यजनों! अगर आप लोगों को भी प्रकर्ष सुखों को भोगने की इच्छा है, तो हमारे शासन में भी जिनेश्वर प्रभु द्वारा कीर्तित दान–धर्म में रति करो, जिससे मनोरथों की सिद्धि होवे।

।। इस प्रकार श्री तपागच्छीय अधिराज श्री सोमसुन्दर सूरि जी के पट्ट प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्ति सूरि द्वारा विरचित पद्य–बंध धन्य–चरित्रवाले श्री दानकल्पद्रुम का महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य द्वारा अल्प मति से गूँथा हुआ गद्य रचना प्रबंध में सुवर्ण–सिद्धि तथा विदेश–प्रस्थान वर्णन नामक चतुर्थ पल्लव पूर्ण हुआ।।

पाँचवाँ पल्लव

उदारों में प्रमुख उस धन्य को राजा, धान्य तथा धनादि शुभ वस्तुओं से समृद्ध मागधों की तरह स्तुति–पाठको को प्रसन्न दृष्टि से कृतार्थ किया गया। तब बृहस्पति के समान अहार्य चातुर्यवाला यह धन्य उच्च पद की अभीप्सा से घूमता हुआ क्रमशः राजगृह नगर को प्राप्त हुआ।

राजगृह नगर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस नगर में रूप से मनोहर घर अपनी दीवारों पर रही हुई मणियों की चमक से सदा देवयुक्त विमान को हँसते हुए प्रतीत होते थे। सूर्यकांत रत्न तथा चन्द्रकांत मणि से युक्त वानरों के शीष की आकृति से युक्त शिखर कोट पर रहे हुए थे। मानों रवि तथा चन्द्र के उदय में खायी में रहे हुए जल का शोषण और पोषण करते थे। जिसकी समग्र अभिराम लक्ष्मी सुषमावाले मणिमय ऊँचे–ऊँचे घरों द्वारा देवों के विमान से सार–सार को ग्रहण कर लेने के कारण मानो देव विमान हल्के होकर वायु के द्वारा ऊपर ले जाये गये हों–इस प्रकार आभास होता था। जिन घरों के रत्नमय आँगन में चमकते रत्नों के तोरण पर प्रतिबिम्बित मयूर के सजीव रूप को देखकर क्रीड़ा मयूर को ग्रहण करने की इच्छा से फैलाये हुए हाथवाले मुग्धजन अपने हाथों की उस स्थिति पर लक्ष्यमूढ़ हो जाते थे अर्थात् अपने मुग्धत्व पर विचार करने लगते थे। राजगृह की सम्पूर्ण गरिमा को विद्वान लोग भी कहने में कैसे शक्य हो सकते थे। जिस पुण्यभूमि को तीन जगत के स्वामी श्री वर्धमान

प्रभु ने अपने पादारविन्दों से पूजा था। जहाँ के घरों के ऊपर स्थापित ध्वजाओं के अग्रभाग पर रही हुई मणिमय घण्टियों का नाद वैदेशिकों को पूछता था की क्या पृथ्वी पर लक्ष्मी से अभिराम इस नगर जैसा दूसरा कोई नगर देखा है? समस्त अतिशयों के पूर से युक्त गुणों के कारण इस प्रकार की उत्प्रेक्षा की गयी है।

जिस नगरी में श्री हरिवंश के भूषण श्री मुनिसुव्रतस्वामी के चार कल्याणक हुए। अतः इस नगरी को जितनी उपमा दी जाये, वे सभी युक्त ही हैं–ऐसा जानना चाहिए।

अठारह वर्णों के रक्षक, न्यायविदों में अग्रणी, मुक्ति महल में जानेवाली अग्र श्रेणी की तरह वहाँ श्रेणिक राजा था। उनकी धवल कीर्त्ति और रक्त तेज से श्वेत चंदन और लाल केशर से अर्चित की तरह दिशा–वधूएँ शोभित होती थीं। जिस राजा की तलवार से युद्ध क्षेत्र में गज–समूह के छिन्न हुए दाँतों के टुकड़े यश रूपी वृक्ष के अंकुरो की तरह प्रतीत होते थे। जिस राजा ने अभयकुमार नामक अपने पुत्र को मंत्री के पद पर स्थापित किया था। इससे मंत्री पद की श्री सोने में सुहागा की तरह अत्यधिक शोभा का विस्तार करती थी। जिस राजा का मोक्ष से उत्पन्न होनेवाले अक्षय सुख को देनेवाला समर्थ क्षायिक सम्यक्त्व एक अंश से सिद्ध–गुणों के आविर्भाव के तुल्य था। अर्थात् जिन–वचनों में शंका उत्पन्न करनेवाले शंका आदि दोषों से रहित था।

राजा श्रेणिक प्रतिदिन स्वर्ण के 108 यव बनवाकर भक्ति से परिपूर्ण हृदय द्वारा वीर जिनेश्वर के समीप जाकर उन 108 स्वर्णमय यवों के द्वारा स्वस्तिक बनाता था। उसके बाद भक्ति से भरकर नमन और स्तुति करके जिन–वचन रूपी अमृत का पान करता था। जब वीर प्रभु अन्यत्र विहार कर जाते थे, तब जिस ग्राम में प्रभु विराज रहे होते थे, उस गाँव की दिशा की ओर सात–आठ कदम जाकर थोभ वंदन–त्रिकपूर्वक अभिवन्दना करके स्वर्णमय यवों से स्वस्तिक बनाकर नमन और स्तुति करके घर पर आकर फिर भोजन आदि करता था। इस प्रकार की जिन–भक्ति के प्रभाव से जिननाम कर्म बाँधकर वे आनेवाली चौबीसी में श्री पद्मनाभ नामा प्रथम तीर्थंकर होंगे।

उस नगर में मगधाधिपति राजा का अन्यन्त कृपापात्र, याचक–जनों के लिए कल्प–वृक्ष के समान कुसुमपाल नामक श्रेष्ठी रहता था। उस महा–इभ्य श्रेष्ठी के अत्यन्त जीर्ण–शीर्ण वृक्षोंवाला पुष्पों, पत्रों से रहित एक उद्यान था। मार्ग–श्रम से क्लान्त धन्य संध्या के समय उसी जीर्ण उद्यान में रात्रि बिताने के लिए आया। उसी रात्रि में भाग्य की एकमात्र निधि धन्य के आगमन के प्रभाव

से जीर्ण उद्यान में रहे हुए शुष्क काष्ठ के समान वृक्ष वसन्त के आगमन में वनों की तरह उगे हुए पुष्प–फल–पत्रों की तरह हो गये। जीर्ण–शीर्ण भी वह उद्यान नंदन वन की तरह हो गया।

प्रभात में जब वनपालक ने वन की उस अवस्था को देखा, तो हर्षित होता हुआ इधर–उधर देखने लगा। तब उसने एक साफ सुथरी की हुई जगह पर स्थित धन्य को प्रातःकाल की क्रिया–चैत्यवंदन, नमस्कार, गुणन आदि करते हुए देखा। देखकर चमत्कृत होते हुए वन–पालक विचार करने लगा–"निश्चय ही यह कोई भाग्यशाली, श्रेष्ठ देव की अनुकृति और पुण्यशाली व्यक्ति है, जो रात्रि में यहाँ रुका है। इसी के पुण्य के प्रभाव से यह शुष्क उद्यान नंदन–वन के समान हो गया है।"

इस प्रकार मन में निश्चित करके हर्षपूर्वक श्रेष्ठी के घर जाकर बधाई दी–"स्वामी! आपके उद्यान में कोई तेजस्वी पुरुष रात्रि में आकर ठहरा है। उसी के अनुभाव से शुष्क वन नंदनवन के उद्यान के समान हो गया है।"

तब श्रेष्ठी वनपालक के कथन से चमत्कृत होते हुए उस पुरुष को देखने के कौतुक से स्वयं उपवन में गया। वहाँ उद्यान में बैठे हुए धन्य को देखा। समग्र विश्व में अद्‌भुत अभंग भाग्य–सौभाग्य के पात्र, तेजस्वी शरीर, सर्व सत् लक्षणों से पूर्ण, गुण–वृद्धिकारी, आख्यात सिद्ध धन्य को देखकर श्रेष्ठी ने विचार किया–"निश्चत ही इसी के अनुभाव से मेरा वन पल्लवित हुआ है, ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि चन्द्रोदय के बिना समुद्र के जल का उल्लास नहीं होता।"

इस प्रकार मन में विचार करके विचक्षण श्रेष्ठी ने अनातुर धन्य को मार्ग की व आगमन की कुशल वार्त्ता पूछी–"हे सज्जन–जन शिरोमणि! आपके आगमन से जड़ रूप भी, निर्जीव–प्राय भी यह उद्यान नव–पल्लव निकलने के बहाने से हर्षित होकर मानो पुष्पों का मुकुट–स्वरूप बन गया है। आपके दर्शन रूपी अमृत–सिंचन से मेरे मन–नयन भी पल्लवित हो गये हैं। हमारे द्वारा पूर्व उपचित प्रबल पुण्योदय के योग से मरुस्थली में कल्प–वृक्ष की तरह आपके दर्शन का लाभ मानता हूँ। अतः हे सुभग–शिरोमणि! कृपा करके गृह आगमन के प्रयास–पूर्वक मेरे मनोरथ को पूर्ण करने का अनुग्रह करें।"

इस प्रकार अत्यधिक आग्रह करके कुसुमपाल श्रेष्ठी धन्य को अपने घर ले गये, क्योंकि माणिक्य स्व–गुणों द्वारा सर्वत्र मान–पूजा को प्राप्त होता है। फिर अभ्यंगन, उबटन, स्नान आदि सामग्री के द्वारा शरीर की शुश्रूषा करके, चन्दनादि के द्वारा अंगराग करके, घोड़े की लार से भी झीणे वस्त्र धारण करवाकर

बहुमानपूर्वक विविध प्रकार की रसोई द्वारा भोजन करवाकर, स्वर्ण आसन पर बिठाकर, पाँच सुगन्धित ताम्बूल देकर, विविध उपचारों के द्वारा उपचर्या करे श्रेष्ठी ने अंजलि करके सविनय तथा गौरवपूर्वक धन्य को कहा–"हे सौम्य! तुम्हारे अद्भुत गुणों द्वारा मैंने तुम्हारे वंश का गौरव जान लिया है। कहा भी है–

आचारः कुलमाख्याति।

अर्थात् व्यक्ति का आचार उसके कुल दर्शाता है। इत्यादि कारणों से मेरे जीवन रूपी वन को फल व कुसुमश्री देनेवाली कुसुमश्री नामकी कन्या तुम्हे देकर कुछ उऋण होने की इच्छा करता हूँ। अतः मेरी पुत्री के साथ पाणिग्रहण करके मुझे कृतार्थ करो। जिससे मेघ धारा से कदम्ब पुष्प की तरह मेरा मन रूपी पुष्प प्रफुल्लित हो।"

तब पथ्य, सत्य व रुचि के अनुकूल श्रेष्ठी के वचन को धन्य ने मान लिया। तब श्रेष्ठी ने कुंकुम घोलकर कुसुमश्री के प्रदान रूपी करार को अखण्डित चावलों के साथ तिलक करवाया। श्वसुर–सम्बन्ध हो जाने पर श्रेष्ठी द्वारा अत्यधिक बहुमानपूर्वक अपने घर पर रखे जाने पर भी मान का धनी धन्य "एक साथ रहना मान–हानि का कारण है" ऐसा मन में जानकर भाड़े का घर लेकर उसमें रहने लगा। नीति–शास्त्रों में भी कहा है–

मित्रस्याऽप्यपरस्यात्र समीपे स्थितिमावहन्।
कलावानपि निःश्रीको जायते लघुतास्पदम्।।

अपन मित्र के समीप भी स्थिति का वहन करने पर धनहीन कलावान पुरुष भी लघुता के स्थान को प्राप्त होता है।

चिंतामणि के प्रभाव से जैसे–जैसे व्यापार, धन, कीर्त्ति बढ़ने लगी, वैसे फल युक्त वृक्षों पर पक्षियों की तरह लोग धन्य का आश्रय लेने लगे। फिर विवाह के लिए गृहित प्रशस्त माह, तिथि, नक्षत्र, वर्ष के दिन थोड़े ही दिनों में अत्यधिक सामग्री जोड़कर खूब महोत्सवपूर्वक विवाह कराने के लिए श्रेष्ठी प्रवृत्त हुआ। धन्य ने भी अपने घर के योग्य पूर्णता से भी अधिक उत्सव प्रवर्त्तित किया। पाणिग्रहण के दिन श्रेष्ठी ने यथाविधि अमूल्य मणि–मुक्ता आदि के दानपूर्वक कुसुमश्री नामक कन्या धन्य को दी। धन्य उसे ग्रहण करके शिव–पार्वती, केशव–कमला की तरह सुभ्रूवाली कुसुमश्री के साथ पुण्य से लाये गये पंच वैषयिक सुख–भोग को भोगते हुए सुखपूर्वक काल निर्गमन करने लगा।

एक बार अवसर आने पर सोलह राजाओं को जीतनेवाला चण्ड प्रद्योत नामक मालवाधिपति मगधाधिपति को जीतने के लिए अति विकट सेना लेकर मगध की ओर चला। चरों ने उसके समीप आने पर राजा को कहा। तब चरों

के कथन को सुनकर राजा ने भय से अभय को देखा। उस समय साहस की निधि अभय ने कहा–"स्वामी! सामादि तीन उपाय के असाध्य हो जाने पर चौथा दण्ड करना चाहिए, अन्यथा नहीं। जो कहा है–

पुष्पैरपि न योधव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः।
युद्धे विजय संदेहः प्रधान पुरुष क्षयः।।

पुष्पों से भी युद्ध नहीं करना चाहिए, तो फिर तीक्ष्ण बाणों की तो बात ही क्या? प्रधान पुरुष का नाश हो जाने पर युद्ध में विजय संदिग्ध होती है।

अतः सामादि चार में से साम तो नहीं करना चाहिए। उसकी उत्सुकता तथा गर्व के लिए अयोग्य होता है। द्वितीय उपाय दान है, पर वह भी अयोग्य है। द्रव्य के दान में सेव्य–सेवक–भाव प्रकट होता है। लोक में "दण्ड दिया" इस प्रकार बोलने पर हमारी मान–हानि होगी। अतः यहाँ चौथा उपाय ही साध्य है। यही करने योग्य है।

हे प्रभो! जैसे वैद्य द्वारा प्रयुक्त सुरसायन से रोग क्षण भर में नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार मेरे द्वारा इच्छित प्रदान करनेवाले भेद–उपाय रूपी रसायन को बुद्धि द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर दुश्मन रूपी रोग क्षणभर में ही नष्ट हो जायेगा। देखिए, सेवक का बुद्धि कौशल्य! आप सुखपूर्वक विराजें, यहाँ किसी भी प्रकार की चिंता न करें।"

तब अभय ने सूक्ष्म दृष्टि से देखकर शत्रु–सैन्य के निवास–क्षेत्र में गुप्त रीति से मुख्य राजा के तम्बू के पास जहाँ–जहाँ चारों ओर चौदह राजाओं के तम्बू थे, वहाँ–वहाँ स्थान खोदकर पृथ्वी में बहुत सारा द्रव्य स्थापित कर दिया। इसी प्रकार मंत्री–सेनापति–सुभटों आदि के निवास–स्थान पर भी यथा–योग्य भूमि में गुप्त रूप से रख दिया। पुनः धूल आदि के द्वारा दिखायी न दे–इस प्रकार ढ़क दिया।

उधर चण्ड प्रद्योत राजा के सैनिकों द्वारा मैना–समूह की तरह राजगृह रूपी सरोवर को चारों ओर से घेर लिया गया। नगर के समीप सैन्य को बैठा हुआ देखकर दैन्य–भाव को प्राप्त नागरिक मीन राशि में स्थित शनिश्चर की तरह उसे नगर का प्रलय काल मानते हुए बैठ गये।

तब सर्व–उपायों में प्रवीण बुद्धिवाले श्रेणिक–नंदन अभय ने छलपूर्वक चण्ड प्रद्योत राजा को गुप्त लेख भेजा। जैसे–"कल्याण हो! श्रीमद् राजगृह नगर से यथास्थान स्थित पूज्यपाद के प्रति सेवक अभय विज्ञप्ति–पत्र रूपी उपहार भेंट करता है। प्रतिदिन शुभचिंतक सेवक का नमस्कार जानना। मेरी एक विज्ञप्ति उपयोगपूर्वक पढ़े। जैसे कि–हे पूज्य! शिवादेवी चेलना देवी की तरह मेरे लिए

समान पूज्य है। अतः हित की बात सुनें। भेद–उपाय को जाननेवाले मेरे पिता ने आपके सभी राजाओं को सोने की दीनारें रूपी निधि दी हैं। आपको पशु–बंधन की तरह बाँधकर मेरे पिता को समर्पित करेंगे धन के द्वारा वे नृप अपना तर्पण करेंगे। यदि मेरे वचनों पर विश्वास न हो, तो उनके तम्बूओं के पास दीनारें भूमि में दबायी हुई है, उन्हें देखें। हाथ कंगन को आरसी क्या?"

इस लेख को पढ़कर शिवादेवी का प्रिय होने पर भी विश्वास के लिए एक राजा का निवास–स्थान खोदा। वहाँ गुप्त रखी हुई दीनारों को देखकर राजा प्रद्योत ने दो चार स्थान पर और देखो फिर दीनात्मा होकर विचार करने लगा–"अहो! अभय की सौहार्द्रता! जो कि मौके पर ही बता दिया। अगर यह नहीं बताया होता, तो मेरी क्या गति होती? अतः यहाँ किसी के भी आगे कहना उचित नहीं है। सभी स्वामी–द्रोही हो गये हैं, अतः मेरा पलायन करना ही उचित है।"

इस प्रकार विचार करके राजा स्वयं ही युद्ध–भूमि से पलायन कर गया। उसे भागते हुए देखकर मन में संदेह धारण करते हुए सभी भागने लगे। चरों द्वारा यह सभी अभय तथा श्रेणिक को बताया गया।

अभय ने पिता से कहा–"हे तात! अब इनके हाथी–घोड़े आदि स्वेच्छा से ग्रहण करें।"

तब श्रेणिक राजा ने भी भागते हुए उसके हस्ती–अश्व आदि ग्रहण कर लिये। परम्परा से देश में बात फैल गयी कि चण्ड प्रद्योत भाग गया। श्रेणिक भूपति ने सर्वस्व लूट लिया।

जब चण्ड प्रद्योत ने त्वरित गति से भागते हुए अपने अंतःपुर में प्रवेश किया, तो दूसरे राजाओं ने कष्ट से और पीठ पीछे से प्राप्त चण्ड प्रद्योत को इस प्रकार कहा–"स्वामी! बिना सोचे–समझे पलायन करने का कारण? अथवा क्या भय उत्पन्न हुआ कि सागर के समान सैन्य–विस्तार होने पर भी आपने कायर की तरह पलायन किया?"

राजाओं तथा वृद्ध सैनिकों द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर चण्ड प्रद्योत ने कहा–"जो रक्षक हैं, वे ही भक्षक बन गये, तो मैं अकेला क्या करता?"

राजा के सैनिकों ने पूछा–"जगत के एकमात्र शरण रूप आपका कौन भक्षक है? यह असम्भव वचन आपके द्वारा कहा हुआ होने पर असत्य तो हो ही नहीं सकता?"

राजा ने कहा–"तुम्ही लोग विश्वासघाती हो।"

उन्होंने पूछा–"कैसे?"

राजा ने कहा–"धन के लोभ से तुमलोग स्वामी से भी द्रोह करने लगे, पर मेरे सुहृद सुधी अभय ने मुझे बता दिया और यह सूक्ति सत्य साबित हुई, कि–

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः।

अर्थात् शत्रु पण्डित भी हो, तो श्रेष्ठ है, पर हितकारक मूर्ख हो, तो श्रेष्ठ नहीं है।"

इस प्रकार का राजा का कथन सुनकर उन राजाओं तथा वृद्ध सैनिकों ने मुस्कराते हुए कहा–"स्वामी! यह तो अभय की माया थी, जो आप नही लख पाये। शीघ्रता में वापस लौटने से व्यर्थ ही आपकी और हमारी मान–हानि हुई है। गया हुआ मान सैकड़ों वर्षों से भी वापस नहीं आता। हम तो प्रणान्त कष्ट आने पर भी विश्वासघात की बात भी नहीं सोच सकते। क्योंकि कहा है–

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्वामीद्रोही पुनः पुनः।
विश्वासघातकश्चैते सर्वे नरकगामिनः।।

अर्थात् मित्रद्रोही, कृतघ्नी, स्वामीद्रोही और विश्वासघाती–ये सभी नरकगामी होते हैं।"

इस प्रकार कहकर सौ–सौ बार कसम खा–खा कर अपने स्वामी को विश्वास दिलाया। राजा भी उसे दम्भ–रचना मानकर अत्यधिक दुःख करने लगा। लेकिन अवसर–भ्रष्ट पुनः स्थान को प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार शल्य के साथ काल का निर्वाह करने लगा।

एक बार सभा में प्रद्योत ने कहा–"इस सभा में कोई ऐसा है, जो अभयकुमार को बाँधकर यहाँ ले आये?"

राजा द्वारा कथित इस अशक्य अनुष्ठान को सुनकर सभी ने गर्व–आवेश से रहित होकर कहा–"स्वामी! गरुड़ के पंखों को छेदने की चेष्टा कौन बुद्धिमान करेगा? अथवा हाथी के दाँत को उखाड़ने के लिए कौन तिरस्कृत होगा? अथवा कौन शेषनाग के मस्तक पर स्थित मणि ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करेगा? कौन केशरी सिंह के केशों को कतरने की इच्छा करेगा।

हे राजन! शास्त्र–गर्जना–निष्प्रतिमा–प्रतिमा–इन चतुष्टय की निधि स्वरूप अभय को निगृहित करने के लिए कौन चेतनवान प्राणी आग्रही होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा।"

उसी समय किसी गणिका ने अवसर पाकर राजा के हृदय–दाह के नाशक वचन कहे–"हे पृथ्वीनाथ! इस कार्य की मुझे आज्ञा देवें। मैं उस अभय को बाँधकर आपके चरणों में लाऊँगी।"

राजा ने कहा–"अगर ऐसा है, तो अपने इच्छित अर्थ की सिद्धि करो।"

तब वेश्या ने राज–आदेश को पाकर विचार किया–"बहोत्तर कलाओं को जाननेवाले, बहुत से शास्त्रों से परिकर्मित मतिवाले, सब समय में सावधान, सब कार्यों में प्रत्युत्पन्न मतिवाले को किस उपाय से ठग सकती हूँ? एकमात्र धार्मिक बुद्धि के प्रपंच से ही ठग सकती हूँ, क्योंकि बड़े लोगों की धर्म–क्रियाओं में बुद्धि–व्यापार नहीं होगा, बल्कि सरलता ही मुख्य होती है। अतः धर्म के बल से अभय को ठगा जा सकता है। पहले भी धर्म–छल से अनेक व्यक्ति ठगे गये–ऐसा सुना जाता है। मैं भी धर्म सीखकर बाद में उसे ठगूँगी।"

इस प्रकार विचार करके साध्वी के पास जाकर वंदन करके धर्म को पढ़ने व सुनने लगी। विचक्षण होने से थोड़े ही दिनों में अर्हत् धर्म में विज्ञ बन गयी।

तब राजाज्ञा से महामाया की निधि उस वेश्या ने श्राविका वेश धारण किया तथा राजगृह नगर में गयी। नगर के बाहर उपनगर शाखापुर में उतरकर प्रभात में दीप–धूप– चावल–चंदन–केशर–घनसार आदि पूजा–द्रव्य लेकर परिकर सहित नगर के अन्दर चैत्य–परिपाटी से चैत्य–वंदन करती हुई क्रमशः राजा द्वारा कृत जिन–मंदिर में गयी।

श्री जिनमंदिर के प्रवेश द्वार के अवसर पर "निस्सीहि' प्रमुख दस त्रिकों का सत्यापन करती हुई वह वेश्या चैत्य में चैत्य–वंदन करने लगी। तभी अभय भी जिन–वंदन के लिए आया। वहाँ वैराग्य–हाव–भाव आदि से युक्त जिन–स्तुति करते हुए उसे देखकर प्रीतिपूर्वक उसकी स्तुति सुनने लगा। उसे सुनकर व देखकर अभय ने विचार किया–"यह जिनमत से भावित अन्तःकरणवाली, भक्ति–भावना से भरे हुए अंगोंवाली प्रियधर्मिणी किसी भी ग्रामान्तर से आयी हुई दिखाई देती है। इसका सुवर्ण–पात्र के समान बहुमान करने पर महान लाभ होगा। यह उत्तम साधर्मिका है।"

इस प्रकार निर्णय करके चैत्य से बाहर मण्डप में निकलते हुए उस श्राविका रूपी वेश्या से बात की–"बहन! आपका कहाँ से आगमन हुआ है?"

यह सुनकर दम्भ–रचना के द्वारा कहा–"हे धर्मबन्धु! लोक के उदर नामक नगर में, भव–भ्रमण रूपी चतुष्पथ में, मनुष्य गति रूपी फाटक में, संसारी जीव रूपी जातिवाली मैं यहाँ क्षेत्र–स्पर्शना से आयी हूँ।"

अभय ने कहा–"हे बहन! श्री जिनमत से वासित अंतःकरणवालों की इसी वस्तु–स्थिति की परिभाषा होती है। मैंने तो आपकी जिनस्तुति के श्रवण–मात्र से परीक्षा कर ली कि आप तीव्र श्रद्धा युक्त हैं। पर मैं तो व्यवहार–नय की रीति

से पूछता हूँ कि किस गाँव से आपका आगमन हुआ है?"

इस प्रकार अभय के पुनः पूछने पर उसने पुनः अपना दम्भ–विलास प्रकट किया–"हे धर्मबन्धु! पृथ्वीभूषण नामक नगर के सुभद्र–श्रेष्ठी की पुत्री हूँ। बचपन से ही पड़ोस में रहनेवाली महत्तरा के प्रसंग से अर्हत्–धर्म में रुचि और प्रवृत्ति हुई। क्रमशः यौवन प्राप्त होने पर मेरे पिता ने वसुदत्त व्यापारी के पुत्र के साथ मेरा विवाह कर दिया। उसके साथ परिणीता होकर विष–मिश्रित अन्न के तुल्य वैषयिक सुखों को भोगा। इस प्रकार कितना ही काल बीत जाने के बाद पूर्वकृत भोगान्तराय कर्म के उदय से मेरे पति काल–धर्म को प्राप्त हुए। उनके वियोग दुःख से दुःखित मैं कहीं भी सुख प्राप्त नहीं करती थी।

तब जगत माता के तुल्य महत्तरा आर्या ने मुझे प्रतिबोध दिया–पुत्री! क्यों दुःख करती हो? यह नर–भव तुमने बहुत ही दुर्लभता से प्राप्त किया है, जो कि विषयों की कदर्थना द्वारा कितना तो निष्फल चला गया। अब तो विष–ग्रन्थि के गमन के तुल्य तुम्हारा पति काल–धर्म को प्राप्त हो गया है। अतः जिनमार्ग को जाननेवाली तुम जैसी के द्वारा क्या विषाद करना युक्त है? चित्त स्थिर करके धर्म–प्रवृत्ति करो, जिससे अति दुर्लभतर रूप से प्राप्त मनुष्य–भव रूपी सामग्री सफल होवे। अनादि काल के शत्रु प्रमादादि को छोड़कर एकमात्र धर्म में रति करो।"

इस प्रकार प्रवर्त्तिनी के उपदेश से पति के मरण–शोक को छोड़कर धर्मार्थिनी हो गयी हूँ। उसके बाद एक बार देशना में तीर्थ–यात्रा के फल को सुनकर पिता आदि को पूछकर सिद्धाचल तीर्थ को वंदन करती हुई काशी देश में आयी। वहाँ श्री पार्श्व–सुपार्श्व नाम के जिनेश्वरों की कल्याणक–भूमि का स्पर्शन किया। उससे आगे चलते हुए श्रीमद् चन्द्रप्रभु को चन्द्रावती में वंदन किया। वहाँ पर सुना कि इस समय राजगृह नगरी में जैसी धर्मोन्नति है, वैसी कहीं नहीं है। जहाँ परम आर्हती श्री श्रेणिक राजा शुद्ध न्याय–मार्ग रीति से राज्य का पालन करते हैं। उनका पुत्र सकल गुणवानों का अग्रणी, समस्त बुद्धिप्रपंच की एकमात्र निधि, श्रीमद् जिनागमानुसारी, प्रवृत्ति में कुशल, नित्य धर्ममाता की करुणा के पोषण के लिए अमारी–पटह की उद्घोषणा में तत्पर, समस्त जीवाजीवादि भावों को जाननेवाला, बहुत से जीवों के आजीविकादि भयों का हरण करनेवाला, यथार्थ नामी अभय कुमार मंत्री परम श्रद्धा से धर्म की आराधना करता है।

इत्यादि यश–प्रशस्ति को सुनकर हृदय दर्शन के लिए उत्कण्ठित हो गया। भाग्योदय से मनोरथ की पूर्ति भी हो गयी। पर जैसा सुना था, उससे कहीं ज्यादा देखने को मिला। आप धन्य हैं! आप कृतार्थ हैं! श्री जिनेश्वर मार्ग

का ऐसा आराधक आपको ही देखा है। ज्यादा बोलने से कृत्रिमता प्रकट होगी। पर इतना तो कहूँगी कि आप जैसे धर्म–प्रभावकों द्वारा ही श्रीमद् जिनशासन उद्दीप्त है। आज आपके दर्शन से मेरा जन्म व जीवन सफल मानती हूँ। हे धर्मबंधु! आप चिरकाल तक राज्य व धर्म का पालन करें! आपकी पर्वतायु हो!"

इस प्रकार कहकर उस दम्भिनी के निवृत्त हो जाने पर धर्मोन्नति की प्रशंसा के श्रवण से तुष्ट हृदयवाले अभय ने उसको कहा–"हे धर्म–भगिनी! आप आज मेरे घर पर भोजन ग्रहण करें, जिससे मेरा घर व मेरी गृहस्थी सफल हो जावे।"

इस प्रकार निमन्त्रित करने पर उस दम्भिनी ने कहा – "धर्मबंधु! मैं सांसारिक सम्बन्ध के नाते तो किसी के भी घर पर भोजन के लिए नहीं जाती हूँ, पर धर्म–सम्बन्ध से तो साधर्मिक रीति से जाती हूँ। पर आज मैंने श्री मुनिसुव्रत स्वामी की कल्याणक भूमि का स्पर्श किया है। अतः आज मैं तीर्थोपवासिनी हूँ। आगे किसी दिन भाई के चित्त को प्रसन्न करने के लिए आऊँगी। आपसे मैं कुछ भी दूर नहीं हूँ।"

ऐसा कहकर अपने उतरे हुए घर में चली गयी। मंत्रीश्वर अभय भी सब कुछ सत्य मानता हुआ। उसके गुण से रंजित हृदयवाला होकर घर आ गया। प्रभात में पुनः परिषद् सहित उसके घर जाकर, उसको सपरिषद् निमंत्रित करके, अपने घर ले जाकर विविध रसोई के भोजन के लिए बहुमानपूर्वक मंत्रियों द्वारा भोजन–मण्डप में बैठायी गयी। मंत्री अभय जिस–जिस रसवती को परोसते थे, तब वह दम्भपूर्वक कल्पनीय–अकल्पनीय, काल–व्यतिक्रांत, भेल–सम्भेलादि दूषणों को पूछने लगी।

इस प्रकार मंत्री उस पर और ज्यादा गुणराग से रंजित हुआ। अब वह दम्भिनी विधिपूर्वक भोजन करके उठी। मंत्री द्वारा ताम्बूल दिये जाने पर उसने ग्रहण नहीं किया, बल्कि उसने कहा–"धर्मबधु! हमें ताम्बूल की शोभा से क्या प्रयोजन? ताम्बूल तो श्री जिनाज्ञा के अविरुद्ध कहा ही गया, पर द्रव्य ताम्बूल तो मैंने छोड़ ही दिया है।"

तब मंत्री के द्वारा विविध वस्त्राभूषण आदि उपहार में दिये जाने पर वैराग्य भावना का प्रदर्शन करते हुए तथा मंत्री की स्तुति करते हुए अपने स्थान को चली गयी।

पुनः दो दिन बाद मंत्री के घर जाकर उस दम्भिनी ने कहा – "हे धर्मबंधु! आज भगिनी की विज्ञप्ति स्वीकार कीजिए।"

तब अभय ने कहा–"हे बहन! सुखपूर्वक कहिए।"

उसने कहा–"आज भोजन के लिए मेरे द्वारा उतरे हुए घर में अनुग्रह

कीजिए, जिससे मेरा जन्म और जीवन सफल हो। आपके आगमन से गरीबों को निधान मिलने की तरह मेरा अति उग्र मनोरथ रूपी वृक्ष सफल होगा।''

तब सरल आशयवाले अभय ने स्वीकृति प्रदान करते हुए उसे रवाना किया। उसने भी अपने उत्तारक–घर में जाकर जैसा सोचा था, वैसा किया। यथावसर अभय भी स्वल्प–परिच्छेद के साथ भोजन करने के लिए आया। उस दम्भिनी ने अत्यन्त आदर–भाव प्रदर्शित किया। मंत्री भी उसके दिये हुए आसन पर बैठा। सेवक तो बाहरी द्वार के अन्दर ही बैठ गये। क्षणभर धर्म मार्ग का अनुसरण करनेवाली वार्त्ता करके मंत्री उठा। फिर अभ्यङ्ग–स्नानपूर्वक भोजन के लिए बैठा। भक्तिपूर्वक विविध रसवती को परोसती हुई वह धर्म मार्ग का अनुसरण करनेवाली कल्पनीय–अकल्पनीय आदि की वार्त्ता करने लगी, जिससे अभय के बुद्धि–पथ पर उसके दम्भ का खयाल लेशमात्र भी नहीं आया। भोजन के अन्त में उसने दही की प्रतिरूपिका चन्द्रहास नामक मदिरा धोखे से पिला दी। उसके परिवार को भी पीला दी।

भोजन के बाद अच्छे आसन पर बिठाकर ताम्बूलादि देकर मंत्री के सामने बैठती हुई जब शिष्टाचार की बातें करने लगी, तभी मदिरा के बल से अभय को नींद आ गयी। जब वह पूर्ण रूप से बेहोश हो गया, तो पहले से निश्चय किये हुए अपर द्वार से उसे रथ में बिठाकर और स्वयं आरूढ़ होकर उज्जयिनी के मार्ग की ओर चली। स्थान–स्थान पर अन्य–अन्य रथ पर चढ़ते हुए थोड़े ही दिनों में उज्जयिनी को प्राप्त हुई।

फिर वह मूर्च्छित अभय के हाथादि बाँधकर प्रद्योत के पास लायी। तब तक उसकी मदिरा–जनित मूर्च्छा भी उतर चुकी थी। आलस्य त्यागकर उठता हुआ अभय इधर–उधर देखने लगा और विचारने लगा–''यह अदृष्ट पूर्व स्थान कौन–सा है? मैं किस के द्वारा लाया गया हूँ?''

वह इस प्रकार ऊहा–अपोह आदि कर ही रहा था, तभी प्रद्योत ने कहा–''हे अभय! तुम मेरा कहा हुआ सुनो! नीतिज्ञ, अनेक शास्त्रों में कुशल वाक्पटु, परोपदेश कुशल एवं बहोत्तर कलाओं के पठन में कुशल होते हुए भी जैसे तोता बिल्ली के द्वारा ग्रहण तथा भक्षण किया जाता है, वैसे ही तुम भी बहुत से विज्ञानों में विदुर होने पर भी, देश–देशान्तर में भी तुम्हारे सदृश कोई भी नहीं है– इस प्रकार ख्याति–प्राप्त होने पर भी, सर्व–समय व्युत्पन्नमति युक्त होने पर भी बिल्ली के समान वेश्या के शिकंजे में तुम आ ही गये। अतः धिक्कार है तुम्हारे बुद्धि–चातुर्य को! तुम्हारी प्रत्येक काल में रहनेवाली सावधानता कहाँ गयी? सत्य और असत्य की परीक्षकता कहाँ गयी?''

राजा का इस प्रकार का कहा हुआ सुनकर अभय ने मन में निर्णय किया कि "निश्चय ही इसी ने ही धर्म–छल से पण्याँगना द्वारा मुझे यहाँ बुला लिया है। इस प्रकार विचारकर अभय बोला–"राजन! धर्मछल के द्वारा किया हुआ यह बन्ध मेरी महिमा की हानि नहीं करता, बल्कि उसे उद्दीप्त करता है और भी, हमारे देश और कुल में कोई भी धर्म के छल से इस प्रकार का कार्य नहीं करता, क्योंकि यह क्षत्रिय–कुल की मर्यादा नहीं है और भी, अच्छा ही हुआ कि इससे मासी के पति के दर्शनों का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ। आज तो श्रेष्ठ दिवस है।"

उसके इस प्रकार के वचन–चातुर्य से प्रद्योत भी प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। जैसे कलावान चन्द्र शुक्र के घर में भी स्थित रहते हुए उच्चता को ही प्राप्त होता है, वैसे ही शत्रु के घर में स्थित भी अभय अपने कला और गुणों से सभी को प्रिय हो गया। सभा में स्थित अभय विविध शास्त्र–देश–विज्ञान आदि अद्भुत रस से गर्भित अवसरोचित वार्ता द्वारा राजा को प्रसन्न करता था। इससे अभय राजा का प्रीति–पात्र बन गया। राजा उसे क्षण–भर के लिए भी नहीं छोड़ता था। हमेशा अभय की उक्तियाँ सुनने के लिए कान ऊपर करके ही रखता था।

इधर एक दिन राजगृह नगर में अत्यन्त उठी हुई मेघ–घटाओं के सदृश मदान्ध अन्तःकरणवाला सेचनक नामक श्रेष्ठ हाथी श्रेणिक राजा की गजशाला से आलान स्तम्भ को उखाड़कर नगर की श्री को उजाड़ता हुआ, नगर–द्वारों को पैरों से नष्ट करता हुआ, सुखश्री रूपी मानवों तथा घरों को अपने पाँवों के आघात से पुराने भाण्डों की तरह चूर्ण बनाता हुआ, घर रूपी शरीर के आँखों रूपी गवाक्षों को सूँड रूपी दण्ड के आघात से गिराता हुआ, सैन्य–सम्पदा को श्मशान की तरह चरणों से घट्टन करते हुए, सहस्रों भारवाली लौह–शृंखला को कमलों की तरह तोड़ता हुआ, मनोरम क्रीड़ा–उद्यानों को मसलता हुआ, जिस प्रकार बालक अपनी लीला से कन्दुक को इधर–उधर आकाश में उछालता है, उसी प्रकार सुभिक्ष पर्वत के कूट के समान धान्य–मूठों को आकाश में उछालता हुआ, रोष से आबाल–गोपाल सभी को यम की मूर्ति की तरह प्राप्त होता हुआ, भीषण क्रूर आकारवाला समस्त पुर के लिए प्रलय काल के समान वह नगर में परिभ्रमण करने लगा।

तब राजाज्ञा से कुशल मन्त्रियों तथा सुभटों आदि के द्वारा उसके निग्रह के लिए किये गये सभी उपाय क्षय–रोग में किये जानेवाले वैद्य कृत समस्त उपायों की तरह विफलता को प्राप्त हुए।

तब बुद्धि का धनी भी श्रेणिक राजा अवन्ती में स्थित बुद्धि–सम्पदा के निधान अपने प्रधान अभय को याद करके दुःखित होता हुआ विचार करने लगा–"निश्चय ही अभी यदि अभय होता, तो इस हाथी को क्षण भर में ही वश में कर लेता। अतः यह लोकोक्ति सफल ही देखी जाती है–

एकेन बिना जगत शून्यमिवाभाति।

अर्थात् एक के बिना जगत शून्य के समान प्रतीत होता है।''

इस प्रकार जब राजा आदि मूढ़ होकर बैठे थे, तभी किसी ने कहा–''महाराज् बहुरत्ना वसुन्धरा के अनुसार इस पृथ्वी पर रत्नों की कमी नहीं है। अतः पटह–उद्घोषणा करवायी जाये, जिससे कोई भी गुणियों में अग्रणी इस कार्य को करेगा।''

राजा ने पटह की अनुमति प्रदान कर दी। पटह इस प्रकार बजाया गया–''हे लोगों! सुनो–सुनो। राजा का आदेश सुनो। जो कोई भी रंक भी इस प्रकोपी श्रेष्ठ हाथी को अध्यात्म के द्वारा मन को वश में किये हुए की तरह आलान–स्तम्भ तक लायेगा, उसे मुख की शोभा से चन्द्रमा की श्री को जीतनेवाली सोमश्री नामक राजकुमारी दी जायेगी। साथ ही बहुत सारी सम्पत्ति, उद्यान आदि और सहस्रों की संख्या में ग्रामादि दिये जायेंगे। अतः जो कोई भी कलावान पुरुष हो, वह प्रकट होकर इस हाथी को आलान–स्तम्भ तक लेकर जाये।''

क्रम से यह पटह धन्य के घर के समीप पहुँचा। धन्य ने हाथी को वश में करने की स्वीकृति द्वारा वह पटह–उद्घोषणा रोक दी। तब सेवकों ने पटह–वादन छोड़कर राजा के पास जाकर निवेदन किया–''स्वामी! एक विदेशी पुरुष ने पटह का स्पर्श किया है।'' राजा भी यह सुनकर आश्चर्यपूर्ण हृदयवाला होकर वहाँ आया।

हाथी जहाँ उच्छृंखलता कर रहा था, धन्य ने भी वहाँ आकर अपने अधिकतर वस्त्रों का त्याग किया। वज्र–कच्छे की लंगोटी बाँधकर उसके पास आकर क्षणभर उसके सिर पर, क्षण भर सामने, क्षण भर बगल में, क्षण भर पीछे, तो कभी वस्त्र को गोल–गोल घुमाकर उस पर घात करने लगा। हाथी भी उसको मारने के लिए दौड़ने लगा। तब धन्य भी छोटी सी लाघवता के द्वारा पीठ पर जाकर उसे ताड़न करने लगा। गज को चक्र की तरह घुमाने लगा। इस प्रकार गज–दमन शिक्षा में कुशल धन्य के द्वारा गज अति खेदित हुआ। वह इधर–उधर दौड़ने–भागने के श्रम से खेदित होता हुआ निर्मद हो गया।

तब गज को ग्लान अंगवाला जानकर बन्दर की तरह उछलकर धन्य उसकी पीठ पर जा पहुँचा। पाँव से उसके मर्म को आहत करके तथा अंकुश से सीधा करके अनाकुल होते हुए उसे आलान–स्तम्भ तक ले जाकर बाँध दिया। मगधाधिपति भी उसकी इस कला को देखकर अति रंजित हुआ। धन्य की बहुत स्तुति करके बहुमान–पूर्वक मनोरम महोत्सव करके उसे अपनी पुत्री सोमश्री तथा सहस्रों गाँव दिये। अन्य भी सुवर्ण–मणि–मुक्ता आदि हथलेवे की छुड़ाई में देकर अपने वचन का निर्वाह किया।

इस प्रकार सूखे हुए वन के पल्लवित होने से बढ़ती हुई धन्य की कीर्तिलता हाथी–भय के निवारण से समस्त नगर के एक–एक गृह–मण्डप में इस प्रकार विस्तार को प्राप्त हुई, जैसे कि पर्वत से निकलती हुई नदी नव मेघों के बरसने से बढ़ती है।

दान की महत्ता में शालिभद्र की कथा

इधर इसी मगध देश में धन–धान से समृद्ध, इन्द्रिय समूह से सुख देनेवाला शालिग्राम नामक ग्राम था। वहाँ सांख्य–मत के प्रवर्त्तक कपिल मुनि के द्वारा रचित की तरह, सांख्य मत में ही प्रसिद्ध महान शब्द के ही अपर नाम रूप सत्व–रज–तमो गुण से युक्त प्रकृति और स्वभाववाली, सत् कार्य करनेवाली, भद्रिक स्वभाववाली कोई एक धन्या नाम की स्थविरा रहती थी। उसके अत्यधिक दारिद्र्य में द्रव्य के संगम की तरह संगम नामक पुत्र था, जो सुमुख तथा नम्र प्रकृतिवाला था। वह धन्या सेठ लोगों के घर खाण्डना–पीसना आदि कार्य करती थी और उसका पुत्र संगम उनके बछड़ों को चराया करता था। इस प्रकार कैसे भी करके दोनों निर्वाह करते थे।

एक बार किसी पर्व के बड़े दिन संगम गाय–बछड़ों को लेकर जंगल में चराने लगा, तब वहाँ दूसरे आये हुए बच्चे परस्पर बातें करने लगे। एक ने दूसरे से कहा–"आज तुमने क्या खाया?"

उसने कहा–"खीर खायी।"

अन्य ने भी कहा–"मैंने भी खीर खायी। आज पर्व का दिन है। अतः केवल खीर ही खानी चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं।"

तब उन लोगों ने संगम से भी पूछा–"तुमने क्या खाया?"

संगम ने कहा–"(कुकस्–ढ़ौकल आदि) तुच्छ भोजन किया है।"

यह सुनकर वे लोग निन्दा करने लगे–"आज पर्व के दिन इस प्रकार के रस से रहित खाना कैसे खाया? आज तो केवल खीर ही खानी चाहिए।"

तब बच्चों की बातें सुनकर संगम ने घर आकर अपनी माता को प्रणाम करके कहा–"हे माता हितकारिणी! मुझे अभी घृतयुक्त खीर–खाण्ड का भोजन खिलाओ।"

अपने पुत्र के वचनों को सुनकर वह वृद्धा अत्यन्त रोने लगी–"अपने इकलौते पुत्र के खीर जितने मनोरथ को भी पूरा करने में मैं गरीब समर्थ नहीं हूँ। अतः मेरे जीवन को धिक्कार है।"

माता को रोते हुए देखकर पुत्र भी जोर–जोर से रोने लगा। उन दोनों का रूदन सुनकर उनके दयालु पड़ोसी एकत्र होकर रोने का करण पूछने लगे। तब रोती हुई वृद्धा ने कहा–"हे पुण्यशालिनी बहिनों! यह मेरा पुत्र कभी भी खाने–पीने की वस्तुएँ नहीं माँगता है। जैसा मैं खिलाती हूँ, वैसा खा लेता है। कभी भी हठ नहीं करता है। आज किसी के घर में बच्चों को खीर का भोजन करते हुए देखकर मुझसे खीर माँग रहा है। मैं तो धनहीन हूँ, खीर का भोजन धन के बिना कहाँ से लाऊँ, अतः रो रही हूँ।"

उसके इस प्रकार के दीन–वचनों को सुनकर एक पड़ोसन बोली–"मैं दूध देती हूँ।"

तब दूसरी ने कहा–"मैं चावल देती हूँ।"

तीसरी ने कहा–"मैं घी देती हूँ।"

चौथी ने कहा–"मैं अति उज्ज्वल खाण्ड देती हूँ।"

इस प्रकार चारों ही पड़ोसियों ने अपने–अपने कहे हुए के अनुसार सामग्री लाकर दे दी। तब वह वृद्धा प्रसन्न होकर अपने लाड़ले के लिए खीर बनाने लगी। बालक श्रेष्ठ भोजन की आशा में प्रसन्नचित्त होकर घर के आँगन में खेलने लगा। वृद्धा ने शीघ्र ही खीर बना ली। कारणों का प्रबल योग होने पर कार्य होता ही है। फिर उसने पुत्र को बुलाकर भोजन के लिए बैठाया। थाल में घृत–खाण्ड युक्त खीर भरकर पुत्र को देकर स्वयं नजर लगने के भय से अन्यत्र चली गयी, क्योंकि माता का मन प्रति समय अनिष्ट की आशंका से डरता ही है। बालक खीर से भरे थाल को अति–उष्ण जानकर ठण्डा करने के लिए हाथ से हवा करने लगा।

तभी संगम के घर के आँगन में अगणित पुण्यों की निधि रूप मासक्षमण के तपस्वी मुनि पारणे के लिए भिक्षा के लिए घूमते हुए बालक के भाग्योदय से आकर्षित की तरह आये। तब वह बालक मुनि को आता हुआ देखकर मुनि को घर में लेकर आया। विवेक रूपी भ्रमर के चित्त से ग्वाला होते हुए भी उस बालक ने खीर का थाल उठाकर अति उत्कट भाव से अस्खलित रूप से मुनि को बहरा दिया। देकर मुनि के पीछे सात–आठ कदम जाकर पुनः–पुनः प्रणाम करके वापस घर आकर उस खीर के खाली थाल को उठाकर उसमें लगी हुई खीर को चाटने लगा। मन में विचार करने लगा–"अहो! मेरा महान भाग्योदय था कि मुनि ने मुझ गरीब का दिया हुआ दान ग्रहण किया, क्योंकि मैं महा–श्रेष्ठियों के घरों में देखता हूँ कि भिक्षा के लिए आये हुए मुनियों को महा–इभ्य सहस्रों विज्ञप्ति करते हैं, फिर भी वे कोई चीज लेते हैं और कोई चीज नहीं भी लेते। पर मेरे तो–मात्र एक ही बार विनती करने से आ गये और मन की प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया। अतः मैं धन्यतम हूँ।"

इस प्रकार मन ही मन में अनुमोदना कर रहा था कि उसकी माता आ गयी। बालक को थाली चाटते हुए देखकर "अहो! मेरा पुत्र प्रतिदिन इतनी भूख को सहन करता है" – इस प्रकार विचार कर पुनः खीर परोसी। फिर कहा–"पुत्र! खीर की इच्छा पूर्ण हुई?"

तब बालक ने "हाँ" इस प्रकार कहा। पर दिया हुआ दान नहीं बताया, क्योंकि **दान देकर प्रकाशित करने से उसका फल चला जाता है।** फिर वह खीर खाकर उठ गया। गरिष्ठ भोजन को खाने से रात्रि में उसको विसूचिका हो गयी। महान वेदना से पराभूत होता हुआ बालक सोचने लगा–"मेरे द्वारा इस भव में कुछ भी सुकृत्य नहीं किया गया, पर आज ही मेरे भाग्योदय से मुनि को दान दिया गया। वह दान मुझको सफल होवे। मुझे उन्हीं मुनि की शरण है।"

इस प्रकार स्वयं के द्वारा किये हुए सुकृत को खुश होकर बार–बार ध्याते

हुए वह मर गया। मरकर दान–पुण्य की महिमा से मगध–अधिपति की राजधानी राजगृह नगरी में समस्त महा–इभ्यों में वरिष्ठ, अनेक कोटि द्रव्य के अधिपति गोभद्र श्रेष्ठी की भार्या भद्रा की कुक्षि में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। स्वप्न में जननी द्वारा हरा–भरा शालि का खेत देखा गया। उसने श्रेष्ठी को निवेदन किया।

श्रेष्ठी ने भी कहा–'यह अति उत्तम स्वप्न है। इसके अनुभाव से तुम्हारे कुल की पताका–स्वरूप पुत्र होगा। तब उसका शालिभद्र नाम रखूँगा।"

इस प्रकार के श्रेष्ठी के वचन सुनकर सेठानी गर्भ का हर्षपूर्वक पालन करने लगी। गर्भ के दिन पूर्ण होने पर सेठानी ने सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। तब गोभद्र श्रेष्ठी ने बारह दिवस तक महोत्सव करके, स्वजन–कुटुम्ब आदि को भोजन कराकर और वस्त्राभूषण से अलंकृत करके समस्त स्वजन तथा ज्ञातिजन के समक्ष शालिभद्र नाम रखा।

पाँच धायों से लालित वह वृद्धि को प्राप्त होने लगा। क्रमशः यथावसर अपने कुल के अनुरूप कलाएँ भी उसने पढ़ी। इस तरह युवति–जनों के मन को हरण करनेवाले यौवन को प्राप्त हुआ। पिता ने श्रेष्ठ कुल की बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह किया। उसके बाद पूर्व–दत्त दान–फल के विपाकोदय से नित्य ही सुख की लीलाओं में यथेच्छापूर्वक रमण करने लगा।

उधर उस समय राजगृह नगर में जो शठ–जार– कुटिल–दम्भी –धूर्त आदि थे, वे समस्त बुद्धि के घर समान अभय के देशान्तर–गमन को जानकर नागरिकों को लूटने के लिए तत्पर हो गये थे।

उस समय एक आँख से काना एक धूर्त अवसर देखकर सम्यग् व्यवहारी का वेश बनाकर मूर्तिमान दम्भ की तरह गोभद्र श्रेष्ठी के घर जाकर और नमन करके धन में कुबेर के समान गोभद्र श्रेष्ठी को कहा–'हे गोभद्र श्रेष्ठी! आपके स्मृति–पथ पर है या नहीं?"

गोभद्र श्रेष्ठी ने पूछा–'क्या?"

धूर्त ने कहा–'पूर्व में हम दोनों चम्पा गये थे। उस समय चम्पा में बहुत से व्यापारी आये हुए थे। तब मैं भी व्यापार करने के लिए प्रवृत्त हुआ। पर यथेप्सित द्रव्य के बिना व्यापार नहीं होता। इस चिन्ता से युक्त मन में खेदित होता हुआ 'यह सज्जन परोपकार में प्रवीण है" इस प्रकार जानकर आपके पास आया। मैंने आपको कहा–हे श्रेष्ठी! मुझे लाख द्रव्य से प्रयोजन है। अतः मुझे लाख द्रव्य प्रदान कीजिए। मैं आपके द्रव्य से व्यापार करके लाभ लेकर ब्याज सहित आपका लाख द्रव्य हाथ जोड़कर दूँगा। जिसका जितना देय है, उसे उसका द्रव्य नौकरी करके भी देना चाहिए। इसलिए लाख द्रव्य मुझे दीजिए। यदि आपको विश्वास न हो, तो मैं देह की सारभूत एक आँख को गिरवी रखता हूँ। यथावसर इस देय को देकर ग्रहण करूँगा। इस प्रकार कहकर मेरे द्वारा आपसे लाख द्रव्य ग्रहण किया गया। उस द्रव्य से बहुत बड़ा

व्यवसाय किया और महा–परिश्रम के प्रसाद से बहुतर द्रव्य प्राप्त किया। वह सब मैं आपका ही उपकार मानता हूँ। अतः हे श्रेष्ठी! यह लाख द्रव्य ब्याज सहित ग्रहण करो और विरोचन–सूर्य की ज्योति रूप मेरी आँख अर्पण करो।"

इस प्रकार के धूर्त के वचन सुनकर वाणी–कुशल गोभद्र श्रेष्ठी के द्वारा बहुत ही मृदु उक्तियों *के द्वारा समझाये जाने पर भी वह नहीं माना, बल्कि वाचालता* के द्वारा बहुत सारे कुतर्कों की वचन–रचना द्वारा झगड़ा प्रारम्भ कर दिया। जैसे कि–"बहुत सारे करोड़ों धन को प्राप्त करो, पर मेरे लोचन को देखकर लोभ के समुद्र में मत गिरो। तुम जैसे महा–इभ्यों के लिए मिथ्या–पाप वचन कहना युक्त नहीं है। नगर में जैसी तुम्हारी साधुता है, वैसी ही रखने में तुम्हारा महत्व अखण्डित रहेगा। अन्यथा तो विरुद्ध कथन करने पर विरुद्ध भाव की उत्पत्ति होने से महा आपदा को प्राप्त करोगे। अतः अपने साधुवाद को अखण्डित रखे और भी, इतने दिनों तक एक आँख के बिना लोक में 'काना" इस प्रकार के मिथ्या अभ्याख्यान को लोगों द्वारा प्राप्त करके मैंने सहन किया। अब तो इष्ट देव की कृपा से धन प्राप्त हो गया है, तो फिर नेत्र के विद्यमान रहने पर भी, नेत्र को छुड़ाने के लिए धन–युक्त होने पर भी मैं लोगों के अभ्याख्यान–वचनों को क्यों सहन करूँ? अतः मेरी आँख वापस करो। और भी, तुम्हारे जैसे महापुरुषों द्वारा भी यदि सार ग्रहण करके भी अपलाप किया जाता है, तो जगत में शुद्ध व्यवहार को तो तिलांजलि दे दी जायेगी। जगत का चक्षु रूप सूर्य ही यदि अन्धकार करेगा, तो प्रकाश करने में अन्य कौन समर्थ होगा? चन्द्रमा ही यदि विष की वर्षा करेगा, तो जगत को तुष्टि कहाँ से प्राप्त होगी? अतः हे गोभद्र! यदि कल्याण के इच्छुक हो, तो मेरा नेत्र वापस करो। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

इस प्रकार के धूर्त्त के वचनों को सुनकर किंकर्त्तव्यमूढ़ होते हुए गोभद्र श्रेष्ठी ने उस धूर्त्त को समझाने के लिए अन्य महा–इभ्यों को बुलाया। उन्होंने भी बहुत सी युक्तियों द्वारा समाधानादि उपायों का प्रयोग किया, पर इस धूर्त रूपी विद्युत–अग्नि में मेघ की तरह व्यर्थ ही साबित हुए।

फिर वह धूर्त कपट रूपी नृत्यकला को करते हुए राजा की सभा में जाकर विशिष्ट सभाजनों के सामने प्रचण्ड वचनों के द्वारा समय का नाश करते हुए व्यंग्य आदि अर्थ से गर्भित वचनों का प्रयोग किया, जिससे कि राजा की सभा के सिरमौर सचिव आदि उसकी बातों का कुछ भी जवाब नहीं दे पाये। सभी उस धूर्त की कुयुक्तियों के अन्धकार में दिशामूढ़ हो गये। परस्पर एक–दूसरे का मुख देखने लगे।

तब सम्पूर्ण सभा की ऐसी अवस्था देखकर राजा श्रेणिक अभय का स्मरण करते हुए और उसके वियोग का अनुभव करते हुए इस प्रकार बोले–'हे सभासदों! अगर अभय इस समय यहाँ होता, तो इस क्लेश को शान्त करने में कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि जहाँ सूर्य प्रकाशित होता है, वहाँ अन्धकार की परम्परा कैसे क्रीड़ा कर सकती है? अतः एकमात्र अभय के बिना यह सभा मुझे हर्षदायिनी नहीं है।

जैसे–चन्द्र के उदय के बिना रात्रि शोभा को प्राप्त नहीं होती है।"

तभी किसी पुरुष ने कहा–"स्वामी! नगर में पटह–उद्घोषणा करवायी जाये, तब इस महानगर में कोई भी बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति प्रकट होकर इसके सत्य–असत्य का विभाग करके सब कुछ सरल कर देगा।'

तब राजाज्ञा से और गोभद्र श्रेष्ठी के अभिप्राय से समस्त राजगृह नगर के त्रिपथ–चतुष्पथ– राजमार्ग आदि में इस प्रकार पटह बजा–'जो बुद्धिमान इस कपटी को निरुत्तर करके श्रेष्ठी की चिंता का निवारण करेगा, विवाद को खत्म करनेवाले उस पुरुष को गोभद्र श्रेष्ठी बहुत सारी ऋद्धि से युक्त अपनी पुत्री देंगे तथा राजा भी बहुत सम्मान करेंगे।" इस प्रकार बजता हुआ पटह, जहाँ सज्जनों का मान्य धन्य रहता था, वहाँ आया।

तब धन्य ने कौतुक से व्याप्त चित्त के द्वारा कपट–अन्धकार का नाश करने में सूर्य के समान पटह का स्पर्श किया और स्वयं अश्व पर आरूढ़ होकर राजसभा में जाकर राजा को नमस्कार करके बैठ गया। राजा ने उसका सम्मान करते हुए उस धूर्त की सम्पूर्ण घटना बतायी। धन्य ने हँसकर कहा–'महाराज! आपके पुण्य–प्रभाव से लीला–मात्र में ही उसे निरुत्तर कर दूँगा। आप चिन्ता न करें।"

फिर गोभद्र सेठ को एकान्त में बैठकार 'इस प्रकार कहना" ऐसी शिक्षा दी–'हे श्रेष्ठी! अगले दिन राजसभा में वह धूर्त कपट करने के लिए आये, तो मेरी कही हुई उक्तियों से उत्तर देना।" इस प्रकार सिखाकर उसे भेज दिया।

पुनः दूसरे दिन राजसभा में राजा की आज्ञा से सभी राज्य–जन आये। धन्य भी यथावसर आ गया। अब धूर्त अवसर पाकर बहुत सी दम्भ–युक्तियों द्वारा जब नेत्र माँगने लगा, तब गोभद्र सेठ ने समस्त इभ्यों तथा राजा के समक्ष वाद को शान्त करने के लिए धूर्त को कहा–'हे भद्र! तुम्हारी आँख मेरे घर में गिरवी रखी हुई है–यह बात सत्य है। तुम्हारा कथन असत्य नहीं है। पर मेरे घर में मंजूषा में पहले से ही हजारों लोगों द्वारा इस प्रकार के नेत्र गिरवी रखे हुए हैं। अतः ज्ञात ही नहीं होता कि तुम्हारी आँख कौनसी है? उसके बदले दूसरी देना तो शास्त्र में महा–प्रायश्चित्त का कारण कहा है। सभी जनों को अपना–अपना ही प्रिय होता है। जो कहा है–

पृथिव्याँ मण्डनं नगरम्, नगरस्य मण्डनं धवलगृहं, धवलगृहस्य मण्डनं धनम्, धनस्य मण्डनं कायः, कायमण्डनं वक्त्रं, वक्त्रस्य च मण्डनं चक्षुषी।

अर्थात् पृथ्वी की शोभा नगर है, नगर की शोभा धवल घर है, धवल घर की शोभा धन है, धन की शोभा शरीर है, शरीर की शोभा मुख है और मुख की शोभा नेत्र है। अतः मनुष्यों को सम्पूर्ण सार रूप से दोनों ही होते हैं। अति आवश्यक कार्य आ पड़ने पर अति प्रिय वस्तु भी गिरवी रखकर धन को ग्रहण करते हैं। धन देनेवाले व्यापारी भी प्रायः गिरवी लेकर ही ब्याज में धन देते हैं। यही अच्छे वणिकों की पद्धति है। अतः आप अपना दूसरा नेत्र भी प्रदान करें, जिससे उसका मिलान करके मैं

आपका नेत्र लेकर आऊँ।"

गोभद्र सेठ के वचनों को सुनकर सिर से भ्रष्ट वानर अथवा दाँव से च्युत जुआरी की तरह वह कपटी अपने चक्षु को देने में असमर्थ होता हुआ लज्जित हुआ।

इस प्रकार धन्य की चतुरता से गोभद्र सेठ द्वारा प्रयुक्त करायी गयी बुद्धि से धूर्त के वचन–जाल में प्रकट ही कपट जानकर बहुत ही विडम्बनापूर्वक उसे देश से निकाला गया। गोभद्र सेठ भी इस विपदा से उत्तीर्ण होता हुआ राहु–दंश से मुक्त चन्द्रमा की तरह और भी ज्यादा यशः श्री से शोभित होने लगा। प्रत्येक घर में प्रत्येक जन के द्वारा धन्य की सुबुद्धि के विलास को सुनकर सोमश्री और कुसुमश्री भी हर्षित होती थीं।

गोभद्र सेठ की पुत्री सुभद्रा भी उसके गुणों में रंजित होती हुई उसके साथ पाणिग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठी। स्वजन भी धन्य को कन्यादान करने के लिए उत्कण्ठित होते हुए गोभद्र को निवेदन करने लगे। तब गोभद्र सेठ ने भी विविध महोत्सवपूर्वक करोड़ों से भी अधिक धन–दानपूर्वक अपनी पुत्री सुभद्रा धनसार के पुत्र धन्य को दी। धन्य भी उसको गुण से खरीदी हुई राम की जानकी की तरह मानता था।

इस प्रकार धन्य अतुल उत्साह–मन्त्र–शक्ति आदि से राजा की तरह तीन प्रियाओं से युक्त होकर परम प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। गोभद्र सेठ भी कृत–कृत्य होकर श्रीमद् महावीर की सन्निधि में शुद्ध चारित्र को ग्रहण करके सम्यक् विधिपूर्वक आराधना करके स्वर्गलोक में महान ऋद्धिवाले देव बने।

जब उस देव ने अपने ज्ञान से पूर्वभव के पुत्र शालिभद्र को देखा, तो उसे पुण्यनिधि जानकर पुत्र–प्रेम तथा पुत्र–पुण्य से आकृष्ट चित्तवाले होकर प्रतिदिन आकर बत्तीस प्रियाओं युक्त शालिभद्र के लिए तीन–तीन खंड से युक्त दिव्य भोगों से भरी हुई तेंतीस निधि की उपमावाली मंजूषाएँ प्रत्येक प्रातः में आकाश से उतारता था।

उन मंजूषाओं में से प्रत्येक मंजूषा के एक–एक खंड में कस्तूरी आदि दिव्य सुगन्धित द्रव्य और विविध वस्त्र, दूसरे खण्ड में मणि–रत्नों से जड़े हुए अनेक प्रकार के स्व–स्व के चित्त को रंजित करनेवाले दिव्य आभरण निकलते थे। तीसरे खंड में विविध उत्तम राज–द्रव्यों से मिश्रित, अनेक प्रकार के घी से मिश्रित, मोदक आदि सुखासिका आदि दिव्य भोजन, द्राक्ष, खजूर, अखरोट, कदली, नारंगी आदि फल तथा ताम्बूल आदि निकलते थे। उस दिन से प्रतिदिन आयी हुई मंजूषा में रहे हुए वस्त्रादि को वे लोग अपने–अपने भोग के लिए ग्रहण करते थे। अगले दिन उनको देव पर चढ़ाकर उतारे हुए द्रव्य की तरह निर्माल्य मानकर कुएँ में डाल देते थे। इस प्रकार के भोग–योग्य पदार्थों की गोभद्र देव बत्तीस प्रियाओं से युक्त शालिभद्र के लिए प्रतिदिन पूर्ति करते थे। शालिभद्र भी यथेच्छित दिव्य सुखों के साथ निःशंक होकर

खेलता था। यह सब मुनि को पूर्व भव में भक्तिपूर्वक दिये गये दान का फल प्रकट हुआ था। अतः हे भव्यों! निदान रहित भाव–दान में अत्यधिक आदर करना चाहिए।

।। इस प्रकार तपागच्छ के अधिराज श्री सोमसुन्दर सूरि के पट्ट प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्त्ति सूरि द्वारा विरचित्त पद्यबन्ध धन्य–चरित्रवाला श्री दानकल्पद्रुम का महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य की अल्प मति द्वारा गूंथित गद्य–रचना–प्रबन्ध में कन्यात्रयपरिणय नामक पाँचवाँ पल्लव पूर्ण हुआ।।

छट्ठा पल्लव

लक्ष्मी रूपी वधू की क्रीड़ा के स्थान रूपी इसी राजगृह नगर में किसी समय धन्य अपने सप्तमंजिले आवास की ऊपरी भूमि में क्रीड़ा के द्वारा यथेच्छित हास्य–विनोद आदि सुखों का अनुभव करता था। उस समय इधर–उधर देखते हुए चतुष्पथ की ओर उसकी दृष्टि गयी। तब अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त, वनचर के तुल्य, भिखारियों के समान, घृणायुक्त गली में, फटे हुए वस्त्रों के चीथड़ों से युक्त माता–पिता–भ्राता आदि को इधर–उधर घूमते हुए देखकर विस्मित चित्त से विचार करने लगा–अहो! कर्मों की कैसी गति है? जो कि मैं अपने इस कुटुम्ब को अनेक कोटि द्रव्य–धान्य आदि से भरे हुए घर में छोड़कर आया था। पर बाद में ये सारे धन–धान्य आदि नष्ट हो गये दिखाई देते हैं, जिससे कि ये इस प्रकार की दुर्दशा को प्राप्त होकर घूमते हुए यहाँ आ गये हैं। अतः जिन–वचन सत्य ही हैं, कि–

कडाण कम्माण न मुक्खमत्थि।

अर्थात् किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

इस प्रकार विचार करके सेवकों द्वारा उनको बुलवाकर और प्रणाम करके विनयपूर्वक माता–पिता को स्वच्छ चित्त से अंजलिपूर्वक पूछा–"हे तात! बहुत लक्ष्मीवाले आपकी ऐसी गरीबी की हालत कैसे हुई? क्योंकि छाया के आश्रय में रहनेवालों को कभी भी ताप की पीड़ा नहीं होती।'

इस प्रकार के धन्य के वचनों को सुनकर धनसार ने कहा–'हे वत्स! तुम्हारे पुण्य से आयी हुई लक्ष्मी घर से तुम्हारे साथ ही चली गयी, जैसे कि अति स्फुट भी चेतना देह से जीव के साथ ही जाती है। कुछ धन चोरों ने चुरा लिया। कुछ धन अग्नि के द्वारा भस्म कर दिया गया। कुछ जल में डूब गया। भूमिगत धन अदृश्य होकर कोयलों में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण धन नष्ट हो गया। तुम्हारे द्वारा दी गयी प्रभूत सम्पत्ति भी प्रचण्ड वायु से मेघ घटा की तरह क्षय को प्राप्त हुई, जिससे अपने उदर की पूर्ति भी असम्भव हो गयी। तब नगर से निकलकर ग्रामानुग्राम घूमते हुए "राजगृह महानगर है' ऐसा सुनकर यहाँ आये। पहले किये हुए

थोड़े से पुण्यों के अवशेष रहने से तुम्हारे दर्शन हो गये। दुर्दशा नष्ट हो गयी।

तात के इस प्रकार के वचनों को सुनकर पवित्रात्मा धन्य अपने चित्त में उनके दुःख के प्रतिबिम्बित होने से दुःखी हो उठा, क्योंकि सज्जनों का ऐसा ही स्वभाव होता है। कहा भी है–

सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम्।
अस्य देहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्।।

अर्थात् सज्जनों का हृदय नवनीत होता है–ऐसा जो कवि कहते हैं, वे झूठ कहते हैं, क्योंकि शरीर के भीतर होनेवाले दुःख के परिताप से सज्जन तो पिघल जाते हैं, पर नवनीत नहीं।

फिर धन्य ने विचार किया–"ये मेरे पिता आदि इस प्रकार के भिखारियों जैसे वेश में आये हुए घर में प्रवेश करने के लिए युक्त नहीं है, क्योंकि घर में रहे हुए कर्मकर मनुष्य भी इनका बहुमान नहीं करेंगे। लोक में भी प्रचलित है–

वेषाडम्बरहीनानां महतामपि अवज्ञा भवति।

अर्थात् वेष के आडम्बर से हीन महान व्यक्ति की भी अवज्ञा होती है। मृगचर्म को धारण करनेवाले शंकर के मस्तक पर क्या चन्द्रमा आधा नहीं हुआ? अतः महा–इभ्यों में ये लोग अभी लघुता को प्राप्त न हो जायें, यहाँ भी किसी को ज्ञात न हो, इस प्रकार गुप्त रीति से नगर के बाहर की वाटिका में भेज देता हूँ। फिर वेष आदि का महा–आडम्बर करवाकर महा–महोत्सव के साथ यहाँ लाऊँगा।"

इस प्रकार विचार करके धन्य ने वस्त्र–आभूषण आदि देकर रथादि में छिपाकर उनको बाहर भेजा। फिर नगर के बाहर की वाटिका में ले जाकर सुगन्धित तेल आदि से मालिश करवाकर, स्नान आदि करवाकर, वस्त्र–आभूषण आदि से भूषित करके, विशिष्ट सुखासनों पर उनको बैठाया।

तब पूर्व संकेतित पुरुषों ने आकर धन्य को बधाई दी–'स्वामी! नगर के उपवन में आपके पूज्यपाद पिता आदि आकर ठहरे हुए हैं।"

तब उन पुरुषों को हर्ष–बधाई देकर घोड़े, रथ, भट आदि से युक्त होकर अनेक महा–इभ्यों के साथ नगर के उपवन में गया। दूर से ही पिता के दर्शन होने पर वाहन से उतरकर पिता के चरण–कमल में नमन करके कहा–

'आज मेरा दिन सफल हुआ। आज मेरी क्रिया सफल हुई। आज मेरा धन सफल हुआ। आज मेरा जन्म सफल हुआ। आज मुझे पिता श्री के चरण–दर्शन का लाभ मिला।"

इस प्रकार सम्यक् शिष्टाचारपूर्वक माता–पिता तथा बड़े भाइयों को नमन करके कुशल वार्ता पूछकर अपनी सज्जनता, सुपुत्रता तथा विनीतता प्रदर्शित की। पिता ने भी हर्ष के उत्कर्षपूर्वक धन्य तथा महा–इभ्यों को आलिंगन करके कुशल वार्ता पूछी। फिर धन्य ने पिता तथा भ्राता आदि को सुखासनों से युक्त घोड़े आदि

से युक्त वाहनों पर आरूढ़ करके तथा माता आदि को रथों में आरूढ़ करके महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश कराया, क्योंकि–

चातुर्याग्रणी पुमान् औचित्यं न हि परिमुञ्चति।

अर्थात् चतुरता में अग्रणी पुरुष उचितता का त्याग नहीं करता। फिर पिता को अपने घर का नायक बनाकर लक्ष्मी से अभिराम ग्राम अपने बान्धवों को देकर भक्ति और प्रीति का प्रदर्शन किया।

मनस्विनां हि या लक्ष्मीर्बन्धुभोग्या भवति सैव श्लाघनीया भवति।

अर्थात् मनस्वी लोगों की जो लक्ष्मी बन्धुओं के भोग के लिए होती है, वही श्लाघनीय होती है। कहा भी है–

किं तया हि महाबाहो! कालान्तरगतश्रिया।
बन्धुर्भिर्या न भुज्येत अरिभिर्या न दृश्यते।।

अर्थात् हे महाभुजाधारी! कालान्तर में गयी हुई तुम्हारी श्री किस काम की? जिसे न तो बन्धुओं ने भोगा, न ही शत्रुओं ने देखा।

इस प्रकार धन्य ने अपने तीनों ही अग्रजों का धन आदि से सत्कार किया, फिर भी वे कुबुद्धि युक्त होकर हर्ष के स्थान पर दुःखित ही होते थे, क्योंकि नीति–शास्त्रों में भी कहा है–

खलजनो बहुमानादिना सत्क्रियमाणोऽपि सतां कलहमेव ददाति, यथा दुग्धधौतोऽपि वायसः किं कलहंसता प्राप्नोति?

अर्थात् दुष्ट जन बहुमान आदि से सत्कार किये जाने पर भी सज्जनों को क्लेश ही देते हैं, जैसे कि क्या दूध से धोये हुए कौए हंस की सुन्दरता को प्राप्त करते हैं? अर्थात् नहीं ही प्राप्त करते हैं।

वह कृपालुओं में उत्तम धन्य भी ईर्ष्यालु, वाणी से शुष्क तालुवाले, द्वेषी अपने भाइयों को देखकर विचार करने लगा–'जिस कारण से बन्धुओं के मन में अत्यधिक मलिनता आ गयी है, वह सम्पत्ति भी सज्जनों के लिए विपदा को लानेवाली है। अतः इस सम्पदा का त्याग करके पहले की तरह देशान्तर को चला जाता हूँ, जिससे इच्छित की प्राप्ति होने से मेरे सहोदर तुष्ट हो जायेंगे।"

इस प्रकार विचार करके धन आदि से भरे हुए घर तथा तीन प्रियाओं को छोड़कर एकमात्र चिन्तामणि रत्न लेकर राजा आदि को बिना पूछे गुप्त रूप से अवसर पाकर वह नगर से बाहर निकल गया।

तब वह पुण्यवान धन्य मार्ग में भी चिन्तामणि रत्न के प्रभाव से अपने घर के सुखों के समान इप्सित सुखों को भोगते हुए, सुखपूर्वक रास्ता तय करते हुए बहुत से ग्राम–नगर–उद्यान आदि को देखता हुआ आर्य द्वारा तिर्यंच भव का अतिक्रमण करके मनुष्य गति को प्राप्त करने की तरह कौशाम्बी पुरी को प्राप्त हुआ। उस कौशाम्बी नगरी में समस्त क्षत्रियों का शिरोरत्न शतानीक नाम का राजा राज्य करता

था। उसकी अत्यधिक वीरता की प्रकर्षता से तलवार और शत्रु वर्ग–दोनों ही समान रूप से म्यान के अन्दर ही रहते थे।

उस राजा के भाण्डागार में सहस्रकिरण नामकी मणि थी। यह मणि परम्परा से पूर्वजों द्वारा कुलदेवता की तरह सर्वदा पूजी जाती थी।

एक बार राजा उस मणि की पूजा करते हुए विचारने लगा–'यह मणि परम्परा से पूर्वजों द्वारा पूजित है, अतः हम भी यथाविधि इसकी पूजा करते हैं, परन्तु इसका महात्म्य क्या है–यह हम नहीं जानते हैं।"

ऐसी जिज्ञासा से सेवकों द्वारा रत्न परीक्षा करनेवाले जानकारों को बुलवाकर पूछा–'हे रत्नवणिकों! हमारे पूर्वजों द्वारा यह मणि बहुत द्रव्य का व्यय करके भी यथाविधि पूजी जाती रही है। अतः हम भी इसकी नित्य पूजा करते हैं। पर इसके गुणों को हम नहीं जानते हैं। इसलिए इसके गुणों का आप कृपा करके वर्णन करें।"

इस प्रकार पूछने पर वैसे शास्त्र के तात्पर्यार्थ ज्ञान का अभाव होने से वे गुणी पुरुष जंगली जाति के मनुष्यों की तरह उस मणि के गुणों का स्पष्ट वर्णन करने में समर्थ न हो सके।

तब राजा ने सेवकों द्वारा पटह–उद्घोषणा करवायी–'जो निपुणों में अग्रणी पुरुष इस प्रधान मणि के प्रत्यक्ष कारणपूर्वक गुणों को कहेगा, उसे सत्य–प्रतिज्ञ राजा पाँच–500 की संख्या में ग्राम–हाथी–घोड़े आदि प्रदान करेगा तथा अपनी पुत्री सौभाग्यमंजरी भी देगा।"

इस प्रकार राजा की आज्ञा से कौशाम्बी के प्रत्येक चौराहे और प्रत्येक मार्ग पर परीक्षक को प्राप्त करने के लिए पटह घूमने लगा।

इसी समय धन्य ने पटह–वादकों द्वारा बजाये जाते हुए पटह की आवाज को सुनकर कहा–'हे पटह–वादकों! पटह को मत बजाओ। मणि के गुणों को मैं कहूँगा।"

इस प्रकार पटह का निवारण करके परीक्षक–शिरोमणि धन्य पटह–वादकों के साथ राजा के पास सभा में गया। राजा को नमन करके यथास्थान बैठा। वत्सराज ने भी उसके सौभाग्य से भी अधिक सुन्दर रूप को देखकर और सुन्दर आकृति को लखकर बहुमानपूर्वक कुशल वार्ता पूछकर धन्य को कहा–'हे बुद्धिनिधान! इस रत्न का परीक्षण करो और इसके गुणों को स्पष्ट करो।"

तब राजा के आदेश को पाकर धन्य भी उस मणि को हाथ में लेकर शास्त्र से परिकर्मित बुद्धि द्वारा उसके गुणों को जानकर राजा से सविनय कहा–'महाराज! चित्त में विस्मय उत्पन्न करनेवाले इसके प्रभाव को कहता हूँ, वह सुनिए–स्वामी! इस मणि को जो पुरुष अपने मस्तक पर धारण करता है, उस पुरुष को हनने के लिए सिंह–गज की तरह शत्रु समर्थ नहीं होते। यह मणि जिस नगर के अन्दर शोभित होती है, उस नगर में अतिवृष्टि–अनावृष्टि प्रमुख ईतियाँ सुराजा में अनीतियों की

तरह तथा सभी भय नहीं होते हैं। यह मणि जिसके द्वारा भुजा में धारण की जाती है, उसको कभी भी कुष्ट आदि बड़े रोग जल–समूह पर आश्रित पर्वत को दावानल की तरह पराभूत नहीं करते। इस मणि को जो अपने कण्ठ में धारण करता है, उसका भूत–प्रेतादि सूर्य के उद्योत में अन्धकार की तरह पराभव करने में समर्थ नहीं हो सकते ।

हे स्वामी! यदि मेरे कहे हुए पर विश्वास नहीं हो, तो एक बड़ा थाल मँगवाकर उसमें चावल भरवा कर रखवा दीजिए।''

राजा द्वारा सेवकों से थाल शालिकणों से भरवाकर सभा में रखवा दिया गया। धन्य ने उस थाल पर मणि रखी और राजा से कहा–'शालिकणों को खानेवाले पक्षियों को छोड़ा जाये।"

राजाज्ञा से पक्षियों को छोड़ दिया गया। तब द्वीप के प्रति अति चपल सागर की लहरों की तरह वे पक्षी थाल के चारों ओर घूमने लगे, पर उन्होंने थाल का स्पर्श तक नहीं किया।

घड़ी–मात्र उसके आश्चर्य को देखकर धन्य के आदेश से शालिकणों से भरे हुए थाल के ऊपर से मणि हटा दिये जाने पर रक्षक से त्यक्त वाटिका में वानरों द्वारा फल–समूहों के भक्षण की तरह उन पक्षियों द्वारा वे सभी शालिकण खा लिये गये।

तब धन्य ने कहा–'महाराज! जैसे इस मणि के द्वारा पक्षियों से कण रक्षित थे, वैसे ही पास में रही हुई मणि वैरी–गद–ईति–भूत– कार्मण आदि भयों से रक्षा करती है, यह निर्णय हुआ।"

तब राजा यह सुनकर और अद्भुत को प्रत्यक्ष देखकर चमत्कृत चित्तवाला होकर समस्त लोगों के समक्ष मणि के प्रभाव तथा धन्य की परीक्षा की कुशलता का वर्णन करने लगा।

उसके बाद अति रंजित मन द्वारा राजा ने अपने सौभाग्यमंजरी नामकी पुत्री धन्य को दी। विवाह–मिलन का तिलक किया। पुनः शुभ दिन देखकर प्रशस्त मुहूर्त में महोत्सवपूर्वक पुत्री का पाणिग्रहण करवाया। कर–मोचन के समय पाँच–सौ गाँव तथा अश्व–गजेंन्द्रादि दिये।

तब धन्य ने 'श्वसुर गृह में निवास करना अयुक्त है" –इस प्रकार विचार करके कौशाम्बी के बाहर न अति दूर, न निकट ऐसे क्षेत्र में अपने नाम से धन्यपुर नामक शाखापुर स्थापित किया।

वहाँ अति सुन्दर बाजार की श्रेणियों से मनोहर, अत्यधिक ऊँचे–ऊँचे जालियों से उपशोभित गवाक्षवाले आवास–समूहों की तेजस्विता देखते ही नजरों को वश में कर लेती थी। ऐसा उपपुर बनाकर अनेक स्वदेशियों और विदेशियों को अच्छे आश्वासनपूर्वक वहाँ निवास करवाया। वे लोग अल्प शुल्क आदि गुणों से पुकारे हुए हृदयवाले होकर 'पहले मैं–पहले मैं" इस रूप से हर्षपूर्वक वहाँ निवास करने लगे।

वहाँ अपाय–रहित प्रभुत्व में उपाय–सहित व्यवसायविदों ने भाग्यनिधि धन्य के उत्कट पुण्य–प्रभाव से थोड़े ही समय में अनेक कोटि स्वर्ण उपार्जन किया। पर उस पुर में राजा–चोर–ईति आदि का भय न होने पर भी, सुखपूर्वक व्यापार को लाभ आदि सुखों के होने पर भी अत्यधिक जनों से आकीर्ण होने से घनी बसति के कारण लोगों को पानी दुर्लभ होने लगा।

तब उस धन्यपुर के वासी नागरिक परस्पर कहने लगे–'इस नगर में सभी प्रकार का सुख है, पर महा–जलाशय के बिना तकलीफ होती है।"

इस प्रकार की बातें रात्रि में घूमनेवाले चर–पुरुषों के मुख से ज्ञातकर धन्य ने अति भव्य मुहूर्त्त में जलाशय खुदवाना शुरू किया। अनेक सैकड़ों की संख्या में कर्मकर सरोवर की खुदाई का कार्य करने में लग गये, उनके ऊपर रहनेवाले राजसेवक जल्दी–जल्दी कार्य करवाने लगे।

उधर राजगृह नगर में अपने घर से धन्य के चले जाने पर सूर्य के अस्त होने के साथ ही दिन–लक्ष्मी के चले जाने की तरह सम्पूर्ण लक्ष्मी भी शीघ्र ही चली गयी। पूरा घर श्री–विहीन हो गया।

यह बात सुनकर श्रेणिक भी क्रोधित हो गया। सभ्यों को कहने लगा–'हे सभ्यों! देखो दुर्जनों की दुष्टता कि मेरे जामाता से अमाप धन–प्रौढ़ता को पाकर भी उसके तीनों दुष्ट अग्रजों ने प्रतिदिन कलह–कुटिलता करके मेरे जामाता को उद्विग्न कर दिया। सज्जनों का शिरोमणि वह 'क्लेश के स्थान का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए" इस आगम–वाक्य को सुनकर पता नहीं कहाँ चला गया है, क्योंकि–

महापुरुषो विरोधस्थाने नैव तिष्ठति।

अर्थात् महापुरुष विरोध के स्थान पर नहीं ठहरते हैं। इसलिए ये महापापी अधिकार के योग्य नहीं है।"

शिष्ट व्यक्ति का पालन तथा दुष्ट का निग्रह करना चाहिए। इस राजनीति का स्मरण करके उनको कारागार में डालकर दण्ड दिया। सभी ग्रामादि उनसे छीनकर उन्हें भिखारियों की हालत में छोड़ दिया।

तब धनसार न केवल धन से हीन हुआ, बल्कि उसकी स्पर्द्धा से धन के अनुगामी यश–कान्ति आदि गुणों से भी रहित हो गया। नाम से धनसार होते हुए भी अधनसार होकर सोचने लगा–'पहले उच्च वाणिज्य को करनेवाला मैं अब कैसे निम्न कोटि के वाणिज्य को करूँ?"

इस प्रकार मन में विचार करके अपने तीनों पुत्रों को बुलाकर कहा–'हे पुत्रों! अब यहाँ रहना शक्य नहीं है। अतः देशान्तर चला जाये, क्योंकि–

देशान्तरे निःस्वानामुदरपूर्तिकरणार्थं
भिक्षावृत्तिमपि द्राक्षासदृशमाहुः।

अर्थात् दूसरे देश में अगर धन रहित रहते हुए भिक्षा द्वारा भी उदर पूर्ति

करनी पड़े, तो भी द्राक्षा के सदृश कही गयी है। भिक्षावृत्ति करते हुए कोई भी कुछ भी दुर्वचन नहीं बोलता है, बल्कि करुणा से कुछ भी सहायता ही करता है। स्वदेश में तो पग–पग पर लोगों के दुर्वचन सुनकर हृदय जलता है। सुविधा होने पर भी, सुरूप होने पर भी निर्धन का अर्थ के बिना कोई मूल्य नहीं होता। जैसे अच्छे अक्षर छपे हुए होने पर भी सुन्दर गोलाकार होने पर भी खोटे सिक्के का जन में कोई मोल नहीं होता।

हे पुत्रों! समयोचित भाषा और व्यापार–क्रियाओं में कुशल भी अगर निर्धन हो, तो श्लाघनीय नहीं होता, जैसे सुन्दर अक्षरोंवाला काव्य अच्छे कण्ठ द्वारा बोले जाने पर भी अर्थशून्य होने पर श्लाघनीय नहीं होता। अतः हमारा देशान्तर जाना ही उचित है।"

इस प्रकार कहकर जीवन–निर्वाह के लिए अन्य देश में जाने की इच्छा से सोमश्री तथा कुसुमश्री को अपने पिता के घर भेज दी।

सुभद्रा को भी भरी हुई आँखों से गद्गद् होते हुए कहा–'हे शुभाशया! तुम भी गोभद्र के घर चली जाओ। हमारे दुष्कर्म के उदय की प्रबलता के कारण भाग्य की एकमात्र निधि स्वरूप हमारा धन्य तो कहीं चला गया है। उसके पीछे सम्पदा भी चली गयी है। हम यहाँ रहकर कुटुम्ब का निर्वाह करने में समर्थ नहीं है। अतः देशान्तर जाते हैं। देशान्तर में निर्धन, अनजाने तथा स्थान–भ्रष्ट लोगों को क्या–क्या विपत्ति नहीं आती? तुम तो अत्यन्त सुकोमल, सुखलीला में मग्न रही हो। दुःख आ पड़ने की वार्ता से भी अनभिज्ञ हो। अतः हे वत्से! तुम सुख से भरे हुए पिता के घर में चली जाओ। जब हमारा भाग्यनिधि धन्य से संगम होगा, तब हम तुम्हें बुला लेंगे।"

इस प्रकार श्वसुर के कथनों को सुनकर सुभद्रा ने उनको प्रत्युत्तर देते हुए कहा–'स्वामी! आप जैसे, कुटुम्ब की चिन्ता में निमग्न, सभी के ऊपर सुदृष्टिवाले तथा हमारे ऊपर आयी हुई विपत्ति को देखने में भी असमर्थ कुलवृद्धों द्वारा ऐसा ही कहना उचित है। फिर भी मैं तो शील के संस्कार साथ लेकर पिता के घर से आयी हूँ। विपत्ति के समय भी सतियों, सन्नारियों की गति पति के घर में ही है। नीतिशास्त्र में भी कहा है–

नारीणां पितुरावासे नराणां श्वसुरालये।
एकस्थाने यतिनां च वासो न श्रेयसे भवेत्।।

अर्थात् विवाहिता स्त्री का पिता के घर, पुरुषों का ससुराल में तथा यतियों का एक ही स्थान पर आवास कल्याणकारी नहीं होता।

जैसे–जब सम्पूर्ण लक्ष्मी और सुख की प्रचुरता होती है, तो भी स्त्रियों के लिए महोत्सव आदि कारणों को उद्देश्य में रखकर ही पिता के घर में जाना उचित है। बल्कि विपत्ति के समय में तो श्वसुर गृह में ही नारी को रहना चाहिए। यदि आपत्ति के समय में नारी पिता के घर पर जाये, तो पिता के घर में आश्रित भाभी

आदि लोग उसके श्वसुर कुल की निन्दा करते हैं। जैसे–हमारे ननदोई तो बिना विचारे कार्य करते हैं। बिना कारण ही, बिना पूछे ही सहसा कुलवती स्त्री को विडम्बना पथ पर छोड़कर कहीं चले गये। घर का निर्वाह यदि क्षमाशील हो, तो ही घर का निर्वाह होता है।

तब दूसरा कोई बोलेगा–ननदोई का कोई दोष नहीं है। दिन–रात मजदूरी की तरह कुटुम्ब की सेवा में व्याकुल रहते थे। परन्तु इसके ज्येष्ठ भ्राता यवासक वृक्ष की भाँति कुटिल स्वभाववाले होने से इसकी उन्नति को सहन नहीं कर सकते थे। अतः उनके दुर्वचनों से खेदित 'देश त्याग से दुर्जन का त्याग करना चाहिए" इस नीति का स्मरण करके और सज्जनता–युक्त स्वभाव होने से घर को छोड़कर चले गये। कहावत भी है–

अपमाने न तिष्ठन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।

अर्थात् सिंह, गज तथा सत्पुरुष अपमान के स्थान पर नहीं रहते।

फिर कोई कहेगा–यह पुरुष का चरित नहीं है। बहुत जनों से खेदित होने पर क्या तेजस्वी पुरुष भाग जाता है? जूं के भय से क्या पहने हुए वस्त्रों का त्याग किया जाता है? बल्कि दुर्जनों को तो यथायोग्य शिक्षा दी जाती है, जिससे पुनः उसकी वार्ता में नाम भी ग्रहण न हो। शिक्षा शास्त्र में भी कहा है–

शठं प्रति शाठ्यं कुर्याद्, मृदुकं प्रति मार्दवम्।
त्वया मे लुञ्चितौ पक्षौ, मया मुण्डापितं शिरः।।

शिक्षा शास्त्र में शुक व पण्याँगना का दृष्टान्त आता है, जिसमें जब पण्याँगना धोखे से शुक के पंख नोंच लेती है, तब शुक उसका सिर अपनी युक्तियों से मुण्डित करवा देता है और कहता है, कि तुमने मेरे पंख नोंचे और मैंने तुम्हारा सिर मुंडित करवा दिया।

इत्यादि शास्त्रों के रहस्य को जानते हुए भी, राजादि के भय से रहित भी, समस्त पुर में आदेय वचनवाला होने पर भी, दृढ़ बद्ध मूल होने पर भी अगर भाग गया, तो अच्छा नहीं किया। यह धैर्यशाली पुरुषों का चरित नहीं है।''

इस प्रकार के सुभद्रा के वचनों को सुनकर प्रसन्न होते हुए श्रेष्ठी ने कहा–"हे पतिव्रता! तुमने बहुत अच्छा कहा। इसी कारण से तुम उस पुरुषोत्तम धन्य की सत्य–पत्नी हो। तुम्हारे इस पातिव्रत्य धर्म के कारण सब अच्छा ही होगा।'

तब धनसार अपनी पत्नी, पुत्रवधू सुभद्रा तथा पत्नियों सहित तीनों पुत्रों को लेकर आठ कर्म से युक्त जीव की तरह राजगृह नगरी से निकल गया। जहाँ–तहाँ कर्मकार–वृत्ति से आजीविका करते हुए बहुत से देशों व नगरों में घूमते हुए क्रमशः कौशाम्बी नगरी में आये, क्योंकि–

यतयो याचका निःस्वाश्च वायुरिव न स्थिरा भवेयुः।

अर्थात् मुनि, याचक और निर्धन लोग एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते।

बड़ी नगरी देखकर वे लोग इधर–उधर विचरण करने लगे। घूमते–घूमते किसी सज्जन व्यक्ति को देखकर पूछा–"हे भद्र! इस नगर में धनी, अल्प धनी तथा निर्धन लोग कैसे रहते हैं अर्थात् कैसे आजीविका चलाते हैं?'

तब उस नगरवासी ने कहा–"हे विदेशी! इस पुरी में जो धनवान है, वे अपनी नीति से व्यवसाय करते हैं, क्योंकि प्रकाशशील दीपक प्रकाश के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं करता है। श्रीमन्तों को कौन–सा व्यापार नहीं होता? और भी, जो ये अनिन्द्य व्यवहारवाले हैं, वे धान्य का व्यवसाय करनेवाले, घी के व्यापारी, स्वर्णकार, मणिकार, ब्राह्मण, पट्ट–सूत्रिक, ताम्बूलिक, तेली, सुपारी के व्यवसायी, रेशमी वस्त्र के व्यवसायी, रुई–कपास के व्यवसायी, वस्त्र–व्यवसायी, माणिक्य आदि रत्नों के व्यवसायी, सुवर्ण के व्यवसायी, क्रयाणक के व्यापारी, पोत के व्यापारी, गान्धिक, सौगन्धिक आदि जो अति वैभववाले नहीं हैं, वे सभी वणिक महा–इभ्य श्रेष्ठी धन्य का धन ब्याज पर आश्रय लेकर निर्वाह करते हैं। जो जिस व्यवसाय में कुशल है, वह उस व्यवसाय को करके यथासुख से निर्वाह करता है। जैसे – नदी के तट पर नदी–प्रवाह के जल का आश्रय लेकर रेंट–प्रवृत्ति का निर्वाह करते हैं।

जो अति निर्धन रूप से कठिनाई से जीते हैं, वे तो इसी श्रेष्ठी के महा सरोवर की खुदाई में अपने दारिद्र्य का खनन करते हैं। उस सरोवर को बनाने में यह नियम कर दिया गया है कि कर्मकारियों की स्त्रियों को प्रतिदिन एक दीनार तथा पुरुषों को दो दीनार श्रेष्ठी देता है। दोनों समय यथेच्छित तेल–अन्नादि भोजन देता है। इस समय यहाँ जो गरीब कर्मकार हैं, वे सरोवर की खुदाई द्वारा सुख से जीवन निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार नगरवासी की वार्ता को सुनकर धनसार प्रसन्न हो गया। फिर अपने परिवार–सहित धनसार खनन–अधिकारी के पास गया और विनय सहित नमन करके अपनी आजीविका के लिए बताया। तब बड़े अधिकारी ने कहा–हे वृद्ध! हमारे स्वामी के पुण्य बल से इतने कर्मकर सरोवर खोदने के उपाय से सुखपूर्वक जीते हैं। तुम भी कुटुम्ब सहित खनन का उद्यम करके और वृत्ति को ग्रहण करके सुख से काल का निर्वाह करो।

तब धनसार उसके आदेश को प्राप्त करके कुटुम्ब सहित उस सर के खनन के लिए तैयार हो गया। प्रतिदिन कर्मकर–वृत्ति को प्राप्त करके समीप ही बनायी हुई कुटिया में रहते हुए सुखपूर्वक उदर पूर्ति करने लगे, क्योंकि स्वकृत कर्मोदय के वश से जीव कठिन–उदर–पूर्ति के लिए क्या–क्या नहीं करता? इसलिए साधकों को *प्रतिक्षण कर्म–बन्ध की चिन्ता में सजग रहना चाहिए।*

इस प्रकार कितने ही काल के बीतने पर एक बार आधा दिन बीत जाने के बाद सम्पदा से पूर्ण, वेगवाले जनों से घिरा हुआ, मन्त्री–सामन्त आदि से युक्त, पैदल–हस्ती–अश्व सेना के समूह से युक्त, उत्साह सहित मागधों के समूह से

गुण–वर्णन कराये जाते हुए, हाथ में सुवर्ण दण्ड धारण किये हुए लोगों द्वारा मोर की पींछी से आतप का निवारण कराये जाते हुए, उत्तम स्वर्ण के समान गौरवर्णवाले, विचित्र रत्नालंकार से भासित, चमकती हुई दिव्य औषधियों के ज्योति–समूह से मानो स्वर्णाचल ही हो, इस प्रकार "चिरकाल तक जिओ, चिरकाल तक जय पाओ, चिरकाल तक सुखी होओ' इत्यादि बोलते हुए बन्दी जनों के समूहों को जीवन–भर उपभोग के लिए समर्थ धन–संचय का दान करते हुए सरोवर के कार्य को देखने के लिए फैले हुए नेत्रों से कौतुक को देखते हुए–इस प्रकार धन्य श्रेष्ठी को वहाँ आया हुआ देखकर सभी कर्मकर हर्ष से उसे नमने लगे। तब सभी का प्रणाम ग्रहण करके एकान्त में अशोक वृक्ष की छाया में सेवकों द्वारा किये हुए राजा के योग्य आसन पर बैठा। वहाँ कुछ समय आराम करने के बाद सभी कर्मकरों की खनन–प्रवृत्ति देखने लगा। तभी एक जगह चाकर की वृत्ति से क्लेश पाते हुए अपने कुटुम्ब को देखकर चकित होता हुआ विचार करने लगा–"अहो! देवताओं द्वारा भी कर्म–रेखा अनुल्लंघ्य देखी जाती है।' क्योंकि–

उदयति यदि भानुः पश्चिमायाँ दिशायाँ,
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायाँ,
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा।।

अर्थात् यदि सूर्य पश्चिम दिशा में उगता है, मेरु अपने स्थान से चलित होता है, अग्नि शीतल हो जाती है, पर्वत पर रहनेवाली शिला पर कमल उग जाता है, तो भी होनहार की रेखा कभी भी चलित नहीं होती।

ये मेरे माता–पिता! ये मेरे भाई–भाभी! यह मेरी पत्नी! यह मेरा समस्त कुटुम्ब! अहो! धिक्कार है! कैसी असम्भावित दुर्दशा दैव के द्वारा प्राप्त करायी गयी है। यह शालिभद्र की बहन होकर भी कैसे मिट्टी को ढ़ो रही है।

कर्मों की गति विचित्र है–यह सर्वज्ञ वचन मिथ्या नहीं है, क्योंकि अनेक राजाओं की मण्डलियों से जिनके चरण–कमल उपास्यमान थे, उन हरिश्चन्द्र राजा को भी चाण्डाल के घर में पानी भरना पड़ा। सतियों में अग्रणी दमयन्ती को भी यौवन वय में भी अत्यन्त दुःखी होकर घोर वन में एकाकी समय बिताना पड़ा। तीनों ही जगत में ऐसा कोई नहीं है, जिसने बिना भोगे कर्म का क्षय किया हो। जो कोई तीर्थंकर आदि अतुल बल–वीर्य–उत्साह से सम्पन्न पुरुष हुए, उन्होंने भी नये कर्म नहीं बाँधे, पूर्वबद्ध कर्मों का तो भोगकर ही क्षय किया। विधि के वक्र होने पर कैसे सुखी हुआ जा सकता है? राजा के मुकुट से भ्रष्ट, धूल से आच्छादित, अलक्ष्य चैतन्य और देवाधिष्ठित भी रत्न लोगों के पाँवों के घट्टन आदि से अनेक विपदाओं को सहन करता है, तो राग–द्वेष की प्रबल उदयतावाले मनुष्यों को तो सहन करना ही पड़ता है। उस समय आर्त्त ध्यान नहीं करना चाहिए, क्योंकि आर्त्तध्यानपूर्वक सहन करने से

प्रत्युत अशुभ कर्मों की वृद्धि ही होती है और शुभ कर्मों का अशुभ कर्मों में संक्रमण हो जाता है। रस हानि होती है। अतः अव्याकुल होकर सम्मुख भाव से सहन करना चाहिए, क्योंकि कर्म जड़ होने से उसमें करुणा भाव नहीं होता।'

इस प्रकार विचार करके पिता को पूछा–"तुम तो नये दिखायी देते हो। तुम लोग कौन हो? कहाँ से आये हो? कौन–सी जाति है? इन स्त्री–पुरुषों का और तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?'

इस प्रकार पूछने पर पुण्योदय की प्रबलता के वश से विविध रत्न–सुवर्ण आदि के आभरण की चमक के विनिमय से धन्य को नहीं पहचान पाने के कारण धनसार अपनी जाति–कुल–वंश आदि को छिपाते हुए अवसरोचित यत्किंचित प्रत्युत्तर देते हुए बोला–"स्वामी! हम वैदेशिक हैं। निर्धन होने से आजीविका के उपाय को ढूंढ़ते हुए आपके पुर में आगमन–मात्र से शुभ होनेवाली आपके परोपकार की व्यतिकर को सुनकर उसी दिन से यहाँ आकर सुखपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं। प्रति प्रभात में उठकर आपको आशीष देते हैं–चिरकाल तक जय प्राप्त करो। चिरकाल तक आनन्द प्राप्त करो। चिर काल तक जन–मेदिनी का पालन करो, क्योंकि हमारे जैसों के तो आप ही जंगम कल्प वृक्ष हो।' इस प्रकार के चाटु वचनों को सुनकर विचार करने लगा–"अहो! धन का क्षय होने पर मति का भी कैसा विभ्रम हो जाता है? जन्म से मुझे पाला है, पर अपने आत्मज को नहीं पहचान पाये। शास्त्र में जो कहा है, वह सत्य ही जान पड़ता है कि–

तेजो लज्जा मतिर्मानमेतत् यान्ति धनक्षये।

अर्थात् तेज–लज्जा–मति–मान ये सभी धन के साथ ही चले जाते हैं। जिस प्रकार मतिमूढ़ पशु अपने पुत्र के बलद बन जाने पर उसे नहीं पहचान पाते हैं, वैसे ही ये वृद्ध मुझे नहीं पहचान पा रहे हैं। अभी दरिद्रता के कारण लज्जित होते हुए ये अपने वंश आदि को छिपा रहे हैं, क्योंकि श्री–विहीन तारे दिन में अपने आप को कैसे दिखायें? अतः मैं भी अपने आप को प्रकट नहीं करूँगा। समय आने पर ही बताऊँगा, क्योंकि अकाल में पथ्य भी रोगियों के विनाश के लिए ही होता है।'

इस प्रकार विचार करके मौन रहकर कुछ स्नेह प्रदर्शित करना चाहिए–इस प्रकार सोचते हुए अधिकारी को आदेश दिया–"यह वृद्ध जरा से जर्जरित है, अतः इसके लिए तेल गुणकारी नहीं होगा, अतः इसे घी देना चाहिए।' तब धनसार ने भी "महान कृपा' इस प्रकार कहकर प्रणाम किया।

तब सभी मजदूर इस प्रकार कहने लगे–"हे वृद्ध! तुम्हारे ऊपर मालिक की महती कृपा है, जिससे कि तुम्हें घी दिया गया है। पर क्या तुम अकेले घृत–युक्त *भोजन करोगे? यह तो अच्छा नहीं है, क्योंकि उत्तम व्यक्तियों द्वारा भेदयुक्त भोजन करना कुनीति है। अतः तुम मालिक को ऐसा कुछ कहो, जिससे हमको भी घृतयुक्त भोजन मिल जाये।'*

यह सुनकर धनसार ने पुनः प्रणाम करके धन्य को कहा–"स्वामी! मैं अकेला घी का भोजन करता हुआ अच्छा नहीं दिखता हूँ। अतः मेरे इन सहकर्मियों को भी ऐसा भोजन मिल जाये, तो आपकी बड़ी मेहरबानी होगी। आप जैसे दानवीरों के लिए यह पंक्ति भेद शोभा नहीं देता। अतः महान कृपा कीजिए, जिससे मेरे ऊपर की गयी आपकी कृपा श्लाघनीय बन जाये।'

तब धन्य ने भी अति विनय से युक्त होकर "पिता के वचनों को प्रमाण मानना चाहिए' इस प्रकार विचार करके सभी कर्मकरों को भी घृत का आदेश दे दिया। यह सुनकर सभी मजदूर सन्तोष को प्राप्त हुए तथा सभी धनसार के अनुकूल होकर उसकी प्रशंसा करने लगे।

इस प्रकार धन्य घृत दान के रस के द्वारा उन्नत मेघ से वृक्षों को सरसित करने के समान मजदूरों की खुशियों को सरसब्ज बनाता हुआ अपने स्थान पर चला गया।

पुनः दूसरे दिन भी पिता आदि का सत्कार करने के लिए वन में वृक्षों को पल्लव–युक्त करने के लिए बसन्त की तरह आ गया। बीते हुए दिन की तरह सभी पिता आदि कर्मकरों के द्वारा प्रणाम आदि उचित प्रतिपत्ति की गयी। उसके बाद धन्य भी यथायोग्य आसन पर बैठकर धनसार को कहने लगा–"तुम्हारे ये तीनों पुत्र कर्मकर हैं, स्त्रियाँ भी सरोवर खोदने का कठिन कार्य करती हैं, तो फिर तुम इतने वृद्ध होते हुए भी अब भी इतनी कठिन क्रिया क्यों करते हो? ये तुम्हारे कैसे पुत्र है, जो तुम्हें इस कठिन काम को करने से रोकते भी नहीं है?'

धनसार ने कहा–"स्वामी! हम गरीब और आलम्बन रहित हैं। किसी पुण्य के योग से ही इस धनोपार्जन के उद्यम को पाकर लोभ से अभिभूत होकर कुछ अधिक धन–वृद्धि के लोभ से वृद्ध होने पर भी मजदूरी करता हूँ। दरिद्रता के ताप का निवारण करनेवाला आप सरीखा घनघोर मेघ पुनः–पुनः कहाँ मिलेगा? इस अवसर पर उपार्जन किया हुआ धन भविष्य में व्यापार आदि कार्यों में काम आयेगा। अतः शरीर की चिन्ता की उपेक्षा करके उद्यम करता हूँ।'

तब धन्य ने हँसते हुए सभी मजदूरों तथा अधिकारियों को बुलवाकर आदेश दिया–"हे मजदूरों! यह वृद्ध जरा से जीर्ण होने से खनन क्रिया करने के योग्य नहीं है। अतः मुझे इस पर दया आती है। आज के बाद कोई भी इससे किसी भी तरह का कार्य नहीं करवायेगा तथा वृत्ति भी इसको सभी के समान दी जायेगी।' 'जैसी आपकी आज्ञा" इस प्रकार कहकर सभी ने प्रणाम किया।

धन्य इस प्रकार करके घर चला गया। तब सभी मजदूर परस्पर इस प्रकार कहने लगे–'यह वृद्ध पूर्व में पुण्य उपार्जित करके यहाँ आया है, जिससे कि राजा के दर्शन–मात्र से इसकी मजदूरी का दुःख चला गया।"

अन्य किसी ने कहा–'क्या नहीं सुना? कहा गया है–"

इक्षुक्षेत्रं समुद्रस्य योनिपोषणमेव च।
प्रसादो भूभुजां चैव सद्यो घ्नन्ति दरिद्रताम्।।

अर्थात् समुद्री किनारे पर रहे हुए गन्ने के खेत का समुद्र के जल द्वारा ही पोषण होता है, वैसे ही राजा की समीपता से दरिद्रता का शीघ्र ही नाश होता है।"

पुनः तीसरे दिन आकर धन्य सभासदों सहित वृक्ष के नीचे स्थित हुआ। थोड़ी ही देर में पूर्व संकेतित पुरुषों द्वारा द्राक्षा, खजूर, अखरोट आदि खाद्य–पदार्थ धन्य के आगे लाकर रखे गये। धनसार तो धन्य के आगमन–मात्र से पहले ही वहाँ आकर प्रणाम करके खड़ा था।

तब धन्य ने वृद्ध को कहा–'यह द्राक्षा आदि खाद्य ग्रहण करो, क्योंकि वृद्धों को कोमल भोजन ही मुख में लगता है। कहा भी है कि बुढ़ापा और बचपन समान ही होते हैं–ऐसा लोक में कहा जाता है।"

तब धनसार ने भी 'जैसी आपकी मरजी" इस प्रकार कहकर अन्य मजदूरों पर दृष्टि डाली।

तब धन्य ने हँसते हुए कहा–'क्या इन सभी को देने का मनोरथ है? यही तो बड़े जनों की पहचान है कि जो कोई भी एक जगह निवास करते हैं, वहाँ उन सभी को देकर ही स्वयं ग्रहण करते हैं। यही उत्तम कुल की पहचान भी है।"

इस प्रकार कहकर धन्य ने सभी के मध्य धनसार के उत्तम कुल का ज्ञान भी करवा दिया। फिर सभी मजदूरों को तथा विशेष रूप से धनसार को बहुत सारा दिया। उसके ऊपर भी ताम्बूल आदि देकर वापस चला गया।

इस प्रकार पुण्य के समान उचित खाद्य प्राप्त करके प्रसन्न होते हुए मजदूर परस्पर कहने लगे–'यह वृद्ध पुण्यबली है। अनजान होते हुए भी राजा इसे देखने–मात्र से बहुत मान देता है। इस वृद्ध के प्रभाव से ही पहले कभी न खाये हुए खाद्य को खाने का अवसर प्राप्त हुआ। जैसे महादेव के पूजन में नपुंसक भी पूजा जाता है। तब से सभी कर्मकर उस वृद्ध और उसके परिवार के आज्ञावर्ती हो गये।"

इस प्रकार धन्य रोज वृद्ध की शुश्रूषा की इच्छा से वहाँ आता था। वहाँ कुछ समय ठहरकर किसी दिन केले, किसी दिन बीजोरा फल, किसी दिन नारियल के टुकड़ों में शर्करा के खण्ड मिलाकर, कभी सन्तरे, कभी अंजीर फल, कभी पके हुए इक्षु–खण्ड और उसके रस के घड़े सभी को देता था, पर विशेष करके वृद्ध और उसके परिवार के लिए देता था।

एक दिन उसने वृद्ध से कहा–'तुम्हारे वस्त्र जीर्ण हो गये हैं।"

धनसार ने कहा–'स्वामी हम निर्धन हैं। कितना व्यय कर सकते हैं? और खर्च के बिना वस्त्र कहाँ से आये? और भी, मेरे अपने लिए नया वस्त्र लाने से पहले पूरे परिवार के लिए वस्त्र लाने होंगे। अतः जैसे–तैसे कार्य चला लेता हूँ।"

तब धन्य ने धनसार और उसके परिवार के स्त्री–पुरुषों के योग्य वस्त्र

प्रदान किये। सभी कर्मकरों को भी एक–एक वस्त्र प्रदान किया। वे भी हर्षित होते हुए वृद्ध की और ज्यादा प्रशंसा करने लगे।

इस प्रकार प्रतिदिन धनसार के मनोनुकूल ताम्बूल, वस्त्र, सुख से खाने योग्य वस्तुएँ आदि प्रदान कर धन्य उनका सत्कार करता था। कर्मकरों का भी यथायोग्य सत्कार करता था। अपने भाइयों का विशेष रूप से सत्कार करता था। लेकिन प्रबल पुण्य की श्रेष्ठता के प्रभाव से उसे कोई भी पारिवारिक सदस्य पहचान नहीं पाया।

एक बार धन्य ने स्थविर से कहा–'अब गर्मी आ गयी है। आपकी अवस्था तो जरा से जीर्ण है। दिन के अस्त होने पर चक्रवाक पक्षी की तरह छाछ के अभाव में आपको तो रतौंधी हो जायेगी।"

धनसार ने कहा–'स्वामी! यह हम भी जानते हैं। पर गाय आदि के अभाव में छाछ कहाँ से लायें? गाय आदि को पालने में मैं बहुत खर्च आता है। अतः निर्धनों का मनोरथ तो निरर्थक ही है।"

तब धन्य ने कहा–'ऐसे दीन वाक्य न कहें। मेरे घर में गाय आदि पशुओं का महान समूह है। दूध आदि भी प्रचुर होता है। अतः छाछ की भी कोई कमी नहीं है। अतः हे वृद्ध! आप प्रतिदिन हमारे घर से छाछ ग्रहण करें। बड़े लोगों द्वारा छाछ माँगने पर उसकी लघुता नहीं होती है–यह लोकोक्ति है। इसलिए तुम्हारी बहुएँ नित्य ही मेरे घर छाछ लेने के लिए आया करें। मेरे घर को अपने घर जैसा ही जानें। अन्तर न मानें।"

तब होशियारी व चाटुकारिता से धनसार ने उठकर 'महान' प्रसाद कहा।

संसार में चार स्थान धिक्कार के पात्र हैं। जो इस प्रकार हैं–

दरिद्रता च मूर्खत्वं परायत्ता च जीविका।
क्षुधया क्षमकुक्षित्वं धिक्कारस्य हि भाजनम्।।

दरिद्रता, मूर्खता, परतन्त्र जीविका तथा क्षुधा से क्षीण पेट – ये धिक्कार के पात्र हैं। और भी –

क्षीणो मृगय्यतेऽन्येषामौचित्यं सुमहानपि।
द्वितीयाभूः प्रजादत्ततन्त्वन्वेषी यथा शशी।।1।।

अर्थात् महान हैं, वे भी क्षीण होते हैं, तो अन्य के पास से औचित्य की स्पृहा करते हैं। जैसे–परम्परा से कलाओं को देनेवाले चन्द्र को खोजा जाता है।

तब धन्य भरण–पोषण आदि करने के लिए विशेष रूप से पिता आदि द्वारा किये जाने वलो सत्कार्य को भी दुर्भाग्य मानकर निन्दा करता हुआ अपने आवास में आ गया। तब धनसार को कर्मकरों ने कहा–'अहो!" आपके सान्निध्य से हम भी सुखी हो गये, क्योंकि सत्संग कल्याण के लिए ही होता है।

तब दूसरे दिन से धनसार की आज्ञा से पुत्रवधुएँ क्रम से जल के लिए समुद्र

में कादम्बिनी की तरह छाछ के लिए धन्य के घर पर जाने लगीं। धन्य की आज्ञा से सौभाग्यमंजरी उन्हें छाछ देने लगी, क्योंकि पति के वश में रहना स्त्रियों का परम कर्तव्य है। एक बार धन्य ने अपनी प्रिया को इस प्रकार सिखाया–'हे प्रिये! तीनों बड़ी बहुओं को तुम सज्जन के चित्त की तरह स्वच्छ–निर्मल अर्थात् असार छाछ दिया करो। जिस दिन छोटी बहू छाछ के लिए आये, तब उसे सारयुक्त दही–दूधादि दिया करो। प्रिय वचनों के द्वारा उसके साथ मैत्री करना। उसके साथ किसी भी प्रकार का भेद न रखना।"

सौभाग्यमंजरी ने पति के इस आदेश की खुशी–खुशी सिर पर धारण किया। उस दिन से सरलतापूर्वक वह पति के आदेशानुसार व्यवहार करने लगी।

जिस दिन सुभद्रा छाछ के लिए आती थी, उस दिन वह प्रमोदपूर्वक दही, दूध, भोजन, खजूर, अखरोट, सीताफल आदि उसको देती थी। मधुर वचनों के साथ बातचीत करती थी। सुख–दुःख आदि तथा शरीर की कुशलता पूछती थी। तब सुभद्रा भी वैसी सुखभक्षिका वस्तुओं को लेकर अपने घर आकर वृद्ध के आगे रख देती थी।

वृद्ध वह सभी देखकर सुभद्रा की प्रशंसा करने लगा–'हे पुत्रो! देखो। देखो। भाग्यवान पुत्र की यह स्त्री भी भाग्यवती है। पुण्यवानों के भोगने योग्य सुख से खायी जानेवाली सामग्री लेकर आयी है। अन्य भी बड़ी बहुएँ प्रतिदिन जाती हैं, तो स्वच्छ जल जैसी छाछ ही प्रतिदिन लेकर आती हैं। अतः यहाँ अन्यथा कुछ भी नहीं समझना चाहिए। इनके द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं किया गया है और न ही इसके द्वारा कुछ दिया गया है। यहाँ सब कुछ भाग्य के कारण ही है। **'प्राप्तिर्भाग्यानुसारिणी'** यह शास्त्रीय वचन सत्य ही है, क्योंकि यहाँ भाग्यानुसार प्राप्ति प्रत्यक्ष ही दिखायी दे रही है।"

धनसार के इस प्रकार के कथन को सुनकर ईर्ष्या–भाव से युक्त होते हुए बहुएँ कहने लगीं–'बूढ़े बैल के समान इस वृद्ध ने पहले हमारे देवर की प्रतिदिन प्रशंसा करके सभी का स्नेह तुड़वाकर घर–त्याग करवाया। वह तो कहीं देशान्तर को भाग गया, जिसकी कहीं बात भी सुनने को नहीं मिलती। पुनः इसके पीछे लगकर न जाने क्या करेगा?"

तब एक ने कहा–'हमारे ससुर इसको भाग्यशालिनी कहते हैं। पर इसका भाग्य तो देखो। प्रतिदिन प्रभात में उठकर गधी की तरह मिट्टी को ढ़ोती है। सूर्यास्त के समय तक कर्मकर की वृत्ति को करके उदर की पूर्ति करती है। रात्रि में पति के वियोग से जनित दुःख से आर्त्त होकर भूमि पर शयन करती है। अहो! इसकी भाग्यशीलता! ऐसा भाग्य तो शत्रु का भी न होवे।"

इस प्रकार परस्पर बात करती हुई बड़ी बहुएँ सुभद्रा से ईर्ष्या करने लगीं। पुनः दूसरे दिन प्रभात होने पर श्रेष्ठी ने बड़ी बहू से कहा–'राजमन्दिर जाकर छाछ

लेकर आओ।"

उसने कहा–'मैं नहीं जाऊँगी। कल ही आपने हम तीनों को निर्भागी कहा था। अतः अपनी लाडली निपुण बहू को ही आदेश देवें। वह छाछ के लिए जाती है, तो दही–दूध आदि लाती है। अतः उसी को भेजिए। इस प्रकार दुःखपूर्वक बोलती हुई तीनों बहुएँ बैठी रहीं।"

तब वृद्ध ने कहा–'बेटी सुभद्रा! तुम ही जाओ। इनको तो सच्ची बात कहने पर भी ईर्ष्या होती है। तुम ही समता भाव धारण करके सुखपूर्वक जाकर छाछ ले आओ। अगर सभी एक सरीखे हो जायें, तो घर नहीं चलता।"

तब सुभद्रा वृद्ध के आदेश से छाछ लेने के लिए गयी। उसे आते हुए देखकर सौभाग्यमंजरी आगे आकर बोली–'सखी! आओ। तुम्हारा स्वागत है।" इत्यादि शिष्टाचारपूर्वक परस्पर कुशल वार्ता पूछकर पुनः दही–खाण्ड आदि देकर भेज दिया। सुभद्रा भी उसे लेकर अपने स्थान पर आ गयी। वृद्ध ने फिर उसकी प्रशंसा की। उसे सुनकर तीनों बहुएँ जल–भुनकर राख हो गयी।

उस दिन से रोज सुभद्रा ही छाछ के लिए जाती थी। दूसरी एक भी बहू नहीं जाती थी।

एक बार सौभाग्यमंजरी ने दावानल से झुलसी हुई आम्रलता के समान श्री–रहित सुभद्रा को छाछ के लिए आते हुए दूर से ही देखकर मन में विचार किया–'यह कर्मकर की पत्नी किसी उत्तम कुल की प्रतीत होती है, क्योंकि इसका रूप–लावण्य–लज्जा–विनय एवं वाणी–व्यवहार आदि इसकी कुलवत्ता और सुखवत्ता का सूचन करता है। कैसे भी पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय से यह इस अवस्था को प्राप्त हुई है, यह हमेशा से दुःखी अवस्थावाली नहीं है। अतः पहले इसकी प्रीति प्राप्त कर लूँ। फिर पूछने की कोशिश करूँगी।"

इस प्रकार विचार करके आगे आकर आदरपूर्वक बातचीत की, विश्राम के लिए अच्छी–सी मंचिका पर बिठाया, स्वयं भी समीप में बैठकर सुख–क्षेम वार्ता करते हुए पूछा–'सखी! तुम्हारी व मेरी मैत्री हो गयी है। मित्रता होने पर परस्पर कोई भेद नहीं रहता। कहा भी है–

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्।।1।।

अर्थात् देना, ग्रहण करना, गूढ़ बातों का आदान, प्रदान, खाना और खिलाना–ये छह प्रीति के लक्षण हैं।

अतः अगर तुम मुझ पर प्रीति के विमल आशय को धारण करती हो, तो शुरू से अपनी कहानी साफ–साफ एवं सत्य–सत्य बताओ। क्या स्फटिक की दीवार से अपने अन्दर की वस्तु छिपायी जा सकती है?"

तब सुमुखी सुभद्रा लज्जा से अधोमुखी होती हुई बोली–"सखी! मुझसे क्या

पूछती हो? मेरे दुर्भाग्य से पूछो। कर्मोदय से जनित मेरे दुःखों की कहानी को मत पूछो, बल्कि मेरे दुःखों की कहानी को सुनकर तुम भी दुःखी हो जाओगी। अतः नहीं कहना ही श्रेष्ठ है।''

सौभाग्यमंजरी ने कहा–'सखी! तुमने सत्य ही कहा है। पर हर किसी के आगे नहीं करना चाहिए। वास्तविक प्रीति रखनेवाले के आगे तो कहना ही चाहिए। जैसे कि मैं भी जानती हूँ कि मेरी सखी ने इतने समय तक दुःख का अनुभव किया है। अतः जो अनुभूत किया है, वह बताओ।"

तब उसके अति आग्रह को जानकर सुभद्रा ने कहा–'सखी! राजगृह नगर में गोभद्र श्रेष्ठी के पुत्र, समस्त भोगियों के स्वामी, तीन जगत में जिनके तुल्य कोई भी पुण्यवान नहीं है, जो नित्य सुवर्ण–रत्न से युक्त आभरणों को कचरे की तरह कचरे के डिब्बे में डालते हैं, ऐसे शालिभद्र इभ्यवर का नाम तुमने भी लोकवार्ता में कभी सुना होगा। उस भाग्यशाली की भगिनी मैं भद्रा माता की कुक्षि से पैदा हुई तथा गोभद्र इभ्यवर की पुत्री हूँ, जिनके समान पुत्र–वत्सल पिता जगत में दूसरा कोई नहीं है। मुझे यौवन वय में आयी हुई देखकर तुम्हारे पति के समान आकार–रूपवाली लक्ष्मी से लक्षित, नाम भी तुम्हारे पति के समान, सौभाग्य–सम्पदा के धाम, श्रेष्ठी पुत्र के साथ मेरी सगाई कर दी। कृष्ण के साथ लक्ष्मी की तरह मैं परणायी गयी। पति के पावन सम्बन्ध को प्राप्त कर मैं भी हर्ष से कुल में दीप्त भोगों में मग्न रहने लगी। प्रबल पुण्य की अधिकता के उदय से समय बीतते देर नहीं लगी।"

हे सखी! क्या वर्णन करूँ? जिसके द्वारा भोगा गया, वही जानता है। अपनी द्वारा अनुभूत सुख अपने मुख से कहना उचित नहीं है।

इस प्रकार के मेरे पति के दिनोंदिन बढ़ते राज्य सम्मान और कीर्ति को देखकर तीनों ज्येष्ठ भाई ईर्ष्या से जलने लगे। जिस किसी के आगे मेरे पति के असद् दोषों को कहने लगे। तब वे ही लोग उन भाइयों के आगे मेरे पति के गुणों का वर्णन करके उनका मुख बन्द कर देते थे। तब वे मन ही मन और ज्यादा जलने लगे। तब मेरे पति क्लेश के द्वारा कृत मलिन आचार और इंगित–आकार के द्वारा अपने भाइयों की मानसिक स्थिति का अवलोकन कर स्वयं सज्जन स्वभाव के होने के कारण मुझे और समग्र लक्ष्मी को छोड़कर कहीं देशान्तर में चले गये।

मेरे पति के चले जाने से उनके पुण्य से नियन्त्रित होकर अन्यत्र कहीं नहीं जानेवाली लक्ष्मी भी घर से चली गयी। तालाब से पानी चले जाने से क्या पद्मिनी तालाब में स्थित रहती हैं? थोड़े ही दिनों में घर इस प्रकार लक्ष्मी–विहीन हुआ कि घर के मनुष्यों की उदर–पूर्ति जितना अन्न भी न बचा। अतः अपने घर के मनुष्यों के निर्वाह के लिए मेरे श्वसुर राजगृह से निकल गये।

वहाँ मेरी दो सौत हैं–एक राजपुत्री, दूसरी महा–इभ्य की पुत्री। राजगृह से निकलने पर मेरे श्वसुर ने उन्हें आज्ञा दी कि'हे बहुओं! तुम अपने–अपने पिता के घर

चली जाओ। हम तो अब देशान्तर जायेंगे।' यह सुनकर वे दोनों अपने–अपने पिता के घर चली गयीं। बिना पति के कठिनाई से रहने योग्य घर में कौन रहता है? मुझे भी आज्ञा दी गयी कि'तुम भी पिता के घर जाओ'।

मैंने कहा–'मैं पिता के घर नहीं जाऊँगी। प्रतिक्षण श्वसुर कुल की निंदा का श्रवण करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। अतः सुख अथवा दुःख में जो आपकी गति होगी, वही मेरी भी होगी।"

यह सुनकर आदर सहित मुझको लेकर कुटुम्ब सहित मेरे श्वसुर वहाँ से निकलकर बहुत से ग्राम, नगर, पुर आदि में घूमते हुए यहाँ आ गये। तुम्हारे पति तालाब की खुदाई करवा रहे हैं–यह बात सुनकर यहाँ आकर अपने उदर की पूर्ति के लिए तालाब खोदने का कार्य करते हैं।

हे सखी! दुःस्थित जठर की अग्नि को बुझाने के लिए क्या–क्या नहीं करना पड़ता? क्योंकि 'स्वेच्छाचारी क्या नहीं बोलता और निर्धन क्या नहीं करता?' सातों भयों के बीच में आजीविका भय अति दुस्तर है, क्योंकि–

जीवतां प्राणिनां मध्ये राहुरेको हि जीवति।
यत्तस्य उदरं नास्ति धिक्कारशतभाजनम्।।1।।

अर्थात् जीवित प्राणियों के मध्य एक राहु ही जीता है, क्योंकि सैकड़ों धिक्कार के पात्र रूप यह उदर उसके नहीं है। और भी–

किं किं न कयं को को न पत्थिओ, कह कह न नामियं सीसं।
दुब्भरउयरस्स कए किं किं न कयं, किं किं न कायव्वं?।।1।।

अर्थात् क्या–क्या नहीं किया? किस–किस से प्रार्थना नहीं की? कहाँ–कहाँ शीष नहीं नमाया? कठिनाई से भरने योग्य इस पेट के लिए क्या–क्या नहीं किया और क्या–क्या नहीं करना चाहिए?

इन दुःखों के लिए किसी का भी दोष नहीं है। यह दोष तो पूर्वभव में प्रमादवश जीवन द्वारा किये गये कर्मों का है, जो उदय में आये हैं। तीन लोक में किसी के भी द्वारा कर्म–फल के भोग से नहीं बचा गया। प्राणियों के मध्य जो अति बलवान हैं, वे नया नहीं बाँधते। पर पूर्वकृत कर्मों को तो भोगकर ही निर्जरा करते हैं। अतः कर्म जैसे नचाते हैं, जीव वैसे ही नाचता है।"

इस प्रकार दोनों परस्पर वार्तालाप कर ही रहीं थी कि तभी अपनी आकृति को कुछ–कुछ छिपाता हुआ धन्य वहाँ आया। तब दोनों ही लज्जा और मर्यादा करके यथायोग्य बैठ गयीं। तब धन्य ने गोभद्र श्रेष्ठी की पुत्री सुभद्रा को कपटपूर्वक इस प्रकार कहा–'हे भामिनी! प्राणाधीश के बिना प्राणों को कैसे धारण करती हो? पानी के सूख जाने पर तो काली मिट्टी भी हजारों प्रकार से विदीर्ण हो जाती है।"

वह बोली–'राजन! आशा से बंधा हुआ मेरा जीवन मरण से रक्षा करता है, जैसे कि सूखे हुए पुष्पवृन्द की स्थिर वृन्दापाश रक्षा करता है। जैसे कि सूखे हुए

शतपत्रों पर भ्रमरवृन्द 'पुनः वसन्त मास में ये पल्लवित होंगे' इस आशय से रहते हुए काल बिताते हैं, वैसे ही मैं भी आशा के सहारे समय बिता रही हूँ।"

धन्य ने कहा–'हे मुग्धे! क्यों व्यर्थ ही यौवन का विनाश करती है? क्योंकि यौवन ही मनुष्य भव का सार है। उसे तुम व्यर्थ ही गँवा रही हो। बुद्धिमानों को हाथ में रहा हुआ ताम्बूल खा लेना चाहिए, उसे सुखाना नहीं चाहिए। अगर दूर देशान्तर को गये हुए के आगमन की आशा भी रखती हो, तो वह व्यर्थ है। अगर तुम उसकी प्रिया होती, तो तुम्हें कुछ संकेत आदि करके जाता। पर वह तो कंचुकी को त्यागे हुए सर्प की तरह घर से उद्विग्न होकर गया होगा। उसके पुनरागमन की आशा व्यर्थ है। अतः विकल्प जाल का त्याग करके मुझे स्वीकार कर लो। इस जगत के दुर्लभ भोगों का भोग किया जाये। गयी हुई आयुष्य पुनः लौटकर नहीं आती। अतः मुझे पति के रूप में स्वीकार करके इस दुर्दशा को प्रवासिनी बनाओ।"

वज्रपात सदृश वचनों को सुनकर भयभीत होती हुई सुभद्रा हाथों से कानों का ढ़कते हुए बोली–'हे दुर्बुद्धि! क्या तुमने कुलीन स्त्रियों की रीति कभी नहीं सुनी, जो कि इस प्रकार का प्रलाप करते हो? कहा भी है–

गतियुगलकमेवोन्मत्तपुष्पोत्कराणां
हरिशिरसि निवासः क्ष्मातले वा निपातः।
विमलकुलभवानामँगनानां शरीरं
पतिकरकरजो वा सेवते सप्तजिव्हः।।1।।

अर्थात् सुकुल में पैदा हुई नारी के शरीर की धतूरे के पुष्प की तरह दो ही प्रकार की गति है। जैसे–धतूरे का फूल या तो शिव के मस्तक पर चढ़ता है, या भूमि पर गिर जाता है। अन्य किसी उपयोग में नहीं आता। वैसे ही पतिव्रता नारियों का शरीर या तो पति के हाथ के स्पर्श के योग्य होता है या फिर अग्नि की ज्वाला के उपभोग के योग्य होता है। अन्य किसी के उपभोग के लिए नहीं होता।

इसलिए हे ग्रहग्रस्त! तुम नाम से तो धन्य कहे जाते हो, पर गुणों से तो अधन्य ही दिखायी देते हो, क्योंकि तुम बहुतों के नायक होकर भी इस प्रकार के विरुद्ध वाक्यों का प्रलाप करते हो। जैसे–नाम से मंगल होने पर भी वह ग्रह पृथ्वी पर वक्रगति के कारण अमंगलकारी ही होता है। अतः नाम पर मोहित नहीं होना चाहिए, गुणों द्वारा मोहित होना ही सार्थक है। हे ठक्कुर! तुम परस्त्री के संग की अभिलाषा से निश्चय ही इस वैभव और यश से भ्रष्ट होओगे, क्योंकि नाग की मणि को ग्रहण करने का इच्छुक क्या सुखी रह सकता है? मेरे शील का लोप करने में तो इन्द्र भी समर्थ नहीं है, तो तुम्हारी तो औकात ही क्या है? वड़वानल को बुझाने में समुद्र भी समर्थ नहीं है, तो फिर उत्मत्त नदी क्या कर सकती है? अतः कुविकल्प का त्याग करके सुशीलता का अनुसरण करो।"

इस प्रकार क्षय हुए कलिमलवाले साधु की चेतना की तरह उसकी अति

विशुद्धता देखकर केवली की तरह वह धन्य अनिर्वाच्य अनंत आनन्द को प्राप्त हुआ।

तब अतिशय हर्ष से युक्त उस धन्य ने सुधारस युक्त वाणी में सुभद्रा को कहा–'हे भद्रे! मैं पर–स्त्री लोलुप नहीं हूँ। अतः मुझसे मत डरो। ये जो गोल–गोल बातें कीं, वे सभी वचन–मात्र थीं। मैं तो तुम्हारे सत्व की परीक्षा कर रहा था। मैंने जो कुछ भी विरुद्ध वचन कहे हैं, उसके लिए मैं तुमसे क्षमा–याचना करता हूँ। तुम धन्य हो, जो कि इस कठिन समय में भी अपने व्रत की अखंडता रखा करती हो। पर तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि तुम अपने पति को कैसे जानोगी? दृष्टि–पथ पर आने–मात्र से, किसी संकेत से, एकान्त में की गयी वार्ता के कथन से या अंग–प्रत्यंग में रहे हुए मश, तिलक, आवर्त आदि लांछन को देखकर पहचानोगी?"

इस प्रकार के धन्य के वचन सुनकर वह बोली–'जो मेरे घर में हुए, पर से अज्ञात, पूर्व में अनुभूत स्पष्ट संकेतों को बताता है, वही मेरा पति है। इसमें कोई संदेह नहीं।"

तब धन्य ने कहा–'एक मेरा कथन सुनो–दक्षिण दिशा में प्रतिष्ठानपुर से धनसार व्यापारी का धन्य नाम का पुत्र अपने तीनों भाइयों के द्वारा कृत क्लेश से उद्विग्न चित्तवाला होकर देशान्तर को चला गया। लक्ष्मी का उपार्जन और त्याग करते हुए राजगृह नगर को प्राप्त होकर वहाँ अपने पुण्य की प्रबलता के उदय से तीन कन्याओं के साथ परिणय सम्बन्ध बनाया। वाणिज्य कला–कौशल के बल से अनेक कोटि स्वर्ण का उपार्जन किया।

इस प्रकार कितना ही काल बीत जाने के बाद रात्रि में मुरझाये हुए सूर्यमुखी पुष्पों के समान श्री–रहित भाइयों को देखने–मात्र से सूर्य की तरह निर्विकार होकर उनको लक्ष्मीयुक्त बनाया। पुनः वहाँ भी कुटुम्ब–क्लेश देखकर भग्नचित्त होता हुआ बादलों को देखकर कलहंस के मानसरोवर में आने की तरह यहाँ पद्माकर पुर में अर्थात् लक्ष्मी के आकर रूप इस नगर में अथवा तो मानसरोवर के पक्ष में कमलों के आकर रूप इस नगर में आ गया। मेरे द्वारा कथित व्यतिकर सत्य है या नहीं?"

तब वह विदुषी संपूर्ण रूप से सर्व अभिज्ञान के कथन से अपने प्रिय को जानकर लज्जा से मौन होकर अधोमुखी हो गयी, क्योंकि पतिव्रता स्त्रियों की यही स्थिति होती है।

सौभाग्यमंजरी भी अपने पति की जन्म से लगाकर अब तक की घटना को सुनकर तथा सुभद्रा के साथ सौत के सम्बन्ध को जानकर चित्त में चमत्कृत हो गयी। विचार करने लगी कि'आज मेरा सन्देह दूर हुआ कि पर–नारी के सहोदर मेरे पति क्यों इसे सादर दही–दूध आदि दिलवाते थे? सहेली बनाने की क्यों आज्ञा देते थे? आज सब कुछ सही–सही ज्ञात हुआ। महान जनों का अपनी पत्नी पर इस तरह का प्रेम होता ही है, कुछ भी अयुक्त नहीं है।'

तब दम्पति ने सखियों द्वारा सुभद्रा के पुराने वस्त्र तथा खोटे आभरण

उतरवाकर, स्नान–मज्जन आदि करवाकर, विविध देशों से आये हुए कोमल–झीणे वस्त्र पहनाकर, विविध मणि–सुवर्ण से जटित आभरणों द्वारा अलंकृत करके भद्रासन पर बिठाया। तब वह सम्पूर्ण चन्द्र से युक्त यामिनी की तरह गृह–स्वामिनी के रूप में शोभित होने लगी।

बहुत समय बीत जाने के बाद धनसार पत्नी के साथ चिन्ता करने लगा–"पहले तो सुभद्रा निमेष–अर्ध–मात्र भी घर से बाहर नहीं रुकती थी। आज किस कारण से वह अभी तक नहीं आयी? उत्तम कुल में उत्पन्न हुई नारी पति के घर को छोड़कर क्षण–मात्र भी कहीं नहीं ठहरती। और भी, पृथ्वी पर जंगम कल्प वृक्ष के तुल्य श्री धन्य राजा प्राणान्त होने पर भी धर्म का उल्लंघन नहीं कर सकता। सोने में कभी भी कालापन नहीं आ सकता। पर बड़े लोगों की मनोवृत्ति विषम होती है। उनके मन के भावों को जानना दुस्तर है। निपुण व्यक्ति भी ग्रथिल हो जाता है। सज्जन भी दुर्जन हो जाता है, क्योंकि कहा भी है–

निर्दयः कामचण्डालः पण्डितानपि पीड़येत्।

अर्थात् काम चण्डाल निर्दय है, वह पण्डितों को भी पीड़ित करता है।

यद्यपि धन्य भले ही दुष्ट हो जाये, पर सुभद्रा कभी भी व्रत का त्याग नहीं करेगी। पर क्या पता? जबर्दस्ती रोक ली गयी हो अथवा दोनों के चित्त की प्रवृत्ति नष्ट हो गयी हो। पर हवा से आन्दोलित क्षीण ज्योति की तरह कुछ तो विपरीत हुआ है।

इस प्रकार शंका के तीर से भिदे हुए श्रेष्ठी ने बड़ी पुत्रवधू से कहा–'हे वत्से! तुम उसके घर जाकर देखो कि वह किस कारण से रोकी हुई है?"

तब धनदत्त की पत्नी छाछ का बर्तन लेकर धन्य के घर के आँगन जाकर वहाँ के मनुष्यों से पूछने लगी कि 'हमारी देवरानी छाछ के लिए घर से निकली थी। यहाँ आयी है या नहीं?"

इस प्रकार के छिपे रहस्य को नहीं जानते हुए उन्होंने भी कहा–'अहो! उसका तो महान भाग्योदय हुआ। घर के मध्य भाग में जाकर देखो, वह तो गृह–स्वामिनी की तरह बैठी हुई है।"

यह सुनकर चिन्ता, आर्ति, भय, विस्मय आदि से मिश्रित अन्तःकरणवाली वह पूर्वगमन के अभ्यास से आवास के अन्दर चली गयी। दूर से ही उसकी उस अपूर्व अवस्था को देखकर शीघ्र ही वापस लौट गयी। अपने स्थान पर आकर सभी के सामने जो देखा था, वह कह सुनाया।

वे सभी धनसार को उपालम्भ देने लगे–'अहो! इसमें आपका ही दोष है, क्योंकि दही–दूध आदि के लोभ में प्रतिदिन उसको ही भेजा। अन्य तो स्वच्छ जल के समान छाछ लाती थीं। अतः निर्भागिनी तथा मूर्ख थीं। यह मेरी पुत्रवधू पुण्यवती, दक्षा, भाग्यशालिनी है, जो कितना भव्य–भव्यतर लाती है। पर कभी विचार नहीं

किया कि कर्मकर की बहू को अति आदरपूर्वक दही–दूध–सुखभक्षिका आदि किस कारण से देता है? हमारा कोई भी पूर्व–परिचय भी नहीं है। न ही कोई सम्बन्ध है, न ही हमारे अधीन कोई काम आदि का करना है। वृद्धत्व की अनुकम्पा से देता है, तो अन्य भी बहुओं को देना चाहिए था। पर उनको तो नहीं ही देता था, इसी को भव्य देता था। अतः सूक्ष्म व निपुण बुद्धि से विचार करना चाहिए था कि कोई कारण अवश्य है। अगर पहले से ही मंन में सोच– समझकर यथायोग्य किया होता, तो इस प्रकार की विषम अवस्था नहीं होती। इतना तो सभी जानते हैं कि रूप–यौवन से युक्त स्त्रियों का राजकुल में गमनागमन युक्त नहीं है। **'अतिपरिचयादवज्ञा'** अर्थात् अति परिचय से अवज्ञा होती है, यह लोकोक्ति भी आपने मन में धारण नहीं की। अतः आपकी ही मूर्खता है।"

पुत्रों आदि के इस प्रकार उपालम्भों को सुनकर वज्र के घात से आहत के समान धनसार पृथ्वी पर गिर गया। कितने ही समय बाद चैतन्य होते हुए निःश्वास सहित शिर को हिलाते हुए कहने लगा–'हा दैव! शील का नाश करनेवाली इसने कैसे निष्कलंक वंश को कलंकित किया? एक तो विदेश में घूमना, दूसरी निर्धनता–जिससे कोई भी वचन–मात्र सुनने को भी तैयार नहीं है। तीसरी बात यह है कि जले पर नमक छिड़कने के तुल्य जन–निन्दा क्षार के तुल्य है। इन तीनों *अग्नियों को कैसे सहन करूँ? गरीबी का दुःख इतनी पीड़ा नहीं दे रहा, जितना कि* इस दुराचारिणी द्वारा किया हुआ पीड़ा दे रहा है। तुम ऐसी हो जाओगी, यह तो मैंने *स्वप्न* में भी नहीं सोचा था। हा! तुमने क्या किया? मेरे बुढ़ापे में श्वेत हुए केशों पर धूलि डाल दी।"

इस प्रकार धनसार के विलाप करने पर बड़ी बहू ईर्ष्या से कहने लगी–'यह है आपकी निपुणा, भाग्यवती, विनयवती बहू, जिसके प्रतिदिन सैकड़ों व्याख्यान करते हुए और अन्य की निन्दा करते हुए आपकी जिह्वा सूख गयी। उसने तो अपनी निपुणता प्रकट कर दी। अपने आप को सुख–विलास में स्थापित कर दिया। अब शोक करने से क्या फायदा? हम तो मूर्खाएँ, भाग्यहीना, निर्गुणा हैं। हममें से किसी को भी इस प्रकार करना नहीं आया। अतः दुःख से उदर पूर्ति करते हुए घर में ही बैठी रह गयीं और वह तो गुणों की अधिकता से राजपत्नी बनकर बैठ गयी।"

इस प्रकार जले पर नमक के समान बहू के वचनों को सुनकर जलते हुए अन्तःकरण से किंकर्त्तव्यमूढ़ होकर वृद्ध विचार करने लगा–'अब कहाँ जाऊं? किसको पूछूं? क्या करूँ? किसको कहूँ? किसका साथ करूँ? निर्धन मैं किसको अपने पक्ष में करूँ?"

इस प्रकार दिशामूढ़ होकर शून्य चित्त बैठा था, तभी उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मेरा पक्ष लेनेवाले मेरे कोई सम्बन्धी यहाँ नहीं है, फिर भी मेरी जाति के व्यापारी तो यहाँ बहुत है। उनके आगे जाकर कहता हूँ। वे भी स्व–जाति के

सम्बन्ध के अभिमान से मेरा पक्ष लेंगे, क्योंकि तिर्यंच भी अपनी जाति का पक्ष लेते हुए दिखायी देते हैं। तो ये तो मनुष्य हैं। इस प्रकार विचार करके भाग्य से दग्ध वह धनसार कौशाम्बी में महाजनों से संकुल चतुष्पथ में जाकर वहाँ रहे हुए व्यापारियों के सामने बिल्कुल दीनता को धारण करते हुए उनको अपने दुःख का वृत्तान्त कहा।

धनसार के कथन को सुनकर बड़े–बड़े वणिकों ने कहा–'यह तो असम्भव है, क्योंकि इस धन्य ने पहले कभी भी अन्याय का आचरण नहीं किया। और भी, आबाल–वृद्ध में धन्य परनारी के सहोदर के रूप में विख्यात है। वह ऐसा कैसे कर सकता है?"

फिर भी दूसरे सभ्यजनों ने अपनी प्रतीति करने के लिए धनसार से पुनः पूछा। धनसार ने भी जो कुछ घटित हुआ, वह सब सच–सच बताया। तब वे सभ्य परस्पर कहने लगे–'यह वृद्ध असत्य नहीं बोलता, क्योंकि यह अंतरंग दुःख–ज्वाला से तप्त है, अतः सत्य ही बोलता हुआ प्रतीत होता है। यह तीन प्रकार के दुःख से संतप्त होकर बोल रहा है। अन्यथा इस प्रकार के राजकीय असत्य को चतुष्पथ में कहने में कौन समर्थ हो सकता है? बिना अंतरंग दाह के कोई भी बोलने में समर्थ नहीं है। अतः वृद्ध सच्चा है।"

तब वे सभी व्यापारी किंकर्त्तव्यमूढ़ होते हुए वृद्ध को कहने लगे–'हे वृद्ध! अब हम क्या करें? जिस किसी के आगे यह बात करेंगे, वह जाकर राज्याधिकारियों को कह देगा। पर कोई भी सत्य नहीं मानेगा। बल्कि हमें उपालम्भ ही मिलेगा कि'क्या आप लोगों की मति भ्रष्ट हो गयी है, जो कि इस प्रकार बोलते हो?' पर आ पड़े इस विषम दुःख को सुनने में भी हम समर्थ नहीं हैं। अतः जो होना है, हो जाये। न्याय को जाननेवाले धन्य को जरूर कहेंगे। यह कुनीति कल्याणकारिणी नहीं है। आज तो इस बिचारे गरीब की स्त्री रख ली, कल किसी अन्य की रख लेंगे। जो कोई दुष्ट राजा होता भी है, तो वह प्रजा की धन आदि वस्तु को ग्रहण करता है, पत्नी को नहीं। ऐसी महा अनीति करने पर ग्राम में कौन रहेगा?"

इस प्रकार मन्त्रणा करके सभी एक साथ मिलकर धन्य के घर गये। धन्य को प्रणामादि करके यथास्थान बैठ गये। वे सभी भय से कम्पित होते हुए बहुत देर विचार करने के बाद बोले–'स्वामी! जैसे सूर्य की सन्निधि में अन्धकार का प्रसार न भूत में हुआ, न ही भविष्य में होगा। महा–समुद्र के ऊपर उड़ते हुए रज न देखी गयी, न ही देखी जायेगी। चन्द्र की किरणें कभी भी न तापप्रद हुई और न ही होंगी। उसी प्रकार आप में अनीति न कभी थी और न ही कभी होगी। इस प्रकार तीन ही काल में हम आबाल–गोपाल को विश्वास है। कदाचिद् रवि पश्चिम में उग सकता है, ध्रुव तारा भी कल्पान्त वात से प्रेरित होकर भी अध्रुवता को धारण कर ले, मेरु पर्वत भी कदाचित् हवा की तरह चलित हो जाये, कभी सिन्धु भी मरुस्थल के समान निर्जल बन जाये, नित्य चलनेवाली वायु भी कभी स्थिरता को प्राप्त हो जाये, कभी

पृथ्वी पर अग्नि भी बर्फ की तरह शीतल हो जाये, पर आप जैसे व्यक्ति कभी भी लोक से विक्षोभित नहीं हो सकते। यह हमारा विश्वास है। फिर भी यह धनसार पूत्कार करता हुआ आया है कि 'आज मेरी पुत्रवधू राजा द्वारा रोक ली गयी है।' इसकी बात हमने किसी ने नहीं मानी, पर इसके दुःख से दुःखी मुख को देखकर सभी ने विचार किया कि हमारे स्वामी तो कल्पान्त में भी ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु आपके किसी सेवक ने आपके जानते या अजानते धनसार की बहू रोकी होगी। अतः स्वामी! धनसार के आग्रह से बताकर इसकी शंका का निवारण करने की कृपा करें। ज्ञात नहीं होता है कि किस अपराध से रोकी गयी है? इस बिचारे की बहू यदि अपराधिनी है, तो भी क्षमा करके इस महाजन के घर की शोभा इसे देकर छोड़ दीजिए। ज्यादा क्या कहें? स्वामी! आप खुदः युक्त–अयुक्त के विचार में कुशल हैं। आपके आगे हमारी बुद्धि कितनी? अतः सौ बात की एक बात है कि महान–कृपा करके इसकी बहू दे दीजिए।"

इस प्रकार के महाजन–वृन्द के वचन सुनकर कुछ मुस्कुराते हुए अनसुनी करते हुए अन्यत्र दृष्टि डालते हुए धन्य अन्य किसी के साथ अन्योक्तिपूर्वक तिरस्कार–सूचक रोष–युक्त बात करने लगा–'हे अमुक! आजकल इस नगर में लोग ज्यादा वाचाल हो गये हैं। सत्य–असत्य के विभाग को नहीं जानते हुए भी वाचाल लोग दूसरों के घर की चिन्ता करते हुए अनाप–शनाप बकते रहते हैं, क्योंकि दुर्जनों का यही स्वभाव है। कहा भी गया है–

आत्मनो बिल्वमात्राणि स्वच्छिद्राणि न पश्यति।
राजिकाकणमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।।

अर्थात् अपना तो बिल जितना छिद्र भी नहीं दिखायी देता है और दूसरों का तो सरसों के दाने जितना भी छिद्र हो, तो दिखाई दे जाता है।

पर उन सभी को मैं जानता हूँ। अब उन सभी को शिक्षा देनी ही पड़ेगी। ज्यादा कहने से क्या? अच्छा ही होगा। इनका दोष नहीं है। दोष मेरा ही है, क्योंकि मैंने नगरजनों के कानों के द्वार खुले ही छोड़ दिये हैं। अतः कुछ ही दिनों में कहनेवालों को सीधा कर दूँगा।"

इत्यादि तिरस्कार–युक्त वक्रोक्ति सुनते हुए इंगित–आकार आदि द्वारा अपने कथनों को 'अरुचिकर" जानकर उसी समय चाटु वचन कहकर वे सभी धीरे–धीरे उठकर राजद्वार से निकल गये। धनसार भी बाहर आकर महाजनों से कहने लगा–'आप सभी तो उठकर अपने–अपने घर जाने के लिए तैयार हो गये। मेरे कार्य का क्या होगा?"

तब वे सभी धनसार को क्रोधपूर्वक कहने लगे–'हे पेटभरु! तुमने खुद ही कार्य को बिगाड़ दिया है। अब हमारे सामने क्या चिल्लाते हो? कोई मूर्ख भी जैसा कार्य नहीं करता है, वैसा कार्य तुमने किया है कि प्रतिदिन रूपवती, प्राप्त यौवनवाली

बहू को छाछ लाने के लिए राजद्वार पर भेजा। बड़े कार्य के बिना व्यापारी पुरुषों का भी राजद्वार–गमन अयोग्य है, तो स्त्रियों का गमन तो सर्वथा ही अयोग्य है। इतना भी तुम्हें ज्ञात नहीं है। हे बूढ़े बैल! तुमने इतना भी नहीं जाना कि अन्य बहुएँ जाती हैं, तो जल की बहुलतावाली छाछ लाती है और जब यह जाती है, तो दही–दूध, मिष्ठान्न आदि लाती है, तो जरूर इसमें कोई कारण है, क्योंकि इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा कोई पूर्व परिचय भी नहीं है। तो फिर किस कारण इसको भव्य वस्तुएँ देता है, पका हुआ अच्छा फल क्या रक्षक के बिना अखंडित रहता है? धर्मशास्त्रों में भी कहा है–"

मूषकाणां मार्जारदृष्टिवर्जनमिव कुलवतीनां युवापुरुषदृष्टौ गमनागमनं प्रायेण विघ्नकरं भवति।

अर्थात् जैसे चूहे, बिल्ली की दृष्टि में आ जाये–वैसा गमनागमन नहीं करते हैं, उसी प्रकार कुलवतियों का युवा पुरुष की दृष्टि में गमनागमन प्रायः अहितकर होता है। अतः युवा पुरुष की दृष्टि का वर्जन करना चाहिए। जैसे रूपवान दुर्बल बच्चे का शाकिनी के आगे खेलना दुःख के लिए ही होता है, वैसे ही रूपवतियों का पुरुष के आगे स्फुरणा करना दुःख के लिए ही है। यह सब तो तुमने नहीं विचारा। उससे बढ़कर अब हमारे आगे क्यों रोते हो? 'साठी बुद्धि नाठी" की लोकोक्ति के अनुसार तुम्हारी बुद्धि साठ की वय में भ्रष्ट हो गयी है। तुम्हारे लिए हम क्यों संकट में पड़ें? जो हमारा कर्त्तव्य था, वह हमने किया। राजा ने ध्यान नहीं दिया, तो हम क्या करें? तुम्हारे कर्मों का ही दोष है। अतः इससे आगे हम कुछ नहीं जानते। जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।"

ऐसा कहकर वे सब उठकर अपने–अपने घर चले गये, क्योंकि पर के लिए कौन कष्ट करे? धनसार भी निराश होकर घर की ओर लौटता हुआ सोचने लगा–'अब जो होना है, वह हो जाये। एक बार तो धन्य के पास स्वयं ही जाकर रोऊँगा, हृदय में रही हुई भाप को निकालूँगा। क्या कर लेगा? मुझ पर गुस्सा ही करेगा, तो कर लेवे। मारेगा, तो मार लेवे। अधमरा तो हो ही गया हूँ। ऐसे जीवन से क्या?"

इस प्रकार विचार करके स्वयं जाकर गवाक्ष में स्थित धन्य को जोर से बोला–'हे महाभाग! मेरी बहू को छोड़ो। किस अपराध के लिए मेरी पुत्रवधू रखी है? समर्थ होकर क्यों हम बिचारों को सताते हो?"

इस प्रकार भय को नष्ट करके निःशंक होकर जब अपनी बहू माँगने लगा, तब धन्य ने भ्रू के इशारे में भटों को कहा–'यह क्या माँगता है, वह वस्तु इसे घर के अंदर लाकर दो।"

तब भटों ने कहा–'हे वृद्ध। घर के अंदर चलें। आपकी बहू देते हैं।"

इस प्रकार कहकर धनसार को आवास के भीतर ले गये। धन्य ने भी

अचानक घर के भीतर आकर पिता को प्रणाम किया। नमन करके आदरपूर्वक हाथों की अंजलि बनाकर इस प्रकार कहा–""तात–चरण में जो कुछ भी बाल–चापल्यता के वश होकर किया, उसकी क्षमा चाहता हूँ।

अमृत का अनुसरण करनेवाली धन्य की वाणी सुनकर धनसार पुत्र के दर्शन से अनचाहे मनोरथ को प्राप्त करके अद्भुत आनन्द से आक्रान्त हो गया। अतः यह अर्थ युक्त ही है कि समुद्र चन्द्र के दर्शन से ऊँची कल्लोलवाला क्यों न हो? होता ही है। तब बहुमान व भक्तिपूर्वक समस्त दुःखों से रहित पिता को आवास के अन्दर ले जाकर गम्भीर बनकर धन्य पुनः वातायन में जाकर बैठ गया और बाहर देखने लगा।

तभी दुःख से आक्रान्त धन्य की माता अपने पति को खोजती हुई धन्य के घर में आयी। धन्य को गवाक्ष में बैठे हुए देखकर विषादपूर्ण हृदय से बोली–'हे कठोर हृदयी! मेरी पवित्र आचारवाली बहू को यदि नहीं छोड़ते हो, तो उसके साथ धूलि की तरह तुम दूर से ही गर्त में गिरो। अथवा कुपित होकर तुम क्या कर लोगे? बस, जरा से जर्जर मेरे पति को लौटा दो। उसकी पीठ पर धूलि डालकर हम दूर चले जायेंगे। जिसने कुल–लज्जा का त्याग कर दिया, उससे मुझे कोई काम नहीं है। तुम दोनों द्वारा किया गया पाप तुम दोनों को ही नचायेगा।"

इस प्रकार माता ने दुःखपूर्वक धन्य को कहा, तब धन्य ने पूर्व के समान सेवकों द्वारा अपने घर ले जाकर, पीछे स्वयं जाकर माता के चरण–युगल में नमन किया और स्वयं को प्रकट किया। वह भी अपने पुत्र धन्य को जानकर खुश हो गयी। धन्य ने भी बहुमानपूर्वक अंग–वस्त्र आदि शुश्रूषा करके घर में बिठाया।

पुनः धन्य जाकर गवाक्ष में बैठ गया। तीनों भाई भी माता–पिता को खोजते हुए वहाँ आये। आयुष्मान धन्य ने उनको इधर–उधर घूमते हुए देखकर सेवकों द्वारा आवास में बुलवाया। स्वयं वहाँ जाकर शीघ्र ही चरणों में प्रणाम किया। फिर वस्त्र, आभरण, ताम्बूल आदि द्वारा सत्कार करके देह के अन्दर सद्गुणों की तरह अपने घर के भीतर स्थापित किया और वे प्रमोद को प्राप्त हुए।

उसके बाद बहुत समय बीत जाने के बाद उन तीनों भाइयों की पत्नियों को सास–श्वसुर तथा पतियों की खोज के लिए आते हुए धन्य ने दूर से ही देखा। देखकर विचार किया–'इन लोगों ने मेरी निर्दोष प्रियतमा पर मिथ्या दोष प्रकट करके उसकी अत्यधिक निन्दा की। बहुत से दुर्वचनों द्वारा उसकी हीलना की, उसे संताप पहुँचाया। अतः इन्हें कुछ तो शिक्षा देनी ही चाहिए।"

इस प्रकार निश्चय करके भ्रू के इशारे से द्वारपालों को उन तीनों के प्रवेश का निषेध करने को कहा। पर्वत के द्वारा रोका गया नदी का पानी जैसे चारों ओर घूमता है, वैसे ही वे भी राजद्वार के बाहर इधर–उधर घूमने लगीं। सन्ध्या तक वे घूमती रहीं, पर आवास के अन्दर प्रवेश करने में वे समर्थ नहीं हुईं। धन्य भी दूर से

देखकर द्वार पर स्थित पहरेदारों को इशारा करके गवाक्ष से उठकर घर के अन्दर चला गया। सन्ध्या होने पर निराश होकर बुरी अवस्था को प्राप्त होती हुई शोक से आर्त्त होकर खिन्न होती हुई वे अपने आवास–कुटी पर जाकर विलाप करने लगीं–'हे पृथ्वी माता! हमें आत्मसात् करने के लिए विवर बनाओ, जिससे हम दुःख–दव से पीड़ित होने के कारण भूमि में प्रवेश करेंगे। हम अबलाओं का कोई आधार नहीं है, जिसके आश्रय में हम जीयेंगे।"

इस प्रकार विलाप कर–कर के भूमि पर लौटते हुए अनेक कुविकल्प से कल्पित अन्तःकरणवाली उन तीनों ने सौ रात्रियों के समान लम्बी वह एक रात व्यतीत की। किसी भी प्रकार से प्रभात होने पर तीनों परस्पर विचार करने लगीं–'हम कुल की लज्जा का त्याग करके कौशाम्बी–नरेश की सभा में जाकर गुहार करें, क्योंकि दुर्बल व अनाथों की एकमात्र गति राजा ही है।"

इस प्रकार विचार करके लज्जा–रहित होकर वे शतानीक की सभा में गयीं, क्योंकि महाविपदा में शान्ति किसे रहती है? किसी को भी नहीं रहती है। तब सभा में पूत्कार करती हुई स्त्रियों को देखकर राजा ने इशारे से सभ्यों को पूछा–"ये किस दुःख के कारण पूत्कार करती है? इनसे पूछकर इनके दुःख का कारण ज्ञात करो।'

तब सभ्यजनों ने उन तीनों के समीप जाकर पूछा–'आपको क्या दुःख है, क्योंकि सुहागन स्त्रियाँ महादुःख के बिना राजद्वार पर नहीं आती है। पति के विद्यमान रहने पर भी आप पर कौन–सा दुःख का पहाड़ टूट पड़ा, जिससे कि यहाँ आना पड़ा? अतः अपना दुःख विस्तारपूर्वक बताओ। दुःख की घटना राजा को निवेदन करके आपके दुःख को दूर करेंगे। हमारे स्वामी पर–दुःख–भंजन में रसिक हैं। अतः उनके आगे कहकर सुनाने–मात्र से दुःख दूर हो जायेगा।"

तब उन्होंने कहा–'स्वामी! हम परदेशी हैं। पहले तो हमारे घर में अतुल्य सुख था, पर भाग्य से इस प्रकार की दुरावस्था को प्राप्त हो गये, क्योंकि कर्म की गति न्यारी है।" कहा भी है–

अघटितघटितानि घटयति घटितानि जर्जरीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति।।

अर्थात् अघटित घटितों को घटाता है, घटितों को जर्जर करता है। विधि वैसा घटित करती है, जिसके बारे में पुरुष सोचता भी नहीं है।

अतः हमारे ससुर आठ पारिवारिक जनों के साथ अपने घर से निकले। ग्राम–ग्राम में घूमते हुए आपके नगर की ख्याति सुनी–'वत्स के राजा प्रजा की वत्स की तरह रक्षा करते हैं। जो कोई निर्धन है, उनके जीवन–यापन के उपयोग की बहुलतावाला देश है। जहाँ देशान्तर से आये हुए भी सुखपूर्वक आजीविका का निर्वाह करते हैं। जहाँ अत्यधिक सुभिक्ष–काल वर्तता है।"

इस प्रकार लोगों के मुख से जाकर हमारे श्वसुर कुटुम्ब सहित यहाँ आ

गये। जिस प्रकार लोक–वार्ता सुनी थी, उससे भी कहीं ज्यादा इस नगर को देखा। तब हमारे श्वसुर ने किसी सज्जन से पूछा कि 'हे महाभाग! यहाँ हम जैसे गरीबों के लिए क्या कोई जीने का उपाय है?'

तब उसने कहा–'यहाँ के उपनगर का धन्य नाम का स्वामी सरोवर बनवा रहा है। वहाँ जाकर सरोवर खोदने की क्रिया करो, सुखपूर्वक आजीविका प्राप्त हो जायेगी।'

यह सुनकर वहाँ जाकर सरोवर खोदने की क्रिया से अपने उदर की पूर्ति करने लगे। एक दिन धन्य स्वयं सरोवर देखने आया।"

इत्यादि जो भी घटित हुआ था यावत् प्रतिदिन छाछ लाने से लगाकर आज तक का वृत्तान्त कह सुनाया। सभ्यजनों ने वह घटना जैसी सुनी, वैसी की वैसी राजा को सुना दी। राजा उस असंभावित वार्ता को सुनकर विस्मित होता हुआ मन में विचार कर ही रहा था कि पुनः वे स्त्रियाँ कहने लगी–'हे परदुःख भंजक देव! हे करुणानिधि! सेवक–जनों के वात्सल्य रूप आप अमृत–निर्झर के प्रवाह से वियोग अग्नि से दग्ध हमारे मनोवन को शीतल करने में समर्थ है। इस धन्य के द्वारा हमारी देवरानी के मोह के कारण हमारे श्वसुर आदि पाँचों जीव क्या पंचत्व को प्राप्त कराये गये? अथवा उस दुष्ट–बुद्धि धन्य ने उनको जीवित ही कारागार में डलवा दिया है। हे दीनोद्धारणकुशल! उनको संभालें। धन्य के द्वारा रोके गये हमारे कुटुम्ब को कृपा करके मुक्त करायें। हाथी के मुख से छुड़वाने के लिए सिंह के अलावा अन्य कौन–सा वन्य जीव समर्थ है? क्योंकि–

निर्धनानामनाथानां पीड़ितानां नियोगिभिः।
वैरिभिश्चाभिभूतानां सर्वेषां शरणं नृपं।।

अर्थात् निर्धन, अनाथ, अधिकारियों से पीड़ित तथा शत्रुओं से अभिभूत–इन सभी की एकमात्र शरण राजा ही है।"

इस प्रकार उनकी पूत्कार सुनकर क्रोधित होते हुए राजा ने सेवकों के द्वारा धन्य को आज्ञा दी कि 'आप जैसे के द्वारा अन्याय करना अनुचित है। अतः सभी वैदेशिकों को छोड़ दीजिए। सज्जन होकर भी गर्व से उन्मत्त होकर क्यों सन्मार्ग का त्याग करते हैं? प्राण कण्ठ में आ जाने पर भी सज्जन अकृत्य नहीं करते हैं।'

धन्य ने भी सेवक के वचन सुनकर उसको कहा–"हे प्रेष्य! मैं किसी भी प्रकार से सत्पथ का हनन नहीं करता हूँ। प्रातःकाल में उगनेवाला सूर्य क्या लोकालोक का विभाग करता है? नहीं करता है। अगर कोई हेय–उत्पथादि में गिरना ही चाहे, तो रोकने में कौन प्रवीण है? चक्री का चक्र चलने पर कौन पुरुष उसके आगे आकर उसे रोकने में समर्थ होता है? अगर राजा हठ ही करना चाहते हैं, तो उनको शिक्षा देने में समर्थ हूँ। अगर यह राजा सौ सैन्य का मालिक होने से शतानीक नाम धराता है और उस कारण से गर्वित होता है, तो मैं भी लाख सैन्य का

जेता लक्षानीक हूँ। मेरे सामने शतानीक कितना–मात्र है?'

इस प्रकार धन्य के मुख से गर्वयुक्त ऐसे कठोर वचनों को सुनकर वह पुरुष शीघ्र ही राजा के पास गया, नमन करके सम्पूर्ण घटना निवेदन की। राजा भी धन्य की गर्वोक्ति सुनकर क्रुद्ध हो गया। प्रेम का स्थान वैर ने ले लिया। अब शतानीक ने युद्ध करने को उद्यत अपनी सेना को धन्य के महल की ओर भेजा।

धन्य ने भी राजा के सैन्य के आगमन को जानकर अपना हस्ति–सैन्य, अश्व–सैन्य, पादातिक–सैन्य आदि भेजकर शतानीक के सैन्य के साथ तुमुल युद्ध का आह्वान किया। उन दोनों के युद्ध में लग जाने पर मुहूर्त–मात्र में ही गरजते हुए गज, तुरंग आदिवाले शतानीक के सैन्य को धन्य ने नदी के पूर को पर्वत द्वारा रोकने की तरह पराङ्मुख कर दिया। वे सभी सैनिक कौए के गर्व की तरह नष्ट हो गये।

तब अपने सैन्य को दीन भाव से आपन्न देखकर शतानीक बलवान सैन्य से युक्त होकर गर्वयुक्त होकर स्वयं धन्य को जीतने के लिए चला। धन्य को इसकी जानकारी मिलने पर अपने घर की रक्षा के लिए विशिष्ट बंदोबस्त करके अपने सैन्य को लेकर शतानीक के सम्मुख रवाना हुआ। क्रमपूर्वक दोनों का मिलन हुआ और युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों को परस्पर युद्ध में संलग्न देखकर किंतकर्त्तव्यमूढ़ होते हुए अमात्य–गण परस्पर विचार करने लगे–"इन श्वसुर–जामाता का युद्ध होने पर कुछ भी बड़ा अनर्थ हो सकता है। तब जगत में हमारी बहुत मान–हानि / अप्रतिष्ठा होगी कि 'इन दोनों के सैन्य में कोई भी सुबुद्धि देनेवाला कुशल सन्धि–मेलापक नहीं था, जिससे कि इस प्रकार के अनर्थ को रोकने से रोक सकता था।' अतः राजा के पास जाकर किसी भी प्रकार से हितोपदेश का निवेदन करना चाहिए।'

इस प्रकार विचार करके वे सभी मन्त्री इकट्ठे होकर राजा के पास जाकर कहने लगे–"स्वामी! चित्त को स्थिर करके हमारी विज्ञप्ति को धारण कीजिए। बाद में जो उचित हो, वह कीजिएगा।'

राजा ने कहा–"तो आपका विचारा हुआ कह डालिए।'

राजा के आदेश को प्राप्त करके वे सभी कहने लगे–"देव! गरीब के लिए सेवक–युद्ध के द्वारा अपनी प्रतिष्ठा का त्याग न करें। नीति में भी कहा गया है कि पाप–बहुल का पक्ष नहीं लेना चाहिए। पाप के उदय से पाप–बहुल का पक्ष लेनेवाला भी दुःख पाता है। और भी, यह धन्य आपका जामाता है, पूज्य स्थानवर्ती होने से इसका हनन नहीं करना चाहिए। जैसे–गाय के द्वारा खाया हुआ रत्न क्या उसके उदर को फाड़कर निकाला जाता है? अतः इसका छेदन करना युक्त नहीं है, क्योंकि चतुर पुरुष के द्वारा रोपित वृक्ष यदि विष का भी है, तो स्वयं द्वारा उसका छेदन करना युक्तियुक्त नहीं है। हे नाथ! इसी कारण से ठीकरी को पाने की आकांक्षा से काम–कुंभ को फोड़ने के समान आपके द्वारा रण करना शोभाजनक नहीं है। ऐसा कौन होगा कि अपने कुटुम्ब पर प्रहार करने के लिए हाथ में लाठी को धारण करे?

और भी, यह धरती कभी कम्पन युक्त हो जाये, अमाप जल से युक्त सागर शुष्कता को प्राप्त कर ले, सूर्य पश्चिम में उगने लगे और पूर्व में अस्त होने लगे, फिर भी यह धन्य कुमार्ग का ध्यान तक मन में नहीं ला सकता–ऐसी प्रतीति आबाल–गोपाल को है, अतः उसका विरुद्ध–आचरण सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि इसी वैदेशिक कुटुम्ब का धन्य के द्वारा पूर्व में परिपालन किया गया, अब सज्जन होते हुए भी क्रुद्ध होकर इसके द्वारा वृद्ध आदि को रोका गया है, तो जरूर इसमें कोई राज है। वह ज्ञात नहीं हो पा रहा है, क्योंकि पहले छोटी बहू को रोका, फिर वृद्ध को रोका, उसके बाद वृद्धा को रोका, फिर तीनों पुत्रों को रोका। पर इन तीनों पुत्रवधुओं को क्यों नहीं रोका? इसमें जरूर कोई कारण है। अगर देव आज्ञा करें, तो इस कारण को गूढ़ होते हुए भी हम प्रकट करने का प्रयास करेंगे, क्योंकि नित्य आपकी सेवा करनेवाले हम मन्त्रियों के शास्त्र–चक्षु क्या अदृश्य हो गये हैं? बुद्धि से दुष्कर भी जाना जा सकता है। हमारी बात अगर आपके मन में उतरती है, तो हम इसका गुह्य प्रकट करेंगे।'

इस प्रकार मन्त्रियों का कहा हुआ सुनकर राजा ने कहा–"हे मन्त्रियों! यदि इस प्रकार का आपका बुद्धि–प्रागल्भ्य है, तो शीघ्र ही गूढ़ तथ्य प्रकट करें।'

तब राजा के आदेश को प्राप्त करके मन्त्रियों ने शीघ्र ही उन तीनों बहुओं को बुलाकर पूछा–'तुम लोग कहाँ से आये हो? किस कुल के हो? किस प्रकार के धनी थे? किस गाँव के निवासी हो? किस आपत्ति में गिर जाने के कारण यहाँ आना हुआ? यह सभी जिस प्रकार भी घटित हुआ है, वह सभी सत्य–सत्य बताओ।" मन्त्रियों के कथन को सुनकर आँखों से अश्रु बरसाते हुए उन तीनों ने मूल से लगाकर अपने कुल आदि के वृत्तान्त यावत् तालाब खोदने तक की घटना वास्तविक रूप में उनके सामने रख दी। तब प्रतिभा–कुशल मन्त्रियों ने उनकी कहानी सुनकर वस्तु–तत्त्व को जान लिया। कुछ आश्चर्य के साथ मुस्कुराते हुए परस्पर एक–दूसरे के मुख को देखते हुए विचार किया। फिर बोले–'भाइयों! इन्होंने जो कुछ भी कहा है, उससे ज्ञात होता है कि क्या यह अत्यन्त भाग्यवान इनका देवर धन्य ही है? वह धन्य ही है। पूर्व में कहे हुए संवाद के कारण हार्द प्राप्त हो गया। उस बुद्धिमान के द्वारा छाछ आदि के दान द्वारा माया करके पहले अपनी पत्नी को घर में स्थापित किया, बाद में पिता आदि को भी घर में रख लिया। इनको नहीं रखा, क्योंकि उसने अपनी पत्नी के खिलाफ इनके द्वारा कुछ भी दुर्वाक्य–अभ्याख्यान आदि प्रतिकूलता प्राप्त की होगी। अतः इनको शिक्षा देने के लिए इनका ग्रहण नहीं किया।"

इस प्रकार मन्त्रियों ने परस्पर विचार करके उन स्त्रियों को कहा–'हे नारियों! तुम्हारे द्वारा कहे गये भाग्यनिधि धन्य नाम के तुम्हारे देवर को पहचानने का क्या कोई चिह्न है, जिससे कि उसे पहचाना जा सके?"

इस प्रकार के मन्त्रियों के वचन सुनकर क्रोध का त्याग करके सन्तोष को

अन्तःकरण में आश्रय देते हुए स्त्रियों ने कहा–'हमारे देवर को पहचानने का एक बहुत बड़ा चिह्न है। उसके दोनों पाँवों में प्रखर तेज से चमकता हुआ पद्म का चिह्न है। उसी से हम उसको पहचान सकते हैं।"

तब वे मन्त्री धन्य के पाँवों में रहे हुए पद्म–लांछन को देखने की इच्छा से उन स्त्रियों के साथ धन्य के पास गये और धन्य को प्रणाम करके खड़े हो गये।

तब धन्य ने कहा–'आपके आगमन का क्या प्रयोजन है?"

अपनी भाभियों को आयी हुई देखकर भी उस मायावी धन्य ने नमस्कार किया और बोला–'हे माताओं! कातर मनवाली आप यहाँ किसलिए आयी हैं?"

तब भाभियों ने उसे देखकर और पहचानकर कहा–'क्यों हमें अपनी माया से दुःखित करते हो? तुम ही हमारे देवर हो। कल्पवृक्ष क्या कभी किसी को दुःख देता है?"

उनके इतना कहकर विरत होने पर धन्य ने कहा–'यह तुम्हारे भद्र हृदय क्यों चक्कर खा रहे हैं? अथवा दुःख के गर्त में गिरे हुए पाप के उदय से दृष्टि मन्द हो गयी है। इस पृथ्वी–मण्डल पर जिस–जिस धन्य नाम के व्यक्ति को देखोगी, तो उसे अपने देवर के रूप में कहते हुए हँसी की पात्र बनोगी।"

तब उन्होंने कहा–'हे देवर! बहुत समय बाद तुम्हारा पता चला, पर माया करके तुम स्वयं को छिपा रहे हो। फिर भी तुम्हारे पुण्योदय से उत्पन्न हुए चिह्न को तुम छिपाने में समर्थ नहीं हो। अतः हे मन्त्रियों! हम इनके पाँव धोती हैं, जिससे पद्म के दर्शन से आपके चित्त में भी विश्वास हो जाये।"

जब वे पैर धोने को उद्यत हुई, तो धन्य कहने लगा–'हम तो पर–स्त्री के साथ आलाप की भी इच्छा नहीं रखते, तो पाँव धुलवाना तो बहुत दूर की बात है।"

इस प्रकार पवित्र वाणी के बीच धुरि पर स्थित सचिवों ने इस प्रकार कहा–'हे सज्जन–शिरोमणि स्वामी। व्यर्थ ही अपने आप को मत छिपाइए। ये भाभियाँ आपकी ही हैं–यह निर्णय हो गया। आप जैसे समर्थ का दम्भ सहित छलपूर्वक अपने ही घर में भाभियों से छिपना क्या उचित है? इनके द्वारा तो पूर्व में अनुभूत बहुत प्रकार से आपका गुण–वर्णन किया है। पर अभी आपकी अन्यथा प्रवृत्ति देखकर हमारे मन में महान विस्मय हुआ है। चूंकि आम्रवृक्ष, इक्षु, चन्दन, अगुरु, वंश आदि वृक्षों की तरह सज्जन तो पत्थर से ताड़ित, पीलित, घर्षित, ज्वालित, छेदित होने पर भी दूसरों का उपकार ही करते हैं। आप तो सज्जनों की धुरी हो, तो फिर ऐसा करना कैसे संभव है? यद्यपि स्वजनों द्वारा अपनी मूर्खता से विपरीत आचरण किया गया हो, तो भी विपत्ति में उनके प्रति शिक्षा नहीं करनी चाहिए, बल्कि विपदा से उद्धार करना चाहिए–यही सत् प्रवृत्ति है। सज्जन गिरे हुए पर पाँव का प्रहार नहीं करते, बल्कि विपदा से उद्धार करना चाहिए–यहीं सत् प्रवृत्ति है। सज्जन गिरे हुए पर पाँव का प्रहार नहीं करते, बल्कि उसको सहायता करनेवाले होते हैं। पर ज्ञात होता है कि

जिस प्रकार जावन (थोड़ा सा दही) के संसर्ग से दूध की प्रकृति भी विकृति हो जाती है, उसी प्रकार अपनी पत्नी के द्वारा कुछ भी चुगली आदि किये जाने के कारण आपकी सज्जन–प्रकृति विकृत हो गयी है। जैसे सुवंश में उत्पन्न धनुष प्रत्यंचा से प्रेरित होकर पर के घात के लिए ही होता है।"

इस प्रकार सचिवों की बुद्धि के प्रपंच तथा नम्र वचनों से बोधित होते हुए धन्य ने मजाक छोड़कर सादर अपनी भाभियों को घर के अन्दर भेजा।

फिर धन्य सैन्य–संरम्भ का त्याग करके सचिवादि को साथ लेकर राजा के समीप गया और प्रणाम किया। राजा ने भी अर्ध–आसन के दान द्वारा सत्कार करके उत्साह एवं विनय सहित उसे कहा–'हे मतिमंत! श्रेष्ठ! यह क्या आश्चर्य है? तुम्हें नहीं पहचाननेवाली भाभियों को तुमने व्यर्थ ही खेदित किया, यह अच्छा नहीं लगता, क्योंकि प्रज्ञावान अपने स्वजनों को कभी भी नहीं ठगते।"

शतानीक राजा के इस कथन को सुनकर धनसार–पुत्र ने निश्छल मन से कहा–'हे स्वामी! भाभियों को तकलीफ पहुँचाने में जो हेतु है, उसे सुनिए। इस जगत में लोह–यन्त्र रूपी ताले और उसके ढ़क्कन की तरह स्नेह से मिले हुए भाइयों के मनों को नारी घर में आते ही चाबी की तरह क्षण भर में अलग–अलग कर देती है। एक कोख से पैदा हुए भाइयों की मनोभूमि में प्रीति, वल्लभता, स्नेह–वल्लरी आदि तभी तक बढ़ती है, जब तक कि स्त्रियों के अलग करनेवाले वचनों से उद्‌भूत दावानल नहीं जलता है। उस दावानल के जलने पर तो कुछ भी शेष नहीं रहता है। हे राजन! नीति–शास्त्र में भी कहा है–

कदापि शत्रूणां विश्वासो न कर्तव्यः स्त्रीणां तु विशेषतः, कदाचिदपि नैव करणीया।

अर्थात् कभी शत्रुओं का विश्वास नहीं करना चाहिए, स्त्रियों का तो विशेष रूप से कभी भी नहीं करना चाहिए।

इसमें हेतु बताते हैं–क्योंकि शत्रु तो विमुख–विरक्त होने पर ही घात करता है, पर नारी तो सम्मुख रहते हुए भी घात करती है। और भी, सुवंश में उत्पन्न पुरुष स्त्रियों से प्रेरित होकर ही अकृत्य करता है। जैसे–सुवंश में उत्पन्न हुआ मन्थानक स्त्रियों से प्रेरित होता हुआ अति स्नेहिल दही को क्या नहीं मथता? मथता ही है। प्रेयसी से गृहित हाथवाला पति अरहट के समान घूमता हुआ माता–पिता आदि के प्रबल स्नेह को क्षण में दलित कर देता है। सम्पूर्ण पूर्वावस्था का त्याग कर देता है। कुकूल की नारी द्वारा खाया जाता हुआ–घृष्यमाण भी पुरुष हर्षित होता है, मद करता है। जैसे–तलवार की धार घिसे जाने पर भी तेजस्वी होती है।"

हे राजन! लोकोक्ति है कि 'ब्रह्मा के द्वारा जगत की सर्जना करते हुए शत्रु के निग्रह के लिए चार उपाय रचे, पर कोई भी पाँचवाँ उपाय नहीं रचा, जिससे कि नारी के मन का निग्रह किया जा सके।"

मेरे द्वारा पहले इनकी चित्त–प्रसन्नता के लिए जलधारा की तरह अनेक उपकार किये गये, पर इन पर ऊसर भूमि पर बीज बोने की तरह सभी व्यर्थ साबित हुए। जो सुकुलीन स्त्रियाँ होती हैं, उनके द्वारा प्रतिबोधित भाई उन्मार्ग प्रवृत्ति से तटस्थ भींत की तरह निवारित नदी के प्रवाह की तरह सुन्दर रूप से व्यवहार करते हैं। इसी कारण से मैंने इनका मद भेदने के लिए तथा वक्रता का नाश करने के लिए इन उपायों के द्वारा खेदित किया। जिस प्रकार सुवैद्य के द्वारा विषम ज्वर का नाश करने के लिए शरीर को सुखाया जाता है, वैसे ही मेरे द्वारा भी किया गया। और कोई बात नहीं है।"

इस प्रकार प्रेमपूर्वक बात–चीत के द्वारा शतानीक प्रसन्न होता हुआ उसके भाग्य की अद्भुतता से चकित होता हुआ अपने आवास में चला गया। सैनिकों व मन्त्रियों द्वारा प्रशंसित धन्य ने अपने पुर में आकर खुशियों से प्रसन्नचित्त माता–पिता तथा भाइयों आदि को नमस्कार किया। उन्होंने भी अच्छे मन से उसको आशीर्वाद दिया। उसके बाद सभी ने एक–दूसरे से पूर्व वृत्तान्त पूछा। सभी ने यथा–स्थिति कथन किया। इस प्रकार धन्य भक्ति–पूर्वक अपने स्वजनों का सम्मान करते हुए राजाओं में चक्रवर्ती की तरह स्वजनों के बीच शोभित होने लगा।

इस पल्लव में जो सहस्रार–मणि की परीक्षा की गयी, शतानीक की पुत्री के साथ विवाह हुआ, शतानीक के भटों के साथ युद्ध के लिए प्रगुणी भूत होना, दुःख–आपत्ति के स्थान पर स्वजनों से मिलना–यह सभी दान रूपी कल्पद्रुम के पुष्पों की थोड़ी सी लीला–मात्र थी। अतः हे भव्यों! रात–दिन सुपात्र–दान की प्रवृत्ति से चिदानन्द के समूह रूपी सुख–फल को पाया जा सके।

।। इस प्रकार श्रीमद् तपागच्छ के अधिराज श्री सोमसुन्दर सूरि के शिष्य श्री जिनकीर्ति सूरी द्वारा रचित पद्यबन्ध धन्य चारित्रवाले श्री दान कल्प–वृक्ष का महोपाध्याय श्रीधर्मसागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र शिष्य महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि के शिष्य ने अल्प मति से ग्रथित गद्य–रचना–प्रबन्ध में सौभाग्यमंजरी–परिणय तथा स्वजन–समागम का वर्णन नामक छट्ठा पल्लव पूर्ण हुआ।।

सातवाँ पल्लव

एक बार बुद्धि के धाम धन्य के मन में विचार आया–'मेरे भाई पुनः पूर्व की तरह मुझ पर अप्रीति से खिंचाये हुए चित्त को न धारण कर लेवें, इससे पहले शीघ्र ही अन्य इष्ट देश को क्यों नहीं चला जाऊँ? पर इन लोगों के हीन भाग्य के कारण कहीं राजा के दण्ड के पात्र न बन जायें।'

अतः विचार करके उन्हें राजा को संभालने के लिए कह दिया। फिर गजों,

अश्वों और ग्रामों को विभक्त करके अपने सहोदरों को हर्षपूर्वक दे दिये। जो कीमत वस्तुएँ सुवर्ण, रत्नादि थे, वे अपने पिता को समर्पित कर दीं।

पुनः कौशाम्बी में शतानीक के पास जाकर कहा–'मैं किसी कार्य से राजगृह जाता हूँ, अतः आपको मेरे कुटुम्ब का ध्यान मेरी तरह ही रखना होगा।"

इस प्रकार राजा को कहकर तथा पूछकर धन्य राजगृह की ओर चला। दोनों पत्नियों को साथ लेकर कुछ खास जनों के साथ मार्ग में अविच्छिन्न रूप से प्रयाण करते हुए कुछ ही दिनों में लक्ष्मीपुर नामक नगर को प्राप्त हुआ।

उस नगर में संपूर्ण क्षत्रियों का शिरोमणि राजगुणों से अलंकृत जितारि नाम का राजा राज्य करता था। जिसके राजा के शान्ति (क्षमा त्र शान्ति) का त्याग करने को तत्पर होने पर शत्रु भी पृथ्वी (क्षमात्र पृथ्वी) का त्याग करने को तत्पर हो जाया करते थे। उस राजा के गीत–कला में कुशल गीतकला नाम की पुत्री थी।

एक बार वह कुमारी वसन्त–उत्सव की क्रीड़ा के लिए सखीवृन्द से घिरी हुई उद्यान में गयी। वहाँ वह खेल–खेल में जलक्रीड़ा, फूलों को चुनना, गेंद उछालकर खेलना आदि क्रीड़ाओं के द्वारा युवाओं के मन को विभ्रम करनेवाली ग्राम राग में मनोहर मधुर गीतों को गाने लगी। उसके गीत की मधुरता से आकृष्ट श्रोतेन्द्रिय के परवश हरिणियाँ उसके चारों ओर आकर खड़ी हो गयीं। मानो अद्भुत हाव–भाव–विभ्रम–कटाक्ष आदि से रूपवती नारी के प्रति कामुक दृष्टिवाले विवश हो गये हों। तब उस मृगनयनी कुमारी ने उनमें से एक हरिणी के गले में कौतुक से अपना सतलड़ा हार डाल दिया। वह हरिणी गीत के रुक जाने पर भाग गयी। राजकुमारी भी अपने महलों में लौट आयी। आकर के पिता को कहा–'हे पिताश्री! मेरी एक प्रतिज्ञा सुनिए। आज मेरे द्वारा गीत–कला से आकृष्ट एक हरिणी के गले में हार पहनाया गया है। जो पुरुष अपनी गीतकला से उसी हरिणी को आकृष्ट करके, उसे बुलाकर उस मृगी के कंठ से हार ग्रहण कर लेगा, वही मेरा पति होगा।"

उसकी वह प्रतिज्ञा सर्वत्र नगर में विख्यात हो गयी, क्योंकि अद्भुत वार्ता जल में तेल–बिन्दु की तरह विस्तार को प्राप्त होती है।

तब धन्य जितारि राजा की पुत्री की प्रतिज्ञा को जनमुख से सुनकर चित्त में चमत्कृत होते हुए परिवार–सहित नागरिकों की समृद्धि को देखते हुए राजा के समीप गया। राजा ने भी भाग्यसूर्य को आया हुआ देखकर अत्यधिक आदर–सत्कारपूर्वक अपने आसन पर हर्षपूर्वक बैठाया। फिर मार्ग–गमन की कुशल–क्षेम पूछते हुए किसी तरह वह प्रतिज्ञा की बात निकाली। उसको सुनकर धन्य ने कहा–'हे महीनाथ! यदि गीतकला से आकृष्ट हरिणी आतोद्य आदि शब्दों को सुनकर भयभीत होती हुई कहीं चली जाती है, तो उस गीत–कला में क्या अद्भुतता है? ऐसी गीतकला तो निष्फल ही है। जब मृदंग–भेरी–भाङ्कार आदि के द्वारा गीत से आकृष्ट वह मृगी लोगों से व्याप्त इस नगर के अन्दर आती है, तभी वह गीतकला पूर्ण प्रशंसनीया होती है।"

इस प्रकार धन्य के कहे हुए कथन को सुनकर और उसके अद्भुत रूप को देखकर उसके चातुर्य से चमत्कृत होते हुए राजा ने उसे हरिणी को बुलाने के लिए कहा। धन्य ने भी उस प्रतिज्ञा को स्वीकारते हुए वीणा को लेकर अनेक गन्धर्वों के परिकर से युक्त होते हुए वन में गया। वहाँ एक वृक्ष की छाया में बैठकर मधुर स्वर में गीत गाने लगा और उसके साथ ही स्वर–ग्राम–मूर्च्छना आदि के संगमपूर्वक वीणा को बजाने लगा। तब उस वन में रही हुई हरिणियाँ लययुक्त गीत से आकृष्ट होकर विवश बनती हुई सभी दिशाओं से चलकर धन्य के पास आयीं और उसे घेरकर खड़ी हो गयीं। उन हरिणियों के मध्य में पूर्व में कन्या द्वारा पहनाये गये हारवाली हरिणी भी थी, जो गीत से वशीकृत चित्तवाली होकर हृदयेश के सामने प्रिया की तरह धन्य के सामने निःशंक होकर उसके मुख को देखती हुई खड़ी हो गयी। तब इन्द्रजाल–कला में कुशल लोगों की तरह मृगों के साथ गाते हुए ही नगर की ओर चलने लगा। अनेक लोगों के द्वारा कृत क्षोभों से क्षोभित करने पर भी गीत में लीन मृग–समूह ध्यानमग्न हृदयवाले योगी की तरह क्षुभित नहीं हुआ। सभी मृग आगे से पीछे तक धन्य के साथ लगकर उसके साथ ही चलने लगे।

इस प्रकार नगरजनों को आश्चर्यचकित करता हुआ धन्य नगर में प्रवेश करके दीर्घ चतुष्पथ से मृगों के साथ सारंगी बजाते हुए नागरिकों द्वारा देखा जाता हुआ राजसभा में गया। तब 'यह क्या है" इस प्रकार राजादि के कहने पर विशाल बुद्धि के स्वामी धन्य ने वीणा बजाते हुए ही हरिणी के कण्ठ से हार उतारकर कन्या के हाथ में समर्पित कर दिया।

इस प्रकार के अद्भुत दृश्य को देखकर आश्चर्य से भरे हुए राजादि तथा पौरजन प्रशंसा करने लगे–'अहो! इसका गीतकला–कौशल्य! अहो! इसका धैर्य! अहो! इसकी सौभाग्यता! अहो! इसने अदृष्टपूर्व मृग तथा मनुष्यों का निःशंक मिलन दिखा दिया। 'बहुरत्ना वसुन्धरा' –यह वाक्य इसने सार्थक कर दिया। कन्या भी पूर्ण भाग्यवती है, जिसकी ऐसी महान प्रतिज्ञा अपने मनोरथों के अनुरूप इसने पूरी की। भाग्य ने ही इन दोनों को बिल्कुल सही मिलाया है। जुग–जुग जीओ। सुखी रहो।"

इस प्रकार राजा, अमात्य आदि प्रमुख जनों के द्वारा अभिनन्दित उस कन्या ने निःशंक होकर धन्य के गले में वरमाला डाल दी। पूर्ण प्रतिज्ञावाली वह कन्या राजा ने हर्षतिलक दानपूर्व धन्य को दे दी। शुभ दिन, शुभ लग्न में उन दोनों का पाणिग्रहण महोत्सव हुआ। करमोचन के समय राजा ने गज–रथ–तुरंग तथा सैकड़ों गाँव धन्य को दिये। तब जितारि राजा के आग्रह से सुचरित्रवाला धनसार–पुत्र धन्य मनों को वैचित्र्य की अनुभूति कराता हुआ कुछ दिनों के लिए राजा के द्वारा दिये गये आवास में रुक गया।

इसी नगर में सुबुद्धि नामक राजमन्त्री के सरस्वती नामक कन्या थी। वह सरस्वती के समान ही सभी विद्याओं के हार्द को जाननेवाली थी। उसकी प्रतिभा

सभी प्रहेलिकाओं, गूढ़ प्रश्नोत्तरों, संकेत तथा समस्या आदि की पूर्ति में कभी भी आलस्य को प्राप्त नहीं होती थी। वह चारों बुद्धियों में अति प्रवीणा थी, पर बिना किसी आलम्बन के साधने में औत्पातिकी बुद्धि में तो अत्यन्त प्रवीणा थी। अतः इस अभिमान में आकर उसने प्रतिज्ञा की थी कि 'उसके द्वारा कहा हुआ मैं नहीं जानूँ, पर मेरा कहा हुआ वह जान लेगा, तो मैं उसे अपना पति स्वीकार कर लूँगी।" इस प्रकार कुमारी द्वारा की गयी प्रतिज्ञा की बात परम्परा से गाँवों और नगरों में फैल गयी।

शब्द–छन्द–अलंकार–दिशाशास्त्र के अभ्यास–मात्र से अपनी बुद्धि के प्रागल्भ्य को मानते हुए कितने ही गर्व से उत्तप्त हृदयवाले 'हमारे आगे वह कितनी है" इस प्रकार हृदय में धारण करते हुए परिणय करने को उत्सुक राजपुत्र आदि आते थे, वे उत्साहपूर्वक आकर मन्त्री–पुत्री सरस्वती के आगे जो कुछ भी गूढ़ समस्या आदि पूछते थे, उस–उस का हार्द वह मन्त्री–पुत्री शीघ्र ही विशद रीति से कह देती थी, पर कहीं भी स्खलित नहीं होती थी। इस प्रकार प्रतिदिन पाणिग्रहण की इच्छा से अपने हृदय में कल्पित अनेक गति से ग्रथित समस्या को पूछते थे, पर वह कन्या सुनने–मात्र से ही जवाब दे देती थी, तो वे लोग उदास मुख करके वापस लौट जाते थे।

एक बार मन्त्री–पुत्री सरस्वती ने अपने बुद्धि–कौशल्य को दिखाने की इच्छा से राजा को साक्षी करके सभी स्फुरित गर्ववाले पण्डितों को दो श्लोक पूछे। जैसे–

गङ्गायां दीयते दानमेकचित्तेन भाविना।
दाताऽहो! नरकं याति प्रतिग्राही न जीवति।।

अर्थात् गंगा में एक चित्त से दान दिये जाने पर दाता नरक में जाता है और लेनेवाला जीवित नहीं रहता। तथा–

का सरोवराण सोहा? को अहिययरो दाणगुणे जाओ?
अत्थग्गहणे को निउणो? मरुधरे केरिसा पुरिसा?

अर्थात् सरोवरों की शोभा क्या है? दानगुण में सबसे बढ़कर कौन है? अर्थ–ग्रहण में निपुण कौन है? मरुधर में पुरुष कैसे होते हैं?

इस प्रकार दो पहेलियाँ भूर्जपत्र पर लिखकर एक दासी के साथ भेजी। इन दोनों का अर्थ कोई भी अतिशय ज्ञान से वर्जित पुरुष नहीं जान सकता था, अतः आबाल–गोपाल में ये दोनों श्लोक ख्यात हो गये। धन्य ने जब ये श्लोक पढ़े, तो तुरन्त उसका प्रत्युत्तर लिख दिया–

मीनो लाता गलो देयं! दाताऽत्र धीवरः।
फलं यज्जायते तत्र तयोस्तद्विदितं जने।।

अर्थात् गंगातट पर कोई भी मछुआरा मत्स्य के वध के लिए प्रवृत्त हुआ, उस

समय की क्रिया से गर्भित यह समस्या है। वहाँ धीवर कांटे में मांसखण्ड बाँधकर मत्स्य को देता है, उससे धीवर दाता जानना चाहिए, मांसखण्ड देय द्रव्य है। उस मांसखण्ड को लेने के लिए मत्स्य प्रवृत्त होता है, अतः प्रतिग्राही मत्स्य है। इस क्रिया में दाता तथा प्रतिग्राहक–दोनों को जो फल मिलता है, वह तो सर्वजन–विदित ही है। दाता धीवर है, जो नरक में जाता है। प्रतिग्राही मत्स्य नहीं जीता है अर्थात् मर जाता है।

अब दूसरे श्लोक का अर्थ सुनो–

सरोवर की शोभा क्या है–जल! दानियों में अधिकतर–बल नामक राजा है, जो मरण के समय निःस्वत्व हो जाने से'ब्राह्मण को क्या दूँ'–इस प्रकार खेद को प्राप्त हुआ, तब ब्राह्मण ने कहा कि आपके दाँतों के बीच सोने की दाढ़ है, वह दे दीजिए। बलराजा ने कहा कि 'बहुत अच्छा'। ऐसा कहकर पत्थर से दाँत तोड़ने को प्रवृत्त हुआ। ऐसे महासत्व को देखकर देव प्रसन्न हो गया। अतः सर्वाधिक दाता बलराज है। अर्थ–ग्रहण (धन के ग्रहण) में निपुण वेश्या है, क्योंकि सर्व कला में निपुण धूर्तों का भी धन अपने अर्जन की कला से सुखपूर्वक ग्रहण कर लेती है। अतः अर्थ–ग्रहण में निपुण वेश्या है। मरुस्थल में पुरुष कम्बल–वसना है, क्योंकि मरुस्थल में उत्पन्न पुरुष प्रायः कम्बल के परिधान से निर्वाह करते हैं।

इस प्रकार कन्या की दोनों समस्याओं का अर्थ धन्य ने बुद्धि–बल से केवली की तरह शीघ्र प्रतिपत्र में लिखकर कन्या के पास भेजा और लिखा कि मेरे द्वारा लिखे हुए एक श्लोक के अर्थ को तुम्हें बताना होगा। जैसे–

न लगेन्नाग–नारंगे निम्ब–तुम्बे पुनर्लगेत्।
लगेत्युक्ते लगेन्नैव मा मेत्युक्ते भृशं लगेत्।।

अर्थात् नाग–नारंग कहने पर नहीं लगता, पर निम्ब–तुम्ब करने पर लगता है। लगे–ऐसा कहने पर नहीं ही लगता, पर मा–मा कहने पर बहुत लगता है–ऐसा क्या है?

इस प्रकार धन्य के लिखे हुए भूर्जपत्र को दासी द्वारा कन्या को दिया गया। कुमारी उसके द्वारा लिखे गये दोनों पहेलियों को पढ़कर चमत्कृत हो गयी।'अहो! इसका बुद्धि–कौशल्य!' इस प्रकार मस्तक हिलाते हुए आगे पढ़ने लगी, तब उसके द्वारा लिखे गये श्लोक को पढ़ा। पर उसके रहस्य को नहीं जान पायी। प्रबल ईहा–अपोह आदि से मन्थन करने पर भी उसके अर्थ रूपी नवनीत को न पा सकी। तब वह मृगाक्षी महान आश्चर्य को वहन करते हुए धन्य के पास आकर मान का त्याग करके धन्य के कहे हुए श्लोक का अर्थ पूछा। तब धन्य ने भी थोड़ा हँसते हुए उसका अर्थ बताते हुए कहा कि इसका उत्तर स्पष्ट ही 'ओष्ठ–पुट' है।

इस प्रकार सभ्यजनों के समक्ष कुमारी की कही हुई समस्या का उत्तर देने से तथा धन्य की कही हुई समस्या के समाधान को नहीं जान पाने से कुमारी की

प्रतिज्ञा को पूर्ण जानकर मन्त्री ने पुत्री से कहा–'हे पुत्री! तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। अतः अब इनके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण करवाता हूँ।"

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर उसने भी पिता के वाक्य का अनुमोदन किया, क्योंकि ईप्सित अर्थ को कौन नहीं मानता? तब मन्त्री ने अत्यधिक आदरपूर्वक धन्य का सत्कार करके उन दोनों का महा–महोत्सवपूर्वक पाणिग्रहण करवाया।

इसी नगरी में बत्तीस करोड़ सुवर्ण का स्वामी पत्रमल्ल नामका महा–इभ्य श्रेष्ठी वणिक रहता था। उसके विनयादि गुणों से युक्त चार पुत्र थे। पहले पुत्र का नाम राम, दूसरे का काम, तीसरे का धाम तथा चौथे का नाम साम था। उन सभी पुत्रों के ऊपर किसी भी दोष को आश्रय नहीं देनेवाली समस्त गुणों के एकमात्र मंदिर के सदृश प्रत्यक्ष लक्ष्मी की तरह लक्ष्मीवती नाम की पुत्री थी। इस प्रकार वह श्रेष्ठी समस्त सांसारिक सुखों से सुखी था। आत्मिक सुख पाने की लिप्सा से सुदेव–सुगुरु–सुधर्म की तीव्र भक्तिपूर्वक आराधना करता था। प्रतिदिन साधु आदि पुण्यपात्रों का पोषण करता था। दीन–हीन–दुःखीजनों का अनुकम्पापूर्वक उद्धार करता था। तीर्थयात्रा, रथयात्रा, कल्याणकोत्सव, साधर्मिकवात्सल्य आदि में अत्यधिक–मात्रा में धन का व्यय करते हुए पत्रमल्ल दुर्लभ सामग्रीवाले मनुष्य भव को सफल करता था। क्रम से तीनों वर्ग की आराधना करते हुए वह बुढ़ापे को प्राप्त हुआ। एक बार भैंसे के रोगों से व्याप्त की तरह वह शरीर के रोगों से अत्यधिक व्याकुल हुआ। तब पत्रमल्ल शरीर के चिह्नों द्वारा मरण को नजदीक जानकर बत्तीस द्वारों से बद्ध बृहत् आराधना को करने के लिए सावधान हुआ।

सबसे पहले परिग्रहादि मोह–मूर्च्छा को शिथिल करने के लिए पुत्रों को बुलाकर इस प्रकार कहा–"हे पुत्रों! मेरा कहा हुआ सुनो। इस जगत में लक्ष्मी रहित पुरुष का क्या कहीं भी गौरव देखते हो? क्योंकि गन्धरहित कस्तूरी को क्या कोई स्वीकार करता है? इसलिए एक लक्ष्मी ही सर्वत्र श्लाघा को प्राप्त होती है, जिससे कलंकित मनुष्य भी देवों से भी ज्यादा मान को प्राप्त होता है। और भी, जैसे अनेक पत्नियोंवाला पुरुष परस्पर दाराओं के कलह से व्याकुल होता है। वैसे ही परस्पर धातुओं के विमार्ग प्रवर्तन के योग से लक्ष्मी व्याकुल होती है। धर्म का मुख्य साधन लक्ष्मी ही कहा जाता है, जैसे कि धान्य की निष्पति में मुख्य साधन बादल ही है। कालिमा युक्त लक्ष्मी भी पुण्य का हेतु माननी चाहिए, क्योंकि पंक से कलुषित भी पृथ्वी निर्मल कमल के प्रसव का हेतु क्या नहीं होती? बल्कि होती ही है।

प्रासाद, प्रतिमा, संघ, तीर्थयात्रा आदि धर्म लक्ष्मी को आश्रित करके ही निष्पादित होते हैं। जैसे–पण्डितों के द्वारा अनेक अर्थ, अलंकार आदि से युक्त युक्तियुक्त तथा विद्वद्जनों के चित्त को आह्लादकारी विविध ग्रन्थ बुद्धि द्वारा निष्पादित होने पर भी उन्हें धन–खर्च द्वारा ही छपवाया जा सकता है। अतः लक्ष्मी सांसारिक लोगों के लिए इसलोक तथा परलोक में मुख्य इष्ट हेतु है।

और भी, पिता के द्वारा बचपन में लालित, पालित, पोषित पुत्र यदि युवावस्था में धनोपार्जक और घर का निर्वाहक नहीं होता है, तो पिता उस पुत्र को लड़की जितना उपयोगी भी नहीं मानता है, बल्कि 'हमारे घर को डुबानेवाला है' इस प्रकार बोलता है। और अगर वह अपरिमित धन का उपार्जन करता है, तो अत्यधिक खुश होते हुए पिता प्रशंसा करता है–'यह पुत्र हमारा कुलदीपक है, यही हमारा कुल–मण्ड़न है।' माता भी अनेक मनोरथों के साथ प्राप्त पुत्र का अनेक मनोरथों की आशा से लालन–पालन करती है और उसके मुख को देखकर हृदय के उल्लास को प्राप्त होती है। उसके बाद जब वय प्राप्त होने पर भी धनोपार्जक नहीं होता है, वही माता इस प्रकार बोलती है–'मेरी कोख में पैदा होते ही क्यों नहीं मर गया?'

औरत भी तब तक ही प्रेम से बोलती है, जब तक कि पुरुष से इच्छित वस्त्राभूषण आदि प्राप्त होता है। वह प्रशंसा करती है–'कामदेव के रूप के समान मेरा पति है।' अन्यथा तो ठूंठ है, यह पंगु मार्जार के समान हैं, इस प्रकार निन्दा करती है।

स्वजन भी तब तक ही सज्जन भाव का प्रदर्शन करते हैं, जब तक कि घर में लक्ष्मी का वास होता है। नागरिक भी आदर– सत्कार–सम्मानादि तभी तक देते हैं, जब तक कि धन पास में है। कलावन्तों की कला, विद्यावन्तों की विद्या, मतिमन्तों की मति, गुणवन्तों के गुण तभी तक प्रंशसा के योग्य होते हैं, जब तक लक्ष्मी उनके घरों में स्थिर रहती है। धनवानों में हजारों दोष होने पर भी उनके गुण ही लोगों द्वारा गाये जाते हैं। यदि धनी ज्यादा बोलता है, तो उसे वाक्यपटु कहा जाता है और कम बोलता है, तो असत्य के भय से कम बोलता है–ऐसा कहा जाता है।

अगर धनी जल्दबाजी मे कार्य करता है, तो 'यह उद्यमी, प्रमाद–परिहारी तथा आलस–रहित है' ऐसा कहा जाता है। अगर आलस के कारण काम में मन्द होता है, तो 'धीर है, सहसा कार्य नहीं करना चाहिए–इत्यादि नीति वाक्यों में कुशल है'–इस प्रकार लोग बोलते हैं।

अगर धनी बहुत खानेवाला होता है, तो लोग कहते हैं–'प्रबल पुण्योदयवाला है, जिससे दोनों शक्ति से सम्पन्न होने से क्यों न खाए? क्योंकि–

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः।
विभवो दानशक्तिश्च अनल्पतपसः फलम्।।

अर्थात् भोज्यशक्ति, रति–शक्ति, श्रेष्ठ स्त्रियाँ, वैभव और दानशक्ति–ये महान तपस्या के फल हैं।

इत्यादि रूप से स्तुति करते हैं। अगर वही पुनः स्वल्प–भोजी होता है, तो 'इसका मन सर्व–सम्पन्न होने से भरा हुआ है' ऐसा बोलते हैं।

यदि धनी वस्त्र–आभरण आदि के आडम्बरपूवर्क बाहर जाता है, तो 'इसने पूर्व में प्रबल पुण्य किया है, जिससे यथाप्राप्त में विलास करता है, लब्ध का सार ही

यही है, जो भोग के लिए हो'–इस प्रकार कहते हैं। अगर वह कुछ भी वस्त्राभरणादि को धारण नहीं करता है, तो उसकी गम्भीरता, धार्मिकता, सन्तोषी–प्रवृत्ति के गुण गाते हैं।

यदि धनी अत्यधिक धन व्यय करता है, तो उसे उदार चित्त, परोपकारी' कहा जाता है। यदि वह अल्प व्यय करनेवाला होता है, तो यह योग्य–अयोग्य विभाग का ज्ञाता है, विचार करके कार्य को करनेवाला है जो उचित होता है, वही करता है, ज्यादा धन हो, तो क्या गली में बिखेरने के लिए होता है – इस प्रकार बोलते हैं।

सार यही है कि सभी गुण धनियों में होते हैं और सभी दोष गरीबों में होते हैं। ये सभी गुण जैसे लक्ष्मी से होते हैं, वैसे ही दोष भी सहस्रों होते हैं। इष्ट योग की तरह क्या संसार में अनिष्ट योग नहीं होते? क्योंकि–

निर्दयत्वमहंकारस्तृष्णाकर्कशभाषणम्।
नीचपात्रप्रियत्वं च पञ्चश्रीसहचारिणः।।

अर्थात् निर्दयता, अहंकार, तृष्णा, कठोर वचन तथा नीच लोगों की प्रियता–ये पाँच लक्ष्मी के सहचर हैं। तथा–

भक्तद्वेषो जड़े प्रीतिः प्रवृत्ति गुरुलङ्घने।
मुखे च कटुतानित्यं ज्वरीव धनिनां हि यत्।।

अर्थात् भोजन में द्वेष (दूसरे अर्थ से सेवकों से द्वेष), जल में प्रीति (दूसरे अर्थ से जड़ = मूर्ख लोगों से प्रीति), पिता आदि का उल्लंघन करना (दूसरे अर्थ से गुरुक = उपवास का उल्लंघन करना), कटु भाषण करना–ये बातें बुखार के रोगी की तरह धनिकों में होती हैं।

इत्यादि अनेक दोषवाला तथा महान अनर्थकारी धन होता है। फिर भी लोग इसको पाने के लिए अत्यन्त प्रार्थना करते हैं। जैसे कि अजीर्ण आदि दोष होने पर भी आहार की इच्छा प्राणियों को होती है। लक्ष्मी अत्यन्त क्लेश से प्राप्त होती है, फिर भी लोग इसकी इच्छा करते हैं, क्योंकि लोक में आग से घर जल जाने पर भी लोग आग की इच्छा करते ही हैं। अतः हे पुत्रों! दोष की खान होने पर भी धन गृहस्थों के द्वारा नहीं छोड़ा जा सकता, पर धन के लिए तुम लोग परस्पर स्नेह को शिथिल करके कलह का सेवन नहीं करना। कलि अर्थात् बिभीतक का वृक्ष फलप्रदाता होने पर भी सुखार्थी इसका त्याग करते हैं। तुम सभी हमेशा एक–दूसरे के प्रति स्नेह से एकीभूत होकर रहना। नीति में भी कहा है–''समुदायो जयावह'' अर्थात् समुदाय जय को प्राप्त करानेवाला होता है, क्योंकि तन्तुओं का समुदाय रूप रस्सा हाथी को बाँधने मे समर्थ होता है। कहा भी है–

भिद्यन्ते भूधरा येन धरा येन विदार्यते।
संहतेः पश्यत प्रौढिं तृणैस्तद् वारि वारितम्।।

अर्थात् जिसके द्वारा पर्वत भेदा जाता है, जिसके द्वारा धरती विदीर्ण कर दी

जाती है, पर समूह की शक्ति देखो कि तृणों के समूह द्वारा वही पानी रोक लिया जाता हैं।

पुरुषों द्वारा मेल–मिलाप के स्वभाव ये युक्त होकर कहीं भी रहना भविष्य के लिए श्रेयस्कर होता है। अपने कुटुम्ब के साथ तो विशेष रूप से अत्यन्त स्नेह के साथ रहना अत्यन्त श्रेयस्कर जानना चाहिए। अन्यथा तो विरोध का फल विरोध ही होता है। यश–धनादि की वृद्धि नहीं होती है। जैसे–तुषों के द्वारा परित्यक्त चावल कभी नहीं उगते।

और भी, मनुष्य निर्धन होते हुए भी अपने स्नेहिल परिजनों से घिरा हुआ ही शोभा देता है। छिद्रों से रहित वस्त्र ही बाजार में मूल्य को प्राप्त होता है। धन–परिग्रहवाले गृहस्थों के अपने घर में रहते हुए तब तक ही प्रताप–धन–गौरव–पूजा–यश–सुख–सम्पदा–ज्ञातिजन आदि महत्त्वों की वृद्धि होती है, जब तक अपने कुल में क्लेश उत्पन्न नहीं होता। राजा आदि के द्वारा मान्य होने से दूसरों द्वारा अपरिभूत भी मनुष्य अपने कुटुम्ब–क्लेश के कारण कुछ ही दिनों मे क्षीण हो जाता है, जैसे–राजमान्य महासैनिक भी राजयक्ष्मा (टी.बी.) रोग के कारण थोड़े ही दिनों मे क्षय को प्राप्त हो जाता है।

अतः हे पुत्रों! यदि पुत्र–पौत्र आदि की वृद्धि होने पर अगर क्लेश को रोकना शक्य न हो, तो तुम सब अलग–अलग रहना, पर दुष्टता को हृदय में न पनपने देना। मैंने तुम चारों के हित के लिए तुम्हारे नामों से अंकित समान विभागवाले चार कलश घर के चारों कोने में गाड़ दिये हैं। जब तुम अलग–अलग रहना चाहो, तब अपने–अपने नाम के अनुसार उन्हें ग्रहण कर लेना। पर आपस में क्लेश मत करना, क्योंकि उन चारों कलश में समान धन है। उनमें थोड़ा–सा भी न्यूनाधिक नहीं है, क्योंकि मुझे तुम चारों ही अपने चार अंगों की तरह समान रूप से प्रिय हो। मेरे मन मे कुछ भी पंक्ति भेद नहीं है।''

इस प्रकार अपने पुत्रों को तीन प्रकार से शिक्षा देकर सत्त्वशाली वह समस्त जीवों को तीन प्रकार से क्षमा करके अरिहन्त आदि की शरण लेकर भवचरम प्रत्याख्यान के द्वारा आयु पूर्ण करके देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

उसके मरण के बाद की दैहिक क्रियाएँ आदि करके उसकी शिक्षा को ग्रहण करके राम–काम आदि चारों भाई स्नेह–सिंधु की तरह कितने ही समय तक एक ही घर में रहे। कुछ समय बीत जाने के बाद पुत्र–पौत्रादि सन्तति–सन्तानें बढ़ जाने से परस्पर क्लेश बढ़ जायेगा, यह सोचकर चारों ने अलग–अपने घर में रहने का निर्णय लिया।

तब उन्होंने प्रसन्न–वदन से पिता द्वारा चारों कोनों में स्थापित चारों कलश निकाले, क्योंकि बालक का भी धन की प्राप्ति में आलस नहीं होता। सबसे बड़े पुत्र के नामांकित कुम्भ में स्याही का पात्र, कलमदानी, लिखने के लिए प्रत तथा लेखनी

आदि चिह्न मिले। शुभ अन्तःकरणवाले द्वितीय पुत्र के कुम्भ के अन्दर घर–पुल आदि प्रकट करनेवाली पृथ्वी की रज दृष्टि–पथ पर आयी। तीसरे पुत्र के स्व–नामांकित कुम्भ के अन्दर हाथियों, ऊँटों, गधों घोड़ों तथा बैलों की अनेक अस्थियाँ रखी हुई थी। चौथे–सबसे छोटे पुत्र के कुम्भ में अपनी ज्योति से सर्व दिशाओं को द्योतित करनेवाले आठ करोड़ सुवर्ण को देखा। उन स्वर्ण से भरे हुए कलशों को देखकर तीनों अग्रजों के अमावस्या पक्ष की द्वादशी की रात्रि के पूर्व के तीनों प्रहर की भाँति अत्यधिक कालिमा से युक्त हो गये। चौथा पुत्र स्वर्ण से भरे हुए कलशों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। स्वर्ण–मोहरों के लाभ से कौन प्रसन्न नहीं होता? छोटा होते हुए भी इसने लक्ष्मी के द्वारा महत्त्व को प्राप्त किया, जैसे छोटी–सी मणि भी कान्ति के द्वारा क्या अर्थ को नहीं प्राप्त करती?

उन तीनों भाइयों ने लोभ से क्षुभित होते हुए अशोभनीय भाषा में स्वर्ण–निधान में अपना–अपना हिस्सा माँगा। तब छोटे भाई ने कहा–"अपने नाम का द्रव्य मैं नहीं दूँगा। मेरे भाग्य से लब्ध द्रव्य को मैं ही ग्रहण करूँगा। आपके पापोदय से यदि कुम्भों में धन नहीं निकला, तो मैं क्या करूँ? कौन जानता है कि आप तीनों में से किसी ने भी लोभ से चुरा लिया हो, तो मेरा क्या दोष है? आपके कर्मों का ही दोष है।"

इस प्रकार लज्जा–रहित होते हुए छोटे ने भी अपना भाग नहीं दिया। तब शिथिल स्नेहवाले वे सभी घरों में अपना क्लेश करने लगे। बहुत दिनों तक क्लेश से उद्विग्न होते हुए दम्भ रहित न्याय पाने के लिए चतुष्पथ में रहे हुए महा–इभ्य श्रेष्ठी जनों के पास गये, परंतु वे भी उनकी क्लेश–वार्ता को सुनकर दिशामूढ़ हो गये। अपने–अपने बुद्धि–वैभव का खर्च किया, पर निर्णय न कर पाये। तब सभी ने कहा–"राजद्वार में महाबुद्धि है। अतः राजा के दरबार में जाओ। वहाँ उनके पराघात नामकर्म के उदय के बल से सभी सीधे हो जायेंगे।"

यह सुनकर जैसे तार्किक न्याय को नहीं प्राप्त करने पर अत्यधिक विवाद करते हए सर्वज्ञ के पास जाते हैं, वैसे ही वे राजा के पास गये। राजसभा में जाकर अपना दुःख सुनाते हुए खड़े रह गये। वहाँ भी न्याय–निपुण चतुर मन्त्रियों द्वारा कलह शान्त न हो पाया, तब राजा ने विचार किया–"यह कलह किसी के द्वारा भी शान्त नहीं किया जा सकता, पर चारों बुद्धि में निपुण धन्य के द्वारा शान्त किया जा सकता है।"

इस प्रकार विचार करके धन्य को आदेश दिया। विपुल बुद्धि के धारक धन्य ने भी राजा की आज्ञा पाकर कहा–"हे भद्रों! आपके पिता ने भव्य, सरल तथा समान वर्गीकरण किया है, पर आप उसे नहीं जान पाने के कारण व्यर्थ ही कलह कर रहे हैं। चूँकि पिता का वात्सल्य सभी पुत्रों पर समान होता है, कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। अतः आपके पिता ने द्रव्य का अंश सभी को समान ही दिया है। इसका रहस्य

सुनिए–

जिस पुत्र की जिस वस्तु के व्यवहार में मति अधिक है, उस पुत्र के लिए सुख के एकमात्र हेतु रूप से उस–उस कार्य के लिए नियुक्त किया गया है। उस व्यापार की क्रिया में लगाया गया द्रव्य उसी पुत्र को दिया है। बही आदि जो वस्तुएँ बड़े पुत्र के कुम्भ मे प्राप्त हुई, इस का अर्थ यह है कि ब्याज के अंतर्गत रहा हुआ द्रव्य बड़े पुत्र को दिया गया है, क्योंकि उसके कार्य के लिए बड़ा पुत्र ही समर्थ है। यह प्रथम पुत्र के हिस्से का धन हुआ।

जिसके कुम्भ में सेतु–केतु को पैदा करनेवाली मिट्टी निकली, उस पुत्र के उस वाणिज्य में कुशल होने से मिट्टी के संकेतपूर्वक धान्य के कोष्ठागार तथा खेत उसको दिये हैं। उस व्यापार में रहा हुआ द्रव्य बड़े पुत्र को दिये गये धन के तुल्य ही है। यह दूसरे पुत्र के हिस्से का विभाग हुआ।

जिसके कुम्भ में गज–हस्ती आदि की अस्थियाँ निकलीं, उसको गज–अश्व–गाय–भैंस आदि चतुष्पद में कुशल ज्ञानी जानकर तीसरे पुत्र को समस्त चतुष्पद का धन दिया है। यह तीसरे पुत्र का विभाग हुआ।

जिसके कुम्भ में रत्न–हिरण्य–सुवर्णादि निकला है, उसे छोटा होने से व्यापार क्रिया में अयोग्य जानकर उसी कारण से उसे रोकड़ा धन दिया। यह चौथे पुत्र का विभाग हुआ।

इस आशय से आपके पिता ने उस–वस्तु का संकेत किया है। अतः अपने–अपने मन में विचार कीजिए कि उस–उस संकेतित व्यापार मे द्रव्य संख्या का हिसाब लगाने पर सभी पुत्रों को आठ–आठ करोड़ सुवर्ण दिया है। अतः अगर पिता के आशय–सूचक की मेरे वचनों में प्रमाणता है, तो अपने–अपने मन में विचार कर उत्तर देवें।''

इस प्रकार कहकर धन्य बैठ गया। तब बड़े भाई ने अपने मन मे विचार कर कहा–''मेरे ब्याज आदि द्रव्य की वृद्धिवाले व्यापार मे हमेशा आठ करोड़ सुवर्ण लभ्य रहता है।''

अद्वितीय मतिवाले द्वितीय पुत्र ने भी कहा–''मेरे भी सेतु, केतु, धान्य–कोष्ठागार आदि के द्वारा धन की संख्या लगभग बड़े भाई की द्रव्य–संख्या जितनी ही रहती है।''

तीसरे पुत्र ने कहा–''मेरे भी घोड़ों की संख्या दस हजार, हाथियों की सौ, गोकुलों की सौ, ऊँटों की आठ हजार तथा भैंस–बकरी आदि भी बहुत सारे हैं। उन सभी के मूल्य की गणना करने पर आठ करोड़ ही होता है।''

इस प्रकार उनके वचनों को सुनकर राजा और सभासद विस्मित्त–चित्तवाले होते हुए मस्तक धुनते हुए धन्य की बुद्धि के कौशल्य का वर्णन करने लगे। तब चारों को राजा ने पूछा–''तुम लोगों का विवाद खत्म हुआ? निःसन्देही हुए?''

उन्होंने भी हाथ जोड़कर कहा–''स्वामी! आप चिरकाल तक सुखी होओ।

आपके आदेश से पुरुषोत्तम धन्य ने बुद्धि की लीला–मात्र से विवाद नष्ट कर दिया तथा परस्पर प्रीति–लता को बढ़ाया है। हमारे कलह का नाश हुआ।''

तब राजा के द्वारा विदा किये गये वे महा–इभ्य वहाँ से निकलकर राजा को नमस्कार करते हुए अपने–अपने घर चले गये। धन्य की प्रतिभा, भाग्य व कला से हरण किये हुए हृदयवाले होकर उन इभ्यों ने घर जाकर परस्पर विचार करके रूप और लक्ष्मी से युक्त अपनी छोटी बहिन लक्ष्मीवती को धन्य के साथ परिणय–सूत्र में बंधवा दिया। महा–महोत्सव के साथ चारों ने एक–एक करोड़ सुर्वण भी दिया।

उधर इसी नगर में सदा कृषि आदि कर्मों में निमग्न रहनेवाला धनकर्मा नामक वणिक रहता था। उसके पापानुबंधी पुण्य के उदय से अपरिमीत धन था, पर वह महा–कृपण था। उसकी विपुल लक्ष्मी भी न त्याग के योग्य थी, न भोग के योग्य। नपुंसक की स्त्री की तरह केवल घर की शोभा के लिए थी।

एक बार कोई स्तुति–पाठक अपनी जाति के सम्मेलन में गया। वहाँ वे सभी स्तुति–पाठक अपने–अपने बुद्धि–कौशल की प्रशंसा करने लगे। किसी ने कहा–''मैंने अमुक देश के अधिपति को रंजित करके धन ग्रहण किया।'' अन्य किसी ने कहा–''अमुक देश का अधिपति महा–कंजूस है। मैंने उसे भी रंजित करके धन प्राप्त कर लिया।'' दूसरे किसी ने कहा–''अमुक राजा का मन्त्री समस्त शास्त्रों का पारगामी है, सभी मेधावियों मे सबसे परम है, अनेक वादि– वृन्द को बुद्धि से जीतकर भेज दिया है, पर धन तो देता ही नहीं है। गुरु–प्रसाद से मैंने उसे जीतकर प्रसन्न कर लिया और महान प्रसाद प्राप्त किया।''

इस प्रकार परस्पर बोलते हुए किसी स्तुति–पाठक ने कहा–''आप जो कुछ भी कह रहे है, वह सभी सत्य ही है। पर मैं तो आप सभी की बुद्धि का कौशल्य तभी मानूँगा, जब लक्ष्मीपुर में रहनेवाले धनकर्म के पास से एक दिन का निर्वाह होने जितना भी भोजन लेकर दिखा दो। अन्यथा तो आपके वचन गला फाड़ने के समान ही सिद्ध होंगे।''

तब एक मागध ने अपनी कला से गर्वित होते हुए कहा–''अहो! इसमें क्या दुष्कर है? मैंने तो अनेक कठोर–हृदयवालों को रंजित किया है, तो फिर ये बिचारा तो कितना–मात्र है? इसके पास से अगर भोजन–वस्त्रादि लेकर नहीं बताया, तो स्तुति–पाठकों के द्वारा किये गये दान के विभाग को मैं ग्रहण नहीं करूँगा।''

इस प्रकार शर्त लगाकर धनकर्म के घर गया। अमृत–सिंचित वाणी से धनकर्म से याचना करने लगा–''हे विचक्षण शिरोमणि! देने में क्यों विलम्ब करते हैं? आयु का कोई साक्षी नहीं है अर्थात् आयु का कोई भरोसा नहीं है। आँख की पलक झपकने से पहले ही दीर्घनिद्रा (मौत) आ जाती है। अतः दान–धर्म मे विलम्ब करना अयुक्त है। क्योंकि–

अनुकूले विधौ देयं यतः पूरयिता प्रभुः।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वंहरिष्यति।।1।।
देहिभ्यो देहि सन्देहिस्थैर्या मा संचिनु श्रियम्।
हरन्त्यन्ये वने पश्य भ्रमरीसञ्चिन्तं मधु।।2।।
विशीर्यन्तु कदर्यस्य श्रियः पातालपक्त्रिमा।
अगाधमन्धकूपस्य पश्य शैवलितं पयः।।3।।
बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षाद्वारा गृहे–गृहे।
दीयतां दीयतां दानमदातुः फलमीदृशम्।।4।।

अर्थात् भाग्य के अनुकूल होने पर दान देना चाहिए, क्योंकि प्रभु उसे फिर से पूर्ण कर देते हैं। भाग्य के प्रतिकूल होने पर भी दान देना चाहिए, क्योंकि सब कुछ जानेवाला तो है ही।।1।।

जिस लक्ष्मी की स्थिरता में सन्देह है, ऐसी लक्ष्मी को इस शरीर के लिए संचय करके रखने से क्या? क्योंकि देखो! मधुमक्खी द्वारा संचित शहद वन में से अन्य कोई ग्रहण कर लेता है।।2।।

कृपण की पाताल में संचित की गयी लक्ष्मी भी नाश को प्राप्त होती है, जैसे कि अगाध अन्ध–कूप में शैवाल से युक्त पानी को देखो। (जो किसी के काम नहीं आता, अतः दूषित हो जाता हैं।)।।3।।

भिक्षु घर–घर में बोध करते हैं, पर माँगते नहीं है। दान दीजिए–दान दीजिए कहने पर भी दान नहीं पाते–इस प्रकार का फल दान नहीं देने पर प्राप्त होता है।।4।।

इत्यादि अनेक सुभाषित वचनों, अन्योक्तियों आदि को उस धनकर्म को प्रबोधित करने के लिए पढ़ा, पर उसका मन मुद्ग–शैल पत्थर की तरह थोड़ा भी दया से आर्द्र नहीं हुआ। "मैं दुःखी हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं ब्रह्मा हूँ," इत्यादि अनेक प्रकार के अभिनय द्वारा दीन वचन कहे।

तब उस धूर्त–सम्राट श्रेष्ठी ने कहा–"हे भद्र मागध! आज अवसर नहीं हैं, अतः आज अगर तुम भोजन की याचना करते हो, कल निश्चित रूप से दूँगा।"

धनकर्मा के इस प्रकार कहने पर वह मागध उसके आशय को नहीं पहचानता हुआ प्रसन्न होकर विचार करने लगा–'मेरा आना सफल हुआ। मैं शर्त करके यहाँ आया, तो इसने एक दिन के विलम्ब से ही सही, दान देना तो स्वीकार कर लिया। बिल्कुल 'ना' तो नहीं कहा। अच्छा है! कल ही आकर दान लेकर जाऊँगा। एकान्त रूप से हठ करना याचक–वर्ग के लिए श्रेष्ठ नहीं है।'

इस प्रकार विचार करके चला गया। पुनः दूसरा दिन उगने पर वहाँ जाकर उसी प्रकार से फिर से याचना करने लगा। तब धनकर्मा ने कहा–"हे मागध! क्यों आकुल होते हो? धैर्य धारण करो। मैंने तो कहा था कि कल दूँगा'।"

उसके इस प्रकार कहने पर नहीं देने की इच्छा से परिकर्मित मागध के द्वारा अन्दर की बात ज्ञात कर ली गयी, फिर भी उसने विचार किया–'मेरा इसके साथ कलह करना उचित नहीं है, क्योंकि 'मैं उसे प्रसन्न करके भोजन लाऊँगा'–इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करके यहाँ आया था। कलह करने से उस प्रतिज्ञा की हानि होगी। इसने पुनः 'कल दूँगा'–इस प्रकार कहा है, बिल्कुल मना तो नहीं किया है। अतः इसके पीछे लगकर रोज माँग–माँगकर इसे खेदित कर दूँगा। फिर कितने समय तक मुझे प्रत्युत्तर देगा? अन्त में यही थककर मुझे कुछ न कुछ दे देगा। अथवा तो लोक–लज्जा से ही सही–मेरा कार्य जरूर हो जायेगा। देखता हूँ–इसके या मेरे पूर्व–कर्मों का क्या परिणाम आता है? कौन हारता है?''

इस प्रकार विचार करके प्रत्येक दिन आशीर्वाद–वचन कहकर भोजन की याचना करने लगा। वह सेठ भी प्रथम दिन कहे हुए वचन रोज दोहराने लगा। तब एक दिन मागध ने कहा। ''कल कब होगा?''

धनकर्मा ने कहा–''अभी तो आज है, कल कहाँ है? अतः कल दूँगा।'' यह कहकर उसे भेज दिया।

इस प्रकार प्रतिदिन याचना करते हुए अनेक वर्ष बीत गये। पर धनकर्मा ने कुछ भी नहीं दिया। बन्दी भी थककर निराश होता हुआ विचार करने लगा–'यह कृपण तो किसी उपाय से भी व्यय नहीं करता। पर किसी भी उपाय से मुझे तो इससे व्यय करवाना ही है, क्योंकि जल खींचनेवाले यन्त्र को बिना आवर्त्त किये हुए कूप से जल खींचा जा सकता है? नीति में भी कहा है–'शठ के प्रति शाठ्यता करनी ही चाहिए।' क्योंकि वक्रशील स्वभाववाले के द्वारा जबरन सदाचार करवाया जाता है। जब तक धनुष खींचकर धारण किया हुआ रहता है, तभी तक सेवक सीधे रहते हैं, अन्यथा नहीं। इस कृपण शिरोमणि को किसी देवता आदि की सहायता के बिना अपने वश में नहीं किया जा सकता। अतः 'लाठी टेढ़ी होने पर वार भी वक्र ही करना चाहिए'–यह लोकोक्ति सत्य साबित करनी चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए किसी भी उपाय से इसकी लक्ष्मी को प्राप्त करके त्याग–भोग विधान के द्वारा कृतकृत्य करूँगा। अतः प्रतारणी विद्या को साधकर अपने इच्छित कार्य को करूँगा।''

इस प्रकार विचार करके करोड़ों के धन की इच्छावाला वह मागध चण्डिका देवी के मन्दिर में गया। उस देवी को नमस्कार करके ''आपके प्रसाद से मेरा कार्य सिद्ध होवे''–इस प्रकार कहकर सावधान मनवाला होकर वह मागध विद्या–आराधन के लिए ''इच्छित को पूर्ण करूँगा या तो शरीर को ही नष्ट कर दूँगा'' इस प्रकार मन को निश्चल बनाकर विनयसहित इक्कीस उपवास विधिपूर्वक किये। इस प्रकार उसके द्वारा मौन–तप–मन्त्र–जाप–होमादि बहुत सी आराधना के कृत्यों द्वारा वह चण्डिका देवी प्रसन्न हो गयी। वह प्रत्यक्ष होकर मागध को बोली–''हे वत्स! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। जो चाहिए, वह माँग लो।''

देवी की वाणी सुनकर उस मागध ने देवी को प्रणाम करके माँगा–"हे प्रिय को देनेवाली माता! अगर आप मुझ पर प्रसन्न हुई हैं, तो मुझे रूप–परावर्तिनी विद्या और अतीत को जाननेवाली विद्या प्रदान करें।"

तब देवी ने भी उसको उसका इच्छित वरदान दिया तथा अदृश्य हो गयी। देवी की प्रसन्नता को प्राप्त करनेवालों को क्या अदेय रहता है? तब वह मागध प्रसन्न–चित्त होता हुआ उठकर अपने घर आया, पारणा करके अवसर की प्रतिक्षा करने लगा।

एक दिन धनकर्मा अपने किसी कार्य से ग्रामान्तर में गया। तब अवसर पाकर वह मागध देवी द्वारा किये गये वर के प्रभाव से धनकर्मा का रूप बनाकर उसके घर में जाकर पुत्रादि को बोला–"आज मैं शकुन न होने से ग्रामान्तर नहीं गया। अतः लौटते हुए मैंने मार्ग में श्रीमद् अर्हन्तों का धर्म कहते हुए एक मुनि को देखा। तो मैं मुनि को नमस्कार करके वहीं बैठ गया। करुणा से युक्त मुनि ने धर्म का सार बताया। जैसे कि–सभी संसारियों की कामना प्रचुर होती है। उसके लिए सभी अनिर्वचनीय कष्ट सहन करते हैं, क्योंकि–

यद् दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमथन–क्लेशं कृषिं कुर्वते।
सेवते कृपणं पतिं गजघटासङ्घट्ट–दुःसञ्चरं,
सर्पन्ति प्रघनं धनाऽन्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम्।।

अर्थात् गहरे वनों में भम्रण करते हैं, देशान्तर को जाते हैं, समुद्र–मन्थन के लिए गहराई में अवगाहन करते हैं, कृषि क्लेश को करते हैं, कंजूस स्वामी की सेवा करते हैं, हाथियों के समूह में चलने के समान मैदान में जाकर युद्ध करते हैं–इस प्रकार उसके विलास के लोभ से धन में अन्ध–मतिवाले लोग होते हैं।

इत्यादि महा–क्लेश का अनुभव करते हैं। पर वह लक्ष्मी तो पुण्यबल से प्राप्त होती है–यह नहीं जानते हुए उसके लिए अठारह पापों का सेवन करते हैं। वैसा आचरण करने पर भी पुण्य–बल के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। फिर भी–

अज्जं कल्लं परं पुरारिं पुरिसा चिंतन्ति अत्थसंपत्ति।
अंजलिगयं तोयं व गलन्तमाउं न पिच्छन्ति।।

अर्थात् आज–कल–आगे–पहले–पीछे पुरुष धन–संपत्ति के बारे में ही सोचते हैं। हाथों की अंजलि में रहे हुए पानी की तरह झरती–बीतती आयु को नहीं देखते।

इत्यादि आशा रूपी शाकिनी गृहित किये हुए लोग उस धन के लिए व्यर्थ ही दौड़ते हैं। अगर कभी पूर्वकृत पापानुबंधी पुण्य के उदय से धन प्राप्त हो भी जाता है, तो उससे ज्यादा पाने की चिन्ता बनी रहती है और उसके संरक्षण की चिन्ता भी पैदा होती है। लेकिन उसका संरक्षण करनेवाले धर्म में उद्यम नहीं करते हैं। ऐसी

प्राप्त लक्ष्मी असार है, केवल कर्म–बन्ध का हेतु है। परमार्थ को नहीं जाननेवाले संसारियों की लक्ष्मी काश की लकड़ी के समान है। जैसे–काश की लकड़ी जब त्वचा को छेदकर पेट में चली जाती है, तो प्राणों को सन्देह में डालनेवाले रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलोक में तो जहाँ लक्ष्मी है, वहाँ भय पीठ पीछे लगा ही रहता है और अनेक विघ्न भी संभवित है, क्योंकि–

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभूजो,
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ति हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधानं धनम्।।

अर्थात् लेनदार स्पृहा करने लगता हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा छलपूर्वक ग्रहण कर लेता है, अग्नि क्षण–भर में ही भस्म कर देती है, पानी में डूब जाता है, पृथ्वी में रखा हुआ धन यक्ष हठपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, बुरी नीतिवाले पुत्र मरण प्राप्त करा देते है, धिक्कार है! यह धन बहुत ही अनर्थ पैदा करनेवाला है।

अतः भवाभिनन्दियों के लिए तो इस लोक में धन निश्चय ही क्लेश का कारण है। जिस लक्ष्मी को हजारों की संख्या में संचित करके भी उसे छोड़कर परलोक में जाते हैं, तो वहाँ भी यह पाप का ही हेतु बनती है, क्योंकि पूर्व में छोड़ी हुई लक्ष्मी पुत्र के या अन्य के हाथ में चढ़ती है, वह पुरुष जिन–जिन पाप कर्मों का समाचरण करता है, उस पाप का विभाग लक्ष्मी संचय करानेवाला वह पुरुष जहाँ कहीं भी होता है, वहाँ उसे बिना इच्छा के भी लगता हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार का ममत्व होने पर जबरन किसी के द्वारा छोड़ा जाने पर अवश्य ही पाप का विभाग होता है। पुण्य का विभाग नहीं होता, जब तक कि उसकी अनुमति न दी जाये। पाप तो पूर्व में लिखे हुए ऋणपत्र के तुल्य है। लिखित ऋणपत्र का ऋण दिये बिना ब्याज उतरता नहीं है, बल्कि बढ़ता ही है। पुण्य तो नवीन व्यापार के योग्य वस्तु को ग्रहण करने में हाथ देकर सत्यंकार के तुल्य है। नवीन ग्रहण करने में तो जैसा बोला जाता है, वैसा ही प्राप्त किया जाता है। अनुमति के बिना पुण्य का विभाग प्राप्त नहीं होता है। अतः लक्ष्मी परभव में भी अनर्थदायिनी है। शास्त्र को पढ़कर उसके हार्द को दिल में बसा लेनेवाले पुरुषों के लिए तो काश की लकड़ी के समान लक्ष्मी मुक्ति–सुख को देनवाली है। कैसे? तो वह इस प्रकार है–

जो विज्ञ पुरुष होता है, वह काशयष्टि को उसे उखाड़कर उसे सुधारकर अन्य–अन्य क्षेत्रों में बोता है, तो वह काश–यष्टि इक्षुदण्ड़ रूप हो जाती है। इसी प्रकार काशयष्टि रूप लक्ष्मी को जो जिनभवन–जिनबिम्ब आदि सात क्षेत्रों मे बोता है, उसके इक्षुयष्टि के समान स्वर्ग–मोक्षदायिनी वह लक्ष्मी परम्परा से होती है। अन्यथा तो अनर्थ का ही कारण होती है। इस प्रकार की भी लक्ष्मी यदि स्थिर होवे, तो उसका ममत्व युक्त है, पर वह तो समुद्र की लहरों की तरह चचंल है। लक्ष्मी के

लिए अनेकों क्षय को प्राप्त हुए, होते हैं और होंगे। लक्ष्मी को तो कोई भी नहीं बाँध सका। पुराणादि में भी कहा है–

लक्ष्मी–सरस्वती का संवाद

एक बार लक्ष्मी और सरस्वती में विवाद हो गया। सरस्वती ने कहा–'मैं ही जगत में बड़ी हूँ, क्योंकि मेरे द्वारा स्वीकृत लोग ही सम्मान को प्राप्त होते हैं, सर्वार्थ उपायों को जानते हैं। कहा भी है–'अपने देश मे तो राजा पूजा जाता है, विद्वान तो सर्वत्र पूजा जाता है।' तुम्हारे रूपये–पैसे आदि तो अगर मैं सिर पर स्थित होऊँ, तभी व्यापार के लिए व्यवहार मे लाये जाते हैं। अतः मैं ही बड़ी हूँ।''

तब लक्ष्मी ने कहा–''तुमने जो कुछ कहा, वह तो वचन–मात्र है। तुम्हारे द्वारा किसी की भी सिद्धि नहीं होती। तुम्हारे द्वारा अंगीकृत पुरुष मेरे लिए सैकड़ों–हजारों देशों–विदेशों मे घूमते हैं, मुझे अंगीकार किये हुए पुरुष के पास में आते है, सेवक के समान उनके आगे खड़े रहते हैं। कहा भी है–

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये वृद्धा बहुश्रुताः।
ते सर्वे धनवृद्धानां द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः।।

अर्थात् वय से जो वृद्ध है, तप से जो वृद्ध हैं और जो वृद्ध बहुश्रुत हैं, वे सभी धनवृद्ध लोगों के द्वार पर किंकर की तरह खड़े रहते हैं।

अनेक चाटु वचन कहते हैं, असद् गुणों के आरोपण रूप उपमाओं द्वारा उत्प्रेक्षादि से वर्णन करते हैं, छत्र–बन्ध, हार–बन्ध आदि के द्वारा उन धनपतियों के गुणों को गुंथने में अपने चातुर्य को दिखाते हैं। इस प्रकार करके अगर वें श्रीमान प्रसन्न हो जाते हैं, तो विद्वान का मन हर्षित हो जाता है। अगर प्रसन्न नहीं होते, तो विषाद का वहन करता है। अन्य–अन्य स्तुति–रूप चाटु–वचनों को बार–बार बोलता है, क्योंकि कहा भी है–

दृशां प्रान्तैः कान्तैः कलयति मुदं कोपकलितै–रमीभिः
खिन्नः स्यात् धन धननिधीनामपि गुणी।
उपायैः स्तुत्याद्यैः कथमपि स रोषमपनयेद्
अहो! मोहस्येयं भव भवनवैषम्यघटना!।।

अर्थात् दृष्टि पड़ते ही बड़े–बड़े सुन्दर गुण–वर्णनों के द्वारा धनी की प्रसन्नता को प्राप्त करता है, कोप को प्राप्त होने पर ही वही विद्वान खिन्न होता हुआ बुद्धि की निधि होते हुए भी धन की निधि रूप उनके कोप को अनेक उपायों और स्तुतियों के द्वारा किसी भी प्रकार से दूर करता है। अहो! धन–मोह के लिए होनेवाले इस वैषम्य को भव में होते हुए देखो।

अतः तुम्हारे द्वारा अंगीकृत पुरुष मेरे द्वारा अंगीकृत पुरुषों के प्रायः दास ही होते हैं। मुझे अंगीकार किये हुए के दोष भी गुण को प्राप्त होते हैं। अतः जगत में मैं ही बड़ी हूँ।

और भी, जैन मुनियों को छोड़कर प्रायः जो–जो भी तुम्हारी सेवा करते हैं, वे सभी मेरे लिए ही तुम्हारी सेवा करते हैं। उनका शास्त्र–प्रयास 'शास्त्र–विशारद होकर लक्ष्मी प्राप्त करूँगा' इस साधन की सिद्धि के लिए होता है। इस लोक में जो बहुत से बालक तुम्हारा अनुसरण करते हैं, वे उत्साह रहित होकर माता–पिता आदि के भय से या अध्यापक के भय से करते हैं, पर तुम्हारा अनुसरण करना उनको प्रिय नहीं होता। जो कोई वृद्ध तुम्हारा अनुसरण करते हैं, वे भी लज्जा से या पेट भरने के लिए प्रच्छन्न–वृत्ति से मुझे अंगीकार किये हुए पुरुषों को प्रसन्न करने के लिए पढ़ते हैं। लोग भी उनकी हँसी उड़ाते हैं। 'इतनी बड़ी उम्र में पढ़ने के लिए तैयार हुए हो, क्या पके हुए भाण्ड में कभी कण्ठ लगता है?'

संसारी जीव अनादि काल से मेरे अनुकूल ही रहते हैं। संसार में छोटे–छोटे दूधमुँहे बच्चे भी मेरे दीनार आदि रूप को देखकर उल्लसित होते हैं, हँसते हैं, ग्रहण करने के लिए हाथ बढ़ाते हैं। अतः अगर अधिकाधिक वय से परिणत लोग मुझे देखकर उल्लसित होवे, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

जो जरा से जर्जर वृद्ध हैं, वे अगर मेरे लिए अनेक उपाय करते हैं, तो उसकी हँसी कोई नहीं उड़ाता। बल्कि उनकी प्रशंसा ही होती है कि 'यह वृद्ध होते हुए भी अपनी भुजा से उपार्जित धन से निर्वाह करता है, किसी के भी अधीन नहीं है।'

एक बार भी जिसने मेरा रूप देख लिया, वह जन्मान्तर में भी मुझे नहीं भूलता। तुम्हे तो लोग तीन पक्ष (पखवाड़े) में ही भूल जाते हैं। अतः मेरे आगे तुम्हारा मान कितना? अगर यहाँ तुम्हारी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई हो, तो चलो, निकट ही श्रीनिवास नगर है। वहाँ जाकर हम दोनों के महत्व की परीक्षा की जाये।"

सरस्वती ने कहा–"चलो वहाँ जाते हैं।"

तब वे दोनों नगर के समीप के उद्यान में गयीं। वहाँ जाकर लक्ष्मी ने कहा–"तुम कहती हो कि जगत के उद्यान में मैं ही बड़ी हूँ। अतः तुम ही आगे नगर मे जाओ। जाकर अपनी शक्ति से लोगों को इकट्ठा करके अपने अधीन करो। बाद में मैं आऊँगी। देखते हैं कि तुम्हारे द्वारा अपने पक्ष में किये गये लोग मेरी सेवा करते हैं या नहीं? वहाँ दोनों मे से एक का महत्त्व ज्ञात हो जायेगा।"

तब सरस्वती ने अद्भूत–वस्त्राभूषण आदि से विभूषित ब्राह्मण का रूप बनाकर नगर में प्रवेश किया। चतुष्पथ पर जाकर उस मायावी द्विज ने एक बड़ा आवास देखा। उसमें एक करोड़पति श्रेष्ठी रहता था। उस आवास में द्वार के नजदीक ही उस धनिक का सर्व उपमानों से उपमित आस्थान था। महान आभरणों से भूषित अनेक सेवकों के समूह से घिरे हुए भव्य भद्रासन पर बैठे हुए श्रेष्ठी को देखकर उस माया–ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया।

वह भी अत्यधिक अद्भुत स्वरूप, सौन्दर्य, सुवेष, सौम्यता आदि गुणों के

समूह से अंलकृत, पुण्य से पवित्र ब्राह्मण द्वारा कहे हुए आशीर्वचन को सुनकर, आसन से उठकर, सात–आठ कदम सम्मुख आकर, साष्टांग प्रणाम करके, दूसरे भद्रासन पर बैठाकर, स्वयं भी अपने आसन पर बैठकर, उसके गुणों से रंजित हृदयवाला होते हुए ब्राह्मण को बोला–"हे विद्वद् शिरोमणि! आप कहाँ से पधारे हैं? किस देश के निवासी हैं? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? आप किस पुण्यवान के घर पर ठहरे हैं? आपका नाम क्या है?"

इत्यादि धनिक के प्रश्नों को सुनकर ब्राह्मण ने कहा–"हे बाह्मण–प्रतिपालक श्रेष्ठी! मैं काशी देश की सुनगरी वाराणसी नाम की महानगरी में षट्कर्म से निरत होकर रहता हूँ। समस्त शास्त्रों मे मेरा परिचय है। धर्मरुचिवालों को पुराणादि सुनाने की मेरी वृत्ति है। अनेक ब्राह्मणों को वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का दान करता हूँ वहाँ के नगर का स्वामी भी मेरी भक्तिपूर्वक सेवा करता है। गृहस्थ धर्म के निर्वाह के लिए उसने अनेक सैकड़ों ग्रामादि मुझे दिये हैं। वहाँ सुखपूर्वक रहकर शास्त्र पढ़ाते हुए एक बार तीर्थयात्रा का अधिकार आया–'जिसने मनुष्य जन्म को प्राप्त करके तीर्थयात्रा नहीं की, उसका अवतार व्यर्थ ही है।' इस प्रकार महाफल मानकर मेरी तीर्थ–स्पर्शना में श्रद्धा पैदा हुई। अतः मैं सुखासन आदि वाहन–सामग्री घर पर होते हुए भी उन सभी को छोड़कर 'पाद–विहार से तीर्थ करने पर महाफल होता है' ऐसा मानकर एकाकी ही तीर्थ–स्पर्शना करता हुआ कल ही यहाँ आया हूँ।

एक शास्त्राभ्यास–मठ में मैं ठहरा हुआ हूँ। वहाँ रात्रि व्यतीत करके प्रभात होने पर स्नानादिपूर्वक षट्–कर्म करके नगर चर्या के लिए निकला हूँ। चतुष्पथ में घूमते हुए आप जैसे पुण्यवान के दर्शन हो गये। 'यह योग्य है' ऐसा जानकर आपको *आशीर्वाद दिया।*"

इस प्रकार कहकर विरत होने पर श्रेष्ठी ने हाथ जोड़कर कहा–"आज हमारा महान पुण्योदय हुआ कि सकल–गुण–गण से अलंकृत, कृत–यात्र, तीर्थ–निवासी आप जैसे महापुरुष के दर्शन से मनुष्य जन्म सफल हुआ। प्रत्यक्ष ईश्वर–दर्शन की तरह आपके दर्शन को मानता हूँ। आज मुझ दीन पर आपने महती कृपा की। आज बिना बुलाये देवी नदी (गंगानदी) मेरे घर के आँगन में आयी है–ऐसा मानता हूँ। अतः आप अपनी अमृत बरसानेवाली वाणी द्वारा कृपा करके अनुग्रह करो।"

तब उस ब्राह्मण ने अत्यधिक मधुर वाणी में अवसर के अनुकूल राग–स्वर–ग्राम–मूर्च्छना आदि से युक्त सुनने में कटु–क्लिष्ट अर्थ आदि दोषों से रहित, शृंगार आदि रस से गर्भित अनेक अर्थों को प्रकट करनेवाले विभ्रम–अलंकार से युक्त विविध छंद–अनुप्रास आदि से युक्त, चित्त को प्रसन्नता प्रदान करनेवाले, अश्रुतपूर्व, अन्वर्थ से युक्त वर्ण से विभूषित ऐसे उदात्त स्वर से सूक्ति–पाठ को पढ़ाना शुरू कर दिया। तब उसके सकल–गुण–गण से अलंकृत हृदयवाला, कानों का हरण किये हुए के समान, समस्त गृहकार्य को भूलकर, आँखों को फाड़कर मुँह खोलकर

पुनः–पुनः वह धनी उसकी प्रशंसा करता हुआ, सिर को हिलाता हुआ, नेत्रों से टकटकी लगाकर देखता हुआ चित्रस्थ मूर्ति की तरह अचल होकर सुनने लगा।

तभी जो चतुष्पथ पर गमनागमन करनेवाले लोग थे, वे भी उसकी वाणी सुनकर राग से आकृष्ट हृदयवाले हरिणों के समूह की तरह दौड़ते हुए वहाँ आ गये। चित्रमूर्ति की तरह स्थित होकर अनन्य चित्त से सुनने लगे। जो शास्त्र–विज्ञान मे कुशल पण्डित अपने–अपने पाण्डित्य–दर्प से युक्त अत्यधिक कठिनाई से कण्ठीकृत किये हुए शास्त्र–परमार्थ से प्राप्त वक्तृत्व–कवित्व– शास्त्रपठन फल से मदोन्तत्त थे, वे भी वहाँ आकर उसकी वाणी सुनने में लीन बन गये। उसकी नये–नये उल्लेख से युक्त प्रतिभा–पटुता के द्वारा शब्दभेद–पद्यच्छेद–श्लेषार्थ–चित्रालंकार आदि से गर्भित सर्वतोमुखी वाणी की कुशलता को देखकर अपनी–अपनी निपुणता के अभिमान को छोड़ते हुए चमत्कृत होते हुए उस ब्राह्मण की वाणी की प्रशंसा करने लगे–"क्या यह ब्राह्मण किसी अन्य का रूपान्तरित स्वरूप है? अथवा क्या यह सरस्वती का शिरोमणि है? अथवा क्या यह समस्त रसों की मूर्ति हैं? क्या यह वाणी को बजानेवाले ब्रह्मा की ध्वनि है? अथवा क्या शृंगारादि समस्त अमृत–रसों की नदी है? अहो! इसका चमत्कार–कारक कौशल्य! अहो! इसकी प्रतिभा की पटुता! अहो! इसके अन्वार्थ सहित विविध अर्थों को जोड़ने की शक्ति! अहो! इसके शब्दानुप्रास की चतुरता! अहो! इसकी एक ही पद्य में प्रतिपाद्य करने की रागान्तर अवतारण की शक्ति! अहो! इसकी गम्भीर अर्थ के प्रति श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करने की शक्ति! अहो इसका उपमा से अतीत जगत के चित्त को अनुरंजित करनेवाला रूप! किसी अनिर्वचनीय शक्ति से रचित है इसका यह लीला–विलास! मनुष्यों में तो इस प्रकार के सर्व–गुणों का एकमात्र स्थान मिलना दुर्लभ हैं। ऐसा न कभी देखा, न तो सुना। अहो! महान आश्चर्य है!"

जो नृत्य कलाओं में कुशल, रागादि विज्ञान के ज्ञाता थे, वे भी सुनकर मुक्त–कण्ठ से अपने स्वाभिमान को छोड़कर उसकी प्रशंसा करने लगे–"अहो! इसके रागादि को विनिमय करने की शक्ति! अहो! इसके राग में अवगाहन करने की शक्ति!"

इस प्रकार हजारों लोग अपने–अपने गृह–कार्यों को तथा खाने–पीने को भूलकर ऊँचे कान करके सुनने लगे, कोई भी बीच में एक शब्द भी नहीं बोलता था। जाते हुए समय का किसी को भी भान नहीं रहा। इस प्रकार करते हुए एक प्रहर से भी ऊपर का समय बीत गया। अब लक्ष्मी ने मन में विचार किया।

इसने तो इतने–मात्र से अपने शक्ति–बल को दिखा दिया है। अब मैं वहाँ इसकी शक्ति का नाश करूँगी।

इस प्रकार विचार करके एक बड़ी बुढ़िया का रूप धारण किया। वह कैसी थी?–जरा से जर्जरित शरीरवाली, मुख–नेत्र–घ्राण आदि विवरों से यथानुरूप रस

बह रहा था, टूटी हुई दन्त–पंक्ति से युक्त मुखवाली, अति बुढ़ापे से केश चले जाने से गंजे सिरवाली, शिथिल हुए त्वचा के तेजवाली, अटक–अटक कर बोलनेवाली, क्षीण नेत्र–बलवाली, मटमैले कपड़ों को पहने हुए, कमर से झुकी हुई, हाथ में लकड़ी लिए हुए, दोनों पाँवों से स्खलित होकर डगमगाते हुए चलती हुई नगर के अन्दर आयी। वहाँ घूमते हुए याचना करने लगी। उस देवी के प्रभाव से आधे ढ़के हुए द्वार के अन्दर बैठी हुई सास और बहू को उसके शब्द कानों में पिघले हुए सीसे को उड़ेलने की तरह प्रतीत हुए। वे शब्द सुनते हुए उन दोनों का रसभंग हुआ। तब अति ईर्ष्या से जलते हुए सास ने पुत्रवधू से कहा–"बेटी! पिछले द्वार पर जाकर देख, कौन चिल्ला रहा है? कर्णकटु शब्द कौन बोल रहा है? सुनने में विघ्न पैदा होता है। जो माँगे, वह देकर द्वार से बाहर निकाल, जिसे सुखपूर्वक सुना जा सके। ऐसा श्रवण तो किसी पुण्य के उदय से ही प्राप्त होता है, पुनः ऐसा अवसर प्राप्त होना दुर्लभ है। लाखों दीनार से भी ज्यादा मूल्यवाली यह घड़ी जन्म और जीवन को सफल करनेवाली है। अतः शीघ्र ही जाकर उसको भेजकर आ।"

इस प्रकार पुनः–पुनः सास के कहने पर सास के वचन अनुल्लंघनीय जानकर एक बहू अति दुष्कर कार्य करने की तरह मानती हुई कुछ बड़बड़ती हुई जल्दी–जल्दी जाकर पिछला द्वार खोलकर बोली–"हे बुढ़िया! क्यों चिल्लाती है? जिससे कि अमृत पीने की तरह भव के दुःख रूपी रोग को हरनेवाले धर्म के मर्म को सुनते हुए हमें विघ्न पैदा होता है। क्या चाहिए? जल्दी से बोलो। वह लाकर दूँ, जिससे तू जल्दी से जल्दी से चली जाये।

यह सुनकर बुढ़िया ने कहा–"हे पुण्यवती सुभगे! धर्म सुनने का फल तो दया है। उसके बिना तो सब कुछ वृथा है। अतः दया करके मुझे जल पिला दे। मैं बहुत प्यासी हूँ। मेरा कण्ठ तृषा से सूख रहा है।"

बहू शीघ्र ही जल का कलश भरकर ले आयी। फिर बोली–"जल्दी से अपना पात्र निकालो। जिससे जल देकर मै शीघ्र ही जाऊँ। मेरी तो लाख मूल्य की घड़ी निकली जाती है। इस विद्वान का तो एक–एक वचन भी चिन्तामणि से ज्यादा अमूल्य है। अतः जल ग्रहण कर शीघ्र ही यहाँ से जाओ।"

बुढ़िया ने कहा–"हे भाग्यवती बहिन! मैं तो बूढ़ी हूँ। जलपात्र निकालती हूँ।"

ऐसा कहकर झोली के एक कोने से रत्नमय पात्र निकालकर हाथ में धारण करके जल ग्रहण करने के लिए आगे बढ़ाया। तब वह बहू तेजपुंज से चमकते हुए लाख मूल्यवाले अदृष्टपूर्व पात्र को देखकर अति विस्मित चित्त से कहा–"हे बूढ़ी माँ! तुम्हारे पास ऐसा पात्र कहाँ से आया? ऐसे पात्र के रहते हुए तुम दुःखी क्यों हो? क्या तुम्हारा कोई भी नहीं है?"

तब उस बुढ़िया ने कहा–"हे कुलवती! पहले मेरे बहुत परिजन थे। वे सभी

मर गये। क्या करूँ? कर्मों की गति अनिर्वचनीय है। कौन जानता है कि क्या हुआ और क्या होगा? अब तो में अकेली ही हूँ। ऐसे पात्र तो मेरे पास बहुत हैं। पर मेरी सेवा करनेवाला कोई नहीं हैं। जो मेरी सेवा करेगा, सारी जिन्दगी मेरे अनुकूल रहेगा, उसे अपना सर्वस्व दे दूँगी। रखने से क्या प्रयोजन? लक्ष्मी तो कभी किसी के साथ नहीं जाती, न गयी और न ही जायेगी।''

ऐसा कहकर झोली में से निकालकर उसे दिखाने लगी। वह भी झाँककर झोली के अन्दर देखने को प्रवृत्त हुई। झोली के अन्दर अनेक रत्नमय पात्र, अनेक रत्नाभूषण, अनेक मोतियों के आभूषण तथा एक–एक करोड़ मूल्यवाले पृथ्वी पर अलभ्य, अदृष्टपूर्व पुरुष–स्त्री के योग्य वस्त्र थे। तब बहू झोली के अन्दर रहे हुए आभूषण देखकर कथा–श्रवण को तो भूल ही गयी। चित्त लोभ से अभिभूत हो गया। लोभ से रंजित होते हुए वह बहू उस बुढ़िया को बोली–''हे वृद्धमाता! तुम दुःखी क्यों होती हो? तुम्हारी सेवा मैं करूँगी। तुम तो मेरी माँ के समान हो, मैं तो तुम्हारी पुत्री हूँ। मैं मन–वचन–काया से यावज्जीवन तुम्हारी सेवा करूँगी। आप कोई भी शंका मन में न रखें। न ही कोई भेद मन में रखें। आप घर के अन्दर जाओ। सुखपूर्वक भद्रासन पर बैठो।''

तब वह बुढ़िया भी धीरे–धीरे पैर रखती हुई किसी भी तरह से द्वार के पासवाले प्रदेश के मध्य भाग में आकर आसन पर बैठ गयी। वह बहू तो ''खमा–खमा'' कहती हुई दासी होकर उसके आगे खड़े होकर चापलूसी करने लगी। तब उस बुढ़िया ने पुत्रवधु से पूछा–''बेटी! तुम मुझे रखना चाहती हो, तो क्या इस घर में तुम ही मुखिया हो, जिससे कि निःशंक होकर आमन्त्रण दे रही हो?''

बहू ने कहा–''माता! मैं मुखिया नहीं हूँ। मुखिया तो मेरे सास–श्वसुर हैं।''

बुढ़िया ने कहा–''तो फिर उनकी आज्ञा के बिना तुम मुझे रखने में कैसे समर्थ हो सकती हो?''

तब उसने कहा–''इस घर में मेरे ससुर, सास, जेठ, जेठानी, देवर, देवरानी सभी मिलजुल कर रहते हैं, अतः आप सुखपूर्वक रहें।''

बुढ़िया ने कहा–''ऐसा तो नहीं हो सकता। जब तुम्हारे श्वसुर–सास सम्मानपूर्वक मुझे निमन्त्रित करेंगे, तभी मैं यहाँ रहूँगी, अन्यथा तो घड़ी–मात्र भी नहीं रहूँगी। हे भद्रे! एक के मन में प्रीति हो, दूसरे के मन में अप्रीति हो, तो वहाँ निवास करना अयुक्त है।''

उसने कहा–''अगर वे सभी आपको विनय–युक्त होकर आमन्त्रण करते हैं, तब तो आप निवास करोगी न। बुढ़िया ने ''हाँ'' कहा।

तब जहाँ ढ़के हुए द्वार के अन्दर बैठी हुई सास विद्वान को सुन रही थी, वहाँ जाकर बहू ने सहसा कहा–''आप जल्दी से घर के अन्दर आयें।''

तब सास ने सुनने में विघ्न पड़ने से कुपित होते हुए कहा–''मूर्ख! क्यों व्यर्थ

ही वाचालता करती है विद्वान के द्वारा अमृत को बरसानेवाली वाणी को सुनने में विघ्न पैदा करती हो? लगता है–विधाता ने तुम्हे मनुष्य के वेश में गधी बनाया है। इस दुष्प्राप्य मनुष्य भव को प्राप्त करके सफल तो करती नहीं, बल्कि पूत्कार के द्वारा दूसरों को विघ्न पैदा करती हो, इस पाप से पुनः गधी ही बनोगी।''

तब बहु ने कहा–''पूज्ये! एक वृद्ध माता आपके अगणित पूर्वकृत पुण्य के कारण बिना विचारे बिना बुलाये लक्ष्मी की तरह आयी है।''

यह सुनकर वह घमण्डी ईर्ष्या और अहंकारपूर्वक बहू को कहने लगी–''हे जड़–प्रकृति! इस नगर में हमारे से भी बड़ा कोई है, जो कि तुम राई का वर्णन पहाड़ की तरह कर रही हो? अतः तुम अज्ञानी और मूर्ख–शिरोमणि हो। तुम अवसर और बिना अवसर को भी नहीं जानती हो। कभी कोई महाजन किसी अवसर पर घर आ भी जाये, तो उसका योग्य सम्मान–शिष्टाचार आदि करके और उसको भेजकर ही अपने कार्य में जो प्रवृत्त होता है, उसे ही निपुण कहा जाता है, तुम जैसों को नहीं।''

इस प्रकार के सास के वचनों को सनुकर बहू बोली–''आपने जो कहा है, वह वैसा ही है, पर एकबार यहाँ आकर मेरी बात तो सुन लीजिए। फिर जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा करना। क्यों व्यर्थ ही लोगों को सुना रही हैं?''

तब सास भृकुटि चढ़ाकर तथा नेत्रों को टेढ़ा करके अन्दर आयी–'बोलो, अब क्या बकवास करती हो?''

तब उस बहू ने कक्ष के अंदर वस्त्र से ढ़का हुआ रत्नों सें जड़ित स्वर्ण–पात्र दिखाया। उसके दर्शन –मात्र से सूर्योदय होने पर कमल की तरह उसका मुख खिल गया। चेहरे पर मुस्कान लाकर विस्मित होते हुए बहू को पूछा–''पुत्री! यह तुम्हे कहाँ से मिला?''

बहू ने कहा–''पूज्ये! आज तो आपके भग्योदय से लक्ष्मी स्वयं ही बिना बुलाये आयी है। अतः मेरे ऊपर क्यों कोप करती हो? अज्ञानता में आपने मुझे जो दुर्वचन कहे, वे आपके लिए युक्त नहीं है। आपकी चरण–सेवा करते हुए मेरी जो इतनी उम्र बीती, वह आज घर में सभी मनुष्यों के बीच में विफल हो गयी। क्या प्रत्युत्तर दूँ? पूज्यों को कोई वचन कहने योग्य होता है और कोई कहने योग्य नहीं होता। कोई प्रकट करने योग्य होता है और कोई चार कानों के योग्य ही होता है, तो क्या सभी के सुनते हुए प्रलाप करना चाहिए? अतः अब आपकी जैसी मर्जी हो, वैसा करें।''

इस प्रकार के बहू के वचनों को सुनकर सास प्रत्युत्तर देते बोली–''विदुषी! मैं जानती हूँ कि तुम विचक्षण हो। अवसर को जाननेवाली हो। घर की शोभा हो। पर क्या करूँ? श्रवण करने में एकाग्र मनवाली होने से नहीं जान पायी। मैंने जो दुर्वचन कहे हैं, वे क्षमा करने के योग्य हैं। जिसके बारे में तुम कह रही थी, अब बताओ कि वह कहाँ है?''

बहू ने कहा–"घर के अन्दर भद्रासन पर उसे बिठाया है, अतः आप वहाँ जाकर सुख से शिष्टाचारपूर्वक बात–चीत करके उसके मन को प्रसन्न करके घर पर रहने के लिए कहें।"

तब बहू के साथ जाकर सास उस वृद्धा से विनयपूर्वक कहने लगी–"हे माता! आप आनन्द से सुखपूर्वक अपने घर की तरह हमारे घर में रहिए। मन में किसी प्रकार की शंका न रखें। मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि आप जैसे वृद्धों की सेवा कर पाऊँ? आप तो मेरी माता के समान हैं। मुझे अपनी पुत्री ही मानें। हमारे महान भाग्योदय से तीर्थ–रूप आप हमारे घर पर आयी हैं। इन चारों बहुओं को दासी की तरह आपकी आदेशकारिणी समझें। खान–पान–स्नान–शयनोत्थान आदि जो भी कार्य होगा, वह आप निःसंकोच कह देना। वे सभी कार्य हम सिर के बल दौड़ते हुए खुशी–खुशी करेगें।"

यह सुनकर बुढ़िया ने कहा–"हे भद्रे! तुमने सही कहा है, पर तुम्हारे पति आकर बहुमान–सहित अत्यधिक आदर से रखेंगे, तो ही मैं स्थिर–चित्त से निवास करूँगी।"

यह सुनकर गृहस्वामिनी ने कहा–"अगर इसी से आपको प्रसन्नता मिलती है, तो वैसा करना ही अच्छा है। मेरे पति तो इस प्रकार के कार्यों को परम हर्ष–युक्त तथा उत्साहपूर्वक सदा प्रसन्नता के साथ निर्वाह करते हैं।"

बुढ़िया ने कहा–"यद्यपि ऐसा है, फिर भी उनकी आज्ञा के बिना मेरा यहाँ रहना नहीं हो सकेगा।"

गृहस्वामिनी ने कहा–"उनको बुलवाकर अभी आज्ञा दिलवाती हूँ।"

बुढ़िया ने पूछा–"वे कहाँ गये हैं?

गृह–स्वामिनी ने कहा–"देशान्तर से कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण आया हुआ है, उसके पास धर्म–श्रवण कर रहे हैं। उन्हें अभी बुलाती हूँ।"

बुढ़िया ने कहा–"ऐसा है, तो उन्हे धर्म–श्रवण करने में अन्तराय मत दो।"

गृह–स्वामिनी ने कहा–"ओह! ऐसे लोग तो अपने उदर की पूर्ति हेतु बहुत आते रहते हैं। अतः गृह–कार्य का नाश क्यों किया जाये?"

यह कहकर दौड़ते हुए जहाँ अन्दर के भाग में रहकर अन्य बहुएँ श्रवण कर रही थीं, वहाँ जाकर गृहद्वार के अन्दर रहे हुए अपने एक सेवक को दो–तीन बार आवाज देकर बुलाया। वह भी श्रवण में रसित चित्तवाला होने से दुःखी होता हुआ आया। सेठानी ने कहा–"जाकर श्रेष्ठी के कान में कहो कि सेठानी घर के अन्दर बुलाती है।

उसके द्वारा वैसा ही किये जाने पर श्रेष्ठी ने रोषपूर्वक कहा–"ऐसा कौन–सा बड़ा कार्य आ पड़ा है, जिससे इस अवसर पर भी बुला रही है। जाओ–जाओ, उसे कह दो कि जो भी कार्य है, उसे ढ़ककर रख दो। चार घड़ी के

बाद आऊँगा। अभी तो मौन करके अमृत–पान के समान इस देशना को सुनो।"

यह सुनकर सेवक ने सेठानी को निवेदन किया। पुनः सेठानी ने कहा–"वापस जाकर कहो कि कोई महत् कार्य है, अतः घर के अन्दर आइए।"

तब सेवक ने कहा–"मैं तो नहीं जाऊँगा। मेरे ऊपर स्वामी कुपित होते हैं। अन्य किसी को कहें।"

तब सेठानी ने दूसरे सैनिक को आज्ञा दी। पुनः–पुनः वही उत्तर मिलने से सेठानी ने द्वार उघाड़कर, जन–लज्जा को छोड़कर, मुख बाहर निकालकर सेठ को कहा–"स्वामी! शीघ्रातिशीघ्र द्वार के अन्दर आइए। कोई बड़ा कार्य सिर पर आ गया है।"

तब श्रेष्ठी ने विचार किया कि "निश्चय ही कोई राजकार्य आ पड़ा है, अन्यथा इस प्रकार लज्जा को छोड़कर यह जन–समूह के बीच मुख निकालकर कैसे बोली? अतः मुझे अवश्य ही जाना चाहिए।'

इस प्रकार विचार करके मानो महा–कष्ट होता हो, इस प्रकार उठा। शीघ्रता से घर में आकर बोला–"अरे! बोलो–बोलो, क्यों धर्म–श्रवण में अन्तराय करने के लिए बुलाया है?"

सेठानी ने कहा–"क्यों आकुल होते हैं? धैर्य रखिए। आपके भाग्य के द्वार खुल गये हैं, जो कि यह वृद्धा माता घर पर आयी हैं।"

सेठ ने कहा–"क्या तुम्हारी वृद्धा माता आयी है?"

इस प्रकार बातचीत करते हुए सेठानी द्वारा घर के अन्दर जाकर वह पात्र दिखाया गया। उस पात्र के दर्शन–मात्र से चमत्कृत होते हुए पाषाण में लोहे की तरह पूर्व में विचारा हुआ सब कुछ भूल गया। इस प्रकार कहने लगा–"यह अदृष्टपूर्व रत्न–पात्र कहाँ से आया?"

तब सेठानी ने कहा–"स्वामी! आज व्याख्यान सुनते समय देशान्तर से एक वृद्धा आयी। घर के आँगन में उसने पानी की याचना की। तब मैंने बड़ी बहू को कहा कि देख–देख, कौन कर्ण–कटु शब्दों द्वारा सुनने में अन्तराय करता है? अतः जो चाहता है, वह उसे देकर उसे भेजकर आ।" इत्यादि सब कुछ स्वामी को निवेदन किया। "स्वामी! आपके भाग्य–बल से यह वृद्धा जंगम निधान की तरह आयी हैं। कोई भी इसे नहीं जानता है और न ही पहचानता है। सर्वप्रथम आपके ही घर आयी है। उसके पास इस प्रकार के बहुत से पात्र, वस्त्र और आभूषण है। अतः उसको आग्रह करके रोक लें।"

यह बात सुनकर सेठ लोभ–विह्वल होकर अपनी पत्नी के साथ जहाँ वृद्धा थी, वहाँ गया। जाकर प्रणाम–पूर्वक उससे बोलने लगा–"माता! आपका आगमन कहाँ से हुआ है? क्या आपकी देख–भाल करनेवाला कोई नहीं है?"

इस प्रकार सुनकर बुढ़िया ने कहा–"भाई! पूर्व में तो मेरे भी इस प्रकार का

घर, धन, स्वजन आदि सब कुछ थे, जैसे राजा के भी नहीं होता। पर अब तो एकाकी ही हूँ। सर्व संसारियों के कर्मों की गति विचित्र ही है। क्योंकि–

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

अर्थात् सैकड़ों–करोड़ों प्रयत्न करने पर भी कर्म बिना भोगे क्षय को प्राप्त नहीं होते। किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं।

अतः कर्मदोष से जरादि अवस्था को प्राप्त हुई हूँ। भाई! क्या किया जाये?"

तब सेठ ने कहा–"माता! आज के बाद आप किसी प्रकार की अधीरता मन में न लायें। इन सभी को आप अपनी संतान के तुल्य ही जानें! मैं भी आपकी सेवा बजानेवाला हूँ, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस घर को अपने घर की तरह जानो। मन में कोई भेद नहीं रखना। आपका आदेश ही हमारे लिए प्रमाण है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मन, वचन और काया से आपकी सेवा अपनी माता के समान मानकर ही करूँगा। ज्यादा क्या कहूँ? ज्यादा कहने से कृत्रिमता झलकेगी, अतः समय आने पर आपको स्वतः ही पता चल जायेगा।"

सेठानी ने कहा–"माता! आप यहाँ बीच द्वार पर क्यों बैठी हैं? घर के बीच में आइए। पलंग को अलंकृत कीजिए।"

इस प्रकार कहकर सेठानी और बहू के द्वारा बुढ़िया को हाथ और कंधे से पकड़कर "खमा–खमा' शब्द बोलते हुए घर के अन्दर ले जाकर पलंग पर बैठाया गया।

इस अवसर पर देव माया से क्या हुआ? जहाँ द्विज के रूप में सरस्वती देवी व्याख्यान कर रही थी, वहाँ सभी पूर्वोक्त लोग सुन रहे थे। वहाँ चतुष्पथ में कुछ राजसेवक, अन्य नागरिक और पामर लोग हाथ में विविध वस्त्राभरण के समूह को ग्रहण करके शीघ्रता से दौड़ते हुए वहाँ आये। उन्हें देखकर श्रवण में रसिक लोगों ने पूछा– "यह सोने –चाँदी के पात्र–आभूषण आदि कहाँ से लेकर आये हो? दौड़ क्यों रहे हो?"

उन्होंने कहा–"आज अमुक कोटीश्वर धनी के द्वारा राजा का महान अपराध किया गया होगा, अतः अति कुपित होते हुए राजा के द्वारा सभा में बैठते हुए आज्ञा दी गयी कि सभी राजसेवकों और नागरिकों के द्वारा यथा इच्छा इस अपराधी का घर लूट लिया जाये। जो भी जिस–जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसे उस वस्तु को लेने के लिए मेरी आज्ञा है। सुखपूर्वक लूट लेवे, मेरे से डरने की जरूरत नहीं है। अतः सभी उसका घर लूटने के लिए प्रवृत्त हुए। बहुत तो लूट लिया गया, पर अभी तक बहुत बाकी है। क्या तुम नहीं जाओगे? जाओ–जाओ, वहाँ जाकर यथा–इच्छा ग्रहण करो। वहाँ कोई भी अन्तराय–कारक नहीं है। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा? यहाँ ये बातें सुनकर क्या हाथ में आयेगा?"

इस प्रकार उनके द्वारा उकसाये हुए वे सभी लोभी दौड़ते हुए चले गये। पण्डित–जन और महा–इभ्य व्यापारी वहाँ बैठे हुए वार्ता सुनने लगे। थोड़ी देर बाद पुनः उसी नगर का निवासी अन्य कोई ब्राह्मण भव्य वस्त्र–भोजनादि हाथ में लेकर दौड़ता हुआ वहाँ आया। वहाँ रहे हुए पण्डितों और ब्राह्मणों ने पूछा–"यह किसके घर से प्राप्त हुआ?"

उसने कहा–"राजा के अमुक मंत्री का पुत्र नीरोगी हुआ है, मरणान्त कष्ट से निकलकर स्नान कर रहा है, अतः उसके पिता प्रत्येक ब्राह्मण को पाँच–पाँच वस्त्र, भव्य भोजन और एक–एक सोने की दीनार दे रहा है। आप लोग यहाँ क्यों बैठे हैं? वहाँ क्यों नहीं जाते? वहाँ जाइए। आप लोग तो पण्डित हैं, आपको तो वे बहुत देंगे।"

यह सुनकर पंडित और ब्राह्मण लोभ में आकर दौड़ गये। कुछ महा–इभ्य और साहूकार ही वहाँ रुके रहे।

तब फिर कोई दलाल नाम का व्यापारी आकर महा–इभ्यों के सामने कहने लगा–"श्रेष्ठीयों! बहुत दिनों तक यहाँ ठहरने के बाद आज एक वैदेशिक सार्थवाह जाने की इच्छा कर रहा है। वह अनेक वस्त्र, विविध क्रयाणक और विविध रत्न मुँहमाँगे दामों पर खरीद रहा है और अपना माल बहुत सस्ते में बेच रहा है। अनेक व्यापारी गये और इच्छित मूल्य ग्रहण करके आ गये। तुम लोग क्यों नहीं जाते? अपना माल क्यों नहीं बेचते? ऐसा अवसर फिर कहाँ लब्ध होगा?"

यह सुनकर महेश्वर लोग भी उठ गये। अब केवल निर्धन साहूकार ही वहाँ बैठे हुए प्रवचन सुनने लगे। इसी समय गृहस्वामी ने वृद्धा को कहा–"माता! ग्रीष्मकाल है। भव्य–जल से स्नान कर लीजिए।"

उसने कहा–"ठीक है।"

तब गृहपति ने अपनी पत्नी से कहा–"मंजूषा में भव्य सुगन्धित तेल है। उसे लाकर अभ्यंगपूर्वक स्नान कराओ। मैं घर के ऊपरी भाग में जाकर माताजी के योग्य वस्त्र निकालकर लाता हूँ।"

तब सेठानी और बहू के द्वारा तेल के अभ्यंगनपूर्वक स्नान करवाया गया। भव्य वस्त्र से शरीर पोंछा। सेठ ने भी भव्य वस्त्र लाकर वृद्धा को पहनाये। पुनः उसे सुखासन पर बिठाया। तब बुढ़िया ने पूछा–"तुम्हारे घर–आँगन में कौन जोर–जोर से बोल रहा है?"

सेठ ने कहा–"माता कोई वैदेशिक द्विज आया हुआ है। वह जोर से अनेक भव्य सूक्तियों को पढ़ रहा है और अनेक लोग सुन रहे हैं।"

वृद्धा ने कहा–"ऐसा है। अहो! मेरे कर्मों का दोष है। धन्य हैं वे रसिक जन! जो कि सहर्ष सुनकर प्रसन्नता के पात्र बन रहे हैं। मेरे कानों में तो तपे हुए सीसे से सिंचन करने के समान उसके शब्द लगते हैं।"

तब सेठ ने कहा–"माता! मैं उसे मना कर देता हूँ।"

वृद्धा ने कहा–"क्यों दूसरों को अन्तराय की जाये?"

गृहपति ने कहा–"आपके दुःख के कारण को हटाने में हमें कोई भी दोष नहीं लगेगा। अतः इस स्थान से उठाता हूँ। ब्राह्मण तो अन्यत्र जाकर भी कहेगा। उसका यहाँ क्या लगता है?"

इस प्रकार कहकर दौड़ता गृहपति वहाँ जाकर क्रोधित होकर कहने लगा–

"हे भट्ट! तुम इस प्रदेश से उठो! बिना कारण यहाँ क्यों कोलाहल करते हो?"

तब वहाँ जो थोड़े से लागे बचे थे, उन्होंने कहा–"इस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने क्या तुम्हारा कुछ लिया है? क्या तुम्हारे पास कुछ माँग रहा है? यह तो तुम्हारे भाग्योदय से कोई साक्षात् ब्रह्मा के रूप में आया है। अतः तुम विज्ञ–निपुण, शास्त्रविद होकर भी इस प्रकार हीन–जनोचित वचन क्यों बोलते हो?"

तब श्रेष्ठी ने कहा–"मैं तुम्हारा वचन–चातुर्य जानता हूँ। इस प्रकार का चातुर्य और किसी के आगे दिखाना, मेरे आगे नहीं। अगर तुम लोगों को सुनने का इतना ही शौक है, तो इसे ले जाकर अपने घर में बिठाकर क्यों नहीं सुनते? मेरे घर में क्यों वितण्डा फैला रखी है? अतः यहाँ से सीधे–सीधे उठ जाओ, अन्यथा गले में हाथ देकर सेवकों द्वारा निकलवाऊँगा। यहाँ एक क्षण नहीं बैठना। शीघ्र जाओ।"

इस प्रकार के अनादर–वाक्य को सुनकर उतरे हुए मुख से निंदा करते हुए सभी उठ गये। ब्राह्मण भी उठ गया। लक्ष्मी के आगमन को जानकर उसी वन में चला गया।

गृहपति ने भी घर में आकर वृद्धा से कहा–"माता! आपके कानों में शूल को पैदा करनेवाले ब्राह्मण को मैंने निकाल दिया है। युक्तियुक्त वाक्यों को कहकर निकाला हुआ वह कहीं चला गया है। सभी लोग भी अपने–अपने घर चले गये हैं। अतः हे माता! आप सुखपूर्वक यहाँ रहें।"

बुढ़िया ने जाना–"सरस्वती तो अपमानित होकर चली गयी है। अतः मैं भी वहाँ जाकर अपने उत्कर्ष–स्वरूप को पूछती हूँ।"

इस प्रकार विचार कर गृह–स्वामिनी को बोली–"इस झोली को यत्नपूर्वक भव्य स्थान पर रख दो, मैं विचारभूमि (स्थण्डिल) को जाती हूँ।"

गृहपति ने कहा–"मैं जलपात्र लेकर आपके साथ आता हूँ।"

उसने कहा–"नहीं, क्योंकि लोग इस प्रकार देखकर भ्रम में आकर चर्चा करने लगेंगे। तुम्हारे जैसे नगर–प्रमुख के द्वारा इस प्रकार करना उचित नहीं है। अतः मैं अकेली ही जाऊँगी। देह चिंता के समय मुझे मनुष्य की संगति नहीं रूचती।"

"आपका आदेश ही प्रमाण है, तर्क नहीं करना चाहिए"–इस प्रकार कहकर जलपात्र दे दिया।

वह ग्रहण करके वहाँ से निकलती हुई वृद्धा, जहाँ सरस्वती थी, वहाँ पहुँची। भारती ने पूछा–"कैसी रही तुम्हारी कथा? इस जगती पर कौन मुख्य है? हे भारती! लोक में तुम इस रूढ़ि से प्रवर्तित हुई हो कि लक्ष्मी के सिर पर मेरा स्थान है, वह सत्य है। पर यह तो राजा ने अपनी आज्ञा की प्रवृत्ति के लिए प्रचलित किया है। अगर सोना और चाँदी बिना अक्षर–मुद्रा के न बेचा जाये, तो तुम्हारा महत्त्व सच्चा है। अन्यथा तो बड़बोलापन ही है।"

भारती ने कहा–"अज्ञान से अंधी दुनिया में तुम ही मुख्य हो, क्योंकि मुनियों को छोड़कर सभी संसारी इन्द्रिय सुख में लीन हैं। वे सभी तुम्हारी ही कामना करते हैं। जो कोई प़रमार्थ को जाननेवाले हैं, जिनवचन के हार्द को ग्रहण किये हुए हैं, वे मेरी ही इच्छा करते है।"

लक्ष्मी ने कहा–"हे भारती! जो कोई तुम्हें चाहते हैं, उनके लिए तुम भी प्रायः सानुकूल ही होती हो। उसके साथ विहार करती हो। उनके थोड़े अथवा बड़े प्रयास को सफल करती हो। उनका साथ नहीं छोड़ती हो। सर्वथा निराश भी नहीं करती हो। और भी, कुछ लोग तो शास्त्राभ्यास को करते हुए खिन्न होकर विमुख हो जाते हैं, वे तुम्हे छोड़ देते हैं। तुम्हारा नाम भी नहीं लेते। जो तुम में अत्यन्त आसक्त हैं, वे भी मुझे ही चाहते हैं। शास्त्राभ्यास भी मेरी प्राप्ति के लिए ही करते हैं। निर्गुण पुरुषों में भी अनेक सद्‌गुणों के रोपण रूप स्तुति भी करते हैं। इस प्रकार करते हुए मेरा साथ मिलता है, तब तो गर्व से फूल जाते हैं, अन्यथा तो विषाद को प्राप्त होते हैं। पुनः मुझे प्राप्त करने के लिए अन्य–अन्य कला को प्रकर्ष रूप से दिखाते हैं। फिर भी मुझे नहीं प्राप्त कर सकने पर अनेक चाटुकारिता करते हैं। अकरणीय कार्यों को करते हैं। असेव्य को सेवते हैं। विद्यावन्त होते हुए भी दूषणों से निन्दनीय होते हैं और जो मेरी संगति करनेवाले हैं, उनके दोष भी गुणों की तरह गाये जाते हैं। कहा भी है–

आलस्यं स्थिरतामुपैति भजते चापल्यमुद्योगितां,
मूकत्वं मितभाषितां वितनुते मौढ्यं भवेदार्जवम्।
पात्रापात्र–विचारणा–विरहिता यच्छत्युदारात्मतां,
मातर्लक्ष्मि! तव प्रसादवशतो दोषा अमी स्युर्गुणाः।।

अर्थात् धनी व्यक्ति के आलस्य के स्थिरता, चंचलता को उद्यमपना, मूकता को मितभाषिता, मूढ़ता को सरलता कहा जाता है। पात्र–अपात्र की विचारणा से रहित होकर अगर किसी को कुछ देता है, तो उसे उदार आत्मा कहा जाता है। हे लक्ष्मी माता! तुम्हारे कारण ये दोष भी गुण रूप हो जाते हैं।

जो लक्ष्मी अर्थात् धन से रहित हैं, उसके गुण भी दूषितता को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे–

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतस्त्वप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।।

अर्थात् गरीब अगर मौन रखता है, तो उसे गूंगा कहा जाता है। प्रवचन पटु हो, तो वाचाल या गप्पें मारनेवाला कहा जाता है। सदा पास में रहे, तो धृष्ट कहा जाता है और दूर रहे, तो अभिमानी कहा जाता है। क्षमा धारण करे, तो कायर कहा जाता है और सहन नहीं करता, तो अकुलीन कहा जाता है। इस प्रकार सेवाधर्म परम गहन तथा योगियों के द्वारा भी अगम्य है।

सभी लोग मुझे प्राप्त करने के लिए विविध उपायों द्वारा उद्यम करते हैं, अति दुष्कर क्रियाओं द्वारा साध्य कार्यों को भी उत्साहपूर्वक करते हैं, अगर वे कार्य पापोदय से सिद्ध नहीं होते हैं, तो भी उन्हे नहीं छोड़ते हैं। सैकड़ों–हजारों बार भी असफलता पाकर भी, महाकष्ट पाकर भी, प्राणों को संकट में डालकर भी मुझे प्राप्त करने की इच्छा नहीं छोड़ते हैं। यद्यपि मैं प्रतिदिन अनेक अवाच्य, असह्य, निंदनीय कष्टों को देती हूँ, फिर भी मुझसे पराङ्मुख नहीं होते हैं। मेरे सानुकूल ही देखे जाते हैं। एक द्रव्यानुयोग से गर्भित आध्यात्मिक धर्म–शास्त्र को छोड़कर प्रायः जो कोई भी शास्त्र संदर्भ हैं, वे मेरे उपायों और मेरे विलासों से ही ग्रथित हैं। मुनि को छोड़कर मेरे योग्य पुरुषार्थ को सभी संसारी सेवते हैं। कहा भी है–

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः।
ते सर्वे धनावृद्धानां द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः।।

अर्थात् जो वय से वृद्ध हैं, जो तप से वृद्ध हैं और जो बहुश्रुतों से वृद्ध हैं, वे सभी जन धन से वृद्ध के द्वार पर नौकरों की तरह खड़े रहते हैं।

ज्यादा क्या कहूँ? मरण के समय भी अपने धन को प्रकाशित नहीं करते। मेरी इच्छा को नहीं छोड़ते। अगर तुम नहीं मानती हो, तो मैं तुम्हें प्रत्यक्ष दिखाती हूँ। सभी संसारी दस प्राणों से बंधे हुए जीते हैं। उनका ग्यारहवाँ प्राण उपचार से बाह्य धन ही है। उस बाह्य धन–प्राण के लिए कोई आभ्यन्तर दस प्राणों का त्याग करते हैं, पर द्रव्य का नहीं और कुछ तो मेरे रूपयों के ऊपर उगे हुए वृक्ष का सहर्ष रूपान्तरित पुष्प आदि के द्वारा प्रफुल्लित करते हैं। जहाँ–जहाँ मेरा रूप होता है, वहाँ देव भी बिना बुलाये चले आते है। हे सुभगे! मेरे साथ आओ। तुम्हे कौतुक दिखाती हूँ।''

इस प्रकार कहकर वे दोनों वहाँ से रवाना हुई। नगर से सवा योजन आगे आने पर एक सघन झाड़ी में बैठ गयीं।

तब लक्ष्मी ने देवमाया से 108 गज लम्बी तीन हाथ ऊँची इस प्रकार की श्रेष्ठ जातिवाले सुवर्ण की एक शिला की विकुर्वणा की। उस शिला को बालुका में

छिपाकर केवल एक हाथ–मात्र बाहर रखा। उस शिला का वह भाग दिन के पिछले सूर्य के आतप से जगमग दिखायी देने लगा। सूर्य की किरणों के समान चमकने लगा। अपराह्न में एक प्रहर दिन शेष रहने पर राजा के द्वारा किसी कार्य के लिए ग्रामान्तर को भेजे गये दो राजसेवक राजा के आदेश को पूर्ण करके वापस आ रहे थे। उनमें से एक सेवक कौतुक–प्रिय होने से इधर–उधर दृष्टि डाते हुए चल रहा था। तब उसने उसी शिला के एक अंश को चमकते हुए देखा।

उसने दूसरे सेवक से कहा–"भाई! देखो। देखो। दूर से कुछ चमकता हुआ दिखाई दे रहा है।"

तब दूसरे ने आगे पीछे का विचार किये बिना उत्सुकता–रहित होकर देखते हुए कहा–"कोई पत्थर का टुकड़ा, काँच या कमल पत्र होगा। क्या इस महा–अरण्य–प्रदेश में सुवर्ण–रत्न आदि मिलेगा?"

तब पहले ने कहा–"तुम साथ आओ, तो वहाँ जाकर देखें कि क्या है? क्या चमक रहा है?"

दूसरे ने कहा–"वृथा जंगल में घूमने से क्या? बिना प्रयोजन के प्रयास करने में क्या? यह तो लम्बा मार्ग है। हमसे पहले कितने ही आये होंगे। यदि यह कोई ग्रहण करने लायक वस्तु होती, तो क्या वे लोग न ले गये होते? अतः शीघ्र चलो। राजा के पास जाकर कार्य का वृत्तान्त कहकर अपने घर जायें। स्नान–मंजन करके भोजनादि से निवृत होकर मार्ग के श्रम को दूर करें।"

उसके कथन को सुनकर पहले ने कहा–"भाई! मेरे मन में तो महान आश्चर्य हो रहा है, अतः मैं तो वहाँ जाकर ही निर्णय करूँगा।"

दूसरे ने कहा–"तुम खुशी से जाओ। तुम्हारे पूर्वजों द्वारा स्थापित वस्तुओं की पोटली बाँधकर घर आ जाना। मेरे लिए कुछ भी शंका न करना। एक भाग या अंशमांत्र भी मत देना। मुझे भाग नहीं चाहिए। अतः कुछ भी मत देना। तुम ही सुखी बनो।"

ऐसा कहकर वह शीघ्र ही ग्राम के सम्मुख चलने लगा। पहला राजसेवक तो उससे अलग होकर शिला के समीप गया, तब उसने बालुका में दबी हुई शिला के एक भाग को जात्य–स्वर्णमय देखा। चमत्कृत होते हुए मन में विचारने लगा–"अहो! अच्छा ही हुआ, जो मेरे साथ नहीं आया। अगर वह आ जाता, तो उसका भाग भी उसे अवश्य देना पड़ता। मेरे तो भाग्य का ही उदय हुआ है। अब मैं देखता हूँ कि कितना परिमाण है?"

इस प्रकार विचार करके हाथ से बालुका हटाकर देखने लगा। उस शिला को अपरिमित जानकर उसके दर्शन–मात्र से विकल–चैतन्यवाला हो गया। विचारने लगा–"अहो! मेरा भाग्य अद्भुत है, जो इस प्रकार का निधान मुझे प्राप्त हुआ। मुझ पर तो सर्व प्रकार से भाग्य खुश है। इसके लाभ से तो मैं राज्य करूँगा। इसके प्रभाव

से हाथी–घोड़े–पैदल आदि सैन्य करूँगा। तब सेना के द्वारा अमुक देश को जीतकर राज करूँगा। इस प्रकार शहद के घट को उठाये हुए पुरुष की तरह आर्त्त–ध्यान करते हुए विचार करने लगा–"किसी भी उपाय से इस स्वर्ण को ग्रहण करूँ।" इस प्रकार वहीं बैठकर चिंता करते हुए विकल्पों के झूले में झूलने लगा।

दूसरा राजसेवक ग्राम के अभिमुख होकर कितनी ही दूर अकेला चलने लगा। पर थोड़ी ही दूर जाने के बाद सोचने लगा–"राजा ने तो दोनों को आज्ञा देकर भेजा था। मैं अकेला जाकर वृत्तान्त निवेदन करूँगा, तो राजा कहेगा कि दूसरा कहाँ गया? यह पूछने पर क्या उत्तर दूँगा? सही–सही कहने पर तो पता नहीं क्या होगा? अतः अकेले जाना ठीक नहीं है। इसे लेकर ही जाता हूँ।"

इस प्रकार मन में पक्का करके ऊँची जगह जाकर जोर से उसे बुलाया। पहले ने भी सुन लिया। उसने उस द्रव्य में आसक्त होकर ऊपर आकर हाथ के इशारे से तथा जोर से जवाब दिया–"तुम जाओ। मैं तो बाद में आऊँगा।"

यह सुनकर दूसरे ने फिर बुलाया, तो भी पहले ने पूर्व के समान ही उत्तर दिया। इस प्रकार बहुत बार बुलाने पर भी वह नहीं आया, तो द्वितीय के मन में शंका उत्पन्न हुई कि "मेरे द्वारा बार–बार बुलाने पर भी क्यों नहीं आता? कोई कारण अवश्य है। मुझे वहाँ जाकर देखना चाहिए।"

इस प्रकार विचार करके लौटकर पहले सेवक के पास जाने लगा। प्रथम सेवक ने उसको आते हुए देखकर चिल्लाकर कहा–"तुम जाओ–जाओ। मैं भी आता हूँ। क्यों देर करते हो?"

इस प्रकार कहने पर भी वह शंकाशील होता हुआ वहाँ आ गया। स्वर्णमयी शिला को देखकर विस्मयपूर्व सिर धूनते हुए कहा–"भाई! तुम्हारी कुटिलता ज्ञात हो गयी। मुझे भी धोखा देकर इस अरण्य में स्थित सुवर्ण–शिला को अकेले ही ग्रहण करना चाहते हो। इस अपरिमित द्रव्य को तुम अकेले कैसे पचा पाओगे? हम विभाग करके ग्रहण करेंगे।"

तब उसने कहा–"तुम्हारा यहाँ कोई लाग–भाग नहीं है। यह सारा मेरा है, अतः मैं ही ग्रहण करूँगा। मैंने तो सबसे पहले तुम्ही से कहा था कि आओ, वहाँ जाकर देखते है कि वह चमकती वस्तु क्या है? तब तुम्हीं ने कहा कि तुम ही जाओ। तुम्हारे पूर्वजों द्वारा स्थापित वस्तुओं को पोटली में बाँधकर घर ले आना। मुझे मत देना। ऐसा कहकर तुम तो आगे चले गये थे। अब विभाग माँगते हुए अपनी बात क्यों नहीं याद करते? मैं तो साहस करके यहाँ आया हूँ। मेरे पुण्य से प्राप्त हुआ है। अतः यह मेरा है। तुम्हारा यहाँ क्या है? जैसे आये हो, वैसे ही अपने घर चले जाओ। इसमें से कोड़ी जितने मूल्य का भी नहीं दूँगा। वृथा क्यों बैठे हो? यहाँ से चले जाओ। तुम्हारी मेरी दोस्ती अब नहीं हो सकेगी।"

उसके इस प्रकार के वचन सुनकर लोभ से अभिभूत होकर क्रोधित होते हुए

वह बोला–"हे मूर्खराज! कैसे मेरा भाग नहीं लगता? क्योंकि तुम और मैं दोनों राजसेवक हैं। राजा के द्वारा एक ही कार्य करने के लिए भेजे गये हैं। वहाँ जाते हुए जो कुछ भी लाभ या हानि होती है, वह दोनों के द्वारा समान रूप से ग्राह्य और सह्य है। अतः एक ही कार्य में निर्दिष्ट सेवकों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, वह सब विभाजित करके ही ग्रहण किया जाता है–यह राजनीति क्या तुम भूल गये? अतः मैं इसे तुम्हारे मस्तक पर हाथ देकर आधा भाग करके ग्रहण करूँगा। तुम किस निद्रा में सोये हो? क्या यह संसार मनुष्यों से रहित हो गया है, जो कि तुम्हारा कहा हुआ ही होगा? यदि धन का विभाग करके दोगे, तो हम दोनों की प्रीति उत्तम और अचल रहेगी, अन्यथा तो "पानेऽसमर्थौ विकीर्णे तु समर्थः" इस न्याय से राजा के आगे निवेदन करके पूर्व संचित द्रव्यादि सहित ही अब इस धन को ग्रहण करूँगा और तुम्हें कारागार में डलवाऊँगा। अतः मेरा आधा भाग मुझे दे दो।"

इस प्रकार के उसके कथन को सुनकर उसने सोचा–"निश्चय ही धन नहीं दिये जाने पर यह उपाधि करेगा और यह अपरिमित धन इसको मैं कैसे दे सकता हूँ? अगर इसको मार डालूं, तो यह धन मेरा ही रहेगा। दूसरा कोई भी नहीं जान पायेगा। राजा के पूछने पर राजा को कह दूँगा कि मार्ग में आते हुए जंगल से सहसा बाघ सामने आ गया, उसने उसको खा लिया, मैं भागकर आ गया–इस प्रकार उत्तर दे दूँगा। अन्य तो कोई जानता नहीं है, जो कि कहेगा। अतः इसके मरने से मेरा चिन्तित अर्थ सफल हो जायेगा।"

इस प्रकार विचार करके लाल–लाल आँखें करके गाली देते हुए उसको मारने के लिए म्यान से तलवार निकालकर "मेरे धन पर तुम्हे लोभ आ गया है, तो अब तैयार हो जाओ। धन देता हूँ।" इस प्रकार बोलते हुए तलवार हाथ में लेकर दौड़ा। दूसरा भी उसको इस प्रकार से सामने आते हुए देखकर क्रोधपूर्वक कोश से खड्ग निकालकर गालियाँ बकता हुआ दौड़ा। दोनों के द्वारा ही दौड़ते हुए आमने–सामने मिलते ही एक साथ रोषवश एक–दूसरे के मर्म–स्थान पर घात–प्रतिघात किया गया। मर्म–घात से दोनों ही भूमि पर गिर पड़े और अत्यधिक तेज प्रहार के कारण घड़ी–मात्र में ही मरण को प्राप्त हुए।

तब कुंज में स्थित लक्ष्मी ने सरस्वती को कहा–"देखो, धन को चाहनेवालों का चरित्र! आगे देखो कि अब क्या होता है?"

दिन की दो घड़ी शेष रहने पर निःस्पृह लिंग के धारक नग्न क्षपणक (क्षुल्लक मुनि) हाथ में कमण्डल लिए हुए मार्ग पर आ रहे थे। उन्होंने उसी शिला को सूर्य की किरणों से चमकते हुए देखकर मन में विचार किया–"इस महावन में सूर्य–किरण के समान चमकनेवाली वस्तु क्या है? इस विचित्रता को देखता हूँ।" इस प्रकार कौतुक बुद्धि से उसके सम्मुख गये। शिला के पास जाकर उसके एक देश को देखा। हाथ से बालुका को हटाकर देखा, तो अपरिमित परिमाण में स्वर्ण को

देखकर उस जटाधारी की चेतना लोभ के कर्दम से मलिन हो गयी। मन में विचार करने लगा–"अहो! इतने परिमाण में धन है। इसके लाभ से तो राजराजेश्वर के पद का अनुभव किया जा सकता है। जिसके लिए कष्ट किया जाता है, वह तो यहीं पर मिल गया। अतः यहीं रहना चाहिए।"

इस प्रकार विचार करके इधर–उधर देखने लगा, तो वे दोनों राजसेवक वहाँ गिरे हुए दिखायी दिये। उसने सोचा–"निश्चय ही ये दोनों धन के लिए परस्पर शस्त्र–घात के द्वारा मरे हुए दिखायी देते हैं। मार्ग के निकट रहा हुआ धन किससे छिपा रहता है? अतः यहाँ नहीं रखना चाहिए। इसे समस्त रूप से किसी के द्वारा नहीं उठाया जा सकता, अतः इसके टुकड़े करके किसी गुप्त स्थान में भूमि में दबाकर उसके ऊपर झोंपड़ी बनाकर वहाँ निवास किया जाये, तो चिंतित अर्थ की सिद्धि हो। पर घन–छेदनिका आदि लोह–शस्त्र के बिना कैसे इसको तोडूँगा? अतः किसी के पास खोजकर उन वस्तुओं को लाकर बाद में अपना इच्छिा करूँगा। पर अब तो रात हो गयी है। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? यदि इसे छोड़कर किसी गाँव में औजार लेने के लिए जाता हूँ, तो पीछे से कोई भी बलशाली आकर इसे ग्रहण कर लेगा और सोचा हुआ सब बेकार हो जायेगा।"

इस प्रकार संकल्प जाल में उलझा हुआ था कि इतने में विविध शस्त्र हाथ में लिए हुए छः चोर आ गये। उस नग्न–जटिल को देखकर नमस्कार करके इस प्रकार बोले "हे स्वामी! इस निर्जल, मानव–रहित वन में आप क्या कर रहे हैं?"

इस प्रकार के चोरों के कथन को सुनकर जटिल ने कहा–"हम जैसे मुक्ति के संग करनेवालों को वनवास ही श्रेयस्कर है। जो कोई भी महा–तपस्वी हुए हैं, उन्होंने यही रीति बतायी है। पर तुम लोग कहो कि घर छोड़कर रात्रि के समय जंगल में क्यों आये हो?"

तब उन्होंने कहा–"आप जैसों के सामने हम क्या झूठ बोलें। हम तो चोर हैं। कठिनाई से भरने योग्य पेट की पूर्ति के लिए चोरी करने जा रहे हैं।"

उनके वचन सुनकर जटिल ने विचार किया–"ये धनार्थी शस्त्र–सहित हैं, इनको कुछ भी धनादि देकर उस शिला के खण्ड करवा लूँ।"

इस प्रकार विचार कर उनको बोला–"हे चोरों! अगर मेरा कहा हुआ करोगे, तो तुम सब में से प्रत्येक को हजार–हजार दीनार दूँगा।

चोरों ने कहा–"बहुत अच्छा! हम तो आपके सेवक हैं। आप जो आज्ञा देंगे, वह हम करेंगे।"

तब जटिल ने वह शिला दिखायी और कहा–"मैंने तपोबल से वनदेवी की आराधना की और देवी ने प्रसन्न होकर यह निधि मुझे प्रदान की है। अतः इसे खण्ड–खण्ड करके तीर्थ–तीर्थ में व्यय करूँगा। इसलिए तुम लोग इसके टुकड़े–टुकड़े कर दो।"

इस प्रकार के जटिल के वचनों को सुनकर और उस शिला को देखकर वे चोर लोभ–समुद्र में लीन होते हुए विचार करने लगे–"हे भाइयों! इस जटिल का दम्भ–कौशल्य ज्ञात हो गया कि "मुझे देवता ने निधि दिखायी है!' इसे तो पहले किसी राजा ने सुवर्णमयी और रसमयी शिला बनाकर भूमि में निधि के रूप में छिपाकर रखी होगी। इसके बाद बहुत समय बीत जाने के बाद बरसात आदि से मिट्टी जल में बह जाने से इसका एक भाग अनावृत हो गया है। इधर यह जटिल घूमता हुआ यहाँ आया होगा और शिला के एक देश को देखकर लोभ से अपनी करके बैठ गया। यह पूर्ण रूप से तो इसको ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। अतः हमारे आगे कैसी दम्भ–रचना करता है! कि प्रत्येक मनुष्य को हजार–हजार मूल्य का धन दूँगा। आधा नहीं, तृतीय अंश नहीं, चतुर्थ, पंचम या सप्तम अंश भी नहीं, बल्कि सारा का सारा मैं एकाकी ही ग्रहण करूँगा। क्या यह इसके बाप का धन है, जो कि इस प्रकार ठगता है। अतः इसको मारकर हम सारा धन ग्रहण कर लेंगे।"

तब उनमें से एक ने कहा–"इस तपस्वी को हम कैसे मारेंगे?"

दूसरे ने कहा–"इसका तपस्वी–पना तो गया। यह तो हमारे जैसा वंचक या ठग है। हम चोर हैं और यह धूर्त है। दोनों ही परद्रव्य को ग्रहण करनेवाले हैं। तो फिर इसको मारने में दोष ही क्या है? यह सारा धन हमारे हाथ में आ जायेगा, तो हम सभी ठाकुर के जैसे सुख का अनुभव करेंगे और चौर–कर्म को छोड़ देंगे। अतः इसको मारकर सारा धन ग्रहण कर लेना चाहिए।"

इस प्रकार की मंत्रणा करके दो जनों के द्वारा जटिल को बातों में व्यस्त कर दिया। अन्य ने पीछे से खड्ग के द्वारा उसका मस्तक काट दिया। उसके बाद सभी ने पास जाकर उस सुवर्णमयी शिला को हाथ से स्पर्श किया। अत्यधिक सघन शिला जानकर विचार करने लगे कि "यह शिला तो हमारे हाथ में रहे हुए खनित्रादि शस्त्रों के द्वारा छेदन करने के लिए शक्य नहीं है। पूरी शिला को भी कोई उठा नहीं सकता। इसी रात्रि में इसे ले जायें, तो ही हमारी है। दिन हो जाने पर तो अनेक विघ्न उपस्थित होंगे।"

तब एक ने कहा–"घन–छेदनिका आदि के बिना चिंतित अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए इस नगर मे अमुक नाम का एक सुवर्णकार है। हमारी जाति के लोगों का परिचित है। विश्वास रूपी विश्राम का भाजन है। अतः उसके घर जाकर रहस्य कहकर घन–छेदनक आदि सहित उसे इस अरण्य में लाकर इस शिला को खण्डित कराया जाये, तो ही कार्य की सिद्धि को सकती है। उसे प्रयास से अधिक धन देकर प्रसन्न कर देंगे।" उसकी बात साध्य के अनुकूल होने से सभी ने अनुमति प्रदान कर दी।

तब एक ने कहा–"इन तीनों मृतकों को कुछ दूर हटाकर जाया जाये, तो ही अच्छा, फिर वैसा कर वे नगर के अन्दर गये। उस स्वर्णकार के घर जाकर उसे

पुकारा। वह भी उनकी आवाज सुनकर शीघ्र ही बाहर आया और बोला–"घर के अंदर पधारें। क्या लाये हैं, उसे आप दिखाइए।"

यह सुनकर चोरों ने कहा–"लाये–लाये क्या चिल्लाते हो? हम तुम्हारे दारिद्र्य का नाश करनेवाली एक निधि अपने हक में करके तुम्हे बुलाने के लिए आये है। अतः घन–छेदनक आदि हाथ में लेकर शीघ्र ही चलो। देर मत करो। जो घटिका बीत रही है, उसे लाख स्वर्णमुद्रा देकर भी नहीं खरीदा जा सकता। अतः तुम शीघ्रता करो।"

स्वर्णकार ने कहा–"मैं तो आपका हुक्म बजानेवाला हूँ। पर फिर भी आप मुझे बतायें कि आपने किस जगह और कौन–सी रीति से निधि देखी है? उसमें क्या है? जब अपने अधीन कर ली थी, तो फिर लेकर क्यों नहीं आये? वह निधि कितने परिमाण में है? इत्यादि सब कुछ आप साफ–साफ बतायें, जिससे मैं भी योग्य–अयोग्य के विभाग को जान पाऊँ। उसके बाद ही आपके साथ आऊँगा।"

तब चोरों ने उसे सब कुछ विस्तारपूर्वक बताया। वह सब सुनकर स्वर्णकार चमत्कृत चित्त से विचार करने लगा–"चोरों की बात असत्य प्रतीत होती है। लोक में भी कहा जाता है कि–

द्वात्रिंशल्लक्षणो महान पुरुषः चौरश्च षट्त्रिंशल्लक्षणो भवति।

अर्थात् महान पुरुषों के 32 लक्षण होते हैं, जबकि चोर के 36 लक्षण होते हैं। ये पूर्ण निर्णय के बिना नहीं आये हैं। अगर मैं इनके साथ जाऊँगा, इनका कहा हुआ कार्य करूँगा, तो मुझे एक धडिका (42 रत्ती प्रमाण), दो धड़िका या तीन धड़िका–मात्र देंगे। आप्त–संतति के भोगने योग्य अन्य सर्व धन को ये लोग लेकर चले जायेंगे। अपरिमित धन–लाभ की अपेक्षा से तो मेरे घर में आधा धन भी नहीं आयेगा। मैं तो **"सूपकारिकाणां धूमः'**– इस न्याय के अनुसार अति अल्प ही लेकर आऊँगा। अतः मैं अपनी बुद्धि से ऐसा कुछ करूँ, जिससे वह सभी मेरा हो जाये। तभी मेरे बुद्धि–कौशल की प्रशंसा होगी। चोर तो दूसरों के धन का हरण करने में तत्पर होते हैं तथा सभी को दुःखदायक होते हैं। इन्हें ठगने में क्या दोष है? बहुत से लोगों को दुःखोत्पादक व्यक्तियों का निग्रह करना ही चाहिए–ऐसा नीति का वचन है। धन भी इनके पिताओं द्वारा तो स्थापित नहीं किया गया है, जिससे कि लोक–विरुद्ध पाप लगे। अतः इनका निग्रह करके वह सभी धन आत्मसात् करूँगा। मेरे ही भाग्योदय से खिंचे हुए ये मेरे पास आये हैं। अतः मुख के सामने आये हुए कौर को कैसे छोड़ूँ।'

इस प्रकार मन में विचार कर स्वर्णकार ने चोरों से कहा–"हे स्वामी ठाकुरों! मैंने आज शाम का भोजन नहीं किया है। रसोई भी अब बनेगी। आप लोग भी भूखे होंगे। कार्य भी महाप्रयास से साध्य होनेवाला है। भूखे व्यक्ति में बल और स्फूर्ति नहीं होती। बल व स्फूर्ति के बिना कार्य नहीं होगा। अतः घड़ी–दो घड़ी मेरे घर पर

रुकिए, जिससे मैं शीघ्र ही घी से परिपूर्ण चार मोदक बनवाता हूँ। उन मोदकों को लेकर फिर चलते हैं। वहाँ जाकर मोदकों को खाकर फिर तैयार होकर कार्य करेंगे। आप स्वामियों को भी इस सेवक के हाथ की स्फूर्ति का ज्ञान होगा। इसी रात में उसके खण्ड करके आपको दूँगा। उसके बाद जैसी मेरी प्रयास–क्रिया होगी, तदनुरूप ही आपकी दान रूपी प्रसन्नता होगी। मैं तो आपका सेवक हूँ। आपकी अनुवृत्ति से जीता हूँ। आपका कार्य तो सिर के बल चलकर भी करूँगा।''

इस प्रकार की बातों से उनका मन प्रसन्न करके, घर के अन्दर ले जाकर, पान आदि खिलाकर तथा हुक्का आदि पिलाकर, घर के ऊपरी भूमि में जाकर, आटा–गुड़–घृत आदि से संस्कारित सात मोदक बनाये। उनमें से छः मोदक आकार में कुछ बड़े तथा विष–मिश्रित बनाये तथा एक अपेक्षाकृत छोटा तथा विष–रहित खुद के खाने के लिए बनाया। उन्हें भीगे पत्तों में लपेटकर, व्यंजनादि के बीच में रखकर, गाँठ आदि लगाकर तथा लोहघन–छेदनिका आदि लेकर चोरों का सहायक बनकर घर से निकाला। जल्दी–जल्दी चलते हुए वे लोग शिला के समीप पहुँचे। चोरों ने स्वर्णकार को शिला दिखायी। वहाँ भी उसे देखकर और मन में लाभलता के प्रहार से विह्वल होकर चोरों के सामने आहार की गांठड़ी लाकर निर्विष मोदक को अपने हाथ में लेकर इस प्रकार बोला–'' हे भाग्यनिधि स्वामियों! आपके ऊपर विष्णु तुष्ट है, जिससे कि यह अपरिमित स्वर्णशिला आपके हाथ में दे दी। अतः आप लोग भाग्यशालियों में अग्रणी हैं। आपके प्रसाद से मेरी भी दरिद्रता गयी। अतः सबसे पहले **'शतं विहाय भोक्तव्यम्'**– इस नीतिवाक्य का अनुसरण करते हुए ये घृतयुक्त मोदक खाने चाहिए। बाद में तैयार होकर दरिद्रता का नाश करनेवाली इस शिला के टुकड़े करूँगा।''

यह कहकर छहों चोरों को एक–एक विषयुक्त मोदक दिया। उन्होंने भी अपनी आयु को हटानेवाले (नाश करनेवाले) मोदक खा लिए और परम तृप्ति को प्राप्त हुए। तब स्वर्णकार ने कहा–''मेरे पीछे–पीछे कुएँ के समीप आयें। जल को निकालूँगा। उससे कुल्ला आदि करके हाथ–पाँवादि धोकर कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं।'' फिर वह देह चिन्ता के लिए गया।

तब एक नीति–कुशल चोर ने कहा–''तुम लोगों ने ठीक नहीं किया।''

दूसरे ने पूछा–''क्या? क्या?''

उसने कहा– ''जो आप स्वर्णकार को यहाँ लेकर आये, उसे स्वर्ण–शिला दिखायी –यह सब अच्छा नहीं किया। शास्त्रों में और लोक व्यवहारों में कहा गया है कि 'स्वर्णकार अविश्वसनीय होता है'। पूर्व में यह वार्ता नहीं सुनी कि–

व्याघ्र–वानर–सर्प–स्वर्णकार की कथा

कूप के अन्दर गिरे हुए एक व्याघ्र, एक वानर, एक सर्प तथा एक स्वर्णकार में से प्रथम तीनों को एक ब्राह्मण द्वारा बाहर निकाले जाने पर उन तीनों ने तो

प्रणामपूर्वक विज्ञप्ति की–"हे भट्ट! आपके द्वारा तो निष्कारण उपकार किया गया है। आज से हम भी सैकड़ों प्रत्युपकार करें, तो भी सुप्रत्युपकारक नहीं हो सकते। फिर भी किसी शुभ अवसर पर आप हमारे घर पर कृपा करके पधारना। हम यथाशक्ति अवश्य ही सेवा करेंगे। पर इस मनुष्य को कूप से बाहर निकालना योग्य नहीं है, क्योंकि यह सुनार जाति का है। उपकार करने के योग्य नहीं है।"

इस प्रकार अत्यधिक विज्ञप्ति करने बाद वे तीनों अपने–अपने स्थान पर चले गये। उनके जाने के बाद द्विज चिन्ता में पड़ गया और विचारने लगा–"अब इसको निकालूँ या नहीं? "इस प्रकार संशय की तुला पर आरूढ़ हो गया। तब अन्दर रहे हुए सुनार ने कहा–" हे ब्राह्मण–श्रेष्ठ! लोगों के उद्वेग के कारणभूत तथा विवेक– रहित व्याघ्र, वानर तथा सर्प का उद्धार तो शीघ्र ही कर दिया, बारी आने पर क्यों विलम्ब करते है? मैं तो मनुष्य हूँ। क्या व्याघ्र, वानर और सर्प से दुष्टतर हूँ? क्या मैं आपके उपकार को भूल सकूँगा? अतः मुझे शीघ्र ही निकालिए। मैं तो आजन्म आपका सेवक बनकर रहूँगा।"

भोला ब्राह्मण फिर विचार में पड़ गया–"यह सत्य ही बोलता है। क्या यह मनुष्य तिर्यंच से भी हीन है? अब जो भी होना है, हो जाये। उपकारियों को पंक्ति–भेद करना उचित नहीं है। उनके द्वारा भी सत्य ही कहा गया होगा पर मेरी इसके साथ क्या दुश्मनी है? मैं तो दूर देश का वासी हूँ। यह तो इसी मण्डल का वासी है। मेरा क्या कर सकता है?"

इस प्रकार विचार करके उसे तुरन्त बाहर निकाल लिया। तब सुनार ने भी ब्राह्मण को नमस्कार करके कहा–"आप तो मेरे जीवन–दाता बन गये हैं। अतः मुझ पर कृपा करके अमुक नगर में उस पाटक में रहता हूँ, वहाँ जरूर आना। शक्ति के अनुरूप भक्ति करूँगा।"

इस प्रकार वचन–विलास करके वह चला गया। ब्राह्मण 68 तीर्थों में भ्रमण करके पुनः लौटकर कुछ काल बीतने के बाद उसी वन में आया। भाग्य से व्याघ्र ने उसे देखा और पहचान लिया। 'अरे! यह तो मुझे जीवन दान देनेवाले महा–उपकारी है।' इस प्रकार याद करके बहूमानपूर्वक पाँवों में वन्दन करके पूर्व में मारे गये राजकुमार के पास से अनेक लाखों मूल्यवाले जो गहने प्राप्त हुए थे, वे उसे द्विज को देकर पूछा–" स्वामी! हम तीनों का उद्धार करने के बाद उस सुनार का उद्धार किया या नहीं ?

द्विज ने कहा–"उसके द्वारा अति दीनतापूर्वक विज्ञप्ति की गयी, अतः मेरे चित्त में अत्यधिक करुणा पैदा हुई। अतः मैंने उसे बाहर निकाल दिया।"

व्याघ्र ने कहा – "अच्छा नहीं किया। पर अब आगे उससे संगति मत करना।" इस प्रकार कहकर तथा नमन करके वह बाघ चला गया। ब्राह्मण भी जन्म–भर के दारिद्र्य का निवारण करनेवाले आभरणों को प्राप्त करके उत्साहपूर्वक

उसे आशीर्वचन देकर आगे बढ़ा। मार्ग में गमन करते हुए विचार करने लगा–"इन आभरणों को आगे अतिभय युक्त मार्ग में कैसे वहन करूँगा? अतः पहले नगर में जाकर इन्हें बेचकर रोकड़ा रूपया लेकर बाद में भव्य व्यवहारी की दूकान में जाकर ब्याज में जमा करके लेख करवाकर फिर सुखपूर्वक निर्भय होकर घर को जाऊँगा।"

इस प्रकार विचार करके नगर में आया। नगर मे प्रवेश करके चतुष्पथ में उस प्रकार के व्यक्ति को खोजने लगा। तब बाजार में स्थित वही स्वर्णकार उसे देखकर सोचने लगा–'यह तो वही ब्राह्मण है, जिसने मुझे कुएँ से निकाला था।' बगल में अमूल्य मुद्रादिक की गाँठड़ी देखकर सोचा–'देशाटन आदि करते हुए इसने धन–सुवर्णादि प्राप्त किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। अतः यह अगर इसे बेचे, तो मेरा काम हो जायेगा।'

इस प्रकार विचार करके दूकान से उठकर त्वरित गति से विप्र के पास जाकर कहा– "अहो! आज मेरे भाग्य जागृत हुए। आज मेरे घर में बिना विचारे अमृत–मेघों की वृष्टि हुई है। आज मेरे घर में स्वयं कामधेनु चलकर आयी है। आज मेरे मनोरथ सफल हो गये, जिससे कि आप जीवित मिल गये।"

इस प्रकार बोलते हुए द्विज के चरणों में मस्तक रखा। क्षणभर उसी स्थिति में रहकर फिर उठकर हाथों को जोड़कर विज्ञप्ति करने लगा–'स्वामी! मेरे घर पर पधारिये। अपने चरण कमल से घर को पवित्र कीजिए।' इस प्रकार शिष्टाचार दिखाते हुए वह ब्राह्मण को अपने घर ले गया।

भोला ब्राह्मण अति चाटु वचनों को सुनकर प्रसन्न होता हुआ विचार करने लगा–"यह कोई अत्यधिक गुण–ग्राहक प्रतीत होता है। मेरे किये उपकार को अभी तक नहीं भूला है। यह अत्यधिक सुजात दिखायी देता है। इससे क्या छिपाऊँ? यह मेरा सारा कार्य कर देगा। अतः व्याघ्र द्वारा प्रदत्त आभूषण इसे दिखाता हूँ। इसे ही बेचकर रोकड़ा ग्रहण कर लूँगा।"

इस प्रकार विचार करके कहा–"हे भद्र! मेरे पास किसी के दिये हुए आभूषण हैं। उन्हें बेचकर रोकड़ पैसे मुझे दे दो।"

उसने कहा–"आप बताइए। सिर के बल आपका कार्य करूँगा।"

तब द्विज ने वे सभी आभूषण उसे दिखाये। उन्हें देखकर सुनार ने पहचान लिया–'अहो! ये तो राजकुमार के हैं। राजपर्याय के योग्य वह राजकुमार किसी वक्र–शिक्षित घोड़े के द्वारा दूर वन में ले जाया गया। वहाँ किसी ने उसे मार दिया। उसे खोजने के लिए अनेक उपाय किये गये, पर पता नहीं लगा। तब राजा ने पटह बजवाया कि जो कोई भी कुमार के जीवन या या मरण के समाचार बतायेगा, उसे महा कृपा प्राप्त होगी। उसे अपना बनाकर बताया जायेगा। फिर भी कुछ भी पता न चला। पर आज मुझे मिल गया। अतः मैं इसे कुछ दिखाता हूँ। राजा का वल्लभ बनूँगा। राजकीय प्रसाद प्राप्त करूँगा। कुछ आभूषण भी पास में रख लूँगा। इस

द्विज से मुझे क्या प्रयोजन? घर में बैठकर तो खान–पान में मुझसे धन ही खर्च करवायेगा।''

इस प्रकार विचार करके आभूषण हाथ में लेकर विप्र को बोला–'हे स्वामी! सुवर्ण की परीक्षा तो मैं स्वयं कर सकता हूँ, पर रत्न के विषय में मैं कुछ नहीं जानता हूँ। अतः इन आभूषणों को रत्न–वणिक को दिखाकर, मूल्य बढ़ाकर, बेचकर आपको धन लाकर देता हूँ। आप सुखपूर्वक यहाँ आराम कीजिए।''

इस प्रकार वह सुनार आभूषण लेकर राजा के पास गया।राजा ने पूछा–'कैसे आना हुआ?''

उसने कहा–'कुमार की खोज मेरे द्वारा पूर्ण हो गयी है। वही निवेदन करने के लिए आया हूँ।'

यह सुनकर राजा के कान खड़े हो गये और उसने पूछा–'कैसे? कैसे?' तब सुनार ने वे आभूषण दिखाये। राजा ने उन्हें देखते ही पहचान लिया।
राजा ने पूछा–''कौन लेकर आया है?''

सुनार ने उत्तर दिया–''इन आभूषणों का चोर मेरे घर पर बैठा है। उसने मुझे बेचने के लिए ये आभूषण दिये हैं। मैंने आपको दिखा दिये है।''

राजा ने कहा–'तुमने बहुत अच्छा किया। तुम तो मेरे आत्मीय हो गये हो।'

इस प्रकार कहकर सेवकों को बुलाकर आज्ञा दी–'हे सेवकों! दौड़ो–दौड़ो। इस सुनार के घर पर बैठे हुए द्विज को बाँधकर विडम्बनापूर्वक यहाँ लेकर आओ।'

तब राजपुरुष जल्दी से गये। सुनार के घर पर रहे हुए द्विज को अचानक से बाँधकर विडम्बनापर्वक लेकर राजा के पास आये। राजा ने उसे देखते ही वध करने का आदेश दिया। तब सेवक उसके आधे मस्तक का मुण्डन करके गधे पर आरूढ़ करके मारते हुए नगर में घुमाने लगे।

विप्र मन में विचार करने लगा–''मैंने उन तीनों के द्वारा कहा हुआ नहीं माना, यह उसी का दुष्परिणाम है।'

इस प्रकार विचारने लगा, तभी वृक्ष पर रहे हुए वानर ने उसे देख लिया। वह सोचने लगा–अहो! हम तीनों के उपकारी इस विप्र की यह दशा कैसे हुई?''

फिर लोगों के मुख से घटना सुनकर विचारने लगा–''निश्चय ही सुनार से धोखा खाया हुआ यह मर जायेगा। किसी भी तरह इसे बचाना चाहिए–'इस प्रकार विचार करके सर्प के पास जाकर सारी घटना कह सुनायी। सर्प ने कहा–'चिंता मत करो। सब अच्छा ही होगा।'

यह कहकर सर्प ने राजा की वाटिका में जाकर कुल के बीजभूत राजकुमार को डस लिया। देखते ही देखते वह शव के समान निश्चेष्ट होकर भूमि पर गिर गया। राजसेवक चिल्लाते हुए राजा के पास गये और कहा। राजा भी किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गया। मंत्रवादियों को बुलाया गया। उन्होंने भी अपने मंत्रबलों के द्वारा अनेक

उपाय किये, पर वे सभी उपाय नपुंसक के आगे तरुणी के विलास की तरह निष्फल हुए। राजा के चारों हाथ भूमिसात् हो गये। वह विलाप करने लगा। तब किसी ने कहा– स्वामी! नगर में पटह बजवा दीजिए। कोई गुणी अवश्य ही मिल जायेगा।'

राजा ने पटह बजवाया–'जो कोई कुमार को जीवित करेगा, उसे एक लाख स्वर्णमुद्राएँ इनाम में दूँगा।'

इस प्रकार से पटह बजाते हुए राजसेवक वहाँ आये, जहाँ विप्र को गधे पर सेवक घुमा रहे थे। उसी समय नाग देवता ने देव के अनुभाव से अदृश्य रूप में आकर विप्र के कान में कहा – 'हे द्विजवर! मैं कुमार को जीवित करूँगा' इस प्रतिज्ञापूर्वक पटह का स्पर्श करो। मैं वही सर्प हूँ, जिसे तुमने बचाया था। हम तीनों का कहा हुआ तुमने नहीं माना। अयोग्य पर उपकार करने का ऐसा ही फल होता है।'

तब द्विज ने कहा – हे राजसेवकों! मुझे छोड़ो। मैं राजकुमार को जीवित करूँगा।'

राजसेवक दौड़ते हुए राजा के पास गये और विप्र का कहा हुआ हर्षपूर्वक राजा के आगे निवेदन किया। राजा ने कहा– 'उस विप्र को बन्धन–मुक्त करके शीघ्र ही लेकर आओ।'

सेवकों ने वैसा ही किया और विप्र को राजा के पास लेकर आये। राजा ने कहा–'हे विप्र! कुमार को जीवित करो। लगता है कि तुम्हीं ने मारा है और तुम ही जीवनदायक बनोगे। तुम जिस प्रकार विडम्बना को प्राप्त हुए हो, उसी प्रकार विपुल सम्मान को भी प्राप्त करोगे। अतः जल्दी करो।'

द्विज ने कहा–'नीति से विरुद्ध करने के कारण ही मैं विडम्बना को प्राप्त हुआ, पर अब फिर वह सभी घटना मैं आपको बताऊँगा।

इस प्रकार कहते हुए विष–व्याप्त कुमार के समीप जाकर चक्कर लगाकर धूप–दीप आदि महा–आडम्बरपूर्वक मार्जन करना शुरू किया। राजा आदि प्रमुख व्यक्ति उसे चारों ओर से घेर कर देख रहे थे।

तभी नाग देवता ने राजकुमार के शरीर में प्रकट होकर कहा–'हे द्विजवर! क्यों इस दुष्ट राजा के पुत्र पर उपकार करने के लिए प्रवृत्त हुए हो? क्या गधे पर आरूढ़ होने की विडम्बना को तुम भूल गये?'

राजा ने कहा–'मेरी दुष्टता कैसे?'

नाग ने कहा–'तुम्हारा पुत्र तो व्याघ्र के द्वारा मारा गया।' उसके बाद कितना ही काल बीत जाने के बाद दैवयोग से हम तीनों मित्र कूप के अन्दर गिर गये। चौथा व्यक्ति सुनार भी उसी कुएँ में गिर गया। उस समय निष्कारण

उपकारी यह विप्र भी वहाँ आया। हम तीनों ने इससे अनुनय किया। इसने सुनते ही लताओं की रस्सी आदि बनाकर अत्यधिक प्रत्यनपूर्वक हमें बाहर निकाला। तब हमने इसे प्रणाम करके इसे सीख दी कि अयोग्य होने से उस चौथे पर उपकार करना उचित नहीं है। यह कहकर हम लोग तो स्व–स्थान पर चले गये। उसके बाद इस सोनार ने अत्यधिक चाटु वचनों के द्वारा विप्र को मना लिया। उपकारी स्वभाववाले विप्र ने हमारे वचनों को भुलाकर उसे भी निकाला और वह घर चला गया। विप्र तो तीर्थों को करता हुआ लौटता हुआ व्याघ्र के द्वारा देखा गया। उसके उपकारों को याद करके ये आभरण व्याघ्र ने इस विप्र को दिये। यह विप्र फिर यहाँ आया। सुनार ने इसके पास धन देखकर कपट करके अपने घर ले जाकर इसके समस्त आभूषण लेकर आपको कपटपूर्वक झूठ कहा। विचारमूढ़ होकर आपने भी बिना विचारे विडम्बना करके द्विज की यह अवस्था की। वानर ने जब यह देखा, तो शीघ्र ही आकर मुझे कहा। तो इस उपकारी को दुःख देनेवाले तुमको कैसे छोड़ दूँ। **'शिष्टस्य पालनं दुष्टस्य दण्डं'**– इस नीतिवाक्य का स्मरण करके मेरे द्वारा डसा गया।'

तब राजा ने सर्व लोगों के सामने अपनी निंदा की। द्विजवर और नाग से क्षमायाचना करके कहा–"जो आपका आदेश हो, मैं वही करूँगा।"

तब नाग ने कहा–"तुम एक लाख स्वर्णमुद्राओं के साथ दस भव्य ग्राम इसे दो, तो मैं राजकुमार को छोड़ दूँगा।"

राजा ने वैसा ही करके ब्राह्मण की पूजा की। कुमार निर्विष हुआ और सुनार को कृतघ्न जानकर राजा ने उसके वध का आदेश दिया। पर द्विज ने दया करके उसे छुड़वा दिया।

अतः यह सुनार अपनी माता के स्वर्ण का भी चोर होता है। हमने अच्छा नहीं किया, जो कि इसको सहायक बनाकर यहाँ लाये। पहले ही कुछ भी बहाना बनाकर घन–छेदनिका आदि साधनों को माँग लिया होता, तो भव्य होता। अब तो अहि– गंधमूषिका न्याय से विषम संकट आ पड़ा है, क्योंकि–

जा मति पीछे उपजे, सा मति पेहली होय।
काज न विणसे आपणो, दुरजन हसे न कोय।।

अर्थात् जो मति बाद में उत्पन्न होती है, वह मति पहले सोचनी चाहिए, जिससे कार्य भी विनष्ट नहीं होता और दुर्जन भी नहीं हँसते।

और भी, यह शिला एक ही दिन में नहीं तोड़ी जा सकती। बहुत से दिनों में ही यह कार्य साध्य होने से प्रभात होने पर जितना ले जाना शक्य होगा, उतना स्वर्ण लेकर हम और यह अपने–अपने स्थान–स्थान पर चले जायेंगे। घर

आया हुआ यह सुनार अनर्गल स्वर्ण को याद करके व्याकुल होगा। जिसकी चेतना रतिमात्र स्वर्ण को देखकर विफल हो जाती है, उसको पुनः यह अनर्गल देखकर क्या कुछ नहीं होगा? अतः निश्चय ही किसी बलवान के साथ विभाग करके अवश्य ही ग्रहण कर लेगा। हम सबको तो बहुत से द्रव्य–हरण का छल मस्तक पर डालकर संकट में डाल देगा। अतः अब क्या करना चाहिए?'

तब एक ने कहा–'यदि मेरा कहा हुआ करोगे, तो कुछ भी विघ्न नहीं होगा।'

उन्होंने पूछा–कैसे?'

उसने कहा–'घन–छेदनिका आदि तो हाथ में आ ही गयी है। उसके द्वारा घन–छेदनिका से दिखायी देनेवाले उपरितन भाग को लेकर तथा शेष भाग को आच्छादित करके चले जाते हैं। बाद में प्रतिदिन आकर अपना इच्छित काम करेंगे। अब यदि वह आता है, तो उसे कहेंगे कि शीघ्रतिशीघ्र पानी खींचो। फिर से प्यास लगी है। यह सुनकर जब वह जल लाने के लिए कूप के तट पर बैठेगा, तब पीछे से सभी जन मिलकर हाथों से धक्का देकर उसे कूप में गिरा देंगे। वह शीत जल से मर जायेगा।

यह सुनकर सभी सहमत हो गये। वे सभी चुप हुए, तब तक वह सुनार भी देह–चिंता से निपट कर आ गया। तब चोरों ने कहा–'भाई! जल निकालो। सरस भोजन के कारण पुनः प्यास लग गयी है।''

स्वर्णकार भी उनका कथन सुनकर सोचने लगा–''विषवाले मोदकों ने अब असर दिखाना शुरू किया है। अब पानी पीकर सभी भूमि पर गिर जायेंगे और दीर्घ निद्रा को प्राप्त हो जायेंगे। इसके बाद मैं ही सब कुछ ग्रहण कर लूँगा।

इस प्रकार आर्त्त–रौद्र ध्यान ध्याते हुए जब पानी खींचने के लिए कूप के पास पहुँचा, तब पूर्व योजनानुसार उन सभी ने उसे कूप में गिरा दिया। वे चोर भी घड़ी–मात्र में ही विष के प्रभाव से मृत्यु को प्राप्त हुए।

यह सभी लक्ष्मी के द्वारा सरस्वती को दिखाते हुए कहा गया–'हे सरस्वती! देखा जगत का आश्चर्य! इन दसों के द्वारा 11वें प्राण के लाभ की आशा से दस प्राण दे दिये गये, पर 11वाँ प्राण किसी ने भी प्राप्त नहीं किया। मैं लोगों को सैकड़ों–हजारों संकटों में डालती हूँ। रोगों से पीड़ित करती हूँ, चाबुक के आघात से ताड़ित करती हूँ, भिक्षाटन करवाती हूँ, कारागार में डलवाती हूँ। ज्यादा क्या कहूँ? क्रुद्ध शत्रु जो कुछ नहीं करता, वे सभी दुःख मैं देती हूँ। फिर भी संसारी जीव मेरा पीछा करना नहीं छोड़ते। मेरे लिए माता–पिता, पुत्र, नारी,

मित्र, सेवक, गुरु आदि को ठगते हैं, उन्हें पीड़ा पहुँचाते है, उनका विश्वासघात करते हैं। कुल–जाति–देश–धर्म और लज्जा को छोड़कर मेरे लिए परिभ्रमण करते हैं। जो कोई नहीं करता, नहीं बोलता, वह सभी धनार्थी करता व बोलता है। एकमात्र श्रीजिन–वचन से वासित अन्तःकरण से गृहित पंच–महाव्रत–धारी के सामने मेरी नहीं चलती। वे विविध प्रकार से मेरा गोपन करते हैं, मेरा महत्त्व नष्ट करते हैं। मेरी संतति रूप जो कामभोग हैं, उन्हें भी नासिका के मल की तरह बाहर निकाल देते हैं। वन में जाकर अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर भार के समान सब कुछ त्यागकर नग्नभाव को धारण करके मेरी संगति के त्याग की प्रतिज्ञा के साथ विविध देशों में पर्यटन करते हैं। जहाँ कहीं भी जन–समूह का संयोग होता है, वहाँ मेरी, मेरे संतान रूप काम–भोगों की निंदा करते हैं। वे अपनी वचन–रचना के द्वारा मेरी और विषयों की गूढ़ बातें बताकर सभी के चित्तों को मेरी ओर से तथा काम–भोगों की ओर से विमुख करते है। चपला, कुटिला, स्वैरिणी आदि कलंक देकर कितनों को गृह त्याग करवाते हैं। अपने समान बना लेते हैं। पुनः जप, तप आदि उपायों के द्वारा मुझे दासी बनाकर सेवा के कार्यों में मुझे खर्च करवाते हैं। जिनके घर में आहार–मात्र ग्रहण करते हैं, उसके आँगन में मेरे द्वारा लाखों स्वर्ण मोहरों की बरसात करनी ही पड़ती है। वे मुनि शुक्लध्यान से मेरे इच्छा–बीज को जलाकर केवलज्ञान प्रकट करते हैं। उस अवसर पर विविध देवों के समूह इकट्ठे होकर मेरे घर रूपी कमल को उनके चरणों के नीचे बिछाकर उन्हें कमल रूपी आसन प्रदान करते हैं। वे मुनि उसी आसन पर बैठकर मेरा निर्मूल उच्छेदन को करने का उपदेश देते हैं। बहुत से लोगों को अपने जैसे बनाते हैं। दूसरों को देशविरति देते हैं। वे क्या करते हैं? जो घर में रहकर भी व्यवहार को शुद्ध करनेवाले परिग्रह–परिमाण–व्रत को सत्य–संतोष की आम्नापूर्वक पालकर पहले से भी ज्यादा धन उपार्जित करते हैं। नीतिशास्त्र में कही हुई रीति से निस्पृह भाव दिखाते हुए काम–भोगादि में व्यय नहीं करते, बल्कि सात क्षेत्रों में हर्षपूर्वक ख़र्च करते हैं। अति गाढ़तर वीर्योल्लास तथा भावना डालकर मुझे बंधन में बाँध लेते हैं। वे प्रतिदिन प्रतिक्षण सभी के सामने मेरी निंदा करते हुए तथा तिरस्कार करते हुए ही सुने जाते हैं, फिर भी उनका घर छोड़ने में मैं समर्थ नहीं हूँ, प्रत्युत वृद्धि की अभिलाषा के साथ उन्हीं के घर पर रहती हूँ। एकमात्र कुशल पुण्यानुबन्धी पुण्य के बन्ध से मुझे बन्धन में डालते हैं, जिसके बल से जन्म–जन्म में मुझे उनका दासत्व भोगना पड़ता है। पग–पग पर निधान को दिखाते हुए चारों ओर से वृद्धिपूर्वक उनके पास रहना होता है। उनका कुछ भी प्रतिकूल करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। अन्त में मेरा ही

त्याग करके निर्वृतिपुरी को चले जाते हैं।

इस प्रकार ऐसे जिनशासन के उपासकों को छोड़कर सभी संसारी जीव मेरे किंकर हैं। मैं उन्हें सहस्रों दुःख देती हूँ, फिर भी मेरी चरणोपासना और प्रीति नहीं छोड़ते हैं। मेरे लिए तप–जप कायक्लेशादि अनेक प्रकार से पापानुबंधी पुण्य करते हैं। परन्तु मैं उनको सभी ओर से वृद्धि दिखाकर नरकावास में अथवा तिर्यंचों में गिरा देती हूँ। वे भी सर्पादि तिर्यंच मुझे घेरकर निधानादि का सेवन करते हैं। जो कोई कष्ट से देवों में उत्पन्न होते हैं, वे भी दूसरों की भूमि में रहे हुए मुझ रूपी द्रव्य का (लक्ष्मी का) आश्रय करके निष्कारण ही वहाँ वास करते है। लोगों को तो वह लक्ष्मी मिट्टी या कोयले के रूप में दिखाई देती है। अतः हे भगवति वाणि! संपूर्ण संसारी मेरी प्राप्ति को ही महत्त्व देते हैं। केवल जो कोई मोक्षार्थी हैं, वे मनुष्य ही तुम्हारी उपासना में रत हैं। वे नर ही तुम्हारा महत्त्व स्वीकार करते हैं।"

इस प्रकार से लक्ष्मी के कथन को सुनकर सरस्वती ने कहा–"भगिनी! एक तो तुम्हारा महादूषण यह है कि अपने सेवकों को नरभव आदि में वैभवादि देकर और सुख दिखाकर नरक रूपी कारावास में डाल देती हो। अपने आश्रितों का तो उद्धार ही करना महान लोगों के लिए युक्त है।"

यह सुनकर लक्ष्मी बोली–"बहन! विदुषी होकर श्रुत की जड़ता को क्यों प्रकट करती हो? केवल मैं ही नरकावास में नहीं गिराती हूँ, किन्तु मोहराज से प्रयुक्त विषय–अविद्या–व्यसन– काम–भोगादि भी नरक में गिराते हैं। मेरे बल से तो धन–विवेक की मति परम पद का साधन मानकर चिदानंद को प्राप्त कराती हुई सुनी जाती है। शास्त्र में भी कनक से मुक्ति कही जाती है। इसी प्रकार तुम्हारी प्राप्ति होने से महा–अद्भुत श्रुत केवली भी मोहराज से युक्त प्रमादाचरण के द्वारा अनन्त तिर्यंचों में परिभ्रमण करते हैं। तो क्या यह तुम्हारा दोष है?"

यह सुनकर और हँसते हुए सरस्वती बोली–"भगिनि! एक विवाद–भंजक तथा तुम्हारे और मेरे महत्त्व का पोषक वाक्य कहती हूँ, उसे सुनो–"जिस किसी ने भी हम दोनों की प्राप्ति के समय सत्संगति के स्वीकारपूर्वक विवेक लोचन का लाभ प्राप्त किया है, वह त्रिवर्ग के साधनपूर्वक परमानंद पद को प्राप्त करता है।"

लक्ष्मी ने कहा–"यह तो सत्य है।"

इस प्रकार विवाद खत्म हो जाने पर दोनों अपने–अपने स्थान पर चली गयी।

।। इति लक्ष्मी–सरस्वती का संवाद।।

इसी प्रकार पुराण आदि में भी कहा हुआ होने से हे भव्यों! सुनो–

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गत्यो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

अर्थात् धन की तीन ही गतियाँ हैं, दान, भोग और नाश। जो न देता है, न भोग करता है, उसकी निश्चय ही तीसरी गति होती है।

अतः सत्पुरुषों का लक्ष्मी–लाभ में प्रधान फल दान है। भोग तो माध्यम है। जिस पुरुष के द्वारा इन दोनों में से एक भी नहीं किया जाता है, उसकी तीसरी गति तो होती ही है। पुण्य बल के पूर्ण होने पर दुर्गति–भ्रमण देकर लक्ष्मी तो जाती ही है। कहा भी है–

पृथिव्याभरणं पुरुषः पुरुषाभरणं प्रधानतरं लक्ष्मीः।
लक्ष्म्याभरणं दानं दानाभरणं सुपात्रं च।।1।।

पृथ्वी का आभूषण पुरुष है, पुरुष का आभूषण प्रधान रूप से लक्ष्मी है, लक्ष्मी का आभरण दान है और दान का आभरण सुपात्र है।

अतः हे भव्यों! अति दुर्लभतर मनुष्य भव और धन प्राप्त करके सुपात्रदान में प्रयत्न करना चाहिए। जिसने धनयुक्त मनुष्य भव को प्राप्त किया, उसने दुग्ध–शर्करा के संयोग को प्राप्त कर लिया। इन दोनों को प्राप्त करके अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पा दान और कीर्ति आदि दान में कैसे सफल नहीं हुआ जा सकता? धन लाभ का भी इस लोक में जब तक लक्ष्मी है, तब तक ही महत्त्व है। लक्ष्मी जाने पर तो मनुष्य तृण के समान है। कोई भी उत्तर तक नहीं देता। दान देते हुए लक्ष्मी जाती नहीं है, बल्कि स्थिर ही होती है। कदाचिद् पूर्व भव में संचित अत्यधिक पाप के उदय से धन के चले जाने पर भी दाता के लिए वह अति महत्त्व रूप नहीं होता, पर परलोक में अवश्य ही लोकोत्तर महत्त्व प्राप्त होता है। अगर धनी होते हुए भी कृपणता के दोष के कारण दान–मात्र ही नहीं देता, तो लोक में प्रभात के समय कोई उसका नाम तक नहीं लेना चाहता। अगर कोई भूल से उसका नाम ले भी ले, तो दूसरा उसको उपालम्भ देता है–"क्यों इस नीच का नाम लेते हो? यह अदृष्ट अकल्याणक है।"

इत्यादि अदाता के सहज फल हैं। अतः भव्यों को उभयलोक सुखदायक दान में अवश्य यत्न करना चाहिए।"

इस प्रकार मुनि की देशना को सुनकर मैं (धनकर्म के रूप को धारण करनेवाला चारण) मन में चमत्कृत होता हुआ चिंतन करने लगा–"अहो! अज्ञता से मैंने अति दुष्कर नरभव और धन को प्राप्त करके भी बहुत ज्यादा हार दिया। कुछ भी इस लोक या परलोक के लिए नहीं दिया। केवल दुर्गति–गमन को ही पुष्ट किया है। कृपणता के दोष से न तो दिया, न खाया। दीन के समान केवल

दुर्भर जठर को भरता रहा। न तो स्वयं भोगा, न ही पुत्रों को दिया। न यश प्राप्त करने के लिए याचकों को ही दिया, न दीन–हीन का उद्धार ही किया। अतः अब अवश्य ही भव को सफल करूँगा। यह विचार करके मैं आ गया हूँ।

हे पुत्रों! मुनि–वचनों के उपकार के कारण धन–धान्यादि में मैं निर्मम हो गया हूँ। कृपणता के दोष के कारण मेरा अतीत दुर्गति–पोषण के लिए ही रहा। तुम सबके दान–भोगादि में मैं अन्तराय–कारक ही हुआ। तुम सब ने भी मेरे सुपुत्र होने से मेरे आशय के अनुकूल निर्वाह किया। अतः हे पुत्रों! साधु के द्वारा धनादिक सभी अधिकरण अत्यधिक दुःखदायक रूप से बताये गये हैं। अतः धनादि को पात्रसात् करने की इच्छा करता हूँ। दानादि से रहित अर्थ केवल अनर्थ के लिए होता है। अतः दीनों का उद्धार, सुपात्र का पोषण, कुटुम्ब का निर्वाह आदि कार्यों में इसका भव्य फल ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए तुम लोगों की भोग–त्यागादि जो भी इच्छा हो, वह कहो। सुखपूर्वक अर्थ ग्रहण करो। मैंने आज्ञा दे दी है, फिर से मत पूछना। मैं तो अब दानादि कार्य ज्यादा से ज्यादा करूँगा।

यह कहकर उस कपटी (छद्मवेशी) धनकर्मा ने दीनादि को यथेच्छा दान दिया। दुःखीजनों, स्वजनों तथा याचकजनों को अपनी–अपनी इच्छा से भी अधिक दान दिया। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में आठ करोड़ धन उस कपट–श्रेष्ठी के द्वारा व्यय करवाया गया।

जब वह नगर में भव्य वस्त्राभरण आदि पहनकर सुखासन युक्त अश्वरथ पर सवार होकर निकलता, तो उसके कोई बचपन के दोस्त आदि पूछते–'हे श्रेष्ठी! अब तुम्हारी इस प्रकार की त्याग–भोग की प्रवृत्ति कैसे हो गयी?'' तब पूर्वोक्त कल्पित घटना को कहकर उत्तर देता।

तब कोई भव्यजन कहने लगते–''निःस्पृह मुनि की देशना से कौन प्रतिबोधित नहीं होता? इसमें आश्चर्य ही क्या है? पूर्व में भी सुना गया है कि शास्त्र में कालकुमार– दृढ़प्रहरी–चिलातीपुत्र– धनसंचयश्रेष्ठी आदि के द्वारा कुकर्म में रत, कुमार्ग के पोषक, कुमति से वासित अन्तःकरणवाले, सप्तव्यसन के सेवन में प्रवीण, महा–निष्ठुर परिणामवाले भी वे मुनि की देशना से जागृत हुए और उसी भव में जिनधर्म की आराधना करके चिदानंद को प्राप्त हुए, तो इसका तो कितना दोष है? केवल कृपणता तो थी। वह मुनि के वचनों से चली गयी। यह धन्य है कि इस प्रकार की जन्म से लगी हुई कृपणता चली गयी। हम लोगों की तो इस प्रकार की मति कब होगी?''– इस प्रकार से स्तुति करने लगे।

कोई कहने लगा–''इसका आयुष्य–क्षय नजदीक आ गया दिखाई पड़ता

है, जिससे कि जन्म से रहनेवाला इसके स्वभाव का परिवर्तन हो गया है। काल–ज्ञान शास्त्र में भी कहा है–

"आजन्म प्रवृत्ति एक ही इशारे से प्रयत्न के बिना ही विनिमयता को प्राप्त होती है, तब स्वल्प ही आयु जाननी चाहिए।"

इस प्रकार जिसके मन में जैसा प्रतिभासित होता, वह वैसा ही बोलने लगता। जन–जन के मुख को कौन ढ़क सकता है? कुछ दिनों बाद किसी दिन राजद्वार पर जाकर बहुमूल्य उपहार ले जाकर प्रणाम करके आगे बैठ गया। राजा भी उस अभिनव महा–मूल्यवान उपहार को देखकर प्रसन्न होता हुआ उसे आदर सहित बुलाकर बातें करने लगा–"हे श्रेष्ठी! तुम्हारे चित्त में इस प्रकार की उदारता कैसे प्रकट हुई? पूर्व में तो पग–पग पर लोग तुम्हारी कृपणता के दोष को प्रकट करते रहते थे। अब तो प्रतिक्षण दान–भोगादि में तुम्हारी अति उदारता सुनी जाती है, यह सब कैसे? सत्य कहो।"

श्रेष्ठी ने भी पूर्वोक्त कल्पित मुनि–देशना आदि को प्रतिबोध का कारण बताया। राजा भी सुनकर चमत्कृत होता हुआ बोला–"अहो! जीव की गति अचिन्त्य है। सर्वज्ञ के बिना कौन जान सकता है?"

इस प्रकार कहकर यथोचित प्रसाद देकर "मेरे लायक कोई कार्य हो, तो कहना। मन में किसी प्रकार की शंका न रखना" इत्यादि वचन का अर्पण कर उसे भेज दिया। वह भी प्रणाम करके उठा और विचारने लगा कि दान से क्या नहीं होता? देव भी अनुकूल हो जाते हैं, तो मनुष्यों की तो बात ही क्या? इस प्रकार विचार करते हुए घर आ गया। प्रत्येक घर, प्रत्येक पथ और प्रत्येक ग्राम में याचक–जनों के द्वारा उसकी यश–शोभा का विस्तार किया गया। वह सर्वत्र विख्यात हो गया।

इधर जिस गाँव में मूल धनकर्मा गया था, उस ग्राम में कोई याचक नकली धनकर्मा से माँगकर इच्छा से अधिक धन–वस्त्र–आभरण आदि पाकर नकली धनकर्मा के यश को गाते हुए अपने गाँव को जाने की इच्छा से वहाँ आया। चतुष्पथ पर मूल धनकर्मा एक श्रेष्ठी की दूकान पर खड़ा हुआ व्यापार आदि वार्ता कर रहा था, उसी के बगलवाली दूकान पर वस्त्राभरण से भूषित वह याचक भी मार्ग पर जाता हुआ किसी के द्वारा पहचाना जाने से बुलाया गया। याचक भी उसके समीप जाकर नकली धनकर्मा का यश–वर्णन करने लगा–"हे अमुक श्रेष्ठी! लक्ष्मी से आश्रित लक्ष्मीपुर गाँव में दानवीर कर्ण को भी अधोमुखी करनेवाला साक्षात कुबेर के समान मूर्तिमान पुण्य–स्वरूप समस्त दाताओं का शिरोमणि धनकर्मा नामक श्रेष्ठी रहता हैं। उसने मेरे जैसे अनेकों के दारिद्रय का

उच्छेद किया है। वर्तमान समय में तो इस प्रकार दारिद्र्य–चूरक, चाह से अधिक दान देनेवाला मैंने न तो कहीं देखा, न सुना। इसकी माता ने तो इसको ही जन्म दिया है। दाता के समस्त गुणों से भूषित जैसा यह है, वैसा न कभी हुआ है और न होगा। ज्यादा क्या वर्णन करूँ? ब्रह्मा भी उसके गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं है।"

यह वार्ता पार्श्ववर्ती दूकान में स्थित मूल धनकर्मा ने सुनी। सुनकर चमत्कृत होता हुआ वह अपने मन में विचार करने लगा–"अहो! मेरे नगर में तो धनी धनकर्मा मैं ही हूँ। अन्य तो कोई भी न देखा, न सुना। मैं तो यहाँ हूँ। अथवा वह किसी अन्य ग्राम से आया है? इस प्रकार शंकायुक्त होकर याचक से पूछा–"तुम्हारे द्वारा कहा हुआ धनकर्मा किस ग्राम से आया हुआ है?"

याचक ने कहा–"आया हुआ–आया हुआ क्या बोलते हो? उस नगर का ही वह निवासी है। वह रूप में तो साक्षात् तुम्हारे जैसा प्रतीत होता है, पर गुणों में तो तुमसे भी ज्यादा है।"

याचक के इस कथन को सुनकर उसे अत्यधिक दुःख हुआ। यह याचक क्या बोलता है? नगर में तो मेरे समान कोई नहीं है। तो मेरे पाटक में तो कैसे हो सकता है?

यह विचार कर पुनः पूछा–"हे याचक! तुम जो प्रलाप कर रहे हो, वह मेरे मन को नहीं जँचता। अतः बार–बार पूछ रहा हूँ, क्योंकि याचक की शतजिह्वा होती है। प्रतिक्षण पृथग् भाव से बोलती हुई आप लोगों की जाति होती है। अतः कहता हूँ कि तुम जो कुछ बोल रहे हो, वह क्या तुमने किसी के मुख से सुना है? अथवा क्या तुम भांगादि का पान करके प्रलाप कर रहे हो? इसका कारण यह है कि जो तुम्हारे द्वारा पाटक–नायक के बारे में कहा जा रहा है, वह तो मैं ही हूँ। धन–व्यवसायादि से मेरे समान दूसरा कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण नगर में नहीं है। तो फिर पाटक में तो कहाँ से आयेगा? मैं तो किसी कार्यवश यहाँ आया हूँ, कुछ ही दिन हुए हैं। अतः तुम्हारा कहा हुआ कैसे संभव हो सकता है?"

याचक ने कहा–"क्यों वितारण करते हो? हम याचक यथार्थ के वाचक होते हैं। जैसा दिखता है, वैसा ही कथन करते हैं। हृदय में कुछ और मुख में भिन्न आशय रूप से बोलने का वरदान विधाता ने आपकी जाति को ही दिया है। यदि विश्वास नहीं होता है, तो वहाँ जाकर देखिए। सब कुछ ज्ञात हो ही जायेगा। पर नगर में भ्रमण करते हुए मैंने इतना जरूर सुना था कि यह धनकर्मा पूर्व में तो महा–कृपण था, पर अब इसके जैसा महादानी कोई भी दिखाई नहीं देता। अतः हे श्रेष्ठी! मैंने जो कुछ भी कहा है, उसे सर्व सत्य ही जानो। झूठ

बोलकर मुझे क्या फायदा होगा? मैंने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है। इसमें संदेह करना योग्य नहीं है। मैं कुछ भी न्यूनाधिक नहीं जानता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ।

ऐसा कहकर याचक चला गया। श्रेष्ठी विचार करने लगा–"यह बात तो उत्पात के समान असम्भव है। केवल असत्य भी न हो, तो भी कुछ न्यूनाधिक तो है ही। मूल से तो असत्य नहीं हो सकती। अतः मैं शीघ्र ही जाता हूँ। अगर कार्य है भी, तो वापस आ जाऊँगा।"

इस प्रकार विचार करके उसी दिन रवाना होते हुए मार्ग में किसी ग्राम में रात्रि–निवास किया, पर आर्त्त–ध्यान के कारण नींद नहीं आयी। आर्त्त–ध्यान में ही रात्रि बिताकर प्रभात में अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। तब कपटी धनकर्मा ने देव–प्रयोग से यह जानकर पहले ही द्वारपालकों से कह दिया– "हे सेवकों! अभी नगर में बहुरुपिए अत्यधिक आये हुए हैं। वे लोगों को विविध धूर्तकलाओं से ठगते हैं। कोई–कोई तो गृहस्वामी का रूप बनाकर घर के अन्दर प्रवेश करके घर की सार–सार वस्तु को लेकर चले जाते हैं। अतः सावधान रहना। किसी भी अज्ञात–व्यक्ति को घर में प्रवेश न करने देना।"

मध्याह्न होने पर मूल धनकर्मा अपने नगर में पहुँचा। नगर में प्रवेश करते हुए वह लोगों के द्वारा देखा गया। उसे उस रूप में देखकर लोग परस्पर कानों में बातें करने लगे–"अहो! आज यह धनकर्मा अपना पुराना वेश धारण करके पादचारी होकर कहाँ से आया है?"

यह सुनकर किसी एक ने कहा– "यह धनकर्मा नहीं है, धनकर्मा के समान रूपवाला कोई पथिक जा रहा है।"

तब किसी एक ने कहा–"तुम सत्य ही कह रहे हो, क्योंकि मैंने आज सुबह ही सुखासन पर आरूढ़ होकर बहुत से सेवकों के साथ घिरे हुए उसे जाते देखा है।"

तब दूसरे ने कहा–"धनकर्मा तो यही है, क्योंकि इसे देखते हुए ही मेरा समग्र जन्म बीता है। अगर न हो, तो शर्त लगाता हूँ।"

इस प्रकार अनेक बातें करते हैं, तब तक मूल धनकर्मा सब कुछ सुन लेता है। मन में कुछ–कुछ विचार करने लगता है कि यहाँ क्या कारण हो सकता है? पर एक बार घर में प्रविष्ट होकर सुस्थित हो जाऊँ, बाद में खोज करूँगा। इस प्रकार विचार करते हुए घर के आँगन में पहुँचा। पर कोई भी सेवक न उठता है, न प्रणाम करता है। यह देखकर "ये कौन हैं?" इस प्रकार विचार करते हुए घर में प्रवेश करने लगा, तो सेवकों ने कहा–"कहाँ जाते हो?

किसके घर में प्रवेश करते हो?''

यह सुनकर चमत्कृत होते हुए धनकर्मा ने कहा– ''हे भाई! क्या मुझे नहीं पहचानते? तुम्हारा इतना काल तो मेरी सेवा करते हुए बीता है। तुम लोग अब ऐसा विपरीत वर्तन कैसे करने लगे हो?''

तब सेवकों ने कहा–''जाओ–जाओ! अन्यत्र अपनी धूर्तकला दिखाओ। हम तो जानते हैं। जाने हुए को ग्रह पीड़ा नहीं करते।''

श्रेष्ठी ने कहा–''क्या सभी स्वामी–द्रोही हो गये हैं? सात–आठ दिनों में ही विस्मृति आ गयी, जिससे कि अपने स्वामी को भी नहीं पहचानते हो?''

सेवकों ने कहा–''किसके स्वामी? किसके सेवक? हमारे स्वामी तो आवास के अन्दर अत्यधिक शुभता के साथ चिंरजीवी रूप से शोभते हैं। तुम तो कोई धूर्त हो, अपनी कला से घर को लूटने के लिए आये हो। हमारे स्वामी ने तो पहले से ही कह दिया था कि कुछ धूर्त नगर में आये हुए हैं। अतः यहाँ से शीघ्र ही दूर चले जाओ। अगर हमारे स्वामी को पता चलेगा, तो तुम्हारी विषम–दशा करेंगे।''

इस प्रकार वे परस्पर विवाद कर ही रहे थे कि पास–पड़ोस के लोग आ गये। तब श्रेष्ठी ने कहा–''हे भाइयों! आप देखिए कि मैं आपको अपना कार्य बताकर अमुक ग्राम को गया था। उस कार्य को करके शीघ्र ही यहाँ आया हूँ। ये इतने काल के परिचित सेवक भी मुझे नहीं पहचानते हुए मुझे घर में प्रवेश करने से मना कर रहे हैं।''

उसके इस कथन को सुनकर सभी विचार में पड़ गये कि क्या यह धनकर्मा है? तो फिर जो घर में है, वह कौन है? यह भी जो बोलता है, वह सत्य प्रतीत होता है। घर के अन्दर जो है, वह भी सत्य प्रतीत होता है। फिर इन दोनों में सत्य कौन है और असत्य कौन है? अतिशय ज्ञानी के बिना कौन जान सकता है?''

तब एक ने कहा–''घर के अन्दर रहे हुए श्रेष्ठी को बाहर लाकर दोनों का संयोग करके देखें, सत्य–असत्य का विभाग हो जायेगा।''

तब एक व्यक्ति, जो झूठे धनकर्मा के खान–पान, मिष्ट–वचन आदि से तृप्त होकर उसके अधीन था, वह बोला–''यह कौन–सा धनकर्मा है? वह तो घर के अन्दर आनंद का अनुभव कर रहा है। यह तो कोई धूर्त है।''

तभी किसी बुद्धिमान तत्त्वग्राही ने कहा–''भाइयों! मुझे तो यह बाहर से आया हुआ धनकर्मा ही सत्य प्रतीत होता है। कैसे? प्रकृति और प्राण का विगमन साथ ही होता है। किसी का भी तत्त्व श्रवण के द्वारा प्रतिबोध होने से किसी भी

प्रकार से परावर्तन हो, पर मूल से नहीं होता। अतः यह तो मूल प्रकृति से ही दिखायी देता है, वह तो प्रकृति से अन्य ही प्रतिभासित होता है। कृपण भी गुरु के उपदेश से दानादि देता है, फिर भी योग्य–अयोग्य के विभाग को देखकर ही करता है। हर किसी को नहीं देता, न ही इधर–उधर फेंकता है। महान कष्ट से तथा पाप उद्यम के द्वारा द्रव्यादि मिलता है। उसका व्यय जो करता है, उसका तो हृदय ही जानता है। दान करना लोक में मरण के सदृश जाना जाता है। घर के अन्दर रहा हुआ धनकर्मा तो जैसे किसी का धन किसी अवसर पर किसी वैर प्रकृतिवाले के हाथ में चढ़ जाये, तो वह यथा–तथा दृष्टि पर आवरण डालकर लुटा देता है, वैसे ही लुटा रहा है। अतः मुझे तो यही सत्य जान पड़ता है।''

कोलाहल सुनकर बड़ा पुत्र भी भ्रम में पड़ गया कि यह क्या उपाधि आ पड़ी है? इस प्रकार विचार करते हुए पुत्र ने चुपचाप घर के अन्दर जाकर कूट धनकर्मा के आगे सभी घटना कह दी। उसने भी उठते हुए ''क्या मेरे द्वारा कल ही नहीं कहा गया था कि इस गाँव में धूर्त लोग ज्यादा आये हुए हैं? उनके मध्य में से यह कोई आया हुआ है। पर असत्य कैसे बोलेगा?'' इस प्रकार बोलते हुए बाहर आया। सभी सेवक भी उठ खड़े हुए। तब धूर्त धनकर्मा ने मूल श्रेष्ठी को कहा–''कहाँ से आये हो? हे धूर्त! किसके घर में प्रवेश करने की इच्छा करते हो?''

मूल धनकर्मा ने कहा–''मैं ही इस घर का स्वामी हूँ। मेरी सम्पत्ति बहुत ही कष्ट से सम्पादित की हुई है। पर तुम कौन हो? जो कि धूर्तकला से मेरे ही घर में घुसकर मेरे ही धन को लूट रहे हो तथा लुटा रहे हो? अतः यहाँ से निकलो तथा बाहर चतुष्पथ पर साहुकारों के पास चलो, जिससे कि हम दोनों के सत्य–असत्य का विभाग हो सके। चोर की गति चोर ही है।''

इस प्रकार विवाद करते हुए चतुष्पथ में जाकर साहुकारों को इकट्ठा करके उनके आगे दोनों ने अपने–अपने दुःख कहे। चतुष्पथ पर समस्त नगरवासी लोग विचित्र वार्ता को सुनकर विस्मत रह गये। जो दुर्जन थे, वे दो–दो धनकर्मा को देखकर खुश हो गये और जो सज्जन थे, वे खेद को प्राप्त हुए कि ''हा! संसार में कर्मों की गति विचित्र है, कर्मों के विषमोदय को बिना जिनागम और जिन के कौन जानता है? अब देखो! कर्म परिणाम भव्यों को कैसा नृत्य करवाता है।''

सभी साहुकार उन दोनों को देखकर विस्मय को प्राप्त होते हुए कहने लगे–''इन दोनों के बीच तो रोम–मात्र भी न्यूनाधिकता नहीं है। अब क्या किया

जाये?"

तब एक निपुण मतिवाले ने कहा–"इनके स्वजनादि तथा पुत्रादि पूर्व में अनुभूत संकेतों को पूछें, तो जो यथाभूत बोले, वह सत्य है, इसके विपरीत झूठ है।"

महाजनों के द्वारा वैसा ही किये जाने पर मूल श्रेष्ठी ने अपने द्वारा अनुभूत संकेत बता दिये। कूट धनकर्मा ने भी देवी की सहायता से चूड़ामणि शास्त्र को जानकर सभी विशद रीति से बता दिया। तब सभी महासभ्य श्रेष्ठी समान संकेत को पूर्ण जानकर भग्न–प्रतिज्ञावाले हो गये। "अहो! समान आकारवाले, समान अभिनयवाले, समान बोलनेवालों में किस उपाय से सत्य–असत्य के विभाग का निर्णय किया जाये? इसलिए जब तक इन दोनों के सत्य–असत्य का निर्णय न हो जाये, तब तक घर के अन्दर इन दोनों में से एक का भी प्रवेश न होने पाये।"

इस प्रकार महाजनों के द्वारा जबर्दस्ती निषेध किये जाने पर दोनों ही अन्य–अन्य स्थान पर रहते हुए भी प्रतिदिन प्रभात में उठकर विविध कलह–गति के द्वारा झगड़ने लगे। नित्य कलह करने के द्वारा उद्विग्न होकर नगर के लोगों ने पुनः इकट्ठे होकर कहा–"तुम दोनों राजद्वार में जाओ। वहाँ राजा के प्रताप से और पुण्य से भी ज्यादा बुद्धिबल के योग से सत्य–असत्य का विभाग होगा।"

तब लोगों के द्वारा प्रेरित वे दोनों राजा के समीप गये। राजा को नमन करके अपना–अपना दुःख कहकर खड़े हो गये। राजा ने भी पूर्ववत् समान आकार और समान बोली सुनकर श्रान्त होते हुए मंत्रियों को आदेश दिया–"इन दोनों का न्याय करो।"

मंत्रियों ने भी इस न्याय को करने में विविध वचन–रचना के द्वारा अनेक छल–दृष्टान्त बताये, पुनः–पुनः प्रश्न करके, वाक्छल, भयादि दिखाये, लेकिन नपुंसक पर जवान स्त्री के कटाक्षों की तरह सब कुछ निष्फल साबित हुआ। तब विचारमूढ़ता को प्राप्त होते हुए उन्होंने राजा के आगे जाकर कहा– "हमारा जितना बुद्धि–विलास है, उतना इन दोनों के सत्य–असत्य के विभाग के लिए प्रयुक्त किया, फिर भी कुछ फल प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि इतने दिनों से धारा हुआ बुद्धिगर्व भी विफलता को प्राप्त हुआ।"

इस प्रकार के मंत्रियों के वाक्य को सुनकर राजा ने विषादपूर्वक कहा–"अगर हमारी सभा में इन दोनों का निर्णय नहीं होता है, तो मेरे ही महत्व की हानि होती है। अतः अब क्या करना चाहिए?"

तभी किसी ने कहा–"स्वामी! यह वसुन्धरा बहुरत्ना कही जाती है।

आपका यह नगर भी बहुत बड़ा है। यहाँ कोई भी देव–प्रदत वरदानवाला अथवा अतुल चातुर्यवाला चार बुद्धियों का धारक कोई न कोई अथवा अत्यधिक पुण्यनिधि स्वरूप कोई पुरुष अवश्य होगा। अतः इस नगर में किसी भी अति अद्‌भुत वस्तु के प्रदानपूर्वक पटह बजवाइए, जिससे आपके पुण्यबल से कोई भी उस प्रकार का पुरुषरत्न अवश्य प्रकट होगा और इनका निर्णय करेगा, जिससे आपकी सभा के महत्त्व की वृद्धि होगी।''

उसके कथन को सुनकर राजा ने जल्दी से ''जो प्रतिभावान पुरुष–श्रेष्ठ इन दोनों के सत्य–असत्य का निर्णय करेगा, उसे अत्यधिक धन से युक्त धनकर्मा की पुत्री दी जायेगी''– इस प्रकार पूरे नगर में पटह उद्‌घोषणा करवा दी। यह पटह उद्‌घोषणा त्रिक, चतुष्क, चत्वर आदि मार्गों में बजते–बजते जहाँ धन्य रहता था, वहाँ पहुँची। गवाक्ष में स्थित धन्य ने सुनकर थोड़ा–सा हँसते हुए सभ्यों के आगे कहा–''राजा की महान सभा में इतने–मात्र का निर्णय क्या किसी के द्वारा भी नहीं किया जा सका?''

सभ्यों ने कहा–''स्वामी! आप जैसे बुद्धिमान के बिना कौन कर सकता है?''

यह सुनकर धन्य ने पटह का निषेध किया और शीघ्र ही राजा के पास गया। राजा भी पहले से उसकी घटना सुनकर अत्यधिक प्रसन्न हुआ। मन में अवधारण किया कि ''निश्चय ही यह पुण्यवंत बुद्धिमान इन दोनों का यथार्थ विभाग करेगा।''

सभा में आये हुए धन्य को देखकर राजा ने अत्यधिक बहुमानपूर्वक अपने समीप बिठाया और सम्पूर्ण घटना बतायी। धन्य ने कहा–''स्वामी! जगत में सत्य धर्म के सदृश कुछ भी नहीं है, जो कि विश्वास का आयतन है। स्वामी! इन दोनों का विभाग किसी ने भी नहीं किया, पर सत्य धर्म सत्य और असत्य का विभाग करेगा। अतः इन दोनों को स्नानपूर्वक दिव्य कराया जाये। जो सत्य होगा, वह सुख से दिव्य करेगा, दूसरा नहीं।''

इस प्रकार धन्य के कथन को सुनकर राजा ने भी अनुमति दे दी। तब धन्य ने नालिका सहित एक कुम्भ मँगवाया और सभा में स्थापित कर दिया। अनेक लाखों लोग यह सब देखने के लिए वहाँ इकट्ठे हुए। उन दोनों को भी सभा में बुलाया गया। राजा के सम्मुख उन्हें बैठाया गया। तब धन्य ने उठकर उन दोनों से कहा–''आप दोनों स्नान करके धोती धारण करके शीघ्र ही सभा में आयें।''

उन दोनों के द्वारा वैसा ही किये जाने पर पुनः धन्य ने कहा–''तुम

दोनों के बीच जो सत्य धर्म के प्रभाव से इसके मुख से अन्दर प्रवेश करके नालिका से बाहर निकलेगा, वही सत्य धनकर्मा है, दूसरा नहीं।''

यह सुनकर कूट धनकर्मा तो हर्षित हो गया – ''अच्छा हुआ। देवी के बल से मैं कुम्भ के अन्दर प्रवेश करके नालिका से बाहर आ करके सत्य साबित होता हूँ। उसके बाद घर सहित धन मेरा ही होगा।''

पर सत्य धनकर्मा तो विचार में पड़ गया और सोचने लगा कि ''अत्यधिक छोटे से इस कुम्भ में प्रवेश और निर्गमन हम दोनों के लिए ही असम्भव है। इस न्याय से क्या होगा?'' इस प्रकार आर्त्तध्यान में पड़ गया।

पुनः धन्य ने कहा–''हे देवी–देवताओं ! अगर मै सत्य हूँ, तो इस कुम्भ के मध्य में प्रवेश करके निकलने की शक्ति देना–इस प्रकार कहकर दिव्य करें।'' जो सत्य होगा, वह बाहर निकल जायेगा।''

इस प्रकार धन्य के कह चुकने पर कूट धनकर्मा देवी के बल से कुम्भ के अन्दर प्रवेश करके बाहर निकल गया। निकलकर जब राजा के पाँव स्पर्श करने लगा, तभी धन्य ने उसकी चोटी पकड़कर उसे रोक लिया, क्योंकि व्यन्तर–अधिष्ठित–शरीरी शिखा ग्रहण करने पर जाने में शक्य नहीं होता है। फिर धन्य ने कहा–''स्वामी! यह आपका चोर है। दूसरा सच्चा है। यह किसी भी प्रकार से देव–देवी के बल से निकल गया है, पर यह झूठा है। यह विडम्बना इसी के द्वारा की गयी है। अन्य के घर की सारभूत वस्तुओं को इसी ने व्यय किया है और छिपाया है।''

इस प्रकार के धन्य के वचनों को सुनकर राजा ने चोर को जानकर अपने सेवकों को वध की आज्ञा दी। शीघ्र ही सेवकों के द्वारा पकड़ा हुआ वह विचार करने लगा–''अब मेरा कपट नहीं चलेगा। स्वरूप प्रकट करने से ही मैं बच पाऊँगा। अन्यथा नहीं।''

तब निष्फल मायावाला यह मंद होता हुआ बंदी श्रेष्ठी के रूप को त्याग अपने मूल रूप में आते हुए सभा के अन्दर ही स्थित रहता हुआ बोला–''सभी लोग मेरे कथन को सुनें। अनेक वर्षों पूर्व हम बंदीजनों (चारणों) के मिलन के अवसर पर अपने–अपने कौशल का प्रकाशन करने के अवसर पर किसी ने कहा–''इन सभी के द्वारा अपनी–अपनी कला बतायी गयी है, पर मैं इनको तभी सत्य जानूँगा, जब अमित धनवाले धनकर्मा के घर में जाकर और याचना करके एक दिन के निर्वाह जितना भी भोजन अगर कोई ले आये।''

इस कथन को सुनकर मैंने प्रतिज्ञा की कि जब इसके पास से एक दिन के निर्वाह का भोजन ग्रहण करूँगा, तभी समुदाय में मेरे द्वारा विभाग ग्रहण करने

योग्य है, अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करके इसके घर जाकर और आशीर्वाद देकर मेरे द्वारा एक दिन का भोजन माँगा गया। तब इसने कहा–"आज अवसर नहीं है, कल दूँगा।" पुनः अन्य दिन मैं गया, तो इसने फिर कहा कि कल दूँगा। इस प्रकार तीसरे दिन जाने पर भी इससे वही उत्तर मिला कि कल दूँगा। इस प्रकार मेरे द्वारा अनेक वर्षों तक माँगा गया, पर कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। याचक–वृन्द मुझे भ्रष्ट–प्रतिज्ञावाला जानकर मुझ पर हँसने लगे। तब मैंने सोचा कि मैंने व्यर्थ ही यह प्रतिज्ञा की। मेरा महत्व चला गया। भ्रष्ट–प्रतिज्ञावाले का जीवन विफल है। यह विचार करके इसी कंजूस की अभोग्या सम्पत्ति को भोग के उपयोग में लाने के लिए मेरे द्वारा देव की आराधना की गयी। अनेक उपवास और अनेक क्लेशों के द्वारा देवी की कृपा प्राप्त हुई। तब श्रेष्ठी के ग्रामान्तर–गमन को जानकर श्रेष्ठी का रूप धारण करके इसके घर में प्रवेश कर गया। वहाँ रहते हुए मैंने इसकी लक्ष्मी को सफल किया। वहाँ भी इसी का नाम और यश वर्धित हुआ। दीन–हीन प्राणियों का उद्धार किया, वह भी इसी को पुण्य हुआ। 'जिसका अन्न, उसी का पुण्य' यह लोकोक्ति है। मैंने तो भोजन–मात्र किया है। इसके अन्तःपुर में मैंने कुछ भी अनुचित नहीं किया है, जिससे कि मैं राजा और धर्म के अपराध का पात्र बनूँ। मैंने तो केवल इसके नाम की कीर्ति बढ़ायी है। इसमें मेरा क्या दोष है, जिससे कि राजा ने मेरे वध का आदेश दिया है?"

इस प्रकार के भाट के वृत्तान्त को सुनकर राजा सहित सभी सभ्यों ने विस्मय–सहित हँसते हुए कहा–"हे भट्ट! तुमने बहुत सही कहा। कृपणता के रोग से पीड़ित इसका तुम्हारे बिना दूसरा कौन वैद्य हो सकता है? ऐसे लोगों की ऐसी ही शिक्षा होनी चाहिए। पर इस भट्ट का कोई दोष नहीं है।"

राजा ने भी क्रोध का त्याग करते हुए प्रसन्न होकर बंदी को बधंन–मुक्त किया। यथोचित प्रीतिदान देकर उसे विदा किया। याचक ने भी धनकर्मा के धन–सुख को प्राप्त करके उससे कहा–"हे श्रेष्ठी! पुनः इस प्रकार के भट्ट–भिक्षुओं के साथ विरोध नहीं करना चाहिए। कोमल हृदय का दया–दानादि द्वारा रक्षण करना चाहिए। कृपणता तो इसलोक और परलोक–दोनों में ही दुःख का एकमात्र कारण है। शास्त्रों में भी कहा है–

भोक्तव्यं च प्रदेयं च कर्तव्यो नैव संग्रहः।
कीटिकासंचितं धान्यं तित्तिरिः पश्य भक्षयेत्।।

अर्थात् भोगना चाहिए, दान देना चाहिए, पर संग्रह नहीं करना चाहिए। कीड़ियों के द्वारा संचित धान्य को देखो, जिसे तित्तिरि भक्षण कर लेती है।"

इस प्रकार की शिक्षा देकर वह बंदी चला गया। श्रेष्ठी लज्जित मुखवाला होकर राजा को प्रणाम करके प्रसन्न हृदयवाला होकर अनेक लोगों से युक्त होकर अपने घर गया, क्योंकि विकट संकट से मुक्त होने पर कौन प्रसन्न नहीं होता? घर आकर श्रेष्ठी ने राजा के वचन और उनके उपकार का स्मरण करके दुष्टों के शंका करने के योग्य धनसार के छोटे पुत्र धन्य को अपनी कन्या गुणमालिनी हर्ष एवं उत्साहपूर्वक परणायी। बहुत सारा धन तथा वस्त्रादि प्रदान किये।

धन्य भी कुछ दिनों तक वहाँ रहकर पुनः राजादि से पूछकर छः भाषाओं से आवृत्त श्रीराम की तरह छः प्रियाओं से युक्त होकर राजगृह नगर की ओर चला। मार्ग में बहुत से राजाओं के उपहारों को ग्रहण करते हुए और अपनी कृपा को बरसाते हुए क्रमपूर्वक राजगृह नगर के उपवन को प्राप्त हुआ। श्री श्रेणिक राजा ने अनुचरों के मुख से धन्य के आगमन को सुना, तो अगवानी करने के लिए चारों सेनाओं से युक्त होकर सामने गया। हर्षपूर्वक जामाता का आलिंगन करके कुशल–वार्ता करके महा–महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश कराया। नागरिकों ने अति अद्भुत पुण्य–प्राग्भार को देखकर गौरव सहित उसकी प्रशंसा की। पति के आगमन को सुनकर पिता के घर में स्थित सोमश्री–कुसुमश्री भी आ गयीं। पति के चरणों में नमन करके अन्तःपुर में देवियों के सौन्दर्य को भी लज्जित करनेवाले रूप से युक्त पत्नियों के साथ यथाविधि मिलन किया। कुशल–वार्ता पूछने के बाद शालिभद्र की बहन के द्वारा धन्य के चरित्र को सुनकर सभी चमत्कृत हुई और परमानंद को प्राप्त हुई। इस प्रकार आठ सिद्धियों के साथ योगी की तरह धन्य भी उन आठ सहगामिनियों के साथ दोगुन्दक देव की तरह सुख में रमण करने लगा। उसने बड़भागी होते हुए दुःखयुक्त विदेश में भी कीर्ति–लक्ष्मी रूप भोगभंगी को भोगा। जो उसने आठ प्रियाओं के साथ राजा के समीप के गृहपुर राजगृह में इन्द्र की तरह शोभा प्राप्त की, वह दान–धर्म का ही प्रसाद जानना चाहिए

।। इस प्रकार श्रीमद् तपागच्छाधिराज श्री सोमसुन्दरसूरि के पट्ट–प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्तिसूरि द्वारा विरचित पद्यबंध धन्य–चरित्रवाले श्रीदानकल्पद्रुम का महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि के अन्वय में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र महोपाध्याय श्री ज्ञानसागर गणि शिष्य ने अपनी की अल्पमति द्वारा ग्रथित रचना– प्रबन्ध में कन्या–चतुष्टय–परिणय तथा राजगृह–प्रवेश–वर्णन नामक सातवाँ पल्लव समाप्त हुआ।।

आठवाँ पल्लव

आठवें पल्लव में चण्डप्रद्योत राजा से मुक्ति की युक्ति को प्रकाशित करनेवाली अभयकुमार की अवशेष कथा का वर्णन किया जाता है।

चण्डप्रद्योत राजा के घर में चार अद्वितीय अमूल्य रत्न थे। कहा भी गया है –

जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत् रत्नमभिधीयते।

अर्थात् प्रत्येक जाति में जो उत्कृष्ट होता है, वह रत्न कहा जाता है। इस लोकोक्ति के अनुसार पहला रत्न लेखहारी लौहजंघ नामक दूत था। दूसरा रत्न सतियों में प्रथम शिवादेवी नामकी मुख्य पट्टरानी थी। तीसरा रत्न दिव्य अग्निभीरु नामक देव–अधिष्ठित रथ था। चौथा अनल नामक गंधहस्ती था। चार दाँतोंवाले ऐरावत हाथी की तरह इन चमकते प्रभावी चारों रत्नों के द्वारा सभी राजाओं से पूज्यता को प्राप्त होता राजा चण्ड प्रद्योत बहुत ज्यादा द्योतित होता था।

लौहजंघ नामक दूत एक ही दिन में पच्चीस योजन जाता था। वह एक दिन राजा की आज्ञा से भृगुपुर गया। वह एक ही दिन में भृगुपुर पहुँच गया। पुनः दूसरे दिन स्वामी के द्वारा कहे हुए प्रतिलेखादि कार्य को लेकर एक ही दिन में उज्जैनी पहुँच गया। वहाँ वह जल्दी–जल्दी गमनागमन में भृगुपुरी के लोगों तथा मार्ग में रहे हुए ग्रामीण–जनों को आहार आदि तथा हुक्के आदि के लिए उद्विग्न करता था। उसकी कही हुई वस्तु लाने में थोड़ी भी देर हो जाती थी, तो वह उन्हें मारता था। प्रद्योत राजा का चहेता होने से उसे कोई भी कुछ भी नहीं कह सकता था।

इस प्रकार नित्य के गमनागमन से खेदित होते हुए उस नगरी के निवासी विचार करने लगे–"यह राजा का मान्य होने से न तो इसे खेदित किया जा सकता है, न मारा जा सकता है, किन्तु इसकी यह नित्य की पीड़ा कैसे सही जा सकती है? यह तो नित्य आता–जाता रहता है। अब इस दुःख का उपाय ही क्या है?"

इस प्रकार मंत्रणा करते हुए लोगों को कुबुद्धि में कुशल कुछ लोगों ने कहा–"हे लोगों! यह दुःख तो शिव के ब्रह्म–कपाल की तरह हमारी पीठ पर लग चुका है, जो कभी भी छुटनेवाला नहीं है, न ही इसकी आवाज कोई सुननेवाला है। अतः इस दुःख से छूटने का एक ही उपाय है, अन्य कुछ नहीं।"

लोगों ने पूछा–"कौन–सा उपाय?"

उन्होंने कहा–"इसे किसी भी तरह से प्रभात में विष से मिश्रित कुछ भी पक्वान्न दिया जाये। वह उसे लेकर मार्ग में दूर जाकर यथावसर भक्षण करेगा, जलपान करके आगे जाते हुए मार्ग में गिरकर मर जायेगा, तभी हम दुःख से मुक्त हो सकेंगे।"

सभी ने इसे मान लिया। उसकी सलाह के अनुसार संस्कारित किये हुए विष–मिश्रित पाथेय को बनाकर पहले से ही रख लिया गया, जिससे कि परीक्षण में कुशल इन्सान भी इसे सविष न जान पाये।

जब लौहजंघ दूत आकर दूसरे दिन रवाना हुआ, तो उन नगरजनों के द्वारा वे मोदक दिये गये। वह उन्हें लेकर चला। भूख लगने पर वह मोदकों को खाने के लिए एक सरोवर के किनारे पर बैठ गया। जब पोटली खोलने लगा, तो शकुनों के द्वारा रोका गया। क्षुधित होने पर भी उसने नहीं खाया। वह शकुन–शास्त्र में कुशल था और जानता था कि शकुन–शास्त्र में निषिद्ध कार्य नहीं करना चाहिए। भूखा ही वह कुछ आगे चला। थोड़ा मार्ग कट जाने के बाद वह पुनः खाने के लिए बैठा। पुनः शकुनों के द्वारा निषेध किया गया। तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ। तब पक्षी की आवाज के ज्ञाता उस दूत ने निर्धारित किया कि पक्षी की आवाज इस कार्य का निषेध करती है, शकुन भी वारण कर रहे हैं। अतः मुझे मार्ग में नहीं खाना चाहिए। घर जाकर ही भोजन करना चाहिए। जो होना है, हो जाये। इस प्रकार निश्चित करके आगे बढ़ गया। भूख से क्षाम–कुक्षिवाला वह साहस का अवलम्बन लेकर अत्यधिक प्रयासपूर्वक शिथिल हुए अंगोपांगवाला तथा निस्तेज मुखवाला लड़खड़ाती वाणी में प्रणाम करके राजा के सामने खड़ा रहा।

राजा ने भी उसको उस स्थिति में देखकर विस्मित होते हुए पूछा– "हे लौहजंघ! तुम शिथिलता से युक्त क्यों दिखायी दे रहे हो? क्या तुम्हें किसी रोग से पीड़ा हो रही है, जो कि तुम इस प्रकार के दिखायी दे रहे हो? सत्य–सत्य कहो।"

उसने कहा–"स्वामी! आपकी कृपा को प्राप्त मुझे कुछ भी आर्त्ति नहीं है। पर मैं क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित हूँ, इसीलिए ऐसी दशा हो गयी है।"

राजा ने कहा–"मेरे राज्य में क्या तुम्हें पाथेय भी नहीं मिलता?"

उसने कहा–"आपकी कृपा से बहुत पाथेय मिलता है, पर मैंने खाया ही नहीं।"

राजा ने पूछा–"क्यों?"

तब उसने मार्ग में घटित घटनायें बतायीं। राजा ने कहा–"वह पाथेय

मुझे दिखाओ।''

उसने वह पाथेय राजा के सामने रखा। राजा ने भी उन मोदकों को अपने हाथ में लेकर अच्छी तरह से निरीक्षण किया, पर सुगन्धित राजद्रव्य से मिश्रित होने से नासिका में सुगंध की ही वृद्धि हुई। पुनः उस पाथेय की विशेष परीक्षा के लिए जो परीक्षण करने में कुशल थे, उनके हाथ में दिये गये। उन्होंने भी विविध प्रकार की शास्त्र की उक्तियाँ तथा अपनी बुद्धि के द्वारा परीक्षा की, पर किसी को भी रहस्य ज्ञात नहीं हो पाया। किसी ने निर्विष–भाजन में भी इन्हें रखा, पर फिर भी दूषण ज्ञात न हो सका। तब सभी ने राजा से कहा–''इन मोदकों में विषादि दूषण नहीं है।''

तब राजा ने अभय कुमार से कहा–''इस पाथेय को खाने के लिए बैठने पर लौहजंघ को बार–बार शकुनों द्वारा निषिद्ध किया गया। इस कारण से इस पाथेय में शंका उत्पन्न हो गयी है। पर किसी ने भी इसमें दोष प्रकट नहीं किया है। इसी कारण से मैं पूछता हूँ कि ये मोदक शुद्ध है या अशुद्ध? चूंकि तुम सभी निपुणों में शिरोमणि हो, अतः निश्चित करके कहो।''

राजा द्वारा कथित शब्दों को सुनते हुए मुस्कराते हुए अभय ने मोदकों को हाथ में लिया। औत्पातिकी बुद्धि के द्वारा द्रव्यानुयोग शास्त्र से परिकर्मित मति से उस पाथेय का रहस्य जान लिया। सिर हिलाते हुए राजा को कहा–'इस पाथेय में द्रव्य–संयोग से उत्पन्न दृष्टिविष सर्प है।''

अभय के कथन को सुनकर राजा ने चमत्कृत होते हुए कहा–''तुम्हारे द्वारा तो कोई अनिर्वचनीय परीक्षा की गयी है, क्योंकि खाण्ड–घृत आदि से निर्मित इन सघन मोदकों में सर्प कैसे प्रविष्ट हुआ? तुम्हारे कथन को सुनकर सारी सभा हँस रही है, पर हमें तो तुम्हारे कथन पर विश्वास है। अभय कभी मिथ्या नहीं बोलता। अतः सत्य और विश्वास करवाने लायक वचन बोलो, जिससे कि ये लोग अपना मुख नीचे करें।''

अभय ने कहा–''राजन! इन टूटे हुए मोदकों में प्रकट रूप से तो सर्प दिखायी नहीं देता है। पर जलादि द्रव्य के संयोग से दृष्टिविष सर्प उत्पन्न किया जाता है। जिससे इन मोदकों को खाकर यदि पानी पिया जाये, तो उदर में संमूर्च्छिम सर्प उत्पन्न होकर मुख से फूत्कार करता है, उसके विष से हृदय जलता है तथा खानेवाला मर जाता है। किसी ने भी द्वेष की बुद्धि से गुप्त विष बनाकर मोदकों में डाला है। अगर आपको इस पर भी विश्वास न हो, तो वन में चलकर मोदकों की परीक्षा की जाये।''

चमत्कृत राजा सभाजनों को लेकर अभय के साथ वन में गया। वहाँ

अभय के आदेश से एक बड़ी लम्बी दीवार करायी गयी। फिर दीवार के आगेवाले भाग में मोदकों को रखकर उन पर जल डाला गया। दीवार के पिछले भाग में आकर सभी स्थित हो गये। क्षण–भर में मोदकों के खण्डों में दृष्टिविष सर्प उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होकर जहाँ–जहाँ नाग गया, वहाँ–वहाँ उसके दृष्टि–प्रसार–मात्र से सम्मुख रहे हुए वन के वृक्ष और प्राणी सभी दग्ध हो गये। स्वयं भी वन–ज्वाला से मर गया। तब चमत्कृत होते हुए राजा ने कहा–"मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। अतः तुम बंधन से मुक्ति के अलावा तुम्हारा मन–इच्छित वर माँगो।"

इस प्रकार राजा के कथन को सुनकर अभय ने कहा– "आप मेरे वर को अपने पास ही थापण के रूप में रखें। समय आने पर माँगूंगा।"

राजा ने कहा–"ऐसा ही होगा।"

सभी घर लौट गये। अभय की अत्यधिक प्रशंसा हुई।

उस प्रद्योत राजा की वासवदत्ता नाम की पुत्री 63 कलाओं में अत्यधिक कुशल थी, पर संगीत–रत्नाकरादि कला में न्यून थी। अतः उसे सीखने की इच्छा से अध्यापक की गवेषणा की इच्छा से पिता को कहा–"हे तात! मुझे संगीत शास्त्र पढ़ाने के लिए अति अद्भुत संगीत शास्त्र को पढ़ाने में कुशल किसी अनन्य पाठक को खोजकर बुलवाकर मुझे अर्पित करें।

राजा ने कहा–"हे पुत्री! चिन्ता मत करो। अपने देश में से या परदेश में से खोजकर बहुमानपूर्वक उसे बुलवाकर तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। "बहुरत्ना वसुंधरा" है। अतः गवेषणा करने पर ऐसा व्यक्ति जरूर मिलेगा।

इस प्रकार पुत्री को संतुष्ट करके सभा में आकर अपने मंत्रियों से कहा– हे मंत्रियों! संगीत शास्त्र में विशारद महा पण्डित को खोजो।"

तब सचिवों ने कहा–"स्वामी! वर्तमान समय में तो शनानीक–पुत्र उदायन ही सर्व गांधर्व आगमों में पारंगत और अद्वितीय है। जो गीत और वीणा–वादन के द्वारा निरपराध मृगों को वश में करके वन में बाँध देता है। उसका ऐसा अद्भुत कौशल है। अगर कोई आकर कहता है कि आज उपवन में हाथी आया है, तो सुनने–मात्र में ही एकाकी वन में जाकर गीत के द्वारा गज को वश में करके वन में बाँध देता है। हाथियों को बाँधने के व्यसनवाले उसको यहाँ बाँधकर ले आया जाये।"

राजा ने कहा–"यह कैसे हो सकता है? मेरे द्वारा तो पूर्व में श्री वीर प्रभु के सामने उसे पुत्र रूप में माना गया है। उसके ऊपर सेना भेजना उचित नहीं है। सेना के बिना उसे कैसे लाया जा सकता है?"

सचिवों ने कहा–"स्वामी! हस्ति–छल से उसे लाया जा सकता है।"

राजा ने पूछा–"कैसे?"

उन्होंने कहा–"बनावटी वस्त्र–बाँस आदि के अंगोपांग से युक्त अन्दर से खोखला हाथी बनाया जाये। अन्दर में पाँवादि के खाली स्थान पर सैनिक रखे जायें। अन्दर में रहे हुए उनके द्वारा सच्चे हाथी की तरह वृक्ष के पत्तों आदि को कुचलते हुए मंद–मंद गति से गमन–क्रिया को करते हुए इस झूठ–मूठ के हाथी को वन में घुमाया जाये। तब वनचरों के मुख से हाथी के आगमन को सुनकर गज–व्यसनी वह राजा शीघ्र ही उठकर अकेले ही वहाँ आकर हाथी को वश में करने के लिए वीणा–वादन करते हुए गीत गायेगा। उसी समय कृत्रिम हाथी के भीतर छिपे हुए हमारे सुभटों के द्वारा गज–भ्रमणादि माया को दिखाकर उसे अपने निकट लाने के लिए आकर्षित किया जायेगा। तब अपने विषय के लिए आया हुआ जानकर सहसा निकलकर उसे बाँधकर शीघ्र ही यहाँ ले आयेंगे। यहाँ आ जाने पर वस्त्र–आसनादि के दानपूर्वक उसे प्रसन्न कर लेंगे। उसके बाद वह राजकुमारी को संगीत–कला सिखायेगा।"

इस प्रकार मंत्रियों के द्वारा उपाय बता दिये जाने पर राजा ने भी ऐसा ही करने को कहा। सचिवों ने उस प्रकार की सभी रचना करके कौशाम्बी के निकट के उपवन में माया–गज को रख दिया। वह गज छिपे हुए सैनिकों के द्वारा इधर–उधर परिभ्रमण कराया जाने लगा। अन्य भट दूसरे वेश में दूर जाकर स्थित हो गये। तब उस मायागज को दूर से ही परिभ्रमण करते हुए देखकर असत्य को भी सत्य मानकर वनचरों ने जाकर उदायन राजा से निवेदन किया। वह भी सुनने–मात्र से ही अकेला ही उठकर उस गज को बंदी बनाने के लिए वहाँ आ गया। दूर से ही उस विशालकाय हाथी को देखकर गाते हुए और वीणा को बजाते हुए उदयन हाथी के निकट जाने लगा। हाथी भी वृक्षों व पत्तों को कुचलना छोड़कर राग से आकृष्ट की तरह धीरे–धीरे पग–न्यास करते हुए और मस्तक को हिलाते हुए सम्मुख आने लगा। उस हाथी को अनुकूल देखकर विचारने लगा–"मेरी गीत–कला से आकृष्ट होकर यह मेरे सम्मुख आ रहा है। अतः क्षण–मात्र में ही वश में करके बाँध लूँगा।"

इस प्रकार विचार करते हुए प्रसन्नतापूर्वक गाते हुए जब तक हाथी के निकट पहुँचाता, तब तक तो अचानक हाथी के अन्दर रहे हुए भटों तथा दूर पर स्थित भटों के द्वारा बाहर निकलकर उसे पकड़कर वनकुंज के अन्दर छिपाकर रखे गये रथ में बाँधकर डाल दिया। जात्य–अश्वों को जोड़कर रथ को दौड़ाया। प्रेरित किये गये अश्व आधी घड़ी में ही एक योजन मार्ग को पार कर गये। उदयन तो यह क्रिया–कलाप देखकर विचार करने लगा–"अहो! कर्मों की गति

कौन जानता है? यह भट मुझे कहाँ ले जायेंगे? मेरा तो अपना ही शस्त्र अपने खुद के उपघात के लिए हुआ। न जाने, क्या होगा?"

इस चिंता में दिग्मूढ़ होकर कुछ भी बोलने में समर्थ नहीं हुआ। इस प्रकार स्थान–स्थान पर रथ को रखते हुए चढ़ने–उतरने आदि क्रियाओं को करते हुए तीसरे दिन उज्जयिनी ले जाकर राजा चण्ड प्रद्योत के आगे पेश किया।

प्रद्योत राजा ने स्वयं उठकर आदर–सहित रथ से उतारकर मीठे वचनों के द्वारा आश्वस्त करके हृदय से आलिंगन करके समान आसन पर बैठाकर कहा– "हे वत्स के स्वामी! तुम अपनी चिंता मत करो। इस घर को अपने घर के समान ही मानो। मैंने किसी दुष्ट अभिप्राय से तुमको यहाँ नहीं बुलवाया है, क्योंकि पूर्व में ही मैंने तुमको पुत्र के समान मान लिया है। आज भी मेरे मन में वही भाव तुम्हारे लिए हैं। अतः चिंता छोड़कर तुम सुखपूर्वक यहाँ रहो। मेरे द्वारा जो छलपूर्वक तुम्हें यहाँ बुलवाया गया है, उसका कारण सुनो। मेरे वासवदत्ता नाम की एक पुत्री है। उसने अपने चित्त की प्रसन्नता के साथ अनेक शास्त्र–कलाएँ सीखीं। पर एकमात्र संगीत–शास्त्र की कला में वह न्यून है। उसने मुझसे कहा कि संगीत शास्त्र में निपुण अध्यापक को मेरे लिए बुलवाइए। उसके कथन को सुनकर जब मैंने समस्त सुधी सभाजनों के सामने अध्यापक की गवेषणा के लिए बात कही, तो जो–जो शास्त्र–विशारद तथा अनेक देशों के देशाटन से चतुरता को प्राप्त चारणादि हैं, उन सभी के द्वारा तुम्हारी ही प्रशंसा करते हुए कहा गया कि अभी तो एकमात्र उदायनराज ही संगीत–शास्त्रों में तथा रस–शास्त्रों में अद्वितीय है। यह सुनकर मैंने विचार किया कि अगर उसे बुलाने के लिए प्रधान–पुरुषों को भेजा जाये, तो वह भी अपने राज्य में रहते हुए सुखमग्न मेरे आदेश को माने या न माने। कौन स्वतंत्रता को छोड़कर पर के अधीन रहना पसंद करेगा? मेरा तुमसे कोई विरोध नहीं है। मैं तुम्हारे साथ युद्ध करने में भी समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि मैंने तो पहले ही तुम्हे अपना पुत्र मान लिया है। पुत्री की इच्छा विफल न हो, इसलिए मुझे यह छल करके तुम्हें बुलाना पड़ा। अन्य कोई बात नहीं है। अतः अपने ही घर की तरह यहाँ सुखपूर्वक रहकर उसे आप पढ़ायें। पर वह पर्दे के अन्दर रहकर पढ़ेगी, क्योंकि वह काणी है। अतः लज्जा से वह अपना मुख किसी को भी नहीं दिखाती है। अतः यवनिका में ही रहेगी।"

इस प्रकार कहकर बहुमानपूर्वक खान–पान–वस्त्र–मानादि की व्यवस्था अपने समान करवाकर वत्सेश को अपने समान ही रखा। ज्योतिष को पूछकर शुभ दिवस में शास्त्र–पठन के मुहूर्त्त का निर्णय करके राजा ने वासवदत्ता से कहा– हे पुत्री! अमुक दिन तुम्हारा संगीत–शास्त्र का पठन–कार्य प्रारम्भ होगा।

पर तुम गुरु के मुख को नहीं देखना, क्योंकि समस्त शास्त्रों में विशारद भी वह चन्द्रमा के कलंक की तरह कर्म–दोष से कुष्ठ रोग से पीड़ित है। राजवंशी लोगों के लिए नीति में कुष्ठी का मुख देखना निषिद्ध है। अतः पर्दे के अन्दर रहकर ही तुम्हें पढ़ना चाहिए।

इस प्रकार उसे समझाकर शास्त्र का प्रारम्भ करवाया। प्रतिदिन उदायन वासवदत्ता के आवास में जाकर पर्दे में रही हुई वासवदत्ता को संगीत–शास्त्र के मर्म सिखाने लगा। वह भी विनय सहित अपनी बुद्धि से शास्त्र के मर्म को सीखने लगी। उदयन भी उसकी प्रतिभा–पटुता को देखकर उत्साहपूर्वक पढ़ाने लगा।

एक बार गान्धर्व–शास्त्र को पढ़ते हुए ताल, मान, मात्रा, लय, विभाव, अनुभाव, अलंकार आदि रसों की उत्पत्ति के समय अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से भी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा ग्राह्य होने से दो–तीन–चार बार कहने पर भी वासवदत्ता विशद रीति से ग्रहण करने में अशक्य होती हुई बार–बार पूछने लगी।

तब वत्सराज भी बार–बार कहने के श्रम से श्रान्त होते हुए क्रोध सहित तिरस्कार करते हुए कहने लगे–"हे काणाक्षि! नेत्र के साथ तुम्हारी बुद्धि भी नष्ट हो गयी है। आँख के फूट जाने से क्या हृदय भी फूट गया है? हे शून्य–चित्तवाली! मेरे बार–बार बताने पर भी तुम क्यों नहीं धारण करती हो?"

इस प्रकार के अध्यापक के वाक्यों को सुनकर कुमारी भी क्रोधित होकर बोल उठी–"जिन स्वामी ने मेरी मंद–बुद्धि के कारण धारणा की अपटुता को देखकर आक्रोशयुक्त वचनों के द्वारा शिक्षा दी है, वह तो मैंने मस्तक पर धारण कर ली है। यह तो मेरा ही दोष है। परन्तु काणाक्षि कहकर जो कलंक दिया है, ऐसा कहना आप जैसों के लिए युक्त नहीं है। अतः आज के बाद कभी भी ऐसे वचन न कहें। आँखों का काणापन तो पूर्वकृत पाप–कर्मों के उदय से होता है, क्योंकि –

षष्टिर्वामनके दोषा अशीतिर्मधुपिङ्गले।
टुण्टमुण्टे शतं दोषाः काणे संख्या न विद्यते।।

अर्थात् बौने में साठ, पीलिए के रोगी में अस्सी, कोढ़ी में सौ दोष होते हैं और काणे व्यक्ति में तो दोषों को गिना ही नहीं जा सकते।

बिना पाप–कर्म के उदय के काणाक्षि का दोष सहने में कौन समर्थ हो सकता है? अपने पापोदय से जन्य कर्म–विपाक को अनुभव करते हुए भी जो दूसरों में असत् दोषों का उद्भावन करता है, वह कापुरुष होता है। आपके द्वारा पूर्व में भी अन्य जन्मों में कितने ही असत् कलंक दिये गये होंगे, जिससे कि कर्मोदय से इस भव में कुष्ठिपना प्राप्त हुआ है, जिससे कि मुख देखने में भी

मैं समर्थ नहीं हूँ। पुनः इस जन्म में असत् कलंक देने से आपकी क्या गति होगी?"

यह सुनकर अध्यापक बोला–"हे कुशिष्याओं में अग्रणी! अध्यापक के द्वारा शिक्षा दिये जाने पर छात्रों को प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए। ऐसा न करके उलटे तुम तो कुष्ठित्व का कलंक देकर प्रतिवादी की तरह सामने जवाब देती हो। अगर मुझ जैसे विमल व नीरोगी शरीरवाले अध्यापक को कलंक देकर बोलती हो, तो अन्य किसको छोड़ोगी – यह मैंने जान लिया है।"

कुमारी ने कहा– "हे आर्य! कमल–दल के समान नयनोंवाली को आपने काणाक्षि कैसे कहा?"

उदयन ने कहा–"मुझे तो तुम्हारे पिता के द्वारा ज्ञात हुआ।"

कुमारी ने कहा–"मुझे भी पिता ने कहा।"

इस प्रकार विवाद करते हुए दोनों ही शंकाशील हो गये। तब निर्णय करने के लिए बीच के पर्दे को हटाकर परस्पर रूप को देखते हुए दोनों के चित्त में परमानंद हुआ। परस्पर प्रशंसा करने लगे–"अहो! सौभाग्य–सत्त्व, निर्मथ्य रूप बनाया है भगवान ने। त्रैलोक्य के सर्वस्व की तरह विधाता के द्वारा अतिशय की चतुरता घटित की है।"

इस प्रकार परस्पर रूप और गुणों में रंजित, प्रेम रूपी अमृत में आप्लावित होते हुए विस्मय–सहित कहने लगे–"अहो! राजा ने हम दोनों को ठग लिया है।"

इस प्रकार परस्पर खेद–खिन्न होते हुए फिर से कहने लगे–"हम तो पहले ही राजा के द्वारा ठगे गये हैं, तो हम दोनों द्वारा भी उनको ठगने में कोई दोष नहीं है।"

फिर कुमारी ने कहा–"इस भव में तो आप ही मेरे पति हैं।"

उदयन ने भी कहा–"मेरी भी तुम्ही प्राणप्रिया हो।"

इस प्रकार निश्चित करके परस्पर अनुरक्त वे दोनों कंचनमाला नामक धात्री के सिवाय सभी से अज्ञात दाम्पत्य को सुखपूर्वक तथा यथेच्छ कामभोगों को भोगने लगे। पठन–पाठन तो बाह्य वृत्ति थी, अन्तर–वृत्ति से तो प्रवर्धमान स्नेहवाले दम्पति की तरह देव–सुख की उपमावाले वैषयिक सुखों को वे भोगते थे।

इस प्रकार कितना ही काल बीत जाने पर एक बार प्रद्योत राजा का हस्ति रत्न अनल गिरिराज मदोन्मत्त हो गया। हस्तिशाला के आलान–स्तम्भ को उखाड़कर समस्त नगर में इधर–उधर घरों और मकानों को ध्वस्त करने लगा,

जैसे कि महावायु से सागर में पोतों का विनाश होता है। उस गज से दुःखित होते हुए लोग पूत्कार करने लगे। त्रिपथ, चतुष्पथ और महापथ पर हाथी के भय से कोई भी नहीं निकलता था। अगर कोई आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता भी था, तो हाथी के भय से वापस जल्दी ही आ जाता था।

राजा की आज्ञा से हाथी को दमन करने की कला को जाननेवाले अनेक विज्ञ सुभटों ने अपनी–अपनी कला और विकला दिखायी तथा श्रान्त हो गये, पर कोई भी उस हाथी को वश में न कर सका। नगर के लोगों की बढ़ती हुई पीड़ा को देखकर प्रद्योत राजा ने अभय से पूछा–"मेरे राज्य के जीवन रूप इस गज का वशीकरण किस उपाय के द्वारा होगा?"

राजा के इस प्रकार पूछने पर अभय ने कहा–"हे राजन! यदि वत्सराज वीणा वादनपूर्वक मधुर स्वर से गायें, तो यह हाथी वश में आ सकता है, अन्यथा नहीं।"

तब प्रद्योत राजा ने वत्सराज को बुलवाकर कहा–"हे कलानिधे! इस नगर के लोगों पर कृपा करके अपनी उस प्रकार की अनुभूत रागकला को स्फुरित करो, जिससे यह अनलगिरि वश में हो जाये और सरलतापूर्वक आलान–बंध को स्वीकार कर ले। तुम्हारे सिवाय दूसरा मुझे कोई दिखायी नहीं देता, जो इस गज–भय का निवारण कर सके। अतः अनेक जीवों को अभय देकर गज को आलान में ले जाकर अपने क्षात्र–धर्म को सार्थक करो।"

तब वत्सराज ने कहा–"महराज! यह अनलगिरि अति उत्कट रूप से मदोन्मत्त है। अतः मुझ अकेले के गाने से वश में नहीं आयेगा। अतः यदि वासवदत्ता पर्दे में रहकर ही सुखासन पर बैठकर मेरे साथ गाये, तो यह गज हम दोनों के स्वर–मिश्रित गम्भीर ग्राम, मूर्च्छना के द्वारा मूर्च्छित होता हुआ वश में हो सकता है।"

तब राजा ने कहा–"वैसा ही करो। पर गज को वश में करो।"

फिर राजा की आज्ञा से वासवदत्ता पट से आवृत्त सुखासन में स्थित होकर गयी। फिर वत्सराज और वासवदत्ता ने समीप जाकर वीणा वादनपूर्वक दोनों के स्वर सम्मेलन से गीत गाया, जिससे गज स्वयं ही मद त्याग करके उन दोनों के मुख के आगे सिर हिलाता हुआ आकर स्थिर होकर खड़ा हो गया। वत्सराज ने भी दो घड़ी तक प्रबलतापूर्वक गीत गाकर उसे तृप्त करते हुए सरलता प्राप्त करवायी। तब कुमार भी फाला देकर उसके ऊपर चढ़ गया। उसके बाद उसे सुखपूर्वक आलान में ले जाकर दृढ़ बंधनपूर्वक बाँध दिया। फिर राजा के पास जाकर सम्पूर्ण निवेदन किया। राजा ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा

की।

एक बार ऋतुराज के आगमन में प्रसन्न होते हुए राजा ने नगर के उपवन में गन्धर्व–गोष्ठी प्रारम्भ की। उस अवसर पर वत्सराज का यौगन्धरायण नामक मंत्री अपने स्वामी के समाचार प्राप्त कर वहाँ पर आया। उज्जयिनी में अन्य वेश बनाकर इधर– उधर त्रिपथ–चतुष्पथ आदि में घूमता हुआ इस प्रकार बोलने लगा–

यदि तां चैव तां चैव चैवायतलोचनाम्।
न हरामि नृपस्यार्थे नाहं यौगन्धरायणः।।1।।

इस प्रकार बोलते नगर में घूमने लगा, पर उसके भावार्थ को कोई भी नहीं जान पाया। एक बार राजवाटिका में से निकलते हुए प्रद्योत राजा यह सुनकर कुपित हुआ, पर भाव से अनभिज्ञ होने से क्रोध को शांत किया। ऐसे–वैसे वेश को देखकर सोचा–कोई भ्रांत–चित्तवाला दिखायी देता है। अतः प्रलाप करता है।

एक बार प्रद्योत राजा ने विचार किया–"मेरी पुत्री वासवदत्ता को पढ़ाते हुए वत्सराज को बहुत से वर्ष हो गये। अतः अब उसकी गीत–विद्या की कला को देखना चाहिए। इन दोनों का गीत–उद्यम किस प्रकार से फलीभूत हुआ है।"

इस प्रकार विचार करके राजा ने प्रधान पुरुषों के मुख से वत्स राजा को आदेश दिया कि आपको कल प्रभात में वासवदत्ता को लेकर यहाँ उपवन में आना है। आपके उद्यम का प्रसाद किस प्रकार से निष्पन्न हुआ है, यह देखने की इच्छा है। इसी हेतु से आपको आना है।

वत्सराज ने भी कहा–"ठीक है, मैं आ जाऊँगा।"

इधर राजा ने दासी के द्वारा वासवदत्ता को कहलाया–"कल सुबह आप अपने अध्यापक के साथ उपवन में आ जायें। अत्यधिक दिनों में अभ्यास की गयी कला का आपको प्रदर्शन करना है। गीत–संगीत–रस–राग–कला आदि के विशारद भी वहाँ आयेंगे। अतः आपको अवश्य ही अपने अध्यापक के साथ आना है।"

तब वासवदत्ता ने भी कहा–"ठीक है।"

अब यथा–अवसर के ज्ञाता सुबुद्धि युक्त वत्सराज ने वासवदत्ता को कहा–"प्रिये! आज कारागार में से निकलने का सुअवसर है, क्योंकि राजा ने बाहर जाने का आदेश दिया हैं। अतः वेगवती के वेग के सामने कौन घुड़सवार हमारे पीछे दौड़ने में समर्थ होगा?"

इस प्रकार वत्सराज के कहने पर वासवदत्ता ने भी वैद्य के उपदेश की तरह इष्ट मान लिया। फिर वासवदत्ता ने वेगवती मँगवायी। इस अवसर पर किसी अन्धे बड़े निमित्तक को द्रव्य–दानपूर्वक प्रसन्न करके यौगन्धनारायण ने भी

पूछा–"यह वेगवती इच्छित स्थान पर निर्विघ्न पहुँच जायेगी?"

तब उस कुशल निमित्तक ने कहा–"यह वेगवती सौ योजन तक जाने के बाद निश्चय ही मर जायेगी। पुनः इसके पीछे अनलगिरि विघ्न उपस्थित करेगा। अतः विघ्न नष्ट करने के लिए इसकी चार मूत्र–घटिकाओं को दोनों पार्श्व में दो–दो करके स्थापित कर देना।"

इस प्रकार की नैमित्तिक के द्वारा कही हुई सलाह प्राप्त करके यौगन्धरायण ने वैसा ही करके वेगवती को तैयार किया। अत्यधिक दान पुनः देकर अंध–व्यक्ति को संतुष्ट किया। "यह बात किसी के आगे भी नहीं कहना"– इस प्रकार हिदायत देकर उसे भेज दिया।

इस प्रकार वत्सराज, घोषवती, वासवदत्ता, धात्री कंचनमाला, हस्तिमिण्ठ और वसन्तक– ये सभी वेगवती पर चढ़े। यौगन्धरायण के इशारे से वत्सपति रवाना हुआ। क्रमपूर्वक नगर से बाहर राजा के उतरने की वाटिका के समीप पहुँचकर क्षत्रिय के आचार में अग्रेसर क्षात्र–धर्म की परिपालना के लिए वत्सराज ने स्वयं ही उद्घोष किया– "वासवदत्ता, कंचनमाला, मिण्ठ, वसन्तक, वेगवती, घोषवती आदि को वत्सराज स्वेच्छा से ले जा रहे है, अतः जो शूर है, वह इनकी मुक्ति के लिए मेरा पीछा करें।"

इस प्रकार उच्च स्वर में घोषणा करके वेगवती को त्वरित गति से प्रेरित करते हुए दौड़ाया। प्रद्योत राजा सहित सभी प्रमुख राजलोकों ने सुना। प्रद्योत ने क्रोधित होते हुए सेवकों को आज्ञा दी– "अरे! दौड़ो–दौड़ो। शीघ्र ही मेरे अपराधी को ग्रहण करो। मेरे सामने लेकर आओ।"

राजा के इस प्रकार के कथन को सुनकर मंत्री–प्रमुखों ने कहा– "वह तो वेगवती पर आरूढ़ होकर गया है। उसे पकड़ना कैसे शक्य है?"

तभी एक मन्त्री ने कहा–"स्वामी! इसके पीछे अनलगिरि को छोड़ा जाये।बिना अनलगिरि के उस वेगवती की गति को रोकने में कौन समर्थ है?"

राजा ने कहा–"ऐसा ही हो, पर उसे शीघ्र ही पकड़कर यहाँ लाना ही होगा।"

तब अपने पुत्र के साथ सैनिकों को अनलगिरि पर चढ़ाकर रवाना किया। त्वरित गति से प्रेरित अनलगिरि पच्चीस योजन दूर तक गयी हुई वेगवती से मिला। तब दूर से अनलगिरि को आता हुआ देखकर वत्सराज ने एक मूत्रघटिका उसके मार्ग में फोड़ी। मूत्र–वासना से मूर्च्छित हाथी मूत्र को सूंघता हुआ वहाँ रुक गया। सैनिकों के द्वारा अत्यधिक प्रेरित करने पर भी वह पग–मात्र भी नहीं चला। एक घड़ी तक मूत्र की गंध से तृप्त होकर आगे चला। वेगवती

ने तो एक घड़ी–मात्र में बहुत सारा मार्ग तय कर लिया। पुनः पच्चीस योजन आगे जाने पर वह वेगवती से मिला। पुनः उसी प्रकार से मूत्रघटी को फोड़–फोड़कर अनलगिरि को रोका। इस प्रकार चार घटी पूर्ण हो जाने पर पुनः अनलगिरि वेगवती से मिला। तब प्रद्योत राजा के पुत्र ने वत्सराज को मारने के लिए धनुष–बाण चढ़ाया, तब वासवदत्ता वत्सराज को अपने पीछे करके भाई के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी। प्रद्योत–सुत विचारने लगा कि बहिन तो उसको पीछे करके खुद आगे आ गयी है। बहिन को कैसे मारूं? इस प्रकार विचार करते हुए घड़ी–मात्र समय व्यतीत हो गया और वत्सराज का नगर आ गया। वेगवती दौड़ती हुई नगर के मध्य प्रवेश कर गयी, तब राजा प्रद्योत का पुत्र निराश होकर वापस लौट गया। वत्सराज आदि वेगवती की पीठ से उतरकर श्रम को दूर करने में लग गये, तब तक तो थकान से वेगवती मर गयी। वत्सराज ने वासवदत्ता के साथ हर्षपूर्वक राजमहल में प्रवेश किया।

इधर प्रद्योत राजा के पुत्र ने जाकर सभी घटना कही। उसे सुनकर क्रोध से धमधमायमान होते हुए राजा ने युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। तब एक मुख्य–मंत्री ने राजा से कहा–"राजन! अभी युद्ध करना अनुचित है, क्योंकि राजकुमारी ने स्वयं स्वेच्छा से पति के रूप में यह वर स्वीकार किया है। वह उसे कैसे छोड़ेगी? अतः किसी उपाय से या छल से उसे वापस ले आया भी जाये, तो भी अन्य के द्वारा अंगीकृत तथा भोगी हुई राजकुमारी को कौन कुलीन ग्रहण करेगा? बल्कि इसने तो आपकी चिंता को दूर ही किया है। स्वयंवर आदि के प्रभूत द्रव्य–व्यय को बचाया है। अपने अनुरूप वर को देखकर वरा है। कुछ भी अनुचित नहीं किया है। वह भी उच्च कुल का राजपुत्र तथा विद्याओं व कलाओं का एकमात्र निधि है। गवेषणा करने पर भी ऐसा वर कभी प्राप्त नहीं होता। यह योग्य युगल है। इस समय युद्ध करने से अपयश होगा और मूर्खता ही प्रकट होगी। इसलिए सकल सामग्री से युक्त प्रधान पुरुषों के द्वारा वहाँ जाकर पाणिग्रहण करवाना चाहिए। यही युक्त है, दूसरा कुछ नहीं।" तब राजा मान गया।

एक बार अवन्ति में अग्नि–भय उत्पन्न हुआ। घर–भवन आदि की श्रेणियाँ देखते ही देखते भस्म हो गयीं। पानी आदि के द्वारा बुझाये जाने पर भी आग शांत नहीं हुई। एक जगह बुझाने की कोशिश करते, तब तक दूसरी जगह आग की भंयकर लपटें उठने लगतीं। लोगों ने देवी–देवताओं के अनेक भोग, पूजा आदि की मनौतियाँ मानीं, पर आग शान्त नहीं हुई, अपितु और अधिक भड़कने लगी। कितने राजकीय आवास भी जल गये। रात्रि मे भी कोई सुख से नहीं सो

सका।

तब राजा ने बुद्धि की कुशलता को प्रकट करनेवाले अभयकुमार से पूछा–"हे बुद्धि–निधान! अग्नि–शमन का कोई उपाय है या नहीं?"

तब अभय ने कहा–"इसके प्रतिकार का उपाय सुनिए। अग्नि ही अग्नि की औषध है। अतः नवीन अग्नि को उत्पन्न करके पूजा आदि करके गीत–गान आदि के द्वारा उसका वर्धापन आपके द्वारा किया जाये, तो शांति हो जायेगी।"

इस प्रकार कहने पर राजा ने वैसा ही करके शुद्ध मंत्र आदि के प्रयोग से अग्नि को शांत किया और अग्नि का भय समाप्त हुआ। राजा ने यह सब प्रत्यक्ष देखकर प्रसन्न होकर अभय से वरदान माँगने के लिए कहा और अभय ने पूर्व की तरह ही उसे धरोहर के रूप में राजा के पास रखा।

फिर एक बार अवन्ती में अशिव उत्पन्न हुआ। रोग, शोक, भूतादि अनेक उपद्रव उत्पन्न हुए, जिससे नागरिक अत्यधिक पीड़ा का अनुभव करने लगे। अनेक लोग श्मशान के मेहमान बन गये, समस्त नागरिकों को अत्यधिक दुःखों के कारण पराभूत देखकर राजा ने अभय से पूछा–"हे सर्व विद्याओं व कलाओं के रत्नाकर! इस महा–अशिव के उपद्रव से लोग पराभूत हैं। क्या इसके निवारण का कोई उपाय है?"

अभय ने कहा–"हाँ, है। अगर आपकी सभी रानियाँ समस्त शृंगार करके आस्थान मण्डप में आयें। वहाँ नजर के द्वारा ही आपकी जय हो, इस प्रकार रानियों के द्वारा बलि–विधान करके सभी गोपुरों में बलि फेंकनी चाहिए। तब अशिव करनेवाले प्रेतों के तृप्त हो जाने पर चारों दिशाओं में अशिव का निवारण हो जायेगा।"

राजा के द्वारा दूसरे ही दिन वैसा ही करने के लिए शिवादेवी को कहा। परम शीलव्रत–धारिणी शिवादेवी ने स्नानादि विधिपूर्वक बलि बनाकर, शांति–मंत्रादि से मंत्रित करके, नमस्कार–वज्रपंजर स्तोत्र आदि के द्वारा आत्म–रक्षा करके नगर के सभी द्वारों पर बलि फेंकी। तीर्थ–जलादि के द्वारा नगर के चारों ओर शांति–जलधारा दी। इस प्रकार सभी क्षुद्र देवों को तृप्त करके वे घर आ गयीं। शीघ्र ही अशिव का नाश हुआ। तब प्रद्योत ने उस प्रकार से राज्य को निरुपद्रव देखकर पुनः प्रसन्न होकर अभय से चौथा वर माँगने के कहा। तब अभय ने कहा– "आज मुझे मेरे चारों वरदान प्रदान कीजिए।"

राजा ने कहा– "माँगो।"

तब बुद्धि–कुशल अभय ने कहा–"मैं शिवा–माता की गोद में अनलगिरि हाथी पर बैठूँ। आप महावत बनें तथा अग्निभीरू रथ की चिता बनाकर उसे

जलाकर उसके अंदर प्रवेश करूँ। इस प्रकार मुझे मेरे चारों वरदान प्राप्त होवें।''

इस प्रकार के अभय के कथन को सुनकर दुःखित होता हुआ राजा वर देने में अशक्य होता हुआ हाथ जोड़कर अभय को बोला–''हे अभय! तुम्हारी बुद्धि के आगे मेरी कुछ भी नहीं चलती है। मैं हारा, तुम जीते। अब तुम्हें जो अच्छा लगता है, वह करो।''

अभय ने कहा–''अभी तो केवल घर जाने की इच्छा है।''

प्रद्योत ने कहा–''ठीक है, ऐसा ही होगा।''

ऐसा कहकर भव्य आभरण, वस्त्रादि देकर शिष्टाचार करके उसे विदा किया। अभय भी मौसी आदि की शिक्षा लेकर राजगृह की ओर रवाना होने के समय प्रद्योत को नमन करके कहने लगा–''महाराज! आपने कपट–धर्म के छल से मुझे यहाँ बुलवाया है, यह मैं भूला नहीं हूँ। उससे ज्यादा मैं आपको करके दिखाऊँगा। पर धर्म–छल किये बिना ही मैं आपको इसका फल खिलाऊँगा, छिपी हुई चोर–वृत्ति के द्वारा नहीं। मध्याह्न के समय से पहले ही आपके समस्त राज–परिवार के देखते ही देखते मैं यह सब करूँगा। आप अपने ही सामन्तों, सैनिकों व नगर–जनों के सामने ''हे सामन्तों! हे सैनिकों! हे नगर–जनों! यह अभय मुझे बलपूर्वक ग्रहण करके ले जा रहा है। तुम लोग क्या देख रहे हो? मुझे इससे मुक्त करवाओ।'' इस प्रकार चीख–पुकार करेंगे, पर आपको मुक्त करवाने कोई नहीं आयेगा। इस प्रकार सभी लोगों के समक्ष आपको पकड़कर ले जाऊँगा। अतः आप सावधानीपूर्वक रहें। बुद्धिमानों के साथ गुप्त मंत्रणा करके उस प्रकार से करें, जिससे कि इस संकट के निराकरण का उपाय शोध सकें।''

तब अभिमान की बहुलता के साथ प्रद्योत ने कहा–''ठीक है, ठीक है। जाओ, जाओ। अभी सब पता लग जायेगा। एक बार बिल्ली के मुख में चूहे की तरह लाये गये हो, क्या वह भूल गये? पुनः चकवा पक्षी के शिशु की तरह समय आने पर तुम्हे मँगवाऊँगा। आज तो मुझे वचन–बद्ध करके मुक्त हो गये हो, अतः व्यर्थ गाल बजा रहे हो। देखो–देखो, टेढ़े कांटोंवाला मत्कुण मेरे किले में गुड़ लाने की बात करता है। सैकड़ों–हजारों योद्धाओं तथा करोड़ों सामन्तों के बीच में से मुझे पकड़कर ले जाने की प्रतिज्ञा करता है। देख लिया तुम्हार सामर्थ्य।''

अभय ने कहा–''कार्य करके ही प्रमाणित करूँगा। अभी कुछ भी कहने से क्या फायदा?''

इस प्रकार कहकर राजगृह की तरफ रवाना हुआ। कुछ ही दिनों में मगध के मण्डन–स्वरूप राजगृह नगरी को प्राप्त हुआ। आगे–आगे चलनेवाले चरों ने राजा श्रेणिक को बधाई दी–''हे स्वामी ! बुद्धि–बल के द्वारा प्रद्योत को

जीतकर, मालव देश में कीर्ति–स्तम्भ को स्थापित करके अनेकानेक लोगों पर उपकार करके अभयकुमार निर्भय होकर यहाँ आ गये हैं।''

श्रेणिक ने भी पुत्र के आगमन को जानकर हर्ष से पुलकित रोमांचवाले होकर बधाई देनेवाले को अनेकों इनाम दिये। फिर महा–महोत्सवपूर्वक दान व मान के साथ अभय के सम्मुख आये। पिता को आया हुआ देखकर अभय भी वाहन से उतरकर पैदल चलकर पिता के पास आया और उनके चरणों में गिर पड़ा। पिता ने भी अपने हाथ उठाकर गाढ़ स्नेह से आलिंगनपूर्वक मस्तक चूमकर, हर्ष से छलकते आँसुओं से भरी दृष्टि से उसे देखकर, गद्‌गद् होकर कुशल–क्षेम की वार्ता–मात्र करके, फिर हाथी पर बैठाकर, सिन्दूर से मंगल–कृत्यों को करके नगर–प्रवेश करवाया।

अभय के आगमन से चन्द्रोदय से समुद्र की तरह राजा के मन में हर्ष तेजी से हिलोरें लेने लगा। पुरजन, महाजन, स्वजन आदि के गमनागमन से विशाल राजमार्ग भी छोटा प्रतीत होने लगा। अभय राजकीय लोगों के उपहारों को ग्रहण करके तथा उनकी कुशल–क्षेम पूछकर व खुशी के साथ पान का बीड़ा देकर भेजने लगा। इस प्रकार जो जिस प्रकार आता था, उसे उसी प्रकार सुख आदि के प्रश्न पूछकर भेजता था। धन्य भी राजा के साथ उसे लेने सामने आया हुआ था। राजा के बराबर के आसन पर ही बैठा हुआ था। क्रम से अवसर प्राप्त होने पर पर धन्य भी अनेक उपहार देने लगा, तब राजा ने अभय को इशारे से मना कर दिया। यह जानकर अभय ने अनेक शपथ आदि महा–आग्रह के कारण वचन की रक्षा–मात्र के लिए कुछ उपहार ग्रहण किये। मन में सोचा कि ''यह कोई नया सज्जन पुरुष दिखायी देता है। राजा भी इससे अत्यधिक स्नेह व सम्मानपूर्वक बोलते हैं। अवसर आने पर जान जाऊँगा। पर यह गुणों की निधि–रूप प्रतीत होता है।''

फिर सभी को शिष्टाचारपूर्वक प्रसन्न करके भेजा और उसके बाद अपने ही घर के नौकर–चाकर आदि से बातचीत करके उन्हें भी भेज दिया। फिर भोजन का समय हो जाने पर सभासदों को रवाना करके राजा भोजन के लिए उठ खड़े हुए। अभय के साथ भोजन करके फिर एकान्त में बैठकर ''कपटी श्राविका के द्वारा कपट से मैं ग्रहण कर लिया गया'' इस प्रकार तब से लेकर जो कुछ हुआ और जो कुछ अनुभव हुआ, वह सभी वृत्तान्त राजा ने अभय से पूछा। अभय ने सारा आद्योपान्त विवरण कह सुनाया।

राजा भी वह सब सुनकर सिर हिलाते हुए आश्चर्य–चकित होकर कहने लगा–''हे पुत्र! ऐसे संकट में से तुम ही निकल सके, दूसरा कोई होता, तो नहीं

निकल पाता, वर्तमान में तो इस जगत में बुद्धि से तुम्ही अद्वितीय हो।"

इस प्रकार की बातों में कितने ही दिन बीत गये। तब एक दिन अभय ने पिता से पूछा–"हे पिता! आपको मेरे पीछे से राज्य का निर्वाह करने में कोई तकलीफ तो नहीं हुई? कोई चिंता या दुःख तो नहीं हुआ?"

राजा ने कहा–"हे वत्स! तुम्हारे जाने के बाद राज्य को नष्ट करनेवाले अनेक प्रबल उत्पाद उत्पन्न हुए। परन्तु अपरिमित बुद्धि के स्वामी एक धन्य नामक सज्जन पुरुष ने उन सभी विपदाओं को पराजित कर दिया और राज्य को दीप्तिमान किया।"

अभय ने कहा–"वह धन्य कौन है, जिसकी आप इतनी प्रशंसा कर रहे हैं?"

राजा ने कहा–"तुम जिस दिन यहाँ आये थे, उस दिन वह तुम्हारे पास ही बैठा हुआ था। उपहार आदि ग्रहण करने के समय मेरे द्वारा तुम्हें जिससे उपहार आदि लेने से मना किया था, क्योंकि उसके गुणों को देखकर मैंने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया है। अतः जामाता को तो देना ही श्रेष्ठ है, उससे लेना श्रेष्ठ नहीं है।"

अभय ने कहा–"उसमें क्या–क्या गुण हैं?"

राजा ने कहा–"वत्स! यह सज्जनों में मान्य धन्य औत्पातिकी बुद्धि में तो तुम्हारे ही तुल्य है। सौजन्य–गुण में तो वह जगत में अद्वितीय है, क्योंकि इसी से विश्व में सभी राजाओं में सूर्य के समान तथा चन्द्रमा की किरणों के समान बुद्धि की किरणों से उसने सभी को उपकृत किया है। तेजस्वियों में अग्रणी इस पुरुष ने मेरे विशाल राज्य को निधान से भूतल की तरह अत्यधिक भर दिया है। भाग्यलक्ष्मी के मित्र इस धन्य ने तो निश्चय ही समस्त राजधानी को अवसर की सावधानता के साथ अलंकृत किया है, जैसे कि मुख सारे शरीर में अग्रणी तथा शरीर की शोभा होता है। इसी प्रकार इस धन्य ने अपने घर से निकलकर विदेश में भी अपने ही देश की तरह किन्हीं श्रेष्ठ कर्मों के विपाक से अद्भुत भोग–लक्ष्मी को भोगा है। पुनः अपने भाग्य से प्राप्त अपरिमित धन के द्वारा अपने कृतघ्न धनहीन भाइयों को हर्षपूर्वक तथा विनय से अत्यधिक धनी किया।

इसके यहाँ आने से तथा नजर से देखने–मात्र से श्रेष्ठी की पूर्व में मुरझायी हुई वाटिका भी फिर नये पुष्पों और फलों आदि से हरी–भरी हो गयी है। तुम्हारे अवन्ति चले जाने पर इसने सूर्य के द्वारा प्रेरित किरणों की तरह मेरे राज्य की स्थिति को द्योतित किया है।

इसके साथ ही इसने समस्त श्रेष्ठी–जनों के शिरोमणि श्रीगोभद्र सेठ को एक धूर्त के द्वारा की हुई कपट युक्ति में फँस जाने पर अपने प्रतिभा–कौशल से बचाया है। मद की उत्कटता से आलान–स्तम्भ को उखाड़कर उन्मत्त होते हुए मेरे गज सेचनक ने जब सम्पूर्ण नगरी में उत्पात मचाया, तो गज–दमन की कुशल शिक्षा से शिक्षित इसने उसको अपने वश में करके आलान में बाँधकर सभी पर अत्युपकार किया है। इस गुण–निधान के किस–किस गुण का वर्णन करूँ।

यह धन्यकुमार रूप, सौभाग्य, विज्ञान, विनय, चतुरता आदि अनेक गुणों की खान है। निष्कारण उपकारी इसको नैमित्तिक के वचन सुनकर कुसुम–श्रेष्ठी ने, धूर्त के वचन रूपी कारागार से मुक्त कराने के उपकार को स्मरण करके गोभद्र श्रेष्ठी ने तथा अनेक उपकारों व गुणों का स्मरण करते हुए स्नेह–लता की वृद्धि के लिए मैंने भी अपनी–अपनी कन्याएँ इसको दी हैं। वे वत्स! इसके इन अपार गुणों को तुम तब ही जान पाओगे, जब इसके साथ तुम्हारा परिचय बढ़ेगा।"

इस प्रकार पिता के मुख से धन्य के गुणों की प्रशंसा सुनकर गुणानुरागियों में प्रमुख अभय उसी दिन से प्रमोद भाव से गुणों के कारण धन्य पर गाढ़ प्रीति को प्राप्त हुआ।

दूसरे दिन अभय स्वयं ही अत्यधिक प्रेम को धारण करते हुए बहनोई का सम्बन्ध होने से धन्य के घर गया। धन्य भी अभय के आगमन को सुनकर सहसा उठकर कितनी ही दूर उसके सम्मुख आया। अभय रथ से नीचे उतरा। गाढ़ आलिंगन के साथ दोनों ने परस्पर अभिवादन किया। फिर घर में प्रवेश करते समय पहले आप–पहले आप करते हुए शिष्टाचार और बहुमानपूर्वक घर में ले जाकर भव्यासन पर बिठाकर कहने लगा–"आज आपने सेवक पर महती कृपा की। आज मेरे घर पर बिना बादलों के वृष्टि हुई है। प्रमादी लोगों के घर पर गंगा अपने आप आ गयी है। आपने अपने आगमन से मेरे घर को पवित्र किया है। आज मेरा दिन धन्य हुआ, जो आपने मुझे दर्शन दिये। पर आपने इतना श्रम क्यों किया? मैं तो आपका सेवक हूँ। आपने इशारा ही किया होता, तो मैं हाजिर हो जाता।"

इस प्रकार के वचनों के सुनकर अभय ने धन्य को हाथ से पकड़कर खींचते हुए अपने बराबर के आसन पर बैठाया और कहा–"हे इभ्य श्रेष्ठी! इस प्रकार न बोलें, क्योंकि आप तो हमारे लिए लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार से पूज्य हैं। लौकिक सम्बन्ध में आप मेरे बहनोई हैं। लोकोत्तर सम्बन्ध से आप

श्रीजिनाज्ञा से अलंकृत हैं। जगत के लोगों के और हमारे आप अनंत उपकारी है। अतः हे बहनोई! आपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हूँ। जो जिनाज्ञा में गाढ़ अनुरागवाले तथा दृढ़ भक्तिवाले होते हैं, वे मोक्ष की अभिलाषा रखनेवालों के लिए सदैव पूज्य होते हैं। लौकिक सम्बन्ध से जो स्नेह होता है, वह तो संसार की वृद्धि का हेतु होता है। जो लोकोत्तर सम्बन्ध से स्नेह होता है, वह सम्यक्त्व की निर्मलता तथा मुक्ति का हेतु होता है। अतः आप तो हमारे लिए दोनों ही प्रकार से पूज्य हैं।

और भी, पूज्य पिताजी के द्वारा कल ही आपके आगमन से शुष्क वन का नवीन रूप से पल्लवित होना, धूर्त का दमन, गज–दमन, राज्य की स्थिति का स्थिरीकरण आदि अनेक चमत्कार तथा कृतघ्नी हतभागी आपके भाइयों को अमित सम्पत्ति देकर भेजना आदि घटनाएँ अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सुनायी गयीं। यह सब सुनकर तो मेरा हृदय आश्चर्य, पुलक, प्रमोद, हर्ष, स्नेह आदि से अत्यन्त पूरित हो गया। अभी तक भी वह उल्लास हृदय में नहीं समाता। हम तो आपके साथ को कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि तथा कल्पलता के मिलने से भी ज्यादा मानते हैं। अतः इस राज्यऋद्धि, समृद्धि और मुझे अपना ही समझें। इसमें कोई संदेह नहीं है।''

मंत्री के वचनों को सुनकर धन्य ने कहा–''मंत्रीराज! गुणों को प्राप्त होकर दया से आर्द्र हृदयवाले कृतज्ञ आप जैसे सज्जन दूसरों के परमाणु जितने गुणों को पर्वत जितना बना देते हैं। गुणों से न्यून होने पर भी सज्जन उन्हें महानता पर आरोपित कर देते हैं। पर मैं तो कितना–मात्र हूँ। मैं तो–मात्र वणिक हूँ। मुझसे क्या हो सकता है? अगणित पुण्यों से समृद्ध आपके पुण्य से ही यह सब हुआ है। सेवक की जो जय होती है, वह स्वामी के पुण्य से ही जाननी चाहिए।''

इस प्रकार परस्पर प्रशंसा करते हुए एक–दूसरे के हृदय को अनुरक्त बनाते हुए उनका परस्पर अत्यन्त गाढ़ प्रेम सम्बन्ध हो गया। उस दिन से प्रतिदिन मिलना, जिनयात्रा आदि के लिए जाना, राजसभा को अलंकृत करना, वन–उपवन आदि देखना इत्यादि कार्य दोनों मिलकर करने लगे। यदि किसी कार्य की व्यग्रता के कारण आपस में किसी दिन नहीं मिल पाते, तो वह दिन दोनों के लिए अत्यन्त दुःखदायी होता था। इस प्रकार महा–अमात्य अभय 'कुबेर के साथ ईश्वर की तरह' धन्य के साथ प्रीति–सुख का अनुभव करता था। छः प्रकार के प्रीति–लक्षणों को पूर्णता के साथ निभाता था। एक प्राण दो शरीर की तरह वे दोनों सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करते थे।

एक बार पिछली रात्रि के समय शय्या पर सोये हुए अभय ने चिन्तन किया – "अहो! मैंने उज्जयिनी से निकलते वक्त प्रद्योत के सामने प्रतिज्ञा की थी। अभी तक मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं की। उक्त वचनों की प्रतिपालना में ही पुरुषत्व हैं। अतः उसके प्रतिपालन के लिए मुझे अवश्य ही उद्यम करना चाहिए।" प्रभात होने पर राजा व धन्यकुमार को कहकर वचन के पालन की तैयारी में संलग्न हो गया।

सर्वप्रथम उसने वैश्या कुल की जातीय, सोलह वर्ष प्रमाण पुरुष को आसक्त बनाने की कला में अति निपुण, भौं–नेत्रादि के हाव–भाव से कटाक्ष द्वारा *आकर्षित करने की कला में देवियों के रूप को जीतनेवाली, रूप–यौवन से युक्त,* कोकिल–कण्ठी दो तरुणियों को ग्रहण किया। फिर मुख–नेत्रादि विलास में प्रद्योत के समकक्ष एक पुरुष को ग्रहण किया। उसे धन देकर आगे जो कुछ भी करना है, वह सब अच्छी तरह समझा दिया। उसके बाद उस देश में क्रय–विक्रय के योग्य क्रयाणक, श्रेष्ठ वस्त्र तथा विविध रत्नादि ग्रहण किये। ग्रहण करके गाड़ियाँ, ऊँट, बैलादि यथायोग्य ग्रहण किये। उन्हें दूर देश की भाषाओं से अवगत कराकर उसी प्रकार के वस्त्रादि से भूषित किया। स्वयं ने भी वैसा ही वेष धारण किया।

इस प्रकार सभी सामग्री को तैयार करके राज्य–कार्य धन्यकुमार के मस्तक पर डालकर और स्वयं राजा से पूछकर किसी भव्य दिन शुभ मुहूर्त में भव्य शकुनों के द्वारा उत्साहित होते हुए राजगृह से मालव देश की ओर प्रयाण किया। वे दो श्रेष्ठ तरुणियाँ वस्त्र से आवृत रथ पर आरूढ़ करायी गयीं। अनेक सैनिक आगे और पीछे चलने लगे। अनेक दासियाँ उस रथ की सेवा में नियुक्त की गयीं। अगर कोई पूछता, तो रथिक सैनिक कहते–"अन्तःपुर है।"

एक डोली में प्रद्योत की प्रतिकृतिवाला पुरुष सिखाया हुआ अनाप–शनाप बोलता था। स्वयं अभय एक भव्य अश्व–रथ में देशान्तर से लायी हुई पोशाक से भूषित होकर बैठा हुआ था। आगे अनेक सैनिक थे। पीछे क्रयाणक से भरे हुए वाहन सैनिकों से आवृत होकर चल रहे थे। इस प्रकार लगातार चलते हुए अवन्ती को प्राप्त हुए।

अनेक भव्य उपहार लेकर अनेक देशान्तरीय वेषधारी सुभटों के साथ अभय राजसभा में गया। उपहारों को आगे रखकर राजा को प्रणाम करके खड़ा रह गया। राजा ने भी अद्भुत उपहारों को देखकर प्रसन्न होते हुए उससे सादर कहा–"हे श्रेष्ठीन्! किस देश से पधारे हैं?"

तब अभय ने करांजलि हुए कहा–"स्वामी! अति दूर देश से आये हैं।

जहाँ रामचन्द्र ने समुद्र को उलांघने के लिए पुल बाँधा था, वहाँ पृथ्वीभूषण नामक नगर है। वहाँ अरिमर्दन राजा प्रबल प्रताप से भूषित होकर राज्य करता है। हम उसी नगर के निवासी हैं। उस नगर में जलमार्ग से अनेक जाति के तथा अनेक गुणों के कारक क्रयाणक वस्त्र–पात्रादि आते रहते हैं। अतः हमने विविध देशान्तरों की बातें सुनीं, तो देखने के लिए उत्कण्ठित हो गये। मन में सोचा कि यदि प्रचुर–मात्रा में माल लेकर देशान्तर में जायेंगे, तो अति लाभ होगा और विविध देशों के दर्शन भी होगे। शास्त्र में भी कहा है–

देशाटनं पण्डितमित्रता च, वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्रार्थविलोकनं च, चातुर्यमूलानि भविन्त पञ्च।।1।।

अर्थात् देशाटन, पण्डित लोगों की मित्रता, वेश्या, राजसभा में प्रवेश तथा अनेक शास्त्रों के अर्थ का विलोकन–ये पाँच चीजें चातुर्य का मूल होती है।

अतः देशान्तर–गमन में दो प्रकार के कार्य होते हैं। इस प्रकार विचार करके क्रयाणक से भरे हुए गाड़ों आदि को लेकर हम नगर से निकल गये। दो वर्ष तक मार्ग में जगह–जगह जाते हुए अनेक नगर, वन, पर्वत आदि तथा नये–नये आचार, वस्त्र, तीर्थ आदि को देखते हुए मन में प्रसन्नता को प्राप्त हुए छः मास पूर्व हमने किसी पथिक से सुना कि वर्तमान समय में जैसी उज्जयिनी नगरी की शोभा है, वैसी किसी की भी नहीं है। वह तो साक्षात अमरपुरी जैसी है। जहाँ सोलह राजाधिराजों के स्वामी श्रीमान चण्ड प्रद्योत इन्द्र की तरह अति शुभ नीति से अखण्ड शासन करते हैं। उसकी नगरी में किसी भी कर्म के उदय से रोगादि को छोड़कर बाकी कोई भी उपद्रव नहीं होता। अगर आश्चर्य को देखने की इच्छा हो, तो उज्जयिनी नगरी ही जाना चाहिए, जिसके दर्शन–मात्र से पहले देखे गये सभी माणिक्य के आगे काँच की तरह प्रतीत होंगे। इस प्रकार के उसके कथन को सुनकर अन्य देश में जाने की इच्छा होते हुए भी उसे छोड़कर हम यहाँ आये हैं। पर जैसा सुना था, उससे कहीं ज्यादा ही देखने को मिला है। अति पुण्यवान तथा एकमात्र न्याय की दृष्टिवाले आपके दर्शन हुए, तो आज हमारी आँखें पावन हो गयीं। पुण्यवानों का दर्शन महान पुण्य के लिए ही होता है।

श्रेष्ठी के इस प्रकार कहकर विराम लेने पर प्रद्योत स्व–प्रशंसा से फूल गया। उसने कहा–"हे श्रेष्ठी! आप जैसों के आगमन से हम प्रसन्न हुए। आप यहाँ सुख से निवास करें। यथा–इच्छा व्यापार करें। आपको अगर कोई भी काम हो, तो यहाँ आकर हमें निवेदन करें।"

इस प्रकार कहकर श्रेष्ठ वस्त्र तथा पान आदि का बीड़ा देकर शुल्क–

अधिकारी को आदेश दिया कि इस श्रेष्ठी से आधा शुल्क ही लिया जाये, उससे ज्यादा नहीं। इस प्रकार कहकर उन्हें भेज दिया। अभय ने भी राजमार्ग पर अनेक झरोखों तथा द्वारों से युक्त न अधिक खुला और न अधिक बंद–ऐसा राजभवन के समान सुन्दर भवन भाड़े पर ग्रहण करके उसमें निवास करने लगा। अभयचन्द्र श्रेष्ठी नाम से वह वहाँ विख्यात हो गया। एक बहुत बड़ी आस्थान सभा में व्यापार करने लगा। अपनी चतुराई भरी बातों से नगर के लोगों को रंजित करने लगा। घर–घर में लोग उसके गुणों की चर्चा करने लगे कि कोई पूर्व में अदृष्ट–ऐसा सज्जनों का शिरोमणि सेठ आया है। वे देश धन्य हैं, जहाँ ऐसे लोग वसते हैं।

उसके घर के मध्य–द्वार पर सदा द्वारपाल रहता था। वह किसी को भी अन्दर नहीं जाने देता था। पूछने पर कहता था कि देश व कुल की ऐसी ही परम्परा है। प्रद्योत की आकृतिवाले पुरुष को अभय ने शिक्षा दी–"तुम आज ही भागकर चतुष्पथ आदि में जाओ। मार्ग में कुछ–कुछ बकते रहना। पागलों जैसी क्रिया करते हुए इधर–उधर घूमना। बाद में जब मैं तुम्हें पकड़ने के लिए जाऊँ, तो तुम वेग से भागते हुए मुझसे दूर भागने की कोशिश करना। दो–तीन चार घटिका बीत जाने पर मेरे हाथ में आना। हाथ में आने के बाद भी फिर से हाथ छुड़ाकर भाग जाना। लोगों के आगे इस प्रकार कहना कि मैं राजा प्रद्योत हूँ। मुझे पकड़ने के लिए अभय आ रहा है। उसे रोको। इस प्रकार कहकर धूल को उठा–उठा कर फेंकना। उसके बाद मैं तुम्हे जबर्दस्ती से पकड़कर चारपायी में बाँधकर घर की ओर ले जाऊँगा।

तब तुम जैसे–तैसे सैनिकों व पुरजनों के आगे कहना कि हे लोगों! हे सैनिकों! मुझ प्रद्योत राजा को बाँधकर और पकड़कर यह अभय ले जा रहा है। अतः तुम लोग मुझे क्यों नहीं छुड़वाते हो? इस प्रकार खाट पर रहते हुए ही बार–बार प्रलाप करना। बीच–बीच में और कुछ अनाप–शनाप बकने लगना। फिर पुनः कहना कि मैं प्रद्योत राजा हूँ। इस प्रकार इस क्रिया को रोज–रोज दोहराते रहना। मैं तुम्हे रोज खाट पर बाँधकर घर ले जाऊँगा। फिर घर के अन्दर आकर सुखपूर्वक स्वस्थ होकर रहना। यथा– इच्छा भोजनादि करना।" इस प्रकार उसे शिक्षा देकर रखा।

प्रभात होने पर वह उसी प्रकार करने लगा। घर से भागकर चतुष्पथ आदि पर घूमने लगा। पहले अभय ने जो कुछ सिखाया था, वह सभी बोलने लगा। लोग उसके पागलपन को देखकर हँसने लगे। अगर कोई पूछता कि "तुम कौन हो?" तो वह उत्तर देता कि "मैं प्रद्योत नामक राजा हूँ। मैं समस्त ग्राम–नगर–

देश आदि का अधिपति हूँ। ये सभी मेरे सेवक हैं।" इस प्रकार जो कुछ भी मुँह में आता, वह बकने लगा।

लोगों ने सोचा कि यह वायु के उठाव से अनाप–शनाप बकता है। इसके हृदय–कमल में प्राणवायु की विकृति हो गयी है। इसी कारण यह विकल आत्मावाला होकर कुछ भी बकता रहता है।"

इस प्रकार तीन चार घटिका बीत जाने पर अभय–श्रेष्ठी सेवकों के साथ पैदल ही दौड़ता हुआ चतुष्पथ पर आया। अपनी–अपनी दुकानों पर रहे हुए लोग यह सब देखकर आश्चर्य चकित होते हुए शंकाशील होकर उठते हुए श्रेष्ठी के समीप गये और प्रणाम करके पूछने लगे–"हे स्वामी! आप जैसे महा–इभ्य श्रेष्ठी का यों पैदल चलकर तीव्र धूप के समय आने का क्या प्रयोजन है? अगर कोई अति आवश्यक कार्य है, तो इन सेवकों को आदेश दीजिए। उन्हें कहना अगर अयोग्य प्रतीत होता है, तो फिर हमसे कहिए। ये सभी नगर–निवासी आपके गुणों के द्वारा खरीदे हुए दास के समान है। आपके आदेश–मात्र से ही आपके द्वारा कहे हुए कार्य को करने के लिए मन–वचन–काया से तैयार हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है। ऐसा कौन दुर्जन होगा, जो आपके कहे हुए कार्य को करने में प्रमाद करेगा। जगत में उत्तम आप जैसों के द्वारा ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न काल में इस प्रकार का कष्ट करना युक्त नहीं है। अतः शीतल छायावाली हमारी दुकानों को अलंकृत कीजिए। पूज्य–पाद के आगमन से हमारी दुकान पावन हो जायेगी। यहाँ बैठकर कार्य का आदेश दीजिए। सिर के बल चलकर उस कार्य को क्षणार्ध में ही कर देंगे।"

इस प्रकार गुणों के वशीभूत हुए लोगों के कथन को सुनकर अश्रुपूरित नेत्रों से गद्गद् होते हुए श्रेष्ठी ने जवाब देते हुए कहा–" हे सज्जन भाइयों! जो कुछ भी आपने कहा है, वह सत्य है। मैं मन, वचन और काया से स्वीकार करता हूँ कि आप सभी मेरे शुभचिंतक है। मेरे कहे हुए कार्य को करने में आप सभी तत्पर हैं। सभी मुझ पर पूर्ण कृपा रखते हैं। पर मुझ पर एक बहुत बड़ी आपत्ति आ गयी है। उसी दुःख से प्रेरित होकर इस मध्याह्न के समय में भी मैं यहाँ दौड़ता हुआ आया हूँ, धन और लोभ से नहीं।"

तब लोगों ने कहा–"वह कौनसी आपत्ति है?"

श्रेष्ठी ने कहा–"दो–तीन महिनों से प्राणप्रिय, समस्त घर की चिंता को करनेवाला, परम विनय–गुण से युक्त, सर्व कार्यों में अति निपुण, घर की शोभा रूप प्रद्योत नामक लघु भ्राता किसी रोग के कारण अथवा वायु–प्रयोग के कारण अथवा किसी दुष्ट देवता के कारण प्रकृति से विकृत हो गया है। वह न तो

सीधी तरह से बोलता है, न सीधी तरह से खाता है। मैं रात–दिन उसके पास ही रहता हूँ। कभी क्षण–मात्र भी किसी कार्य के लिए इधर–उधर जाता हूँ, तो यह सेवकों आदि की आँखों में धूल झोंककर बाहर निकल जाता है और इधर–उधर दौड़ने लगता है। पागलों की तरह बोलता है और दौड़ता है। रोज तो घर के दरवाजे के आस–पास ही घूमता है, अतः उसे पकड़कर घर पर ले–जाकर यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करता हूँ। आज वह भागकर कहाँ गया–यह पता ही नहीं चल रहा। उसी दुःख से आज इतनी तीव्रधूप में भी मैं निकल पड़ा हूँ। अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है।''

तब किसी ने कहा–''इस चतुष्पथ पर आपके कहे अनुसार एक व्यक्ति घूम रहा है और पागलों की तरह हरकतें करता हुआ कह रहा है कि मैं इस नगर का स्वामी प्रद्योत राजा हूँ, ये मेरे सेवक हैं – इत्यादि बोल रहा है। लोगों का समूह उसके पीछे दौड़ रहा है। उसे हैरान कर रहा है। वह भी लोगों पर धूल उछाल रहा है।''

इस प्रकार के उसके वचनों को सुनकर अश्रुपात करते हुए अभय उन लोगों के साथ वहाँ गया। श्रेष्ठी, सेवकों तथा लोगों के द्वारा मिलकर उसे पकड़ा गया, पर क्षण–भर में ही अवसर पाकर वह फिर से भाग गया। पुनः पकड़ा गया, पर वह आगे नहीं चलता है। तब अभय अपने सेवकों के द्वारा घर से खाट पर रखवाकर मजबूत बंधनों से बंधवाकर सेवकों द्वारा खाट को उठाकर घर पर लाने लगा, तब पहले से सिखाया हुआ होने पर वह खाट पर बंधा हुआ अनाप–शनाप बकने लगा।

तब यह देखकर लोग कहने लगे–''ऐसे गुणवान श्रेष्ठी को इतना बड़ा दुःख दिखाई देता है। इस असार–संसार में कोई भी पूर्ण रूप से सुखी नहीं है। किसी को भी कुछ तो दुःख होता ही है।''

इस प्रकार छलपूर्वक उसे घर ले गया। लोग भी चले गये। सभी श्रेष्ठी चिंता करते हुए घर चले गये। इस प्रकार कभी एक दिन छोड़कर, तो कभी दो दिन छोड़कर इसी प्रकार की क्रिया को करने लगा। श्रेष्ठी अभय भी पूर्वोक्त क्रिया के द्वारा उसे घर ले जाने लगा। इस प्रकार प्रतिदिन करते हुए प्रत्येक चतुष्पथ, त्रिक, चतुष्क आदि पथों पर, प्रत्येक पाटक पर यावत् प्रत्येक घर, प्रत्येक गोपुर, प्रत्येक उपवन, प्रत्येक वाटिका में सर्वत्र लोगों को ज्ञात हो गया। जहाँ–जहाँ वह जाता था, वहाँ–वहाँ लोग उसे देखकर कर्मों की निंदा करके तथा श्रेष्ठी की स्तुति–पूर्वक कहते थे–''अहो! कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। इस प्रकार से सर्वत्र सर्व रीति से सुखी भी श्रेष्ठी जिस दुःख को अनुभव करता है,

वह दुःख शत्रु को भी न होवे। धन–धान्य आदि सर्व सुखों से पूर्ण भी यह सेठ भाई के दुःख से दुःखित होता हुआ अकेला ही सामान्य लोगों की तरह प्रत्येक पाटवी में परिभ्रमण करता है। सेवक कहीं और खुद कहीं–इस प्रकार ग्रह से ग्रसित की तरह घूमता रहता है। भाग्य की गति का स्फोटन करने में कोई भी समर्थ नहीं है।''

इस प्रकार सर्वत्र ख्याति हो गयी। पहले तो जब निकलता था और श्रेष्ठी उसको खोजते हुए पीछे–पीछे दौड़ता था, तो सैकड़ों–हजारों मनुष्य उसे घर लाने के लिए पीछे हो जाया करते थे। फिर बहुत दिन बीत जाने के बाद उसके पीछे–पीछे कोई नहीं आता था। घर पर रहकर ही वे लोग श्रेष्ठी के दुःख का शोक मनाते थे। अगर कोई अनजान व्यक्ति पूछता था कि ''यह क्या है?'' तो उसके इस प्रकार पूछने पर नगर के लोग उत्तर देते थे कि ''भाई! कर्मों की गति ही ऐसी है। फिर श्रेष्ठी के गुणों के वर्णनपूर्वक सम्पूर्ण घटना को बताते थे। इसमें क्या आश्चर्य? नित्य ही इस प्रकार की कर्म–गति को यह सेठ भोगता है।

श्रेष्ठी और उसके रोगी भाई का नित्य ही इस प्रकार का प्रवाह प्रवाहित होने से कोई भी अब उन्हें देखने के लिए खड़ा नहीं होता था। इस प्रकार लोगों के परिचित हो जाने के बाद श्रेष्ठी ने घर में रही हुई दोनों पण्याँगनाओं (वेश्याओं) को इस प्रकार की शिक्षा दी–''कल राजा की घुड़सवारी निकलेगी। उससे पहले ही सोलह शृंगार आदि तथा वस्त्राभूषण परिधान आदि की रचना के द्वारा ताम्बूल से मुख को सुशोभित करके गवाक्ष में श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ जाना। जब हाथी के ऊपर बैठकर राजा दृष्टिपथ पर आये, तब कटाक्ष–बाणों के द्वारा उसे अच्छी तरह बींधना। हाव–भाव आदि बिभ्रम के द्वारा उसे आकर्षित कर लेना। जैसे–कुसुमों का अलंकार अंग–प्रत्यंग में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही करना। जिससे वह तुम दोनों का ही ध्यान करें, तुम दोनों को ही देखे। ज्यादा क्या कहूँ? अपनी कला के जादू द्वारा गमनागन के समय अपने चारित्र–विलास के द्वारा उसे वश में कर लेना।'' उन दोनों को इस प्रकार की शिक्षा देकर रखा।

फिर दूसरे दिन राजा की घुड़सवारी के अवसर पर वे दोनों वारांगनाएँ स्नान–मज्जन आदिपूर्वक सोलह श्रृंगार करके पँच–सौगन्धिक ताम्बूल से मुख को भूषित करके आगेवाले राजमार्ग के गवाक्ष में भव्य भद्रासन पर बैठ गयी। दो घड़ी बाद राजा उसी मार्ग से निकला। गंध–हस्ती के स्कन्ध पर आरूढ़ होकर जब उस गवाक्ष के समीप आया, तो वे दोनों राजा के दृष्टि पथ पर आयीं। उन दोनों ने भी हाव–भावपूर्वक राजा को देखा।

तब पर–स्त्री में लम्पट राजा चमत्कृत होकर उन दोनों को रागपूर्वक

देखने लगा। मन में विचार करने लगा–"स्वरूप से रम्भा की भी तर्जना करनेवाली काम रूपी सेना की सेनापति के समान ये दोनों तरूणियाँ किसकी हैं?" इस प्रकार विचार करते हुए पुनः–पुनः देखते हुए राजा आगे जाने लगा।

तब उन दोनों के द्वारा भी राजा की राग–युक्त दृष्टि को जानकर विशेष रूप से आदर–सहित एकटक होकर देखना, अधखुले नयनों से दृष्टिपात, मुख मटकाना, मुस्कुराते हुए नजर मिलाना, नीची दृष्टि से देखना, परस्पर एक–दूसरे के गले में बाँहे डालकर आदि अनेकों हाव–भाव, विभ्रम, कटाक्ष–विक्षेप आदि के द्वारा स्त्री–चरित्र के संकट में गिराते हुए काम–बाणों के प्रहारों से राजा को जर्जर कर दिया।

राजा सोचने लगा–"क्या ये नाग–वधुएँ है? अथवा ये दोनों किन्नरियाँ हैं? या फिर विद्याधरियाँ हैं? ये दोनों कौन होंगी? यह सफेद उन्नत घर किसका है? यहाँ कौन रहता है? किस उपाय के द्वारा इन दोनों का संयोग होगा? यदि इन दोनों से मिलन होता है, तो ही मेरा जन्म सफल है, अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार विचार करते हुए महावत को इशारे से समझाया कि मंद–गति से हाथी को चलायें। उसने भी वैसा ही किया। आगे जाते हुए टेढ़ी की हुई गर्दन के द्वारा उनके संयोग की चिंता में पीड़ित होते हुए अनिमेष दृष्टि से उन दोनों को देखते हुए आगे बढ़ने लगा। उन दोनों के द्वारा भी राजा की वैसी अवस्था को देखकर विशेष रूप से विषलिप्त स्मार के द्वारा घायल करते हुए आलस्य से अंगों को मरोड़ना, जम्हाई आदि लेना, परस्पर आलिंगन आदि अदृष्ट पूर्व स्त्री–चरित्र के विभ्रम से पूर्ण राग–भाव बताकर "यदि ये दोनों मेरे पर पूर्ण रागवाली हैं, तो किस उपाय से ये मिलेंगी?" इस प्रकार आशा के संकट में डाल दिया।

उसके बाद उस राजा के द्वारा वे दोनों जब तक दृष्टिपथ में आयी, तब तक उन्हें देखता रहा, फिर उसके बाद प्राणों को उन दोनों के पास छोड़कर केवल शरीर के साथ आगे चला। तब उन दोनों ने सम्पूर्ण घटना श्रेष्ठी को बतायी। श्रेष्ठी ने भी प्रसन्न से भी प्रसन्न होकर भविष्य में कार्य करने के लिए शिक्षा देने लगा–"कल पुनः वह पर–स्त्री–लम्पट राजा यहाँ आयेगा। तब फिर और ज्यादा कटाक्ष–विक्षेप, हस्त आदि के अभिनय के द्वारा उसे मोहित करके विह्वल बना देना, क्योंकि विषयानुरक्त के द्वारा यही जाना जाता है कि ये दोनों मेरा ही ध्यान करती हैं। मेरे ऊपर पूर्ण रागिनी हैं। जिस–जिस दिन मैं कहूँगा, वे स्वीकार कर लेंगी। ऐसी–ऐसी प्रतीति करने योग्य है। इस प्रकार दो–तीन दिनों में ही पूर्ण रूप से विह्वल हो जायेगा, तो कोई बहाना बनाकर दूतिका को

भेजेगा। तब दूती के कथन को सुनकर पहले मीठे वचनों के द्वारा उसे तृप्त करके यथायोग्य कुछ भी खान–पान आदि के द्वारा अपनी ओर आकर्षित करके उसके घर की खोज–खबर अच्छी तरह से ले लेना। उसके बाद बातों ही बातों में यह अहसास करा देना कि संगम अति दुर्लभ प्रतीत होता है। इस प्रकार कह देना, क्योंकि आज तक हमनें किसी के साथ भी आँखें नहीं लड़ाई हैं। पति के सिवाय किसी के भी आगे वचन–विलास नहीं किया है। पर पता नहीं, किस पूर्वकृत सम्बन्ध से राजा के साथ प्रेम हो गया? पर हे बहन! उनसे मिलना तो अत्यन्त दुष्कर है। कैसे होगा? हमारे गृह–निवास की स्थिति राजा अन्तःपुर से अति विषम है। इस प्रकार की वचन–रचना के द्वारा अति–दुष्कर मिलन और पूर्ण रागिता को दिखाकर जिस प्रकार से आतुर हो, वैसा ही करना चाहिए।

फिर से दूती को कहना–"अगर हम पर अवितथ राग है, तो हमें कोई उपाय दिखाइए। हमारे कहे हुए इस कष्ट को स्वीकार करेंगे, तो ही किसी प्रकार मिलन सम्भव होगा, अन्यथा नहीं। तुम भी यथा–अवसर प्राप्त करके ही यहाँ आना। बहुत ज्यादा मत आना।"

इस प्रकार अभय ने उन दोनों को अनेक प्रकार से शिक्षा दी और उन दोनों ने भी वह सभी अवधारण कर लीं।

पुनः दूसरे दिन भी राजा उसी गवाक्ष के पास से होकर निकला। उन दोनों के द्वारा भी कटाक्ष आदि पाँच काम बाणों के द्वारा तथा विविध विधानों से विशद रीति से उसे बींधकर जर्जर कर दिया। वह विषय काम–अवस्था में गिरता हुआ सोचने लगा–"देवियों से भी ज्यादा अनुपम रूपवाली और चातुर्य से युक्त दोनों किसी भी प्रकार से हाथ में आ जाये, तो अच्छा हो।"

इस प्रकार प्रतिक्षण अनुताप से तप्त होते हुए महल में आ गया। सोचने लगा–"अगर कोई निपुणा, असर को जाननेवाली, वचन में कुशल दूती किसी भी बहाने से इन दोनों के पास जायें, इनके आशय का पता चलें, तो किसी प्रकार मनोरथ की पूर्ति हो सकती है।" फिर उसने एक चपल दूती को बुलाकर सारी बातें समझायी।

दूती ने कहा–"स्वामी! यह महा–विषम कार्य है, क्योंकि अपरिचित श्रेष्ठी के घर पर जाना अति–दुष्कर कार्य है। उसके भी ऊपर उसके घर की बातों को जानना तो अति दुष्कर कार्य है। आपने ऐसे विषम कार्य को करने के लिए आदेश दिया है। फिर भी आपके चरणों की कृपा से तथा अपने चातुर्य की स्फुरणा के द्वारा आपके आदेश के अनुरूप उनकी सभी खोज–खबर लेकर आपको निवेदन करूँगी, तब आप मेरे प्रणाम को स्वीकार करना।"

यह कहकर दूती राजा के पास से चली गयी। राजा के कहे हुए चतुष्पथ पर आकर चारों ओर अच्छी तरह से देखा। बाद में वहाँ रहनेवाले लोगों से पूछा–"यह झरोखों की कतार किसकी है? यहाँ कौन रहता है?"

तब उन्होंने कहा–"इस महा–आवास का दरवाजा तो पश्चिम दिशा में अमुक पाटक में खुलता है। इसमें निवास करनेवाला कोई विदेशी श्रेष्ठी है। वह दाता, भोक्ता तथा एक–मात्र परोपकार में रत रहनेवाला श्रेष्ठी छः मास से भी पहले से यहाँ आकर रह रहा है। उसके सौजन्य के बारे में क्या कहा जाये? उसका बहुत बड़ा परिवार से युक्त भवन है। उनके मध्य उस श्रेष्ठी की आज्ञा से ही कोई रह सकेगा, पर विस्तार से कुछ भी नहीं जाना जा सकता है। ये झरोखों की कतारें तो अधिकतर बंद ही देखी जाती हैं। कोई भी इन झरोखों में नहीं बैठता है।"

यह सुनकर दूती सोचने लगी–"कोई खास खबर तो हाथ में नहीं आयी। अगर घर के मुख्य द्वार की ओर जाऊँ, तो शायद कुछ हाथ लगे।"

इस प्रकार विचार करके लौटकर धीरे–धीरे खोज खबर करते हुए उस घर के मुख्य द्वार पर पहुँची। वहाँ तो राज–दरबार की तरह अनेकों नगर–जनों तथा सेवकों से रुद्ध द्वार को देखकर पास के घर में कुछ जान–पहचान निकालकर उसके साथ बात–चीत करते हुए पूछा–"हे! इस महा–आवास में कौन रहता है?"

उसने उत्तर दिया–"दूर देश से आया हुआ श्रेष्ठी रहता है। सर्व गुणों से सम्पन्न, श्रेष्ठियों में शिरोमणि, परोपकार में रसिक ऐसा कोई भी आज तक नहीं दिखा, जैसा यह है।"

पुनः दूती ने पूछा–"इसका अन्तःपुर साथ में है या नहीं?"

उसने कहा –"है, पर किसी को भी अन्दर जाने की अनुमति नहीं हैं। मैं तो श्रेष्ठी के पास सैकड़ों बार जाता हूँ, पर अन्तःपुर में कभी नहीं गया। उसके देश का यही रिवाज है। अत्यधिक रूप–लक्षणवाली तथा अत्यधिक प्रीतिवाली स्त्रियाँ तो कभी प्रवेश को प्राप्त हो सकती हैं, पर पुरुष तो कभी भी नहीं। इस श्रेष्ठी को यहाँ रहते हुए छः मास से कुछ ही समय अधिक हुआ है, पर मेरी पत्नी भी एक–दो बार ही अन्दर जा पायी है।"

इस प्रकार सारी बातें प्राप्त करके दूती ने राजा के पास जाकर कहा–"स्वामी! यह कार्य महा–कष्ट से साध्य है और उसमें भी भजना है कि कार्य सफल होगा या नहीं? आपके आदेश को पूर्ण करने की मैंने प्रतिज्ञा की है। अतः मेरे से जितना होगा, उतना तो मैं करने की कोशिश करूँगी, आगे तो

आपका भाग्य–बल ही काम करेगा।"

राजा ने कहा–"मेरा तो भाग्य है ही, क्योंकि उन दोनों की राग भरी दृष्टि से ऐसा अनुमान होता है। अतः तुम पुरुषार्थ करो। जरूर प्रयत्न सफल होगा।"

दूती ने कहा–"जो आपने कहा, वह तो सत्य ही है, पर वहाँ प्रवेश करना अति–दुष्कर है। वणिक जाति अत्यन्त विचक्षण होती है। उसे ठगना बहुत दुष्कर है। पर पुरुषार्थ में कुछ भी कमी नहीं रखूंगी।"

इस प्रकार कहकर दूती अपने घर आ गयी। सोचने लगी कि राजा के आगे मैंने प्रतिज्ञा तो कर ली, पर बिना जान–पहचानवाले घर में किस उपाय से प्रवेश प्राप्त होगा? इस प्रकार चिंता के समुद्र में डूब गयी। तीन दिन बीत जाने के बाद राजा के पास आकर अन्तःपुर की चार सखियाँ और पाँच पुरुष माँगे। उन्हें लेकर अपने घर में आकर एक विशाल बर्तन में सुख से खाये जानेवाले विविध द्राक्षा, अखरोट, बादाम, सीताफल, नारियल के टुकड़े आदि की महान राशि के ढ़ेर से थालों को भरकर, अति अद्भुत चीनांशुक (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा) से ढ़ककर, एक श्रेष्ठ तरुणी के हाथ में पकड़ाकर स्वयं महत्तरा बनकर गीत गाती हुई, आगे–पीछे राजपुरुषों से घिरी हुई श्रेष्ठी के घर को प्राप्त होती हुई अन्तःपुर के द्वार के पास पहुँची। वहाँ अन्तःपुर के द्वार रक्षकों ने पूछा–"यह क्या है?"

तब उस दूती ने आगे आकर कहा–"कल राजा के कुल–क्रम से आयी हुई कुलदेवी का महोत्सव था। आज उस देवी के प्रसाद का विभाजन किया जा रहा है। अतः राजा ने अत्यन्त प्रीतिपूर्वक श्रेष्ठी के घर में प्रसाद भेजा है। राजा ने कहा कि श्रेष्ठी के अन्तःपुर में जाकर सेठानी के हाथ में ही देना। अतः हम लोग तो देने के लिए ही आये हैं।"

तब द्वारपालों ने कहा–"श्रेष्ठी की आज्ञा के बिना हम आपको प्रवेश नहीं करने देंगे। पर आप तो राज–कर्मचारी है, अतः श्रेष्ठी से पूछकर हम आपको प्रवेश की इजाजत देंगे। अतः आप कुछ समय तक यहीं रुकें।"

इस प्रकार कहकर एक सेवक ने श्रेष्ठी के पास जाकर सम्पूर्ण बात कही। उसने कहा कि उन राज–कर्मचारियों से कहना कि श्रीमान राजाजी ने महती कृपा की, पर एक मुख्य सखी को ही अन्दर जाने की अनुमति दी जाती है। पर सत्कार तो उन सभी का करना। उन्हें कहना कि यही हमारे कुल की रीति है। श्रेष्ठी के कहे हुए कथन को सेवक ने जाकर उन्हें निवेदन कर दिया कि आप लोगों के मध्य से एक ही जन अन्दर अन्तःपुर में जा सकता है–यह श्रेष्ठी का आदेश है। तब वह दूती स्वयं थाल लेकर अन्तःपुर में चली गयी। दूर

से ही उनके रूप को देखकर चमत्कृत होती हुई मन में विचार करने लगी–"अहो! इनका स्वरूप, चातुर्य, लावण्य ही है, जिससे राजा विभ्रम में पड़ गया है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इन दोनों के हाव–भाव को देखकर कौन मुनीन्द्र अथवा मूर्खेन्द्र स्थिर–चित्त रह सकता है?"

इस प्रकार मन ही मन विचार करते हुए उन दोनों के पास जाकर थाल उनके आगे रखकर प्रणाम करके शिष्टाचारपूर्वक दूती कहने लगी–"भाग्यनिधि! राजा ने स्वयं देव–पूजा–महोत्सव का प्रसाद अति प्रसन्नतापूर्वक आपको भेजा है तथा आप दोनों की कुशलता पूछी है। आपके घर के स्वामी पर वे अति प्रसन्न हैं। अत्यधिक प्रेमभाव उन पर धारण करते हैं। "जो गृहपति इस प्रकार का है, उनकी गृहिणियाँ भी वैसी ही होंगी। अतः बहुमानपूर्वक उनके सुख विषयक प्रश्न पूछना।" इस प्रकार राजा ने अपने श्रीमुख से आपको मेरे साथ कहलवाया है।"

यह सुनकर पूर्व में शिक्षा दी हुई वे दोनों थोड़ा मुस्करा कर बोलीं–"आपने जो कहा, वह बिल्कुल सत्य है। राजा की कृपा से प्रजा का सुख होता है। पर पुरुष–प्रधान व्यवहार होता है, तो पुरुषों को अधीन करके प्रशस्ति–वाक्य का कथन आश्वासनकारी होता है। आपने जो कहा कि "राजा ने आप दोनों का सुख–प्रश्न पूछा है" वह तो सर्वत्र अवसरोचित प्रिय ही कहना चाहिए–यह तो आपकी नीति–निपुणता का वाक्–चातुर्य है, क्योंकि हम कहाँ और राजा कहाँ? थोड़ी बहुत भी पहचान होवे, तो पहले परस्पर मिलन होवे, उसके बाद आपस में प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप होता हैं, तब कहीं जाकर संदेश आदि कहना संभव होता है, अन्यथा नहीं। हम दोनों ने तो कभी राजा के दर्शन भी नहीं किये, तो फिर सुख–विषयक प्रश्न की सम्भावना भी कहाँ से हो?"

इस प्रकार उन दोनों के कथन को सुनकर थोडा मुस्कुराते हुए दूती ने इधर–उधर देखकर एकान्त का अवलोकन करके उन दोनों के कान के पास जाकर कहा–"बहुत अच्छा–बहुत अच्छा! साहुकार की बहुएँ होकर इस प्रकार अत्यन्त अपलाप करेंगी, तो फिर सत्य स्थिति कैसे प्रकट होगी? उस बिचारे राजा को कटाक्षों के विभ्रम में डालकर मन–वचन–काया आदि सर्वस्व लुटकर अपने अधीन करके अब उसके सम्पूर्ण अपलाप का चातुर्य क्यों दिखाती हो? खरगोश के चौथा पाँव नहीं होता–यह क्या बालक को समझा रही हो? मुझे तो सब कुछ पता है। प्रसूति करानेवाली के आगे पेट को कितनी देर छिपाया जा सकता है? जिस दिन से आप दोनों के दर्शन हुए है, उसी दिन से ही खाना, पीना, सोना, निद्रा आदि सभी का त्याग करके लक्ष्यप्रिय योगी की तरह सर्वदा राजा उदास रहते हैं। तुम दोनों का ही ध्यान करते हैं। आगे–पीछे, ऊपर–नीचे,

अगल–बगल सभी जगह आप दोनों को देखते है, अन्य कुछ भी नहीं। इस प्रकार के दुःख से पीड़ित उनके कुम्हलाये हुए मुख को देखकर मैंने अति–आग्रह से कारण पूछा, क्योंकि मैं उनके हृदय के रहस्य को जाननेवाली परिचारिका हूँ। तब उन्होंने मेरे आगे दिल में रहा हुआ सारा दुःख निवेदन किया। यह सुनकर मैं भी उनके दुःख में सहभागिनि बन गयी हूँ – इस प्रकार की स्व–अवस्था को अनुभव किया। तो फिर क्या आपके मन में कुछ भी नहीं? अहो! उसके प्रेम की आर्द्रता! अहो! आप दोनों के हृदय की कठोरता! चौदह मुकुट–बद्ध राजाओं का अधिराज होते हुए भी इस प्रकार राग–आसक्त होकर आप दोनों की स्पृहा करता है। अतः उसके दुःख को न सह सकने के कारण मैंने बुद्धि बल से आपके दर्शन के लिए इन कारणों को इकट्ठा करके महा–प्रयासपूर्वक यह कार्य किया है। अतः आप दोनों हृदय को आर्द्र करके मेरे कथन को हृदय में धारण करो। जो जिसका स्मरण करता है, वह भी उसे अवश्य ही स्मरण करता है। इस प्रकार सज्जन प्रवृत्तिवाला घोड़ा दौड़ता है, पर दुर्जन अश्व का घुड़सवार दुर्जन अश्व की प्रवृत्ति को नहीं जानता है। अतः कृपा करके उसके मनोरथ को पूर्ण करें। उसके तो मन–वचन–काय–धन–जीवन आदि से भी अधिक आप दोनों ही हैं। जिस प्रकार के ध्यान की एकाग्रता उसकी आप दोनों पर है, उतनी एकाग्रता यदि अध्यात्म की कामना के द्वारा ईश्वर पर होती, तो मुक्ति भी दुर्लभ न होती। अतः ज्यादा क्या कहूँ? मेरे आगमन को सफल बनाने में आप दोनों समर्थ हैं।"

इस प्रकार दूती के कहे हुए वचनों को सुनकर उन दोनों ने दीर्घ निःश्वास लेते हुए कहा–"बहन! क्या किया जाये? हम दोनों पर तो साँप के द्वारा निगली हुई छछुन्दरी की तरह आफत आ पड़ी है। हम दोनों श्रेष्ठ इभ्य के घर में पैदा हुई और महा–इभ्य के घर में परणायी गयी। पूर्व में किसी ने भी इनके कुल में ऐसा कार्य स्वप्न में भी नहीं किया। हम दोनों ने भी आज तक प्राणनाथ के सिवाय किसी दूसरे पुरुष को नहीं देखा। किसी के साथ बात–चीत तक नहीं की। हम दोनों के पति तो धर्म व नीति–मार्ग के अलावा कुछ भी नहीं जानते। हमारे घर में दास–दासी आदि कोई भी धर्म–नीति के विरुद्ध बोलने में भी समर्थ नहीं है, करना तो दूर की बात है। आज तक घर के दरवाजे को छोड़कर बाहर पाँव तक नहीं रखा है। रथ से उतरकर सीधे घर में प्रविष्ट हुई हैं। जब अन्न–पानी का सम्बन्ध पूर्ण होने पर हमारे स्वामी घर जाने के लिए उद्यत होंगे, तो हम भी यहाँ से चली जायेगी।

और भी, हमारे घर में एक जरा से जर्जर कुलवृद्धा बुढ़िया है। वह तो क्षण–मात्र भी हमारा साथ नहीं छोड़ती है। प्रतिक्षण धर्म का अनुसरण करने की

शिक्षा देती रहती है। किन्हीं शुभ शकुनों से प्रेरित होकर ही आप इस समय हमारे यहाँ पधारी हैं, क्योंकि आज हमारे स्वामी के द्वारा उसे लोक–व्यवहार को निभाने के लिए किसी अति परिचित के घर पर भेजा गया है। इसी कारण आपकी और हमारी बात–चीत इतने विस्तार से और खुले रूप में हो पायी है। अगर वह घर पर होती, तो इतनी बातें कैसे हो पातीं? हम इस प्रकार की स्थितिवाले घर में रहती हैं।

इसी प्रकार एक दिन दैव–योग से मध्याह्न के समय एकान्त में इधर–उधर घूमते हुए भवन के पिछले भाग में हम पहुँच गयीं। वह बुढ़िया तो घर के कामों में लगी हुई थी। उसी समय महाराज की सवारी निकली। तब घोड़ों आदि के शब्द सुनकर उन्हें देखने की इच्छा से गवाक्ष के द्वार खोलकर परदे को हटाकर हम देखने के लिए प्रवृत्त हुईं। अगर वह होती, तो देखने नहीं देती। पर एकान्त होने से हम अपनी इच्छा से अच्छी तरह देखने में सफल हो पायीं। उस समय हाथी पर आरूढ़ महाराज गवाक्ष के समीप से निकले। तब हमारा और महाराज का दृष्टि–मिलन हुआ। तब किन्हीं पूर्वकृत कर्मों के उदय के कारण कोई अनिर्वचनीय जो राग उत्पन्न हुआ, उसे या तो हमारा मन जानता है या फिर ज्ञानी ही जानते हैं। राजा के द्वारा भी वैसी ही अनिमेष दृष्टि तब तक हमारे ऊपर रही, जब तक वे उस पथ से ओझल नहीं हुए। फिर मार्ग मुड़ जाने से वे दृष्टि–पथ से ओझल हो गये। तब उनके विरह से हमें जो दुःख उत्पन्न हुआ है, वह कहने में भी हम शक्य नहीं हैं। कौन जानता है कि किस जन्म में बाँधा हुआ दृढ़तर राग इस भव में उदित हुआ है? जो कि क्षण भर के लिए भी हृदय से दूर नहीं जाता।

पुनः दूसरे दिन भी दर्शन हुए, तब तो दूध में सीताफल के डालने के समान दर्शन से अति–सुख का अनुभव हुआ। पुनः पूर्ववत् वियोग हो जाने से हरे घाव में नमक डालने से होनेवाली पीड़ा से भी ज्यादा पीड़ा समुत्पन्न हुई। तब जाने–माने चोर के मरने से उसकी माता के दुःख के समान किसके आगे कहा जाये। इस प्रकार उसी रोज से ही सरसों जितना दुःख भी पर्वत के तुल्य प्रतीत होता है।

उस दुःख को कम करने के लिए हम प्रतिदिन अपनी आत्मा को ही शिक्षा देते हैं कि 'हे जीव! तुम व्यर्थ ही क्यों आशा करते हो? स्वर्ग में रहे हुए कल्पवृक्ष के फल की इच्छा की तरह सब निष्फल है। कहाँ तुम और कहाँ राजा? किस उपाय से तुम्हारा मिलन होगा? तुम तो जाति, कुल, स्वामी, घर, लोक तथा वृद्धा आदि के भय के संकट में गिर गयी हो। वह राजा भी विषम लोक–राजनीति

का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। तो फिर कैसे मिलना सम्भव है? और भी, अगर इस लोक में अति गुप्त पाप किया जाये, तो अति दुर्गन्ध–युक्त लहसुन आदि के गुप्त भक्षण करने से उसके दुर्गन्ध आदि लक्षण से वह उजागर हो जाता हैं, तो घर के स्वामी द्वारा घर से निकाला जाना, लोक–निन्दा का पात्र बनना आदि अनेक दुःखों का समूह तुझ पर आ पड़ेगा। परलोक में तो कुम्भी में पकने की पीड़ा, तपी हुई लोहे के पुतली से आलिंगन, खून से सनी हुई उबलती हुई वैतरणी नदी में पार उतरना, छेदन–भेदन–ताड़न–तर्जन आदि अनेक प्रकार से नरकपाल आदि के द्वारा की हुई अवचनीय पीड़ा को सहन करना पड़ेगा। क्षण–मात्र भी विराम किये बिना क्षुधा आदि दस प्रकार की वेदना को अवश्य ही सहन करना पड़ेगा। वहाँ कोई भी इस दुःख से छुटकारा दिलानेवाला नहीं है।

वहाँ से भी निगोद में जो अनन्त दुःख हैं, वे तो वचनों से ही अतीत हैं। इस प्रकार के दुःखों के समूह को क्षण–मात्र सुख के लिए कौन अज्ञ स्वीकार करेगा?' इस प्रकार हे भगिनि! हमने अपनी आत्मा को शिक्षा दी, फिर भी यह मन राजा से विरत न हुआ। पुनः सवारी के समय बाजे आदि की ध्वनि को सुनकर मन उन्हें देखने के लिए मचलने लगा। पर क्या किया जाये? मध्य में रही हुई सूई की तरह विकल्प–कल्पना रूपी कल्लोल की कदर्थना से हम क्लेश का अनुभव करते हैं। अतः हमारा आना तो नहीं ही हो सकता। इसलिए हे भगिनि! तुम्हारे मन में दूसरी कोई युक्ति उत्पन्न होती हो, तो बताओ। जिससे हमारा मनोरथ और तुम्हारा आगमन सफल हो जाये।"

इस प्रकार के उन दोनों के कथन को सुनकर स्वभाव से जड़ता को प्राप्त होती हुई वह बोलने में भी समर्थ नहीं हुई। पुनः प्रेरित किये जाने पर वह बोली–"हे स्वामिनि! मैं क्या बोलूँ? राजा के आगे बीड़े का स्पर्श करके मैं आयी हूँ। यहाँ तो ऐसी विषम परिस्थिति है। अतः मैं तो इधर व्याघ्र और इधर नदी के संकट में गिर गयी हूँ। अब तो आप दोनों के ही हाथ में मेरी लाज है। चाहे रक्षा करो और चाहे डुबा दो। शास्त्र में भी चार प्रकार की बातें असीम कही गयी है। और भी, कहा है–

अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः?।।

घोड़े का उछलना, वैशाख में बादल का गरजना, स्त्रियों का चरित्र तथा पुरुष का भाग्य–इनका न बरसना अथवा अति बरसना देव भी नही जानते, तो मनुष्य की तो बात ही क्या?"

इत्यादि अनेक बातें कहीं। अतः आप दोनों को जो उचित लगे, वही सत्य है। आप दोनों के आगे मैं क्या?"

इस प्रकार दूती के वचनों को सुनकर वे दोनों भी बोली–"हे सखी! यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हम दोनों तो घर के बाहर पग रखने में भी समर्थ नहीं हैं। पिंजरे में रहे हुए तोते की तरह हम रहती हैं। सभी मर्यादा पालनी पड़ती है। अतः कोई भी उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे मन–चिन्तित सफल होवे। पर एक उपाय अगर भाग्योदय से सफल होवे, तो उनका योग मिल सकता है। इस नगर से पन्द्रह योजन दूर अमुक देव का तीर्थ है। वहाँ हमारे स्वामी ने किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहले बाधा ली थी, वह कार्य सफल हो गया है। अतः 15–20 दिनों के बाद स्वामी वृद्धों के साथ वहाँ जाने की इच्छा रखते हैं। वे अगर वहाँ जाते हैं, तो अवसर है। तो भी हम दोनों तो महल में नहीं आ सकतीं, क्योकि पुराने विश्वसनीय सेवक तो किसी के भी घर में प्रवेश नहीं करने देंगे। हम तो कभी भी घर से बाहर कदम ही नहीं रखतीं। पर इस महा–मन्दिर में एक गुप्त ढ़का हुआ द्वार है। उस द्वार के ताले की चाबी हमारे पास है। यदि राजा सामान्य वणिक के वेश में अकेले ही आए, तो चिन्तित सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। आज के बाद आप भी हमारे पास मत आना, क्योंकि हमारे स्वामी और वृद्धा को महा–शंका होगी। पर इन घर के दास–दासियों के मध्य हमारे हृदय का हरण करनेवाली प्रियंवदा नामक एक प्रिय सखी है। वह गम्भीरता के साथ गुप्त बात को अत्यन्त छिपाकर रखती है। प्राणान्त कष्ट आ जाने पर भी किसी से नहीं कहती। अतः यथावसर हम उसे आपके पास भेज देंगी। वह सब कुछ विशद रीति से आपको समझा देगी और आप राजा से निवेदन कर देना। यथायोग्य निपुणता के द्वारा राजा यहाँ एकाकी रूप में गुप्तद्वार से होकर आयेंगे, तो राजा का और हम दोनों का इच्छित पूर्ण होगा, तो हम भी यथायोग्य सेवा करेंगी। पर यह बात राजा के अलावा अन्य किसी से भी न कहना। आप तो सर्व–रीति से कुशल हैं। अतः इससे ज़्यादा कहना अनुचित ही है। पर हमारी परतन्त्रता अत्यधिक है, उसी भय से पुनः–पुनः कह रही हैं। ज्यादा क्या कहें? हमारी लाज आपके हाथ में है। अतः कोई भी न जान पाये, उसी तरह से सब कुछ करना।"

इस प्रकार कहकर श्रेष्ठी की अनुज्ञापूर्वक उसके साथ अधिकतर वस्त्र–धनादि दिये। बाहर रहे हुए अन्य दास–दासियों को भी यथायोग्य चिन्तित से भी अधिक देकर भेजा। वे सभी प्रसन्न होकर गये।

दूती भी हर्षित होती हुई मार्ग में विचारने लगी–"मेरे भाग्योदय से ही

यह कार्य मेरे हाथ आया। कार्य सम्पन्न हो जाने पर राजा मुझ पर महा–कृपा करेंगे। ये दोनों भी महा–इभ्य की स्त्रियाँ हैं। अतः हर्षपूर्वक मुझे अतीव धन प्रदान करेंगी।"

फिर राजा के पास जाकर दूती ने कहा–"स्वामी! मैंने आपके आदेश की सिद्धि के लिए महा–प्रयत्न व महा–प्रयासपूर्वक कार्य प्रायः करके सिद्ध कर लिया है। पर वे दोनों तो यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। मैं भी उनके घर पर अत्यधिक प्रयत्न के द्वारा ही जाने में समर्थ हो पायी हूँ। राजा के अन्तःपुर से भी ज्यादा विषम स्थितिवाले उनके घर से उनका निकलना अशक्य है। पर मैंने आपकी सेवाकारिता से तथा आपके पुण्यबल से वचन–रचना करके आपके विषय में उनके मन में गाढ़ अनुराग पैदा कर दिया हैं। आपके द्वारा सामान्य वेश में एकाकी जाने पर ही कार्य की सिद्धि होगी और वह मैं आपको अवसर आने पर बता दूँगी। उन दोनों के रूप लावण्य, चातुर्य और सौभाग्य के बारे में जो आपने वर्णन किया था, उससे कहीं अधिक ही मैंने पाया। इन दोनों को देखकर कौन मोहित नहीं होगा? आपके पुण्य–बल से ही कार्य हुआ हैं।"

दूती के इस प्रकार के वचनों को सुनकर हर्षित होते हुए राजा उसको बोला–"हे विदुषी! मैं तुम्हारे वचन–कौशल्य को जानता हूँ। मेरे द्वारा भी इस प्रकार से जानकर ही तुमको भेजा गया था।"

इस प्रकार कहकर अत्यधिक धन–वस्त्रादि देकर उसे विसर्जित किया। राजा भी उस दिन से ही आशा रूपी गर्दभी के पाश में पड़ता हुआ महा अनर्थकारी मनोरथों को करता हुआ कल्पना–जाल में गिरते हुए मन से उग्र कर्म–बन्ध को रचने लगा।

अब उन दोनों ने वह सारी बातें अभय को बतायीं। श्रेष्ठी अभय ने भी दूसरे दिन सभी महा–इभ्य व्यापारियों को बुलाकर कहा–"मुझे जो भ्रातृ–दुःख है, वह सब तो आपको विदित ही है। अनेकों औषध–मंत्रादि से भी वह स्वस्थ नहीं हुआ। एक बार हमारे घर पर भिक्षा के लिए दूर देश से एक विद्वान अतिथि पधारे। उपकार में रसिक वे मेरे दुःख को देखकर कहने लगे कि आप व्यर्थ ही क्यों प्रयत्न करते हैं? यह तो किसी दुष्ट देव से अधिष्ठित हैं। अतः किसी भी उपाय से ठीक नहीं होगा। पर अगर तुम्हारी इच्छा इसे ठीक करने की है, तो तुम अमुक तीर्थ में जाओ। वहाँ आशापुरी नामकी देवी है। उसके देवालय के सामने सर्व दोषों का नाश करनेवाला सर्वापद्धर नामक सरोवर है। वहाँ 29 दिनों तक स्नान कराकर देवी का पूजन कराओ जिससे सभी दोष नष्ट हो जायेंगे।

इस प्रकार के उनके वचनों को सुनकर मैंने एक महीने के अन्दर वहाँ

जाने की विषम प्रतिज्ञा ग्रहण कर रखी है। अतः अब मुझे वहाँ शीघ्र ही जाना होगा। वहाँ आने–जाने में मुझे तीन–चार मास लग जायेंगे। अतः सभी लोग मुझसे बाकी रहा हुआ लेन–देन पूरा कर लेवें।"

तब सभी महेभ्य कहने लगे–"हे श्रेष्ठी! आप सुखपूर्वक वहाँ जायें। देवता की आराधना करके और कुण्ड में स्नान कराके अपने भ्राता के दोष का निवारण करें। आपके भाई के ठीक हो जाने से हमें बड़ा हर्ष होगा, क्योंकि हम आपके भ्राता की दुःख–विडम्बना को देखने में समर्थ नहीं है। आप जैसे महापुरुषों का इस प्रकार की विडम्बना में पड़ना युक्त भी नहीं है। हम लोग तो प्रतिदिन आशीष ही देंगे कि श्रेष्ठी की यह विडम्बना दूर हो जाये। हमें लाभ की चिंता नहीं है, क्योंकि आपके पास रहा हुआ हमारा लभ्य हमारे घर में रहने के तुल्य ही है। हम तो आपके गुणों के द्वारा खरीदे जा चुके हैं। अतः आप तो वहाँ जाकर इष्ट–कार्य की सिद्धि करके शीघ्र ही यहाँ आयें, जिससे आपको और हम सभी को अत्यधिक खुशी हो।"

महेभ्यों के इस प्रकार के वचनों को सुनकर पुनः श्रेष्ठी ने कहा–"हे सज्जन भाइयों! मुझे मन, वचन, काया से विश्वास है कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्व सत्य ही है। आप सभी मेरे शुभचिन्तक हैं। आप लोगों के शुभ चिंतन से मेरा कार्य निर्विघ्न पूर्ण होगा। पर यह तो व्यवहार है। किसी का भी ऋण नहीं रखना चाहिए। जगत में ऋण के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। ग्रामान्तर जाने के समय तो विशेष रूप से किसी का भी ऋण नहीं रखना चाहिए, क्योंकि काल की संकलना को कोई नहीं जानता है। कल क्या होगा–कौन जानता है? काया अस्थिर है। चमकती हुई बिजली की तरह जीवन भी चंचल है। आयुष्य के समाप्त हो जाने पर तो भवान्तर में यह ऋण दस गुणा, सौ गुणा, हजार गुणा और उससे भी अधिक चुकाना पड़ता है। इसलिए अपना–अपना लभ्य लेकर ही आप लोग जायें। मेरे कार्य–सिद्धि करके आने पर पुनः वैसा ही होगा।"

इस प्रकार अनुशासित उपदेशपूर्वक सभी का देय देकर वह निश्चिन्त हो गया। वे भी अपना–अपना लक्ष्य लेकर श्रेष्ठी की प्रशंसा करते हुए अपने–अपने घर चले गये। सभी नगर में यह विदित हो गया कि अमुक दिन श्रेष्ठी बाहर निकलेगा और अमुक दिन रवाना होगा।

उसके बाद श्रेष्ठी ने मुहूर्त्त के दिन नगर के बाहर उद्यान में शिविर लगवाये। रथ, गाड़ियाँ, ऊँट आदि वहाँ इकट्ठे किये। उनकी देख–रेख के लिए सेवक रखे। वह कपट से बनाया हुआ पागल भाई भी वहाँ रखा गया। प्रतिदिन श्रेष्ठी वहाँ जाता, कुछ समय तक वहीं रुककर वापस आ जाता। पूर्वोक्त जैसे–तैसे

वचनों के रूप में प्रलाप करता था। अनेक प्रकार की पागलपन की क्रियाओं को करता था। दो–तीन घड़ी के बाद श्रेष्ठी भी सेवकों के द्वारा खाट उठवाकर दौड़ता हुआ पीछे से आता था। पूर्व की तरह ही अति कष्टपूर्वक खाट पर आरोपित करके तथा बाँधकर "मैं देश का अधिपति तुम्हारा प्रद्योत राजा हूँ। मुझे यह अभय ग्रहण करके ले जा रहा है। आप लोग मुझे क्यों नहीं छुड़वाते हैं?" इस प्रकार बोलते हुए को पकड़वाकर श्रेष्ठी ग्राम से बाहर चला जाता था।

तब दुकानों पर स्थित लोग कहते थे–"इस विडम्बना से विडम्बित श्रेष्ठी तीर्थ के लिए जानेवाला है। रोज इस प्रकार की विडम्बना को कौन सहन कर सकता है? धन्य है यह श्रेष्ठी! धन्य है इसका स्नेह! जो नित्य ही इस प्रकार निर्वाह करता है।"

इस प्रकार की बातें सुनते हुए रोज श्रेष्ठी आता था, जाता था, पर अब कोई भी न तो उठता था, न उसके पीछे–पीछे आता था। जब कोई कुछ भी बोलता था, तो दूसरा बोलता था–" इसमें आश्चर्य ही क्या है? यह रोज की क्रिया तो सभी नागरिकों को विदित ही है। पूर्वकृत कर्मों के विपाक को ही भोगता है। मन को स्थिर रखकर मौनपूर्वक अपना–अपना कार्य करो।"

इस प्रकार करते हुए एक रात्रि के बाद प्रयाण का दिवस आ गया। तब उन दोनों के द्वारा उनकी प्रिय सखी दूती के घर भेजी गयी। उसने भी वहाँ जाकर कहा–"कल पहली चार घड़ियों के अन्दर हमारे स्वामी प्रयाण करेंगे। सभी बाह्य व आभ्यन्तर रक्षक–जन कितनी ही दूर तक पहुँचाने के लिए जायेंगे। वे पिछले प्रहर में पुनः आ जायेंगे। अतः प्रभात में एक प्रहर दिन चढ़ जाने पर राजा सामन्य वणिक के वेश में अकेले ही आ जायें। मैं फिर से आमंत्रण के लिए आऊँगी। आगे–आगे कुछ दूरी पर चलूँगी। तब मेरे पीछे–पीछे राजा भी जिस प्रकार से कोई न जान पाये, उस प्रकार से सिर पर वस्त्र डालकर उस एकान्त में रहे हुए दरवाजे पर आ जायेंगे। मन–इच्छित अनेक मनोरथ सफल होंगे। अतः मुझे राजा के समीप ले जाओ, जिससे मैं उन्हें अब कुछ निवेदन कर दूँ।

उसके इस प्रकार कहने पर दूती प्रसन्नतापूर्वक उसे राजा के समीप ले गयी। उसने भी राजा से सभी निवेदन कर दिया। यह सुनकर प्रसन्न होते हुए राजा ने वस्त्र–आभूषण आदि गुप्त रूप से देकर उसे विसर्जित किया। विसर्जन के अवसर पर उसने पुनः कहा–"वे दोनों कदाचित् जीवापन करें, तो किसी के आगे नहीं कहें। वे दोनों, मैं, आप और ये–इस तरह पाँच जनें इस वार्ता को जानते हैं, छट्ठा कोई भी नहीं।"

राजा ने कहा–"तुम किसी बात की चिंता मत करो। मैं वैसा ही करूँगा।"

दूसरे दिन श्रेष्ठी ने घर के अन्दर चारों और छिपे हुए सैनिक रखे। स्वयं तो महा–आवासवाले चतुष्पथ में चला गया। द्वार पर रहकर विदाई के निमित्त महा–इभ्यों के द्वारा दिये जाते हुए श्रीफल, रूपये आदि को ग्रहण करने लगा। याचकों को यथायोग्य दान देने लगा। इस प्रकार दिन के एक प्रहर के बीत जाने के बाद उन दोनों ने प्रिय सखी को सङ्केतित प्रदेश में राजा के आमंत्रण के लिए भेजा। राजा भी पहले से ही दूती द्वारा कहे हुए सामान्य वणिक के वेश को धारण करके उन दोनों के संयोग के मनोरथों को करता हुआ अकेला ही संकेतित स्थल पर उपस्थित था। उस सखी ने वहाँ जाकर दूर से ही भ्रू–संज्ञा के द्वारा बुलाया। राजा उसे देखते ही निर्जन–पथ पर निकल गया। वह आगे–आगे चलने लगी। सिंहावलोकन दृष्टि द्वारा देखते हुए जब घर का गुप्त दरवाजा आया, तो उसने ताली बजाकर संकेत दिया। पूर्व संकेतित उन दोनों ने भी द्वार खोल दिया। हर्ष व विनय के साथ राजा को अन्दर ले जाया गया। फिर उन दोनों ने कहा–"आइए स्वामी! आइए! प्राणनाथ! आज सभी मनोरथ साकार हुए। आज गंगा स्वयं हमारे घर पर आयी है। आज मोतियों की वर्षा हुई है, जो कि आपका समागन हुआ।"

इस प्रकार शिष्ट–वचनों के द्वारा तृप्त करके फिर हाथ पकड़कर बहुमानपूर्वक चित्रशाला में ले जाकर सामान्य पलंग पर बैठाया । उसके बाद अति उत्सुकता व चपलतापूर्वक घर के अन्दर जाकर उन दोनों ने गृहशाला के अन्दर जाकर संकेत से श्रेष्ठी को बताया कि कार्य हो गया है। यह बताकर पुनः चित्रशाला में जाकर खान–पान–ताम्बूलपत्र आदि उसके सामने रखा। फिर कुछ क्षणों तक बातें कीं। फिर घर के अन्दर जाकर कोई अद्भुत वस्तु लाकर उसके सामने रखकर हास्यादि वार्ता करने लगी। राजा तो उन दोनों का अति–आदर–भाव देखकर रागान्ध हो गया। दूसरा कुछ भी विचार नहीं किया।

इस प्रकार शिष्टाचार और हर्ष युक्त बातें करते हुए एक घटिका बीत जाने पर पूर्व में संकेतित पुरुष चारों और उपस्थित हो गये और कहने लगे–"हे गृह–स्वामिनियों! घर के अन्दर कौन है? किसके साथ आप हँस–हँस कर बातें कर रही हैं? श्रेष्ठी के जाते ही यह क्या कर रही हैं?"

इस प्रकार बोलते हुए चारों और से दौड़े। राजा को वहाँ देखकर उसे चारों ओर से घेरकर कहा–"हे दुष्ट! तुम कौन हो, जो मरने के लिए तैयार होकर हँसते हुए हमारे स्वामी के घर में आये हो? अब तुम्हारी क्या दशा होती है, वह देखो। बाँधो–बाँधो, इसे बाँधो।"

उनके ऐसे वचनों को सुनकर राजा दिशामूढ़ हो गया। कुछ भी उत्तर

देने में समर्थ नहीं हुआ। तब उन सेवकों के द्वारा खाट में बाँधकर कर्मकरों के द्वारा उठवाते हुए घर से बाहर निकाला। जब तक उसे इस हालत में गली के नुक्कड़ पर ले जाने लगे, तब तक अभय श्रेष्ठी महा–इभ्यों के साथ घिरा हुआ, हजारों नागरिकों से परिवेष्टित, आगे–आगे पंचम स्वर में वादिंत्रों के बजाये जाते हुए, बंदीजनों के द्वारा विरुदावलि गाये जाते हुए, गायक–जनों के द्वारा उच्च स्वर में गाये जाते हुए– इतने लोगों के साथ वहाँ आया। गली के नुक्कड़ पर राजा श्रेष्ठी को देखकर विचार करने लगा – "यह क्या है? यह कौन–सा अवसर है"?

इस प्रकार विचार करते ही अभय कुमार की प्रतिज्ञा स्मृति–पथ पर आ गयी। "क्या यह सब कुछ अभय का तो विलास नहीं है?" इस प्रकार पुनः–पुनः विचार करते हुए श्रेष्ठी को अच्छी तरह से देखकर मन में निश्चित कर लिया है "यह तो अभय द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का पालन करने की क्रिया है। अहा! इसका बुद्धि–कौशल्य! कितनी दम्भ–रचना करके मुझे बाँधकर ले जाता है। अतः अब लज्जा करने से कार्य नष्ट होगा। इन नगर के लोगों को तथा सेवकों को बताता हूँ, जिससे ये लोग मुझे छुड़वायेंगे। उसके बाद जो होना है, वह हो जाये। इस दुर्बद्धि के द्वारा मैं चिल्लाये बिना नहीं छूट पाऊँगा।"

इस प्रकार विचार करके जोर से पुकारने लगा, तभी श्रेष्ठी आडम्बरपूर्वक चलने लगा। राजा बोलने लगा– "हे अमुक ग्रामाधिकारी! हे नगरजनों! मुझे छुड़वाओ। यह अभय मुझे पकड़कर ले जा रहा है। क्या देखते हो? मुझे छुड़वाओ। हे सामन्तों! क्या मुझे नहीं पहचानते हो? यह मुझे कपट से ग्रहण करके ले जा रहा है। मुझे छुड़वाओ।"

इस प्रकार बार–बार पूत्कार करता है, पर इस तरह की बातें नित्य ही प्रवाह की तरह कान में पड़ने से कोई भी इस बात को गम्भीरता से नहीं लेता। कितने ही लोग तो वादिंत्र आदि के वादन, बन्दी–जनों द्वारा विरुदावलि सुनने में तथा संगीत के श्रवण में व्यग्र होने से उसकी बातों को सुनते ही नहीं थे। कुछ लोग अत्यधिक कोलाहल होने से दिशाओं के बहरे हो जाने से कुछ भी सुन ही नहीं पा रहे थे। श्रेष्ठी ने तो सब के आगे कहा– "अहो! जल्दी से नगर के बाहर जाना चाहिए। आगे कुयोग का समय लग जायेगा।"

इस प्रकार कहकर शीघ्र ही नगर के बाहर निकल गया। खाट पर स्थित प्रद्योत ने अत्यधिक पूत्कार किया, पर नित्य की ही क्रिया को मानते हुए लोगों में से किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार नगर से कुछ दूर जाकर स्वयं लोगों को वापस भेजने का आदेश दिया– "तुम लोग इस खाट पर स्थित

भाई को लेकर त्वरित गति से दो घड़ी समय बीतने से पहले ही नगर की सीमा से बाहर निकल जाना, जिससे कुयोग न लगे।''

तब सेवक उस खाट को उठाकर दौड़ने लगे। श्रेष्ठी ने पुनः सभी लोगों के सामने कहा–''मैंने तो यह सब भाई के लिए ही किया है, अन्यथा कुछ नहीं है।''

सभी ने कहा– ''सत्य कहते हैं, हम तो जानते ही हैं। आप जैसा स्नेह–पात्र कौन है, जो नित्य परिश्रम के द्वारा औषध आदि अगणित उपायों को करे? अतः उस तीर्थ में जाकर देवता के प्रसाद से आप अपने इच्छित को अवश्य ही प्राप्त करेंगे।''

''ऐसा ही हो'' –इस प्रकार अन्य सभी ने भी आशीर्वाद दिया।

तब श्रेष्ठी ने वादिंत्र–वादकों, बन्दी–गायकों आदि को मुँहमाँगा इनाम देकर सभी महेभ्यों को परस्पर प्रणाम आदि विदाई–व्यवहार करके बहुत ही मुश्किल से उन्हें वापस भेजा। वे भी स्नेहाश्रुओं को बरसाते हुए उसके गुणों का वर्णन करते हुए पुनः पुनः मुड़–मुड़कर देखते हुए वापस लौट गये। श्रेष्ठी के भी स्व–इच्छित कार्य की सिद्धि हो गयी। वह हर्षपूर्वक रथ पर आरूढ़ होकर मार्ग पर चला। जब तक वह अपने सार्थ से मिला, तब तक पाँच योजन भूमि को वे उल्लांघ चुके थे। सार्थ से वह इस प्रकार मिला– योजन–आधे योजन की दूरी पर स्थान–स्थान पर पूर्व में संकेत किये हुए रथ, अश्व, सैनिक, ऊँट आदि रखे हुए थे, वहाँ–वहाँ वाहन और सैनिकों की अदला–बदली करते हुए अविच्छिन्न धारा से दौड़ते हुए जा रहे थे। थके हुए वाहन, सैनिक आदि वहीं पर रुके हुए थे और वहाँ रहकर वे उसके साथ आगे बढ़ रहे थे। इस रीति से मार्ग को अतिक्रमण करते हुए वह क्रम से सार्थ को प्राप्त हुआ। तब अभय ने सेवकों को आदेश दिया– ''खाट पर स्थापित राजा को बन्धन से मुक्त कर दो। एक बड़े रथ पर आरूढ़ करो। बहुत से घुड़सवारों के द्वारा चारों ओर से घेरकर चाटु वचन कहते हुए सुन्दर छत्र के द्वारा आतप का निवारण करते हुए कहीं भी स्खलना पाये बिना मार्ग का अतिक्रमण करो। जो–जो आदेश वे देते हैं, वह सभी विनयपूर्वक करते जाना। मैं भी पीछे–पीछे आ रहा हूँ।''

सेवकों को उस प्रकार से विनय आदि करते हुए देखकर आशय को जानते हुए भी प्रद्योत ने पूछा–''किसके आदेश से बन्धनों को अलग कर रहे हो? महारथ पर मुझे क्यों बैठाया जा रहा है?''

सेवकों ने कहा–''हमारे स्वामी के आदेश से।''

प्रद्योत ने पूछा–''तुम्हारे स्वामी कहाँ है?''

उन्होंने कहा–''वे आ रहे हैं। बहुत ज्यादा दूर नहीं हैं। आपको कुछ भी

कार्य हो, तो हमें आदेश प्रदान करें। हम सभी को अपना ही सेवक मानें।"

इस प्रकार बातें करते हुए और त्वरित गति से जाते हुए दिन के अस्त होने तक उन लोगों ने बीस योजन पार कर लिये। अभय ने भी आकर मौसाजी को प्रणाम करके कहा–"महाराज! मुझ बालक का प्रणाम स्वीकार कीजिए। मेरे द्वारा वचन–पालन के लिए किये गये इस अपराध को क्षमा करें। आप तो मेरे लिए पूज्य हैं। सेवा के योग्य हैं। आपके जिस अविनय के लिए मैं प्रवृत्त हुआ और आपकी महा–आशातना की, वह तो आप जैसे स्वर्ण तुल्य स्वामी के द्वारा क्षमा करने योग्य है। जो आप जैसे गम्भीर और बड़े लोग होते हैं, वे शिशु के अज्ञान से विलसित कार्य को देखकर कोप नहीं करते हैं, बल्कि उसका हित ही करते हैं। मैं बालक आपके सामने कितना मात्र हूँ? मैं तो आपके आदेश का गुलाम हूँ। जगत में मान–भंग किसी को प्रिय नहीं है, फिर अत्यधिक विशाल रूप में मान–भंग करना तो महा–दोषकारी है। पर क्या करूँ? आपने मुझे धर्म का छल करके ठगा था। जिन संसारी जीवों का जिस राग–द्वेषादि के द्वारा जिस दम्भ को रचा गया, उनके साथ स्व–बुद्धि के प्रपंच से वैसा ही करना चाहिए–यह नीतिशास्त्र में भी कहा गया है। पर एकमात्र धर्मछल को छोड़कर बाकी किसी भी रीति से प्रतिकार किया जा सकता है। अभिमान तो हर जगह प्राणियों के लिए वर्जित करने योग्य है। पर व्यवहार के निर्वाह के लिए किसी भी प्रकार से हो ही जाता है। वह लौकिक प्रपंच के द्वारा कर्त्तव्य बन जाता है, लोकोत्तर प्रपंच के द्वारा नहीं। लोकोत्तर दम्भ तो महान गुणवानों के गुणों का पतन करके उन्हें निगोद रूपी कैदखाने में डालता है। अतः मेरे द्वारा वही सब दिखाने के लिए बाल–चापल्य किया गया है।"

अभय के कथन को सुनकर प्रद्योत ने सिर हिलाकर मुस्कुराते हुए कहा–"हे अभय! तुमने जो कुछ भी कहा है, वह सत्य ही है और विधाता ने सद्बुद्धि व बुद्धि के पात्र के रूप में जगत में एकमात्र तुम्हे ही पैदा किया है। तुम्हारी बुद्धि के प्रपंच का रहस्य देव भी नहीं पा सकते, तो हमारे जैसों का तो पूछना ही क्या? तुम्हारे तो रोम–रोम में सैकड़ों–हजारों सद्–बुद्धियों का निवास है। तुम्हारे आगे कौन अपनी बुद्धि का गर्व करने में समर्थ है? तुमने पूर्व में जो कुछ कहा था, उससे तो ज्यादा ही कर दिखाया है। मैंने भी तुम्हारे आगे हाथ जोड़ लिये है। बहुत हो गया। अब तो कृपा करके मुझे मुक्त करो, जिससे मैं अपने अभिमान का त्याग करके अपने घर जाऊँ।"

अभय ने कहा– " हे स्वामी! ऐसा न कहें। आप तो मेरे पूज्यों के भी पूज्य है। मैं तो आपका आज्ञाकारी दास हूँ। मैं तो आपके अनुचर के समान हूँ।

अपने हृदय में आप किसी भी प्रकार के अधैर्य को न पालें। हमारे घर में तो आपका आगमन अमर–बेल, सुर–सरिता तथा चिंतामणि रत्न के आगमन के समान मानते हैं। मेरे पिता भी आपसे मिलने को उत्सुक हैं। बादलों के आने पर कदम्ब के पुष्पों की तरह से हर्षित होंगे। अतः मैं इस दल के द्वारा तथा अन्तर्मन में आपकी भक्ति से प्रेरित होकर राजगृह ले जाना चाहता हूँ। आपके आगमन से शक्कर मिश्रित दूध को पीने की तरह परम इष्टसिद्धि का संयोग होगा। अतः आप हृदय से शल्य को निकालकर अपने मन के मनोरथ रूपी वृक्ष को सफल करने के लिए हर्षपूर्वक हमारे साथ वहाँ आइए। अगर इस विषयक मेरे मन में कोई कूटनीति हो, तो मुझे अपने पूज्य–पादों की कसम है। मैं तो मार्ग में आपकी सेवा करते हुए बहुमानपूर्वक राजगृह ले जाकर, आपके व मेरे पिता के बीच निःशल्य प्रीति करवाकर, कुछ दिन आपकी चरण–सेवा के मनोरथ को पूर्ण करके, पुनः अति सम्मानपूर्वक उज्जयिनी पहुँचाकर कृतार्थ होऊँगा। अतः आप मन में कुछ भी विचार न करें। मगध के लोग भी राजराजेश्वर चण्ड प्रद्योत के दर्शन करके पावन हो जायेंगे।'

इत्यादि मिष्ट व इष्ट वचनों के द्वारा प्रद्योत को तृप्त, उल्लसित व स्वस्थ करके आगे मार्ग पर चला। अभय सात दिनों में ही राजगृह के नजदीक के गाँव को प्राप्त हुआ। अभय के मनुष्यों ने आगे जाकर श्रेणिक को बधाई दी। श्रेणिक राजा भी उनको यथोचित दान देकर महा–विभूति और महा–आडम्बर के साथ समस्त राजकीय पुरुषों तथा धन्य को साथ लेकर सामने अगुवानी करने के लिए गये।

इधर अभय प्रद्योत को एक भव्य अश्व–रथ पर चढ़ाकर, दोनों और से चामरों से विंजाते हुए, आगे सहस्रों सुभटों के चलते हुए, सैकड़ों बंदी–जनों द्वारा विरुदावलि पढ़े जाते हुए, सजाये हुए घोड़ों की अनेक श्रेणियों के साथ, अनेक जाति के वादिंत्र को बजवाते हुए, पीछे से आतपत्र को धारण करते हुए, मगध में रहनेवाले राज–सामन्त आदि के द्वारा चारों ओर से परिवेष्टित होते हुए–इस प्रकार महा–महोत्सवपूर्वक राजगृह नगर की ओर चला। तब तक मगधाधिपति भी सम्मुख आ गये। दोनों ही एक–दूसरे के दृष्टि पथ पर आते ही अपने–अपने वाहनों से उतर गये। कुछ कदम पैदल चलकर परस्पर प्रणाम करते हुए गाढ़ आलिंगन, जोत्कार आदि करके बहुमानपूर्वक कुशलक्षेम आदि वार्ता के द्वारा शिष्टाचार करके दोनों एक ही हाथी पर आरूढ़ होकर परस्पर वार्तालाप–संलाप आदि करते हुए नगर के समीप आये।

तब श्रेणिक और अभय ने बहुमान प्रदर्शित करने के लिए प्रद्योत राजा

को आगे करके नगर के मुख्य दरवाजे से प्रवेश करवाया। स्वर्ण, रजत, पुष्प आदि से वर्धापित करके बंदी–जनों को ईप्सित दान दिया। त्रिपथ, चतुष्पथ, राजपथ आदि पर अनेकों दुकानों, आवासों, भवनों, दो–तीन–चार–पाँच–छः–सात मंजिलोंवाले देवलोक के सदृश आवासों को देखते हुए, इभ्य–महेभ्य–राजवर्गीय –स्वाभाविकजनों के प्रणाम आदि को ग्रहण करते हुए राजद्वार के समीप वे सभी आये। हाथी से उतरकर श्रेणिक ने सम्मान की दृष्टि से पुनः प्रद्योत को आगे करके राज–द्वार में प्रवेश करवाया। तब अन्तःपुर के स्त्री–वर्ग के द्वारा मणि–मुक्ताओं से राजा को बधाया गया।

फिर दोनों एक–दूसरे के हाथों को अपने हाथों में लेते हुए आस्थान–मण्डप में आये। परस्पर अति–आग्रह से शिष्टाचारपूर्वक दोनों ही समान–आसान पर बैठे। राजवर्गीय लोगों तथा धन्य की प्रमुखता से युक्त महेभ्यों ने न्यौछावरपूर्वक उपहार आगे रखकर प्रणाम करके यथा–स्थान को ग्रहण किया। तब प्रद्योत राजा ने धन्य को देखकर पहचान लिया और कहा–"अहो धन्य! हमारे पास से गुप्त रूप से आपके चले जाने का क्या कारण है? हमने तो आपका कोई अनादर भी नहीं किया। आपके वचन का उल्लंघन भी नहीं किया, जिससे कि किसी भी पूछे बिना सिद्ध पुरुष की तरह बिना किसी को दिखाई दिये आप चले गये। अनेक प्रकार से आपकी खोज की, पर आपका कहीं भी पता नहीं चला। आपके वियोग से हमें जो दुःख हुआ, उसे कैसे कहकर बतायें? आपने यहाँ आकर मगधाधिप के नगर को अलंकृत किया, पर हमें कभी भी संदेश–वाहक या लेख नहीं भेजा। यह भी आप जैसे सज्जन व गुणी पुरुषों के योग्य प्रतीत नहीं होता। सज्जन पुरुष तो सप्तपदी (विवाह के समय की जानेवाली सात प्रतिज्ञाएँ) की तरह मैत्री भी प्रणान्त तक निभाते हैं। हमारा स्वामी–सेवक भाव तो लोकोक्ति के द्वारा कथन–मात्र ही था। मेरे मन में तो अद्वितीय, दुःख–सहायक भाई के तुल्य, वाणी के द्वारा अवाच्य, कथन के अयोग्य, अन्तर के भावों को जाननेवाले के रूप में विश्वास के पात्र थे। ऐसे स्नेह–सम्बन्ध में ऐसी उदासीनता दोष के लिए क्यों न हो? यह तो उत्तम–जनों की रीति नहीं है।"

प्रद्योत राजा के इस प्रकार के वचनों के सुनकर धन्य ने उठकर प्रणाम करके तथा हाथों को जोड़कर कहा–"कृपानिधि! जो आपने कहा, वह सत्य ही है। मुझे अपराधी का ही दोष है और वह स्वामी के द्वारा क्षमा करने योग्य है। आपकी कृपा की प्रशस्ति मैं एक मुख से करने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ? इस प्रकार सेवक के दोषों का आच्छादन, गुणों का प्रकटीकरण, बिना किसी लाग–लपट के आजीविका का दान, सेवक द्वारा कहे हुए वचनों का सत्यापन तथा सुरवृक्ष

की तरह मनवांछित का पूरण कौन कर सकता है? आपकी कृपा तो प्रतिदिन स्मृति–पथ पर ही रहती है। मैं कर्मों के द्वारा अशुभ उदय की प्रेरणा से घर से निकाला गया, पर आप जैसे स्वामी के द्वारा नहीं। कर्मों की गति बड़ी विषम है। इसलिए देशान्तर पर्यटन, स्थान–स्थान पर घर बसाने में व्यग्र, अस्थिर चित्त, प्रतिदिन अधिकाधिक वात्सल्य की उपेक्षा, पराधीनता, स्वामी से पूछे बिना जाने की लज्जा आदि कारणों से मैं मूर्ख सुख–समाचार तथा पत्रादि न भेज पाया। क्रम से प्राप्त अन्न–जल के संयोग से क्षेत्र–स्पर्शना के द्वारा प्रबल उदय होने से यहाँ आ गया। महाराज श्री मगधाधिप की कृपा से यहाँ सुखपूर्वक रहता हूँ। आपकी तरह इनकी भी महती कृपा है।''

तब प्रद्योत राजा ने श्रेणिक राजा के सम्मुख देखकर कुछ–कुछ हँसते हुए मस्तक को हिलाते हुए कहा–''आपकी वशीकरण की कला अत्यधिक श्रेष्ठ है, जिससे कि हाथों से छाया करते हुए भी, सात अंगों वाले राज्य की धुरा को धारण करने में धुरी के समान भी हमको छोड़कर बिना बुलाये भी आपके पास आ गये। जो हमारे राज्य का अलंकार है, उसे तो आपने किसी वशीकरण मंत्र के द्वारा वश में कर लिया है, जिससे कि हमारा नाम भी नहीं लेता, यहाँ स्थिरतापूर्वक रहता है। स्वप्न में भी अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं करता। इसलिए आपके पास अवश्य ही कोई अद्भुत कला है। जिस राजा के बाँये और दाँये हाथ की तरह ये दोनों बुद्धि–निधान धन्य और अभय हैं, उसे किसी बात का डर? किस दुःख की चिंता? अतः आपका भाग्य विशाल है।''

तब मगध के अधिपति ने कहा–''स्वामी! अपने जो कहा, वह तथारूप ही है। जब आपने अभय को वहीं रख लिया था, उस समय जो भी लुटेरे व धूर्त आदि थे, वे तैयार होकर नगर में विडम्बना करने लगे। एक धूर्त ने तो कूट कला के द्वारा तथा वचन–रचना के द्वारा मुझे भी चिंता के आवर्त्त में डाल दिया। उसे कोई भी नहीं जीत पाया। ऐसे विकट समय में इस बुद्धि– निधि धन्य ने आकर उस धूर्त को पराजित किया और मुझे चिंता से मुक्त कर दिया। इसने अकेले ने ही मेरे राज्य की स्थिति की रक्षा की।

मैंने भी उपकार के बहाने से अपनी कन्या को इन्हें देकर स्नेह–सम्बन्ध से बांधकर रखा। फिर भी कितने ही समय तक मुझे, धन, कुटुंब आदि को छोड़कर ये अन्यत्र चले गये थे। अतः आपको भी मन छोटा नहीं करना चाहिए। कितने ही समय के बाद पाँच कन्याओं से विवाह करके महान विभूति के साथ यहाँ आये हैं, तब तक अभय भी यहाँ आ गया था। आपके साथ स्नेह–सम्बन्ध की वार्ता को धन्य ने कभी भी मुझसे नहीं कही। अतः स्वामी के

द्वारा शिक्षा देनी चाहिए कि फिर से ऐसा न करें।"

प्रद्योत ने कहा–"हे मगधाधिप! अब ऐसा नहीं करेगा। कैसे? जगत को अपने वश में करने में कुशल आपके अभय के साथ संगति के पाश में आबद्ध होकर अब कहीं नहीं जायेगा, इस प्रकार मुझे मन–वचन–काया से विश्वास है।"

इस प्रकार सभा के मध्य राजा श्रेणिक व चण्ड प्रद्योत ने धन्य की अत्यधिक प्रशंसा की। फिर समय हो जाने पर सभाजनों को विसर्जित करके दोनों ही राजा धन्य को साथ लेकर राजमहल में गये। राजसेवकों ने विविध प्रकार की तथा अद्भुत स्नान–मज्जन–भोजन आदि की सामग्री तैयार करके निवेदन किया। उन दोनों राजाओं ने धन्य व अभय के साथ राज–स्नान, मज्जन आदि विधि के द्वारा सहस्रपाक, लक्षपाक आदि तेलों के द्वारा मालिश करवाकर पुष्प आदि से सुवासित जल के द्वारा तथा बाद में शुद्ध पानी के द्वारा स्नान करके अत्यधिक अद्भुत विदेशी भव्य वस्त्र पट्टांशुक आदि धारण करके, सर्व अलंकारों से आभूषित करके भोजन–मण्डप में अनेक राजवर्गीय सामन्त आदि के साथ यथायोग्य भव्य आसन को अलंकृत किया। फिर अठारह प्रकार के व्यंजन से युक्त तथा सुखपूर्वक खाये जानेवाले मिष्टान्न आदि से युक्त रसोई का भोजन करके तथा कुल्ले के द्वारा परम पवित्र होकर घर के भीतरी स्थान पर आकर बैठे। फिर पाँच प्रकार की सुगंध से वासित तथा लौंग–इलायची आदि से युक्त पान आदि के द्वारा मुख–शुद्धि करके सुख–शय्या पर सो गये।

समय–समय पर आस्थान आदि को अलंकृत करके गीत गाने में कुशल अनेक लोगों के द्वारा गाये जाते हुए गान को सुनते हुए रहते, तो कभी राजसवारी के द्वारा दोनों राजा महा–विभूति से युक्त होकर निकलते। उद्यानों में विविध प्रकार की पुष्प शोभा को देखते हुए, घुड़सवारी के द्वारा विविध क्रीड़ाओं को करते हुए, पुनः उसी महा–विभूति के साथ घर आ जाते थे। संध्या–समय में यथारुचि खान–पान आदि करके, रात्रि में गायकों के द्वारा की जानेवाली अनेक प्रकार की राग–रचनाओं को सुनकर के सुख–निद्रा में लीन हो जाते थे।

प्रभात में प्राभातिक–राग से युक्त आतोद्य के शब्दों के साथ निद्रा का त्याग करते थे। इस प्रकार प्रतिदिन राजा श्रेणिक नये–नये वस्त्र, अलंकार, वाहन, गीत, वादिंत्र, अद्भुत भोज्य–सामग्री का निर्माण आदि की प्रमुखता से अत्यधिक विशिष्ट आचारों का सेवन करवाते हुए प्रद्योत के मन में प्रीतिलता का वर्द्धन करते थे। हमेशा बिना किसी शल्य के हृदय–गत–वार्ता करके प्रीति को बद्धमूल की तरह दृढ़ करते थे। कुछ भी भेदभाव नहीं रखते थे। इस प्रकार उत्कृष्ट सेवाओं के द्वारा प्रद्योत को प्रसन्नता का पात्र बना दिया। दोनों के बीच

एक ही राज्य की तरह–स्नेह–सम्बन्ध स्थापित हो गया।

इस तरह बहुत दिन बीत जाने के बाद राजा प्रद्योत को अपने घर जाने की इच्छा हुई। "गुप्त रूप से मैं यहाँ लाया गया हूँ, अतः अब अपने घर जाना ही श्रेष्ठ होगा।" इस प्रकार विचार करके उन्होंने राजा श्रेणिक से कहा–"राजन! सज्जनों की संगति से काल कैसे व्यतीत हो जाता है, पता ही नहीं चलता। आपके, अभय के व धन्य के वियोग को कौन चाहता है? पर क्या किया जाये? राज्य शून्य है, किसी का भी सत्यापन करके नहीं आया हूँ। फिर मैं तो यहाँ छल से लाया गया हूँ, अतः लोग बातें बनायेंगे। अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए, जिससे मैं अपने देश चला जाऊँ।"

पर श्रेणिक व अभय ने आग्रह करके उन्हें कुछ दिन के लिए और रोक लिया। पुनः जाने के लिए आज्ञा माँगी। तब श्रेणिक ने उनके जाने की सम्पूर्ण तैयारी करके अनेक हाथी, घोड़े, रथ, आभूषण, वस्त्रादि देकर अलग–अलग देशों में उत्पन्न अनेक प्रकार के नये–नये पदार्थ देकर, महान विभूति के साथ उन्हें विदा किया। धन्य ने भी अदृष्टपूर्व वस्त्र–आभरण आदि उपहार प्रदान किये। इस तरह प्रद्योत राजा अभय व धन्य के गुणों की प्रशंसा करते हुए वहाँ से रवाना हुआ। श्रेणिक, धन्य, अभय आदि प्रमुख पुरुष उसे रवाना करने के लिए कुछ दूर तक आये। फिर अभय ने अपने द्वारा की गयी दम्भ–रचना के लिए अत्यन्त विनयपूर्वक क्षमा–याचना की।

प्रद्योत अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ कहने लगा–"तुम्हारी–रचना तो हमारे सुख के लिए ही साबित हुई, पर तुम्हारा वियोग तो हमें अत्यधिक दुःख की अनुभूति करा रहा है।"

अभय ने कहा–"स्वामी! मैं पुनः चरण–कमलों के दर्शनों के लिए आऊँगा। मेरे लिए भी पूज्य–चरणों का विरह असह्य है, पर क्या किया जा सकता है? राज्य–भार को वहन करने के कारण निकलना शक्य नहीं होता। अतः मुझ पर आपकी विशेष कृपा बनी रहे।"

इस प्रकार परस्पर स्नेह–प्रणतिपूर्वक अनेक सैन्यों के साथ प्रद्योत उज्जयिनी के लिए रवाना हुआ। कुछ दिनों में ही कुशलतापूर्वक उज्जयिनी पहुँचे। भव्य–दिवस पर महोत्सपूर्वक नगर–प्रवेश किया। उस दिन से श्रेणिक व प्रद्योत का परस्पर पत्र–व्यवहार तथा यथावसर उपहार आदि के आदान–प्रदानपूर्वक स्वजन–सम्बन्ध स्थापित हो गया। अपने–अपने स्थान पर दोनों ही सुन्दर न्यायपूर्वक राज्य करने लगे।

।। इस प्रकार प्रद्योत–आनयन का अधिकार पूर्ण हुआ।।

धनसार–अधिकार

अब कौशाम्बी में स्थित तीन पुत्रों से युक्त धन्य के पिता धनसार के बारे में बताया जाता है।

राजगृह में धन्य व अभय प्रतिदिन प्रेम की अधिकता के साथ त्रि–वर्ग के साधन को करते हुए सुख से समय व्यतीत कर रहे थे। उधर कौशाम्बी में जिन तीन भाइयों को धन्य ने पाँच–सौ ग्राम दिये थे, वे भाई उत्कृष्ट अभाग्य की रेखा की तरह उन ग्रामों में अपनी आज्ञा स्थापित करने लगे। शनि की दृष्टि की तरह उनकी आज्ञा से आश्रित गाँवों में भाग्य–हीन होने से दूसरे ग्रामों में बरसते हुए मेघ उनके ग्रामों में नहीं बरसे, क्योंकि भाग्य के योग से इच्छित वृष्टि होती है। तब उस ग्राम के वासी कुछ लोग वृष्टि के अभाव से अपनी–अपनी जीविका के लिए तथा अपने चतुष्पदों की आजीविका के लिए अन्य–अन्य ग्रामों में चले गये, क्योंकि फलरहित वृक्षों को छोड़कर पक्षी अन्य वृक्षों का आश्रय लेते ही हैं। तृण तथा धान्य का क्षय होने पर पेट भरने के साधनों का अभाव होने से तथा पीने के पानी का भी अभाव होने से जलचर जीवों की तरह कुछ गज–अश्व आदि भूख–प्यास से, कुछ रोगोत्पत्ति से मर गये। पूर्व संचित शुभ–कर्मों के बिना सम्पदा स्थित नहीं रह पाती। सेवक भी आजीविका प्राप्त नहीं होने से उन्हें छोड़कर अन्यत्र चले गये। दुष्काल पड़ने से भूख से व्याकुल भीलों ने उनकी आज्ञा के वशवर्ती रहे हुए ग्रामों को अपने कब्जे में ले लिया। उन ग्रामों की वैसी अवस्था का जानकार कोई भी सार्थ उस मार्ग से नहीं जाता था। लोगों के गमनागमन का अभाव होने से क्रय–विक्रय किसके साथ किया जाये? अतः व्यापारी भी महानगरों में चले गये। कोई–कोई तो "रात्रि में खात्र देकर भील घर लूट लेंगे"– इस भय से भाग गये। कुछ लोग तो बिचारे सामान्य कर्मकर की वृत्ति को करनेवाले थे। महाजनों के अभाव में उनसे कर्मकर की वृत्ति कौन करावे? अतः वे भी वहाँ से चले गये।

इस प्रकार अभाग्य के योग से लोग ऐसे निर्धन हुए कि उनके पास देह–मात्र ही धन के रूप में रह गयी। तब वे चिंतन करने लगे–"हम कौशाम्बी में जाकर शतानीक के पास से सेना लाकर इन भीलों को शिक्षा दें, क्योंकि जाने के समय धन्य राजा ने कहा था–"मेरे ग्रामों व कुटुम्ब की रक्षा करना मेरे योग्य है और सहायता करना भी मेरा कर्त्तव्य है।" इस कारण से वहाँ जाकर हमें मन–इच्छित करके सुख से रहना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके कौशाम्बी जाने के लिए तैयार हुए, तब तक

नगरी में उसी रात्रि में अचानक अग्नि की लपटें उठने लगी। प्रबल वायु से प्रेरित उस अग्नि को बुझाने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ। उस अग्नि के उपद्रव से धन्य के पिता का सम्पूर्ण घर भस्मसात् हो गया। घर से कुछ भी नहीं निकाला जा सका। केवल जैसे–तैसे करके धनसार और घर की स्त्रियाँ अपने देह–मात्र के साथ जीती हुई निकल सकीं।

इस घटना को किसी के मुख से सुनकर उसके तीनों पुत्र जब सुबह आये, तो सभी राज–मंदिर, छोटे–बड़े सभी घरों के भस्मावशेष को देखकर अत्यन्त उद्विग्न हो गये। परस्पर एक दूसरे को देखते हुए निःश्वास छोड़ने लगे। उन्हें मन ही मन दुःख करते हुए देखकर पिता ने कहा–"पुत्रों! अब दुःख करने से क्या? पाप के उदय से आज अगर यह सब भस्म हो गया है, तो क्या किया जा सकता है? अच्छा ही होगा, जिसके भाग्य के वश में अचिन्तित भी जंगल में मंगल हो जाता है, वह धन्य हरे–भरे घर को छोड़कर चला गया।"

इस प्रकार पिता के मुख से धन्य की प्रशंसा सुनकर उद्दीप्त कषायवाले वे कठोर वचनों के द्वारा तिरस्कार करने लगे–"हाँ। आज भी आपका उसके ऊपर ही ममत्व भाव है। अगर आपका वही गुणवान पुत्र है, तो आपको छोड़कर कैसे चला गया? देखो आपकी कृतघ्नता! भरण–पोषण तो आज तक हम ही करते आये हैं और प्रतिक्षण उस स्वेच्छाचारी की प्रशंसा करते हैं। अहो। इनके दृष्टि–राग की अन्धता!"

इस प्रकार अनेक प्रकार के वचनों के द्वारा उनकी निर्भर्त्सना करते हुए कितने ही दिन वहाँ व्यतीत किये। वहाँ रहते हुए स्त्री आदि के आभूषणों को बेचते हुए निर्वाह किया। शनैः–शनैः जो कुछ भी धन बाकी बचा था, वह भी कुछ गिर गया, कुछ विस्मृत हो गया और भूमि में रहा हुआ भूमिसात् हो गया। इस प्रकार की स्थिति में रहते हुए रात्रि में सेना और राज्य को गया हुआ जानकर अनेक सैकड़ों भीलों ने डाका डाला। वे शेष रहे हुए सभी आभूषण और वस्त्र चुराकर भाग गये। तब वे वस्त्र रहित और धन–रहित हो गये। **यह संसार पुण्योदय में तो कुछ दिनों में ऋद्धिपूर्ण होता है, पर पापादेय में तो क्षणार्द्ध में ही वह सभी चला जाता है। जैसे–घड़ी पूरते समय तो साठ पल रूपी जल के द्वारा पूरी जाती है, पर खाली तो क्षणमात्र में हो जाती है।**

तब एक बार आजीविका के उपाय को नहीं प्राप्त करते हुए घर में खोजते हुए एक हस्तमुद्रा प्राप्त हुई। उसे बेचकर आजीविका के लिए मालव–मण्डल में गये। वहाँ जाकर किसी कृषिकार के घर पर मजदूरी करके निर्वाह करने

लगे। इस प्रकार वहाँ रहते हुए किंचित् से भी अल्प धन प्राप्त हुआ। उसके द्वारा स्वयं खेती करके धान्य का उपार्जन किया। घर के निर्वाह के योग्य धान्य घर पर ही छोड़कर शेष धान्य की गोणी भरकर बैलों पर वहन कराते हुए एक ग्राम से दूसरे ग्राम तथा एक नगर से दूसरे नगर घूमते हुए निर्भाग्यता के योग से इच्छित लाभ को नहीं प्राप्त करते हुए एक बार मगध देश के राजगृह नगर में गये। वहाँ चतुष्पथ में धान्य की गोणियों को उतारकर धान्य की दुकानों के बारे में पूछने लगे। अनेक देशों से धान्य आया हुआ होने से मूल्य आधा हो गया है–यह सुनकर वे निराश हो गये। अभागों के लिए सर्वत्र विधि अविहित होती है। कहा भी है–

अन्यद्विचिन्त्यते लोकैर्भवेदन्यदभाग्यतः।
कर्णे वसति भूषार्थोत्कीर्णे दरिद्रिणां मलः।।1।।

लोगों के द्वारा सोचा कुछ हो जाता है और अभाग्य से कुछ ओर ही हो जाता है। कान में विभूषा के लिए धारण किया हुआ कुण्डल गरीबी में घाव देता है। जहाँ भाग्यहीन होते हैं, वहाँ आपत्तियाँ भी आगे–आगे आती हैं। अतः–

छित्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां,
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलाद् निःसृत्य दूरं वनात्।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः,
कूपान्तः पतितः करोति विमुखे किं वा विधौ पौरुषम्?।।1।।

पाश को छेद करके, कूट रचना को दूर करके, जाल को बलपूर्वक तोड़कर, वन के अन्त तक फैली हुई अग्निशिखा के समूह से जटिल वन से दूर निकलकर, शिकारियों के बाण के निशाने से दूर होते हुए अति शीघ्रता से उछलकर दौड़ता हुआ मृग कूप के अन्दर गिरता हुआ क्या विधि के विमुख होने पर कुछ भी पौरुष कर सकता है?

इस प्रकार वे निराश होते हुए धान्य बेचने के लिए चतुष्पथ पर खड़े रहे, पर किसी के भी साथ मूल्य का सत्यंकार नहीं हुआ। उनके द्वारा मार्ग पर धान्य की गोणियों का समूह अनुत्साहपूर्वक इधर–उधर पड़ा हुआ था। दूसरे दिन विविध आतोद्य–वादकों के द्वार वादिंत्र बजाये जाते हुए, पदाति–अश्व आदि सेनाओं से घिरे हुए, बंदी–जनों के द्वारा अनेक विरुदों के पढ़े जाते हुए सवारी के द्वारा राज–सभा में आते हुए धन्य ने अपने आगे जानेवाले सैनिकों के द्वारा सवारी की स्खलना होने की आशंका से इधर–उधर पड़ी हुई गोणियों को यथा–स्थान रखने के लिए और मार्ग को सरल बनाने के लिए बेंत से ताड़ित

किये जाते हुए, निर्धनता व दुर्दशा को प्राप्त अपने बान्धवों को भय के कारण शीघ्रता से धान्य की गोणियों को दूर हटाते हुए देखा। यह देखकर "ऐसा क्या हुआ?" इस प्रकार संभ्रान्त–चित्तवाला होकर विचार करने लगा–"अहो! मेरे इन भाइयों को राज्य, धन, सुवर्ण, रोकड़ आदि नव प्रकार के परिग्रह के समूह से भरे हुए घर को तथा पाँच–सौ ग्राम के आधिपत्य से युक्त अनेक सैकड़ों सामन्त, सैनिक, हाथी, घोड़े, सेना आदि से सेवा कराते हुए छोड़कर मैं यहाँ आया था। हा! इतने से दिनों के अन्दर इनकी ऐसी अवस्था हो गयी। यह कैसे संभव हुआ? अथवा तो कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। दृढ़ रस से बाँधे हुए पूर्वकृत कर्मों के उदय को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है– यह जिनागम का वाक्य अन्यथा नहीं होता है। अन्यों ने भी कहा है–

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।।1।।

किये हुए कर्म का क्षय सैकड़ों–करोड़ों उपायों के द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योंकि किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगने योग्य हैं।

चक्रवर्ती आदि ने भी अनेक प्रकार की दुर्दशा को भोगा है, तो इन लोगों का तो कहना ही क्या? इस प्रकार विचार करने के बाद पुनः सोचने लगा–"अहो! मैं इस प्रकार के सांसारिक सुख से सम्पन्न हूँ और इन तीनों अग्रजों की इस प्रकार की दुर्दशा को कैसे देख सकता हूँ?"

इस प्रकार अन्तर की भक्ति से कहने लगा–"हे सेवकों! इस परदेश से आये हुए व्यापारियों को मत मारो। इन्हें प्रीतिपूर्वक मेरे घर पर लेकर आओ।"

इस प्रकार आदेश देकर सवारी के साथ अपने घर की ओर चला। पीछे से सेवकों ने उनको कहा–"हे परदेशियों! हमारे स्वामी के आवास में शीघ्र ही चलो। स्वामी ने आज्ञा दी है कि इन्हें घर पर लेकर आना।"

वे तो यह सुनकर डरते हुए बोले–"घर ले–जाकर क्या करेंगे?"

सेवकों ने कहा–"अरे! डरो मत। हमारे स्वामी तो घर में आये हुए किसी को भी दुःख नहीं देते, बल्कि उनके दुःख को दूर करते हैं।"

इस प्रकार आश्वासन दिये जाने पर भी वे कुछ–कुछ डरते हुए धन्य के घर पर गये। सेवकों के द्वारा उनको सभा में ले–जाकर "स्वामी के द्वारा बुलवाये गये ये आकर प्रणाम करते हैं" इस प्रकार निवेदन किया।

तब धन्य ने कहा– आप कहाँ रहते हैं? उन्होंने कहा–"हे स्वामी! हम मालव–मण्डल में रहते हैं। आजीविका के लाभ के लिए गेहूँ की गोणियाँ भरकर बैलों को लेकर यहाँ आये हैं। पर यहाँ धान्य के योग्य लाभ नहीं हुआ। प्रत्युत

हानि ही दिखाई देती है।''

धन्य ने कहा– ''शुरू से ही मालव देश में रहते हो या अन्य देश से आकर वहाँ रह रहे हो?''

उन्होंने कहा–''नहीं, नहीं! हम तो अन्य देश के निवासी हैं। उदर–पूर्ति के लिए वहाँ गये थे।''

धन्य ने कहा–''उसके पूर्व आपका निवास स्थान कहाँ था?

उन्होंने कहा–''स्वामी! कर्मों की गति के बारे में क्या कहा जाये? जहाँ उदर–पूर्ति हो जाये, वही हमारा देश है।''

धन्य ने पूछा–''क्या आपके माता–पिता हैं?''

उन्होंने कहा–''हाँ, है।''

धन्य ने पूछा–''वे कहाँ हैं?''

उन्होंने कहा–''जिस ग्राम में निवास करते हैं, वहीं हमारे माँ–बाप व स्त्रियाँ हैं।''

धन्य ने विचार किया–''अहो! देखो! दरिद्रता की पीड़ा से पीड़ित होते हुए मुझे सामने पाकर भी नहीं पहचान पा रहे हैं, बल्कि भय को प्राप्त हो रहे है।''

तब धन्य ने उठकर बड़े भाइयों को आगे करके प्रणामपूर्वक कहा–''क्या मुझे नहीं पहचाना? मैं आपका छोटा भाई धन्य हूँ।''

इस प्रकार कहकर घर के अन्दर ले–जाकर, सेवकों के द्वारा अभ्यंगन, स्नान, मज्जन आदि करवाकर, अति अद्भुत वस्त्र–अलंकार आदि धारण करवाकर बड़े भाइयों को आगे करके हर्ष–सहित विनयपूर्व यथोचित अनेक प्रकार की अद्भुत रसोई खिलायी। आचमन (कुल्ला) करके घर के भीतरी हिस्से में भव्य–आसन पर यथोचित रीति से भाइयों को बिठाकर पाँच प्रकार की सुरभि से युक्त ताम्बूल आदि देकर, अत्यधिक सत्कारपूर्वक हाथ जोड़कर, कौशाबी को छोड़कर मालव–गमन आदि स्वरूप पूछा। उन्होंने भी ग्राम के बाहर निकलने आदि के सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहा। वह सब सम्यक् प्रकार से जानकर धन्य ने उन्हें कहा–''हे पूज्यों! अब पूर्व में अनुभूत दुःखों का स्मरण न करें। चित्त की प्रसन्नता के साथ यहीं रहें। यह लक्ष्मी, यह महल, ये अश्व, ये हाथी तथा ये ग्रामादि सब कुछ आपके ही है। मैं भी आपका अनुचर हूँ। अतः आप जो इच्छा हो, वह ग्रहण करे। कहा भी है कि जो लक्ष्मी बन्धुओं के उपभोग के लिए नहीं है, वह प्रशंसा के योग्य नहीं है। समुद्र में अत्यधिक पानी होता है, पर किनारे पर रहनेवालों के लिए अनुपकारी होता है। इसी प्रकार भाइयों के उपभोग में न आनेवाली लक्ष्मी निरर्थक है। मेरु

पर्वत की स्वर्ण–सम्पत्ति के समान प्राप्त यह लक्ष्मी मुझे रुचिकर नहीं है, जो चिरकाल तक चारों ओर घूमते हुए मित्र रूपी सूर्य के लिए अनुपकारिणी है अर्थात् किसी भी काम में नही आती है। इसलिए हे पूज्यों! मुझ पर अनुग्रह करें। आप यहीं रहें। इस लक्ष्मी को चिरकाल तक भोग–त्याग आदि के द्वारा इच्छापूर्वक सफल करें। मुझ शिशु का मनरथ पूर्ण करें।''

इस प्रकार की विनय–भक्ति से युक्त धन्य की वाणी सुनकर अभिमान के दोष से दूषित ईर्ष्या से जलते हुए अन्तःकरणवाले उन्होंने कहा–''हे भाई! छोटे भाई के घर में हम नहीं रहेंगे, क्योंकि छोटों के वहाँ रहने से हमारा बड़प्पन जाता रहेगा। राहू के घर में रहा हुआ सूर्य क्या नीचता को प्राप्त नहीं होता? अतः पिता के धन का विभाग करके हमें दे दो, जिससे हम पृथक–पृथक घर लेकर यहाँ सुखपूर्वक निवास करेंगे।''

उनके कथन को सुनकर विवेकी धन्य ने अपनी सज्जनता को नहीं छोड़ते हुए सरल आशय से कहा–''अगर इसी से आपको प्रसन्नता मिलती है, तो अच्छा है। मैं तो आपकी आज्ञा का गुलाम हूँ।''

इस प्रकार निवेदन करके भाण्डागारिक पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी कि इन तीनों पूज्यपादों में से प्रत्येक को चौदह–चौदह करोड़ सुवर्ण दे दो। यह आज्ञा सुनकर ''बहुत अच्छा'' कहकर ''मेरे स्वामी के वचन ही प्रमाण हैं'' यह कहकर प्रणाम करके उन तीनों को कहा–''आप मेरे साथ आइए! स्वामी की आज्ञा से मैं आपको स्वर्ण–कोटि देता हूँ।''

तब वे धन ग्रहण करने के लिए भाण्डागारिक के पीछे–पीछे गये। तब सभ्य, परिजन तथा अन्य लोग धन्य के गुणों के द्वारा और उन तीनों के दोषों के द्वारा चित्त में चमत्कृत होते हुए भुजाओं को उठा–उठाकर वादियों में इन्द्र की तरह परस्पर कहने लगे–''ईर्ष्या और निर्धनता में ये तीनों परम कोटि को प्राप्त हैं और धन्य भ्रात–स्नेह तथा दानवीरता में परम कोटि को प्राप्त है। इस जगत में जो लोग स्वकीय और परकीय धन को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, वे तो बहुत है। पर जो अपनी भुजाओं से उपार्जित अत्यधिक धन को शत्रु को भी प्रदान कर देते हैं, वे जगत में अति दुर्लभतर हैं।''

उधर भाण्डागारिक ने धन्य की आज्ञा से प्रत्येक को चौदह–चौदह करोड़ स्वर्ण दिया। उस धन को लेकर जाते हुए उनको हाथ में मुद्गर लिए हुए उस धन के अधिष्ठायक देवों, वीरों तथा भटों के द्वारा चोरों की तरह उन्हें पहले दरवाजे पर ही रोक लिया। उनके आगे प्रकट होकर कहने लगे–''हे निर्भागियों के शिरोमणि! दुर्जनों! दुष्टों! पुण्य से आढ्य धन्य के धन को तुम लोग भोगने

में समर्थ नहीं हो। इस लक्ष्मी का भोक्ता तो धन्यात्मा धन्य ही है, दूसरा कोई नहीं है। जैसे सम्पूर्ण नदियों का भोक्ता समुद्र ही होता है। शास्त्र में भी कहा गया है कि प्रबल पुण्यवानों के लिए ही लक्ष्मी भोग्या है। अगर तुम लोग उसकी सेवा में रहते हो, उसकी पुण्यमयी शरण में निवास करते हो, तो इच्छित सुख को प्राप्त करते हुए दिखाई दोगे। पर अगर धन लेकर पृथक घर में रहकर स्वेच्छा से धन का उपभोग करेंगे– ऐसा सोचते हो, तो इस इच्छा को पूरा करनेवाला दिन न भूत में था, न भविष्य में होगा। हे जड़बुद्धि मूर्खों! चार बार अमित धन छोड़कर यह चला गया, उसके बाद उस धन से क्या–क्या भोग–भोगे? अभी भी तुम्हें सीख नहीं मिली कि यह सज्जनों का शिरोमणि तुम्हारे द्वारा अपराध किये जाने पर भी अपनी सज्जनता को नहीं छोड़ता है। तुम लोग तो कृतघ्नियों में अग्रणी निर्लज्ज हो, जो धन्य के किये हुए सैकड़ों उपकारों को भूल गये हो। अगर तुम्हें सुख को प्राप्त करने की इच्छा है, तो धन्य की ही उपासना करो। कल्याण होगा।"

इस प्रकार के देवों के वचनों को सुनकर उत्पन्न हुए प्रतिबोधवाले वे धन को छोड़कर लौटकर धन्य के पास गये। धन्य को कहने लगे–"वत्स! तूं ही भाग्यवान है। तूं ही गुणनिधि है। हम तो निर्भागी मूढ़–बुद्धि से युक्त है। आज ही देवों द्वारा हम प्रतिबोध को प्राप्त हुए हैं। हे जगतमित्र सूर्य! इतने समय तक मात्सर्य–भाव से युक्त हमारे द्वारा ऊल्लू पक्षी की तरह तुम्हारी महिमा को नहीं जाना गया। हे भाई! शिशिर ऋतु के सूर्य के साथ जुगनू के बच्चे की तरह भाग्यहीन हमने वृथा ही तुम्हारे साथ स्पर्धा की। बुद्धि, विवेक तथा पुण्य–रहित घमण्ड के निरर्थक होने पर भी आज तक हमने तुझ जैसे कुल के कल्पवृक्ष को नहीं पहचाना। चिंतामणि को काँच के समान माना। वह सभी अज्ञान से विलसित हमारा व्यवहार तुम माफ कर देना। तुम तो गुण रूपी रत्नों के सागर हो। हम तो छिछले है। तुम्हारे साथ जो प्रतिकूल व्यवहार किया है, उसे स्मरण करते हुए हमें अत्यधिक लज्जा होती है। कैसे तुम्हें अपना मुख दिखाएं?"

धन्य ने उनके इस प्रकार के वचनों को सुनकर कहा–"हे पूज्यों! आप मुझसे बड़े है। मैं तो आपका अनुचर जैसा हूँ। इतने दिनों तक मेरे ही अशुभ कर्मों का उदय था, जिससे कि आपकी कृपा नहीं मिली। अब तो मुझ शिशु पर आपके मन की प्रसन्नता हो गयी है, जिससे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ, कुछ भी कमी नहीं रही। यह घर, यह धन, यह सम्पत्ति सब कुछ आपका ही है। मैं भी आपका आज्ञापलक हूँ। अतः यथेच्छा दान, भोग, विलास आदि में इस धन का व्यय कीजिए। कुछ भी कमी नहीं है। कोई शंका मन में न रखें।"

इस प्रकार मिष्ट–वचनों के द्वारा तृप्ति को प्राप्त करते हुए वे भी ईर्ष्या

को जीतकर चित्त की प्रसन्नतापूर्वक त्याग–भोगादि में धन–विलास करने लगे। धन्य ने बड़े भाइयों से मालव–मण्डल में पिता आदि के निवास करनेवाले ग्रामादि का पता पूछकर अपने विश्वस्त प्रधान पुरुषों को अनेक अश्व, रथ, सेना आदि परिकर से युक्त वहाँ भेजकर अत्यधिक बहुमानपूर्वक अपने माता–पिता तथा तीनों भाभियों को बुलवा लिया। राजगृह के उपवन में आया हुआ जानकर महान विभूति के द्वारा चारों भाइयों ने सम्मुख जाकर माता–पिता को नमन करके दान–मान आदि करते हुए महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश करवाया। महा–भक्तिपूर्वक घर पर ले जाकर भव्य आसन पर बिठाकर चारों ही भाइयों ने चार पुरुषार्थों की तरह पिता को नमन किया। फिर तीनों बड़े भाई कहने लगे–"हे पिताजी! इतने दिनों तक आपकी हितशिक्षा के वचनों को हमने स्वीकार नहीं किया, बल्कि कल्पवृक्ष के समान भाई पर हमने मत्सर–भाव धारण किया। उस द्वेष रूपी दोष के कारण हमने बार–बार दुःखों की परम्परा भी प्राप्त की। देवों ने हमें प्रतिबोधित किया, जिससे हमारे हृदय में रहा हुआ अज्ञान नष्ट प्रायः हो गया है। अभी तो इसी के भाग्य–बल से सुख–सम्पत्ति को भोग रहे हैं। हमने आपकी आज्ञा–भंग का जो अपराध अब तक किया है, उसे माफ करें। आप तो क्षमा के सागर हैं, अतः अवश्य ही क्षमा प्रदान करेंगे।"

धन्य ने भी सभी घर, धन, सम्पत्ति आदि पिता को सौंप दी। स्वयं निश्चिंत होकर माता–पिता आदि की भक्ति करने लगा, क्योंकि उदारता और पितृ–भक्ति महान कुल–व्रत है। इस प्रकार समस्त नगर में धन्य के गुणों का वर्णन फैलने लगा। राजा ने भी पुत्रों सहित धनसार को बुलाकर वस्त्राभूषणों के द्वारा सत्कार करके बहुमान किया। इस प्रकार माता, पिता व भाइयों से युक्त राज–जामाता गुणराशि के द्वारा समस्त लोगों का मान्य होता हुआ पूर्ण सौख्य का अनुभव करने लगा।

इस प्रकार प्रतिदिन धन–धान्य, ऋद्धि–समृद्धि से युक्त प्रवर्धमान यश–कीर्ति आदि के द्वारा कितने ही काल के बीत जाने के बाद एक बार राजगृह नगरी के उपवन में पाप के अंधकार को दूर करते हुए और विश्व के पदार्थों को ज्ञान रूपी सूर्य से प्रकाशित करते हुए सूर्य के समान तेजस्वी आचार्य धर्मघोष सूरि अपने शिष्य वृन्द से परिवृत वहाँ पधारे। गुरु आगमन को सुनकर भक्ति के साररूप धनसार आदि नागरिक–जन प्रमाद का त्याग करके स्पृहा–रहित होकर गुरु को नमन करने के लिए गये। पाँच अभिगम–युक्त वंदन– विधि आदिपूर्वक गुरु ने भी उनकी श्रवण–जिज्ञासा को जानकर चतुर्गति के क्लेश–समूह का निवारण करनेवाले चार प्रकार के धर्म का उपदेश देना शुरू किया। जैसे– कभी

इच्छित सम्पदा को देनेवाले भेद सहित दानादि धर्म प्रत्येक श्रावक के द्वारा विधिपूर्वक आराधित होते हुए कल्पवृक्ष की तरह फलते हैं। उनमें चारों धर्मों में से दान–धर्म सबसे प्रथम है, क्योंकि जिनधर्म का मूल दया को ही कहा गया है और वह अभयदान रूप ही है। कहा भी है :–

अभयं सुपत्तदाणं अणुकंपा उचिय–कित्तिदाणं च।
दोहिं पि मुक्खो भणिओ तिन्नि वि भोगाइया दिन्ति।।

अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, उचितदान, कीर्तिदान– इस पाँचों में से दो से मोक्ष मिलता है और तीन से भोगादि मिलते हैं।

दान गुण के द्वारा इहलोक और परलोक में जगत में वल्लभ होते हैं। दानी व्यक्ति जो–जो इच्छा करते है, वे सभी वस्तुएँ मुख के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। दानी व्यक्ति के इच्छा–मात्र करने से अविलम्ब इच्छा की पूर्ति हो जाती है। दाता से ही नगर शोभित होता है। दाता सुपात्रदान के द्वारा विशेष रूप से पुण्य व यश को बाँधता है। कहा भी है–

पृथिव्याभरणं पुरुषः पुरुषाभरणं प्रधानतरा लक्ष्मीः।
लक्ष्म्याभरणं दानं दानाभरणं सुपात्रं च।।1।।

पृथ्वी का आभरण पुरुष है, पुरुष का आभरण प्रधान रूप से लक्ष्मी है, लक्ष्मी का आभरण दान है और दान का आभरण सुपात्र है। दान कभी भी निष्फल नहीं होता है। जैसे–

"पात्रे पुण्यनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिवर्धकं रिपुजने वैराऽपहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो!
निष्फलम्।"

पात्र में दान देना पुण्य का कारण है, उससे इतर में दान देना दया कहा गया है, मित्र को दान देना प्रीतिवर्धक है, शत्रुजनों को दान देने से वैर दूर होता हे, नौकर को दान देने से वह भक्ति युक्त होता है, राजा को देने से सम्मान मिलता है और पूजा को दिलानेवाला होता है। भाट–चारण आदि को देने से कल्याणकारी व यश को फैलानेवाला होता है। अतः दान कभी भी निष्फल नहीं जाता।

इत्यादि स्पष्ट ही है। चित्त–शुद्धि, वित्त–शुद्धि व पात्र–शुद्धि– इस प्रकार त्रिशुद्धि के द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका फल कोई भी कहने में समर्थ नहीं है। जैसे–

रुसहेसरसमं पत्तं निरवज्जं, इक्खुरससमं दाणं।
सेयंससमो भावों हविज्जइ पुण्णरेहाए।।1।।
भयवं रसेण भवणं धणेण भुवणं यसेण पूरियं सयलं।
अप्पा निरुवमसुक्खेण सुपत्तदाणं महग्घवियं।।2।।

ऋषभेश्वर के समान पात्र, इक्षु रस के समान निरवद्य दान तथा श्रेयांस के समान दान का भाव पुण्य की रेखा से ही प्राप्त होता है।

भगवान को रस के द्वारा, भवन को धन के द्वारा तथा भुवन को यश से पूरित करते हुए और आत्मा को निरुपम सुख से भावित किया। इस प्रकार दान महा–मूल्यावान है।

थोड़ा भी सुपात्रदान महाफल के लिए होता है। जैसे कि वटवृक्ष वट के बीज से उत्पन्न होता है। जैसे धनदत्त के द्वारा पूर्वभव में एक बार दिया गया सुपात्रदान सकल समृद्धि को प्राप्त करानेवाला हुआ।

इस प्रकार गुरु के द्वारा कहे जाने पर धनसार आदि के द्वारा विनयपूर्वक पूछा गया–"भगवान! यह धनदत्त कौन है? किस प्रकार से उसने दान दिया? उसके चरित्र को कहने की कृपा कीजिए।"

गुरु ने कहा–

धनदत्त–कथा

पूर्वकाल में पृथ्वीभूषण नामक नगर में केरल नामक राजकुमार था। वह एक बार राज–वाटिका में गया। उसी समय महा–भाग्य के उदय से उसी नगर में सुरों व असुरों से परिवृत्त जगद्गुरु तीर्थंकर वहाँ पधारे। तब वह कुमार अतिशयों व प्रतिहार्यों की शोभा देखकर उन्हें वंदन करने के लिए गया। पंच–अभिगमपूर्वक जिनेश्वर को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया। तब जगद्गुरु ने भव्य जीवों के उपकार के लिए तथा अनादि भ्रम के निवारण के लिए देशना प्रारम्भ की। जैसे–

"चौरासी लाख योनि रूप इस गहन संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को दस दृष्टान्तों के द्वारा मनुष्यत्व दुर्लभ है। उसमें भी आर्यक्षेत्र, आर्यकुल, पूर्णायु, इन्द्रियों की नीरोगता, सदगुरु का संयोग धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। उसको भी प्राप्त करके अनादि शत्रु लोभ, काम आदि से विवश जीव व्यर्थ ही समय को गँवा देता है। उसमें धन सभी अनर्थों का मूल है–यह जानना चाहिए। कहा भी है–

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थम् दुःखसाधनम्।।

धन के अर्जन में दुःख है। धन के रक्षण में दुःख है। आय में दुःख है। व्यय में दुःख है। दुःख के साधन रूप धन को धिक्कार है।

अत्यधिक क्लेशों और अत्यधिक पापों के द्वारा पूर्व पुण्य-योग के उदय से धन प्राप्त होता है। फिर भी उसके रक्षण में भी महादुःख है, क्योंकि धन से अनेक भय प्राप्त होते हैं। कहा भी है-

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमिभुजो-
दुरेण च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात्।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ति ध्रुवं,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् धिग् धनं तद् बहु।।

लेनदार स्पृहा करते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा दुश्छल के द्वारा ग्रहण कर लेता है, अग्नि क्षणभर में भस्मसात् कर देती है, पानी डुबो देता है, पृथ्वी में रखा हुआ धन निश्चित रूप से यक्ष हर लेते हैं, बुरी वृत्तिवाले पुत्र धन के लिए पिता का भी नाश कर देते हैं। ऐसे धन को बार-बार धिक्कार है।

कदाचित् पाप का उदय होने से धन के नष्ट हो जाने पर लोक-व्यवहार, आजीविका, द्रव्य से होनेवाले सुख के विरह के भय से मनुष्य महा-विषाद व शोक को प्राप्त करता है। अनेक विकल्पों से आकुल आर्त्त व रौद्र ध्यान को ध्याते हुए आठ प्रकार के अशुभ कर्मों का बंध करते हैं। लक्ष्मी के नाश से कातर होते हुए मूढ़ अध्यवसायों के द्वारा मरण तक को भी प्राप्त होते हैं। मरकर नरक-निगोद आदि में अपरिमित दुःख को प्राप्त होते हैं। कभी सुकृत के उदय से धन प्राप्त होता भी है और जन्म से लेकर मरण तक स्थिर भी रहता है, तो प्रकृति से दुष्ट आशयवाली लक्ष्मी काम-भोगों के लिए प्रेरित करती है। काम में आसक्त जीव काम-भोगों के लिए छः काय के जीवों का वध करता है तथा अधिकतापूर्वक सप्त-व्यसनों का सेवन करता है। उनका सेवन करते हुए पुनः अनंत संसार भ्रमण करानेवाले पाप-कर्म को बाँधकर भव पूर्ण करके नरक रूपी कूप में गिर जाता है। जब तक एक इन्द्रिय के वश से प्राणी महा-दुःख को प्राप्त करता है, तो पाँचों इन्द्रियों के वश में रहा हुआ जीव दुःख को प्राप्त करे-इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिए सभी दुष्ट अर्थों की प्रेरक लक्ष्मी बाण-दण्ड की तरह प्राणियों के प्राणों की अपहारिका व समस्त दोषों की जननी है।''

इस प्रकार धर्मोपदेश की पद्धति में जगत गुरु के द्वारा कहे जाते हुए केरल राजपुत्र उठकर विनय-सहित कर का सम्पुट बनाकर प्रणाम करके त्रिजगद्गुरु जिनेन्द्र को प्रश्न पूछने लगा-''स्वामी! आपके द्वारा तो लक्ष्मी को सर्व दुःखों का कारण तथा हेय रूप बताया गया है। पर हस्ती-अश्व-रथ आदि

विभूति के द्वारा सुन्दर, सामने चलते हुए अनेक पैदल सेनाओं से संकुल, सभी लोगों के लिए दर्शनीय, चतुर सर्प के समान चलनेवाली, समस्त ऐहिक सुखों की निधि के सदृश इस प्रकार की लक्ष्मी कैसे त्याग करने के लिए शक्य है?''

भगवान ने कहा–''कुमार! अनादि वासना के सम्बन्ध के योग से इन्द्रियों के वशीभूत रहे हुए संसारी जीवों को इन्द्रिय सुख परम इष्ट है और वह लक्ष्मी के अधीन है। अतः संसारी जनों को लक्ष्मी अति प्रिय है। पर लक्ष्मी तो खल पुरुष की तरह जीवों को अति दुःखदायी होती है। जैसे–खल पहले मीठे वचनों के द्वारा दूसरे को मोहित करके सभी कुछ जानकर उसको कुबुद्धि देकर कुकार्य में प्रवृत्त करवाता है। उसके बाद राजा के सामने कुकार्य में प्रवर्तन रूप चुगली करके कारागार में पहुँचवा देता है। पुनः राजा आदि के सामने कुछ भी उच्च–नीच वचन रचना करके उसे कुछ दण्ड दिलवाकर उसके आगे तो अति भयभीत होते हुए उसके सर्वस्व को ग्रहण कर लेता है। रंक की तरह अपने आधीन करके उसे रखता है। वह मनुष्य तो यही जानता है कि यह मेरा हितकारक है, अन्य कोई नहीं। बाद में खल पुरुष उसको मोहित करके और दरिद्र बनाकर घर से निकाल देता है। उसके सामने भी नहीं देखता है। वहाँ से स्थान–भ्रष्ट वह मनुष्य अनेक दुःखों का सामना करता है।

इस प्रकार लक्ष्मी भी दुःखदायी है। उसका भी चरित्र सुनो–यह लक्ष्मी मरण का दान देने में दक्ष है, पर संवर आदि धर्म से विमुख है। यह पहले तो महा–क्लेश से प्राप्त होती है, फिर प्राप्त होकर भी महा–दुःख से पाली जाती है। धन–संरक्षण का अनुबंध करनेवाले रौद्र ध्यान का मूल है। लक्ष्मी से दुलार को पाये हुए नर एक लक्ष्मी को उपार्जित करने के लिए प्रवर्तमान होते हुए कुल की मर्यादा तक का खयाल नहीं करते। न शील का ध्यान रखते हैं, शीलवानों का भी मान नहीं रखते। न वृद्धत्व का मान रखते हैं, न शास्त्र को मानते हैं, न धर्म की समीहा करते हैं, न आचरण की चिंता करते हैं, न जाति, कुल, धर्म व देश के विरुद्ध आचरण की उन्हें लाज ही आती है, लक्षण–अपलक्षण की गवेषण भी नहीं करते, न पवित्र कर्म को आदरते हैं। पुष्पमाला आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं के द्वारा यत्नपूर्वक और मानपूर्वक पूजित होने पर भी क्षण–भर में ही बदल जाते हैं। चाण्डाल की तरह विनय आदि गुणों से युक्त पुरुष का स्पर्श भी नहीं करते। मदिरा पीये हुए के समान प्रकृति किसी भी प्रकार से विकृति को प्राप्त हो जाती है। लक्ष्मीवान पुरुष ज्वर से गृहित पुरुष की तरह अनाप–शनाप बकते रहते हैं। अत्यधिक आकुल चित्तवाले होते हैं। धनवान व्यक्ति पानी से कीचड़ की तरह दाक्षिण्य को धो डालते है। किसी के भी मुख की रक्षा नहीं

करते। धूम के समूह से चित्रवल्ली की तरह हृदय को मलिन करते हैं। कहा भी गया है–

भक्तद्वेषो जड़े प्रीतिररुचिर्गुरुलङ्घने।
मुखे च कटुता नित्यं धनिनां ज्वरिणामिव।।

जिस प्रकार रोगी भोजन से द्वेष करता है, वैसे ही धनी व्यक्ति सेवकों से द्वेष करता है। जिस प्रकार रोगी को जल में रुचि होती है, उसी प्रकार धनी को मूर्खों में प्रीति होती है। जिस प्रकार रोगी को उपवास में अरुचि होती है, उसी प्रकार धनी को अपने पिता आदि गुरुजनों के वचन में अरुचि रहती है। रोगी का मुख जैसे कड़वा होता है, वैसे ही धनी के मुख पर सदैव कटु वचन ही होते हैं। इस प्रकार राज्यगुरु को गर्व के विष से गलित विवेकवाले नमन नहीं करते हैं, देव की पूजा नहीं करते, मुनियों की सेवा नहीं करते, शास्त्र का श्रवण नहीं करते, माता, पिता, सज्जन व कुल–वृद्ध आदि की लज्जा को भी नहीं धारण करते। अपने द्वारा कहे हुए असुन्दर वचनों को भी अतीव सुन्दर रूप से स्थापित करते हैं। दूसरों के द्वारा कहे हुए सुन्दर वचनों को भी असुन्दर रूप से स्थापित करते हैं। उसी पुरुष को अपने पास बैठाते है, उसी का कहा हुआ सुनते हैं, वही पास बैठकर बोलने में समर्थ होता है, अभिनव वस्तु, खान–पान, द्रव्य, वस्त्रादि भी उसी को देते है, उसी को आत्मीय मित्र, सज्जन तथा शुभचिंतक के रूप में जानते हैं, उसी का बहुमान करते हैं, उसी के साथ बात–चीत करते हैं, हृदय में रहा हुआ सभी कुछ उसी को ही कहते हैं, जो राजा के द्वारा कहा हुआ "तहत्ति" कहकर स्वीकार करता है। जो राजा की स्तुति देवता की तरह करता है। जो राजा के भुजबल–पराक्रम, दानादि में उदारता को अतिशयपूर्वक वर्णन करता है। इन आचारों के द्वारा ही राजा का वल्लभ हुआ जा सकता है, सत्यवादिता के द्वारा नहीं, प्रतिवचन में शिक्षा के द्वारा नहीं और न ही भविष्य में हित को करने के द्वारा। इसलिए हे कुमार! इस प्रकार की राजलक्ष्मी के द्वारा अनेक प्रकार के विकार पैदा होते हैं, अज्ञानीजनों को कर्मों का बंध होता है, पर बुधजनों तथा तत्त्वज्ञों के लिए पूर्वापर आय–व्यय की दर्शिनी नहीं होती। इस विषय में एक कथानक सावधान मनवाले होकर सुनो। जैसे–सुचिवोद व श्रीदेव नामक दो साहूकार मित्रों ने लक्ष्मी की विशालता करके उच्च पद को प्राप्त किया, पुनः लक्ष्मी के स्थिरीकरण के लिए शुचित्व, पूजा आदि अत्यधिक बहुमान करते हुए लक्ष्मी ने उन्हें तृणवत् अकिंचित्कर बना दिया। वह इस प्रकार है–

सुचिवोद–श्रीदेव का कथानक

भोगपुर नगर में सुचिवोद तथा श्रीदेव नामक दो वणिक्–पुत्र अलग–अलग

पाटक में रहते थे। उन दोनों के पिता की परम्परा से आयी हुई महालक्ष्मी सुखपूर्वक गृहवास का पालन करती थी। उन दोनों के मध्य में जो सुचिवोद था, उसकी शौचधर्म में रति थी। प्रतिदिन ताम्बे के पात्र में पानी लेकर हाथ से छांटता था, फिर वहाँ बैठता था। गृहकार्य के लिए जो भी वस्तु लाता था, वह पहले जल छांटकर शुद्ध करता था, फिर उसे घर में लाता था।

एक बार उसके घर में चाण्डाल आये। उसकी गृहिणी लक्ष्मीवती ने पूछा– "किसलिए आये हो?"

उन्होंने कहा–"पूर्व में सुचिवोद के पिता के द्वारा हमें ब्याज में दीनारें दी थीं। बहुत समय बीत जाने के बाद हमारी दीनार–सम्पत्ति हो गयी है। अतः उसके ऋण को छुड़ाने के लिए ब्याज सहित दीनारों का लेख करवाकर सभी देय दीनारों को लेकर आये हैं। अतः सुचिवोद कहाँ गये हैं?"

लक्ष्मीवती ने कहा–"अभी तो मध्याह्न–काल है, घर के ऊपरी हिस्से में सुख–निद्रा में सोये हुए है। मैं उन्हें उठाती हूँ।"

मातंगों ने कहा–"निद्रा–छेद करना महा–पाप है, क्योंकि निद्राछेदी पंक्ति–भेदी होता है। अतः इन दीनारों को आप ही ग्रहण कर लेवें। जागने पर उन्हें दे देना और सब कुछ कह देना।"

इस प्रकार कहकर एक भाजन में दीनारें देकर वे चाण्डाल चले गये। तब तक सुचिवोद भी नींद से उठकर नीचे आ गया। लक्ष्मीवती ने मातंगों की पूरी बात उसे बतायी। सुचिवोद ने कहा–"वे दीनारें कहाँ रखी हैं।"

उसने कहा–"भाजन में रखी है।"

सुचिवोद ने दीनारों को देखकर पूछा–"लक्ष्मीवती! जलयोग किया या नहीं?"

उसने कहा–"लक्ष्मी–सरस्वती का संयोग होने पर दीनारें होती है, तो उसमें जलयोग करने का क्या प्रयोजन?"

यह सुनकर भृकुटि चढ़ाकर रौद्र होकर क्रोध से बोला–"इन दीनारों का नाश हो। किसी खड्डे में अथवा तो पर्वत की कन्दरा में जा पड़े। तेरे घर में पवित्रता नहीं है। मेरे पवित्र घर को तुमने मलिन कर दिया है।"

यह कहकर वाम पैर से उन दीनारों को ठोकर मारी। तब लक्ष्मी ने चिंतन किया–"यह पाप के उदय से अयोग्य है, जो घर में आयी हुई मुझको वाम पैर से स्खलित करता है। अतः मुझे इसके घर का त्याग कर देना चाहिए। मुझे ऐसा करना चाहिए, जिससे कि इसके उदर तक की पूर्ति न हो पाये। इस घर को दरिद्रता से पूर्ण करना चाहिए।"

यह विचार कर लक्ष्मी ने सुचिवोद के घर को छोड़ दिया। अचानक थोड़े से दिनों में ही सारा धन चला गया। घर पर कुछ नहीं रहा। आजीविका के लिए जो–जो भी व्यापार करता, वह सब विपरीत हो जाता। धन के जाने पर जिसकी सेवा आदि करता था, उसकी कुछ भी अशुद्धि होती, अमंगल होता, तो उसे घर से निकाल देता। इस प्रकार स्वजन वर्ग व शेष लोगों का अनिष्टतर हुआ। प्रतिदिन के निर्वाह के योग्य अन्न भी घर पर न रहा। भूख से पतले हुए पेटवाला इधर–उधर घूमता था। अन्न–मात्र भी दुर्लभ होने के कारण लक्ष्मीवती तो पीहर चली गयी। वह भी दुःख परम्परा की अग्नि से जलते हुए मनवाला कुछ भी निर्वाह करने में असमर्थ होते हुए देशान्तर को चला गया। एक गाँव से दूसरे गाँव जाता, जहाँ–जहाँ भी व्यवसाय करना शुरू करता, वहाँ–वहाँ विपरीत होने से प्रबल दुःख को प्राप्त करता। किसी की भी सेवा आदि करने की कोशिश करता, तो चोरी का कलंक लग जाता था। अतः उसे निकाल दिया जाता था। इस प्रकार अनेक ग्राम, देश आदि में बहुत समय तक भ्रमण किया, पर सभी जगह प्रयास विफल होने से भग्नाशावाला वह पुनः अपने देश की तरफ चला।

एक बार बिना खाये हुए कष्टपूर्वक मार्ग का अतिक्रमण करते हुए क्षुधा से पीड़ित एक नगर के समीप देवकुल में क्षुधा से आकुल मार्ग के श्रम से क्लान्त ग्लान शरीरवाला खेदित होता हुआ बैठा था। तब एक मातंग वहाँ आया। वह मूल मण्डप में जाकर यक्ष को प्रणाम करके मण्डप में बैठ गया। सुचिवोद भी भूख–प्यास से क्लान्त शरीरवाला देवालय के एक कोने से पड़ा हुआ मातंग के क्रिया–कलाप को देख रहा था। तब मातंग ने प्रणाम करके आडम्बर–युक्त पूजा–विधान करने के लिए प्रवृत्त होते हुए मण्डल को लीपकर यक्षिणी की पूजा का उपचार किया। मंत्र–जाप का स्मरण किया। क्षणान्तर में ही यक्षिणी आ गयी। चण्डाल ने कहा–"भगवती ! सकल इच्छित प्रकट करो। मेरे लिए विलास भवन करो।"

यक्षिणी ने वैसे ही भवन–भोजन आदि सामग्री उत्पन्न की। तब देवियों के समूह ने सुगन्धित तेल आदि के द्वारा चाण्डाल की मालिश की, श्रेष्ठ सुगन्धवाले उद्वर्तन से उबटन किया, पुष्पादि से वासित गर्म जल के द्वारा स्नान कराया। फिर सुकुमार सुगन्धित काषायिक वस्त्रों के द्वारा अंग पोंछकर, शुद्ध चीनांशुक वस्त्र पहनाकर विविध आभूषणों के द्वारा आभूषित करके, श्रेष्ठ आसान पर बैठाकर, स्वर्ण–रत्नमय भाजन में विविध रसों से निर्मित भोजन खिलाकर, आचमन आदि के द्वारा मुख व हाथ आदि की शुद्धि कराकर, रत्नजड़ित स्वर्ण–पलंग पर सुकुमार तूलिका से बने हुए बिस्तर को बिछाकर, उस देवशय्या पर स्थापित

कर, अति–सुगन्धित द्रव्य से मिश्रित ताम्बूल देकर मातंग को प्रसन्न किया। इस प्रकार सुर–रमणियों के द्वारा गीत–नृत्य आदि अनेक विलासों से विलसित होते हुए वह मातंग अद्भुत सुख में लीन हो गया। जब रात्रि की एक घड़ी बीती, तब सभी कार्य सम्पन्न हो जाने से उन्हें भेज दिया। पुनः पहले की तरह देवकुल में स्थित रहा।

यह सभी सुचिवोद ने देखा। देखकर विचार करने लगा–"अहो! यह मातंग विद्या रूपी रत्नों का सागर है और अचिन्त्य शक्तिवाला है। अब इसकी ही सेवा करता हूँ। सेवा से प्रसन्न होकर मेरे दारिद्र्य को मूल से ही उखाड़ देगा।"

इस प्रकार विचार करके सेवा करने में प्रवृत्त हुआ। पीछे–पीछे घूमने लगा। बैठने की इच्छा होने से पहले ही आसन देता है, उसके आगे सावधान मनवाला होकर रहता है, मुख से वचन के निकलने–मात्र से उस कार्य को निपुणता से कर देता है। इस प्रकार जिससे उसके चित्त को प्रसन्नता हो, वैसा ही करने लगा। उठने की इच्छा होने–मात्र से ही पादुकाएँ लाकर उसके पाँवों में पहनाता है, मार्ग में गमन करते हुए विनयपूर्वक सेवक की तरह पीछे–पीछे सेवा करते हुए चलता है। उसके उपकरण–भार को उठाते हुए पग–पग पर खमा–खमा शब्दों को बोलते हुए चलता है। इस प्रकार चिरकाल तक सेवा करते हुए उसने मातंग का मन जीत लिया।

तब एक दिन चाण्डाल ने सुचिवोद से कहा–"हे भद्र! किस कारण से मेरी अनिर्वचनीय सेवा करते हो? मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ, अतः अपने मन की इच्छा कहो, जिससे मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर सकूँ।"

तब सुचिवोद ने प्रणामपूर्वक दोनों हाथों को जोड़कर कहा–"स्वामी ! मैं गरीबी से पीड़ित हूँ। अति–दारिद्र्य से पराभूत होकर घर से निकला। पर गरीबी तो मेरे पीछे पड़ गयी है। किसी भी प्रकार से मेरा साथ नहीं छोड़ती। कहा भी है–

रे दारिद्द वियक्खण! वत्तां एक सुणिज्य।
अम्हे देसांतर चालस्युं तुं घरसार करिज्ज।।
पडिवन्नुं गिरुयाँ तणुं निरवहे नेट निवाणं।
तुम देशान्तर चालतैं अमे पिण आगै ठाण।।

दरिद्री व्यक्ति गरीबी से कहता है– हे विचक्षण गरीबी! एक बात सुन। मैं देशान्तर जाता हूँ। तूं घर की सार–सम्भाल करना।

उसकी वाणी सुनकर गरीबी ने कहा–मेरा यहाँ निर्वाह नहीं होगा। तुम

देशान्तर जाते हो, तो मैं तुम्हारे आगे–आगे आऊँगी।

इस प्रकार हे स्वामी! अर्थ की इच्छा से मैं समस्त भूमण्डल पर घूमा, पर कहीं भी धन–मात्र भी प्राप्त नहीं किया। अतः नहीं प्राप्त हुए धनवाला मैं निराश होता हुआ पीछे घर की ओर रवाना हुआ। अभी किसी पूर्वकृत शुभकर्म के उदय से तथा भवितव्यता के योग से आपके दर्शन हुए। आपके अतुल सामर्थ्य को मानकर आपकी सेवा के लिए प्रवृत्त हुआ। अगर आपके दर्शन और सेवा से मेरा दारिद्र्य नहीं जायेगा, तो अन्य कौन मुझे इस दारिद्र्य के समुद्र से तार सकेगा? अतः मैंने निश्चय करके आपकी सेवा प्रारम्भ कर दी। इसलिए हे स्वामी! कृपा करके मुझे दारिद्र्य–सागर से पार उतारें।"

सुचिवोद के इस प्रकार के वचनों को सुनकर प्रसन्न होते हुए मातंग ने कहा–"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। यक्षिणी–आराधना की इस विधि को ग्रहण करो।"

तब सुचिवोद ने उठकर "महान कृपा" कहकर प्रणाम किया। तब मातंग ने चित्त की प्रसन्नतापूर्वक यक्षिणी मंत्र को आम्नायपूर्वक दिया। सुचिवोद ने उसे विनयपूर्वक ग्रहण किया। पुनः मातंग ने कहा–"यहीं मेरी सहायता से इस मंत्र को साधो, जिससे तुम्हारी निर्विघ्न सिद्धि होवे।"

तब सुचिवोद ने उसकी सहायता से अपने आपको कृतार्थ मानते हुए मंत्र साधा। फिर मातंग ने कहा–"अपने घर जाओ और मन–इच्छित करो।" यह कहकर उसे भेज दिया। सुचिवोद भी मातंग को नमन करके अपने घर की तरफ चला। मार्ग में जाते हुए अनेक मनोरथों की कल्पना करते हुए कुछ ही दिनों में अपने घर को प्राप्त हुआ। सबसे पहले यक्षिणी को साधने की सामग्री की। चौक में मण्डल का आलेखन किया। उसके लेपे जाने पर यक्षिणी की पूजा का उपचार किया। वहाँ बैठकर जब मंत्र का स्मरण करने लगा, तो मंत्र का मुख्य पद ही विस्मृत हो गया। "मुझे अब क्या चिंता?" इस प्रकार अति हर्ष–युक्त मानस के द्वारा मार्ग में सैकड़ों मनोरथ को करने की उत्सुकता से तथा व्यग्र चित्त होने से मंत्रपद को भूल गया। अनेक प्रकार से ऊहा–अपोह किया, पर आवरण का दोष होने से मंत्रपद स्मृतिपथ पर नहीं आया। फालभ्रष्ट बंदर की तरह विलक्ष हो गया।

पुनः ग्राम–नगर–उपवन में मातंग की गवेषणा करते हुए पता चला कि अमुक स्थान में मातंग रहता है। तब वह उसके समीप गया। यथावस्थित देखकर मातंग ने उसके आने का प्रयोजन पूछा। उसने भी मंत्रपद भूलने की समस्त घटना बतायी। यह सुनकर करुणार्द्र होते हुए कहा–"हे भद्र! तुम भूलने के स्वभाववाले हो। विद्या तो एक व्यक्ति को एक बार ही दी जा सकती है। दूसरी

बार देने की गुरु-आज्ञा नहीं है। अगर फिर भी दी जाती है, तो हम दोनों के लिए ही वह विफल हो जायेगी। अतः वह विद्या तो देना अब शक्य नहीं है। तुम्हारा दुःख देखने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ। यह विद्या से अभिमन्त्रित वस्त्र ग्रहण करो। यह पट स्वतः सिद्ध है। धूप, दीप आदि से पूजा करके जो माँगा जाये, वह देता है। इच्छित को पूर्ण करता है। अतः इसे ग्रहण करके अपने घर जाओ और सुखी होओ।''

यह कहकर मांतग ने पट दे दिया। उसने भी प्रणामपूर्वक ग्रहण किया। तब मातंग की आज्ञा लेकर अपने देश की ओर चला। स्वतः सिद्ध पट को प्राप्त करके विचार करने लगा-'अब सर्व इच्छा की पूर्ति करनेवाला पट दिया है। कुछ पूजा आदि करके इच्छित प्राप्त कर लूँगा। मेरे सारे मनोरथ सफल होंगे। दुर्जनों के मुख को मलिन बनाऊँगा। नगर में मुझे फिर से सम्मान मिलने लगेगा। अतः जिन खलपुरुषों ने मेरी खराब स्थिति में मुझे दुर्वचन कहे थे, उन्हें शिक्षा दूँगा। अतः अब शीघ्र ही घर जाता हूँ। चिन्तित को सफल करता हूँ।'

इस प्रकार मनोरथों को करते हुए उत्सुकता के साथ क्षुद्र सार्थ के साथ चल पड़ा। अपने गाँव तक पहुँचने के लिए जब दो दिन जितना रास्ता बचा, तो रास्ते में चोर मिल गये। उन्होंने सार्थ लूट लिया। उसका वह पट भी चोरों ने ले लिया। पुनः दुःखी होते हुए वापस लौट गया। उस मातंग को खोजते हुए कितने ही दिनों के बाद उससे मिला। उसके पाँवों में गिर पड़ा। मातंग ने पूछा-''पुनः कैसे आना हुआ?''

तब उसने पट की घटना कह सुनायी। उसकी दीनता को देखकर मातंग को अत्यधिक करुणा उत्पन्न हुई। तब उसने विद्या से अभिमंत्रित कामघट नामक घट दिया। उसकी पूजन-विधि भी बतायी। सुचिवोद मातंग को नमन करके हर्षित होता हुआ अपने देश की ओर चला। कुछ दिनों में घर पहुँच गया। वहाँ जाकर चारों कोनों में गोबर से मण्डलाकार करके धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, चन्दन आदि के द्वारा घट की पूजा करके घट को प्रार्थना की। जो भी माँगा, घट ने उसे दिया। प्रसन्न होकर सुचिवोद विचारने लगा-''स्वजन आदि को आमंत्रित करके उन्हें भोजन करवाऊँ, जिससे पूरे नगर में मैं विख्यात हो जाऊँ। उसके बाद घर-आभूषण आदि की प्रार्थना करूँगा।''

इस प्रकार विचार करके भोजन-सामग्री माँगी। दैव के अनुभाव से सर्व सामग्री प्रकट हो गयी। तब स्वजन आदि को आमंत्रित करके उन्हें भोजन कराने लगा। वे सभी भी अनुपम दिव्य रसवती जाकर प्रशंसा करने लगे। तब कितने ही स्वजन, सम्बन्धी, बन्धु वर्ग के द्वारा बहुमानपूर्वक पूछा गया-''हे भाग्यनिधि

सुचिवोद! इस अभूतपूर्व अभुक्तपूर्व दिव्य रसोई कहाँ से खिला रहे हो? ऐसी रसोई तो किसी ने भी पूर्व में नहीं खायी, न ही कभी खाने को मिलेगी। मनुष्यलोक में भी देवलोक के तुल्य भोजन का आस्वादन तुमने करवाया है। तुम धन्य हो और सर्व जनों में अग्रणी हो। तुम्हारे जैसा अन्य कोई नहीं देखा। पर यह तो बताओ कि तुम्हारे में ऐसी शक्ति कहाँ से आयी? यह किसकी महिमा है?"

तब सुचिवोद ने उनके वचनों से गर्वित होते हुए, मान के आवेश से मदमस्त होकर घर के अन्दर जाकर उस घट को कन्धे पर चढ़ाकर स्वजनों के मध्य रहते हुए हर्ष से विकल चैतन्यवाला होकर नृत्य करते हुए मुख से कहने लगा–"अहो। इस घट के प्रभाव से मेरा दारिद्र्य प्रनष्ट हो गया। भोजन तो क्या चीज है? इस प्रकार का भोजन तो इस घट के प्रभाव से मैं हर महीने ही आप लोगों को खिलाऊँगा। अब कौन मेरी तुलना करेगा? अगर कोई है, तो मेरे सामने आओ। उसका सामर्थ्य भी देख लूँ।"

इस प्रकार गर्वपूरित हृदय की उत्सुकता से व्याकुल चित्त के द्वारा हर्ष से नाचते हुए उसके सिर पर से घट गिरकर टूट गया। उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। अब वह निराश होकर दुःख करने लगा। उसके मुख को देखकर हर घर में और हर मनुष्य उसकी हँसी उड़ाने लगे। मूर्खता में किसी के प्रवृत्त होने पर उसी का उदाहरण दिया जाता। वह देखकर हृदय में जलते हुए पुनः ग्राम से निकल गया। मातंग को खोजने लगा। अनेक दिनों के बाद वह मिला। उससे सारी घटना कही। मातंग भी वह सब सुनकर कुछ हँसते हुए सिर पर हाथ देकर बोला–"धिक्कार है तुम्हारी मूर्खता को! सर्व–इच्छित देनेवाली वस्तु को तुम्हारे जैसे मूर्ख के बिना लोगों के मध्य में कोई भी प्रकट नहीं करता। हे जड़धी! तीन बार तुम्हारे मनोरथ को सिद्ध करनेवाली स्वभाव सिद्ध विद्या दी, फिर भी तुझ मूढ़ की दरिद्रता नहीं गयी। तुम वापस मेरे पास आ गये। अब मेरे पास कोई अन्य मंत्रादि नहीं है। मेरे पास इतनी ही विद्याएँ थी। वह सभी मैंने तुमको दे दी। अब मेरे पास मत आना। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ जाओ।"

इस प्रकार कहकर उसके द्वारा भेजा हुआ सुचिवोद उदास मुखवाला होकर घर आ गया। दिन को आर्त्तध्यान से बीताकर रात्रि में सोया। जैसे ही निद्रा के अभिमुख हुआ, वैसे ही एक मध्य वयवाली श्वेत वस्त्रों को धारण किये हुए श्रेष्ठ तरुणी घर के मध्य में सामने से आती हुई दिखायी दी। तब संभ्रम सहित उठकर उसे प्रणाम करते हुए पूछा–"भगवती! आप कौन हैं? किसलिए आयी हैं?"

उसने कहा–"तुम्हारे वाम पैर के द्वारा जिसे अशुचि कहकर घृणा करते हुए दूर उछाला गया था, मैं वही तुम्हारी गृहलक्ष्मी हूँ।"

सुचिवोद ने कहा–"अब कहाँ रहती हो?"

उसने कहा–"जिसके स्पर्श से मैं अशुचि मानकर तुम्हारे द्वारा दूर फेंकी गयी थी, उसी मातंग के घर पर रहती हूँ।"

सुचिवोद ने पूछा–"कौन मातंग?"

देवी ने कहा–"जिसकी सेवा करते हुए तुमने अत्यधिक दिन बिताये, जिसके पीछे–पीछे लगे हुए, उसके जूतों आदि का वहन करते हुए तुम्हारी आत्मा परिक्लेशित हुई, उसी के पास रहती हूँ।"

उसने पूछा–"यहाँ क्यों आयी हो?"

देवी ने कहा–"मैं तुम्हारे उसी शौचधर्म को देखने आयी हूँ, कि किस प्रकार तुम शौचधर्म की रक्षा करते हो?"

यह कहकर लक्ष्मी अन्तर्ध्यान हो गयी। सुचिवोद तो लज्जा से झुके हुए कन्धोंवाला अतिक्लेशपूर्वक प्राणवृत्ति को करते हुए सकल लोगों की हँसी का पात्र बना। जहाँ–जहाँ भी वह जाता था, वहाँ–वहाँ लोग उसके मूर्खता और कामकुम्भ के टूटने की बात बताकर उसका परिहास करते थे। यह सुनकर वह मन ही मन जलता था, पर निर्धन होने से दुःखपूर्वक काल व्यतीत करता था।

इसलिए हे केरल कुमार! यह अन्त को प्राप्त होनेवाली लक्ष्मी अति शौच करने पर भी स्थिर नहीं रहती। सेवा और पूजा के द्वारा भी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती। उसे भी सुनो।

जो दूसरा सुचिवोद का मित्र श्रीदेव था, उसने भी अनेक प्रकार से अन्य देवी–देवताओं की पूजा छोड़कर एक–मात्र लक्ष्मी देवता की प्रतिमा करवाकर घर के मध्य पवित्र स्थान पर देवी–गृह करवाकर मंत्र–आह्वान, पूजन, संस्कार आदि विधि के द्वारा प्रतिष्ठापित की। नित्य त्रिकाल धूप–दीप–पुष्प आदि के द्वारा पूजन करता था। प्रतिक्षण लक्ष्मी–मन्त्र व ध्यान आदि का स्मरण करते हुए काल को व्यतीत करता था। एकबार लक्ष्मी की प्रतिमा के मुख को हास्य की मुद्रा में देखकर श्रीदेव ने पूछा–"भगवती के हँसने का क्या प्रयोजन है?"

लक्ष्मी ने कहा–"तुम्हारा चरित्र।"

श्रीदेव ने कहा–"मेरा अनुचित चरित्र क्या है, जो कि तुम्हारे परिहास का कारण बना?"

लक्ष्मी ने कहा–"सुनो। जो तुम परम पद के साधक, परम करुणामृत रूपी रस से भरे हुए कुम्भ के समान, सकल चराचर जीवों के हित–वत्सल,

सकल देवेन्द्रों व नरेन्द्रों के द्वारा पूजित चरणवाले, समस्त वांछित सुख को देनेवाले, तीन ही जगत में उत्तम श्री जिनेन्द्र को छोड़कर इसलोक से प्रतिबद्ध अति उपचारपूर्वक मेरा पूजन करते हो। मैं तो पूर्व जन्म के उपार्जित पुण्य के वशीभूत होकर ही स्थिर–भाव से रहने में शक्य हूँ। जब तक प्रबल पुण्योदय है, तब तक ही मैं स्थिर रहती हूँ। अपनी इच्छा से रहने में मैं समर्थ नहीं हूँ। अतः जिसकी सेवा से कार्य सिद्ध न हो, उसकी सेवा करना व्यर्थ है। पुण्य के आधीन लक्ष्मी होती है–यह तो जगत में प्रसिद्ध ही है। पुण्य तो शुद्ध देव, गुरु, धर्म, दान, शील, तप आदि के द्वारा होता है, मेरे जैसों की सेवा करने से नहीं। अतः तुम्हारी व्यर्थ की सेवा ही मेरे परिहास का कारण है।"

श्रीदेव ने कहा–"भगवती! तेरी पूजा में परायण मेरा जो होना है, वह हो जाये, पर तुम्हारी पूजा प्राणान्त तक नहीं छोड़ूँगा।" इस प्रकार निश्चल चित्त के द्वारा लक्ष्मी–पूजा करते हुए दिन व्यतीत करने लगा।

एक बार लक्ष्मी–पूजन के अवसर पर लक्ष्मी के श्याम मुख को देखकर श्रीदेव ने पूछा–"भगवती! किस कारण से तुम मुझे विवर्ण मुखवाली प्रतीत होती हो?"

लक्ष्मी ने कहा–"तुम्हें अभी जो पुत्र हुआ है, वह विलक्षण पुण्य रहित व पाप की बहुलतावाला है। अतः अब मैं तुम्हारे घर को छोड़ने की इच्छा रखती हूँ। तुम्हारी अतिभक्ति के द्वारा तुम पर स्नेह भाव होते हुए भी मुझे अवश्य ही जाना होगा। अतः तुम्हारे वियोग के दुःख से मैं ऐसी हो गयी हूँ। पुण्य के बिना मेरी स्थिरता नहीं हो सकती। शास्त्र में भी कहा है–जो कोई भी सत्लक्षणवाला पुत्र, दास, पशु अथवा पुत्रवधू के रूप में आता है, उसके आगमन–मात्र से बिना बुलाये हुए भी लक्ष्मी अनुज की तरह पीछे–पीछे चली आती है। थोड़े ही समय में घर को लक्ष्मी से परिपूर्ण कर देती है। अगर कोई बुरे लक्षणोंवाला पूर्वकृत पापों के समूहवाला पुत्र, पुत्री, सेवक अथवा तिर्यंच आता है, तो आगमन–मात्र से यत्नपूर्वक रक्षित लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि पुण्य–पाप के उदय से ही अचिन्तित लक्ष्मी आती–जाती रहती है। कहा भी है–

पुण्योदयाद् भवेल्लक्ष्मीर्नालिकेरफलेऽम्बुवत्।
अज्ञाता हि पुनर्याति गजभुक्तकपित्थवत्।।

पुण्य के उदय से ही लक्ष्मी नारियल के अन्दर पानी की तरह ही होती है। हाथी द्वारा खाये हुए कपित्थ की तरह वह अज्ञात रूप से चली जाती है।

बिना इच्छा के भी मुझे जाना ही होगा। अतः मेरा मुख विवर्ण हो गया है।"

श्रीदेव ने पूछा–"भगवती! कहाँ जाओगी?"

लक्ष्मी ने कहा–"इसी नगर में पूर्वभव में मुनि को दान देनेवाला भोगदेव नामक सार्थवाह रहता है, जिसके पूर्वकृत कर्मों का उदय अभी नहीं आने से वर्जित–विशाल भोगवाला है। अब उसका पुण्योदय हुआ है। अतः भोगदेव नाम को सार्थक बनाने के लिए उसके घर जाना ही होगा।"

इतना कहकर लक्ष्मी गायब होकर उसके घर से चली गयी। अब भोगदेव के घर पर गयी हुई लक्ष्मी ने कुछ ही दिनों में धन–धान्य–सुवर्ण–रत्न–मणि–माणिक्य आदि समृद्धि को बढ़ाना शुरू कर दिया। जहाँ–जहाँ भी वह व्यापार करता था, आशा से अधिक लाभ की प्राप्ति होती थी। चारों ओर से घर ऋद्धि से पूर्ण होने लगा। नगर में महाजनों के बीच भी उसका सम्मान बढ़ गया। राजद्वार में भी राजा के द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ। घर का आँगन भी अश्व आदि, सुखासन आदि तथा दास–दासी, मन्त्रियों आदि से व्याप्त हो जाने से भवन में प्रवेश करना भी दुःशक्य हो गया। यश–प्रतिष्ठा आदि से समस्त नगर को धवलित करके भोगदेव लक्ष्मी को प्राप्त करके माँगनेवालों को जरुरत से ज्यादा देता था, उपकार करता था, इससे उसका यश जगत में विख्यात हो गया। स्वयं वस्त्राभरण से सज्जित होकर, देव की तरह विपुल शृंगार करके, अश्व आदि वाहन पर सुखासन पर आरूढ़ होकर, सैकड़ों भटों से घिरा हुआ चतुष्पथ आदि मार्ग पर जाता था। सभी महेभ्य श्रेष्ठी उठकर झुककर प्रणाम करते थे। उसके चले जाने पर उसके गुणों का वर्णन करते थे। जैसे–"पर–दुःख को नाश करने के स्वभाववाले इस श्रेष्ठी का जीवन सफल है। इसी के द्वारा प्राप्त ऋद्धि ही श्रेष्ठतम है, जिससे यह प्रतिदिन परोपकार में प्रवृत रहता है। इसका नाम–मात्र लेने से भी अच्छा ही होता है। यह तो नगर की शोभा है।"

इत्यादि गुणों का वर्णन जन–जन करता था। इस प्रकार त्रिवर्ग के साधनपूर्वक अपना समय व्यतीत करता था। उसकी पत्नी का नाम भोगवती था। एक बार वह उसके पास जाकर कहने लगा–"हे प्रिये! यथेष्ट दान दो। विलम्ब और कृपणता मत करना। मन–इच्छित वस्त्र–आभूषण आदि भी करवा लेना। मेरे प्रति कोई शंका मत रखना। इहलोक के भोग–विलास में कुछ भी कृपणता मत करना। ज्यादा क्या कहूँ? जब तक पुण्य है, तब तक लक्ष्मी है। पुण्य पूर्ण हो जाने पर रोकने पर भी लक्ष्मी रुकनेवाली नहीं है। अतः पुण्य का उपार्जन करो। उभय लोक को साधने से लक्ष्मी सफल होती है। यह बिना किसी शंका के जानो। अतः प्रिये! दान–भोगादि के द्वारा अभी लक्ष्मी के फल को प्राप्त करो। बाद में परलोक के हित के लिए चारित्र को ग्रहण करेंगे, क्योंकि हे प्रिय! हाथी

के कान की तरह चपल लक्ष्मी है। उसका विश्वास नहीं करना चाहिए, जो भोगा और जो परोपकार के काम में आ गया, वही अपना है–ऐसा जानना। अन्य सब तो परकीय व पाप का हेतु है, क्योंकि भवान्तर में भी इससे जन्य पाप अविरति का कारण होने से पाप का विभाग साथ में आता है। अतः अस्खलित दान देना चाहिए। इच्छा के अनुरूप भोग भी करना चाहिए।"

इस प्रकार भोगवती स्वयं तो दान–रसिक थी, पति के द्वारा प्रेरणा किये जाने पर उस दिन से विशेष रूप से सुपात्रदान आदि में उत्साहपूर्वक संलग्न हो गयी। जो कोई भी जो–जो माँगता था, वह–वह उसको देती थी। किसी को भी ना नहीं बोलती थी। इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत हो गया।

एक बार उस नगर के उद्यान में लोकालोक के पदार्थों को प्रकाशन करने में सूर्य के समान ही केवलि भगवान पधारें। उन्हें वन्दन करने के लिए विशाल पर्षदा गयी। भोगदेव भी यह सुनकर हर्ष–सहित भोगवती के साथ वंदन करने के लिए आया। केवली भगवान को देखते ही पाँच अभिगमपूर्वक वंदन करके तथा स्तुति करके यथोचित स्थान पर बैठ गया। तब भगवान ने संसार से निर्वेद प्राप्त करानेवाली धर्मकथा कही। अवसर देखकर भोगदेव ने विनति की–"भगवन! दान का क्या फल है?"

केवली ने कहा–"हे देवानुप्रिय! इस विषय में विशालपुर में संचयशील सार्थवाह के दुर्गतपताका नामक कर्मकर से पूछना चाहिए।"

भोगदेव ने "तहत्ति" कहकर उनके वचनों को स्वीकार कर लिया। समय पर देशना पूर्ण होने पर परिषदा जैसे आयी थी, वैसे ही चली गयी। केवली भगवान कुछ दिन वहाँ रुककर फिर विहार कर गये। तब भोगदेव केवली के वचनों के सत्यापन के लिए भोगवती को साथ लेकर रथादि वाहन पर आरूढ़ होकर अनेक सेवकों से परिवृत्त होकर विशालपुर में गया। नगर में प्रवेश करते ही दैव के योग से दुर्गतपताका की दुर्गिला नामक गृहिणी किसी कार्य के लिए मार्ग में जाती हुई मिली। उसे बुलाकर भोगदेव ने पूछा–"हे भद्रे! तुम संचयशील सार्थवाह का घर जानती हो?"

उसने कहा–"मेरे पीछे–पीछे आइए! उनका घर बताती हूँ।"

चलते हुए उसने सार्थवाह का घर बता दिया। उस घर के द्वार की वेदिका पर संचयशील सार्थवाह की पत्नी धनसुन्दरी खड़ी थी। उसे देखकर भोगदेव ने कहा–"हे भद्रे! क्या यह संचयशील का घर है?"

उसने कहा–"हाँ! यही है।"

भोगदेव ने पूछा–"श्रेष्ठी घर में है?"

उसने कहा–"चतुष्पथ में गये हैं।"

पुनः उसने पूछा–"भाग्यवती! क्या आपके घर में दुर्गतपताका नाम का कोई कर्मकर है?"

उसने कहा–"थोड़े दिन पहले था।"

भोगदेव ने कहा–"अब कहाँ गया है।"

उसने कहा–"अभी तो उसे मरे नौ महिने हो चुके हैं। मरे हुए को यह नवमा मास चल रहा है। आप जैसे महा–इभ्य श्रेष्ठी का उसके साथ क्या प्रयोजन है?"

भोगदेव ने केवली द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त कहा। तब तक संचयशील सार्थवाह भी आ गया। परस्पर शिष्टाचारपूर्वक जोत्कार किया और मिले। बाद में सुख–क्षेम वार्ता पूछी। भोगदेव ने मन में चिंतन किया कि केवली के वचन अन्यथा नहीं हो सकते। अतः यहाँ रहने पर ही संदेह का नाश होगा, क्योंकि अमूढ़लक्ष्यी केवली–वचन सत्य और गुणकारी होते हैं। अतः यहाँ निवास करना ही युक्त है।

इस प्रकार विचार करके संचयशील को कहा–"हे श्रेष्ठी! हमें एक सुन्दर घर भाड़े पर दे दो।"

संचयशील ने भी अपने बगल में रहे हुए खुद के ही विशाल घर को दिखाया। भाड़ा पक्का करके भोगदेव वहाँ रहने लगा।

एक बार संचयशील की गर्भवती पत्नी धनसुन्दरी नव–मास आदि गर्भ की स्थिति पूर्ण होने पर प्रसूति को प्राप्त हुई और पुत्र का जन्म हुआ। घर के अन्दर रहे हुए सभी मनुष्यों को अपुत्रक को पुत्र–प्राप्ति के कारण उत्साह जागृत हुआ। श्रेष्ठी तो चतुष्पथ पर गया हुआ था। तब एक दासी ने महालाभ की आशा से दौड़ते हुए चतुष्पथ में जाकर बाजार में स्थित श्रेष्ठी को हर्षपूर्वक बधाई दी। कृपणों के गुरु उस श्रेष्ठी ने "अच्छा हुआ" यह कहकर उसे भेज दिया। कुछ महेभ्यों ने यह सब सुनकर चमत्कृत–चित्तवाले होते हुए मुख में अंगुली डालते हुए एक–दूसरे के कान के पास जाकर कहा–"अहो! इसकी कृपणता? वृद्धावस्था में भी कुल–संतति का रक्षक पुत्र महती आशा से पैदा हुआ है, पर कुछ भी बधाई नहीं दी। यह कैसा निर्लज्ज है? कैसा इसका वज्र से भी कठोर हृदय है?"

तब एक मुखर व्यक्ति ने कहा–"श्रेष्ठी! पुत्र की बधाई में क्या दिया?"

श्रेष्ठी ने कहा–"क्या दिया जाये? क्या हुआ? मनुष्य–स्त्री अगर मनुष्य को ही पैदा करे, तो इसमें क्या आश्चर्य है? क्या कोई लाभ हुआ? अपितु सूतिका

के समय को पालने के लिए अनेकों क्रयाणक, घृत, गुड़ आदि का अति–व्यय होगा। उससे भी पुत्र का पालन करने में और अधिक खर्च होगा। पुत्र ने तो मेरे धन के खर्च का द्वार खोल दिया है।''

यह सुनकर चतुष्पथ पर रहे हुए सभी लोग हँसने लगे। दासी ने तो उदास मुख से निराश होकर घर पर आकर सारी घटना धनसुन्दरी के आगे निवेदन की। संध्या के समय श्रेष्ठी घर आया, तब घर के सभी सदस्यों ने सार्थवाह से कहा–''स्वामी! आपने क्या किया? आप अपुत्र को पुत्र की प्राप्ति हुई है। आपने कुछ भी बधाई नहीं दी। चतुष्पथ में रहकर भी आपको थोड़ी भी लज्जा नहीं आयी?''

यह सुनकर पुनः वहाँ भी पूर्ववत् उत्तर देकर श्रेष्ठी बाहर निकल गया। कौड़ी–मात्र भी व्यय नहीं किया।

एक बार शुचिकर्म से निवृत्त होने पर धनसुन्दरी और कुलवृद्धा ने परस्पर मंत्रणा की–''श्रेष्ठी तो ऐसे अवसर पर भी कुछ खर्च नहीं करता, शिला के समान कर्कश हृदय करके निर्लज्ज की तरह बैठ गया है। हमारे द्वारा अपने गोत्र के चाँद को ज्ञातिजनों व गोत्रीयजनों को भोजन कराये बिना कैसे दिखाया जा सकता है? गया हुआ समय फिर लौटकर नहीं आता।''

इस प्रकार विचार करके धनसुन्दरी ने सार्थवाह से कहा–''प्रियतम! हम जैसे अपुत्रों के महा–भाग्योदय से पुत्र आया है। पर भोग व दान में भीरू आप तो ऐसे अवसर पर भी कुछ नहीं करते हैं। इस प्रकार की कृपणता करके भारभूत इस लक्ष्मी के द्वारा आप क्या करना चाहते हैं? आयुष्य पूर्ण होने पर सब कुछ यहीं रह जायेगा। साथ में तो केवल द्रव्य से उपार्जित पाप ही आयेगा। अवसर पर द्रव्य खर्च न किये जाने पर ज्ञातिजनों तथा बन्धुजनों के मध्य रहना कैसे शक्य है? अगर आप कुछ नहीं करेंगे, तो मैं आभूषण आदि बेचकर इस प्राप्त अवसर पर खर्च करूँगी।''

इस प्रकार धनसुन्दरी के साथ घर में रहे हुए समस्त मनुजों ने भी उपालम्भ दिया। सभी के उपालम्भों को सुनकर सेठ व्याकुल हो गया। महा–दुःख में पड़कर सोचने लगा–''अहो! जैसी गृहिणी है, वैसे ही सभी पारिवारिक सदस्य हो गये हैं। ये क्या जानते हैं? द्रव्य क्या आकाश से आकर गिरता है? क्या घास की तरह उगता है? अथवा तो क्या भूमि से निकलता है? धन तो महा–क्लेश से प्राप्त होता है। ये लोग तो द्रव्योपार्जन के दुःख को कुछ भी नहीं जानते। हाँ! ये तो ग्रह से गृहित इतने सारे द्रव्य के व्यय को निरर्थक ही करायेंगे। एक मत होकर सभी ऐसा करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। अब मैं क्या कर सकता हूँ।

मेरी कौन सहायता करे? जिसके भी आगे कहता हूँ, वह तो इनका ही पक्ष लेता है। सभी भोजन के लोभी हैं। दूसरे के धन को खर्च करवाने में कौन रसिक नहीं होता? इतना द्रव्य पुनः कैसे मिलेगा? हा! यह क्या हुआ?''

इस प्रकार महा–आर्त्तध्यान से पराभूत होकर दिवस तो जैसे–तैसे व्यतीत किया संध्या में भोजन करके रात्रि में सो गया। पर चिंता के कारण नींद नहीं आयी, उससे भोजन का अजीर्ण हो गया। विसूचिका हुई। उस महा–वेदना के कारण वह मर गया। मरकर उसी नगर में आजन्म दरिद्र नागिल नामक व्यक्ति की नागिला नाम की भार्या की कुक्षि में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। पर जन्म से ही पिता की अनिष्टता देखकर खेद को प्राप्त होता था, हर्ष को नहीं। इस प्रकार वहाँ रहते हुए वह अत्यन्त दुःख से काल व्यतीत करता था।

उधर धनसुन्दरी पति के मरण को देखकर परम उद्वेग को प्राप्त होकर चिंतन करने लगी। ''धिक्कार है इस धन के लोभ को, व्यय की बात को सुनने–मात्र से ही इनका मरण हो गया। उनकी गति कैसे हुई है, यह तो ज्ञानी ही जाने। लोभ सर्व–विनाशक है–यह जिनागम में कहा हुआ सत्य ही है।''

फिर उसके अग्नि–संस्कार आदि मरण–कार्य को करके बाद में कुल व धर्म की रीति से उसके पीछे के दान आदि कार्य के करके शुभ दिन स्वजनों को संतुष्ट करके स्वजनों व कुटुम्ब की साक्षी से पुत्र का धनदत्त रूप में नामकरण किया। कुल का आधारभूत वह बालक अनेक यत्नों से पाले जाते हुए सात–आठ वर्ष का हो गया। अब वह बालक घर के अन्दर ही घूमते हुए परिजनों के अनेक वस्त्राभूषण, मंदिर की श्रेणी आदि तथा शयनादि स्थान को देखते हुए विचार करने लगा–''ये सभी वस्तुएँ मैंने पहले भी कभी देखी और अनुभूत की है।''

इस प्रकार ऊहा–अपोह आदि करते हुए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे पूर्व अनुभूत सब कुछ प्रत्यक्ष रीति से ज्ञात हुआ। तब पूर्वभव के पुण्य से विलसित को स्मरण करके अपनी मति से एक दोहा बनाकर उत्साह से बोलने लगा। जैसे–

दाणं जो दिन्नं मुनिवरह चडिआ तं पत्तइ तो मि।
रंकस्स वि सह संपडिय जं धण तेरहकोडि।।

मुनिवर को जो दान दिया, उससे चढ़ते परिणामों से उच्चता को प्राप्त किया और जिसके पास तेरह करोड़ का धन था, वह गरीबी के यहाँ जा गिरा।

इस प्रकार जहाँ–तहाँ भुजाओं को ऊपर करके प्रलाप करने लगा। इस प्रकार घूमते हुए पास में रहे हुए भोगदेव सार्थवाह के घर गया। वहाँ भी उच्च

स्वर में उस दोहे को बोलते हुए नाचने लगा। यह सुनकर और देखकर भोगदेव ने कहा–"हे भाई धनदत्त! तुम क्या बोलते हो? इस बात का क्या भावार्थ है? जो है, उसे सत्य–सत्य बताओ।"

धनदत्त ने कहा–"हे तात! जीव का भावार्थ कहता हूँ। उसे सुनिए–इसी नगर में दुर्गतपताका नाम से मेरे पिता के घर में जीव कर्मकर था। वह रात–दिन घर के सभी काम करता था। उसकी पत्नी भी इसी के घर में कूटना–पीसना आदि कार्य करती थी। इस प्रकार वे दोनों कठिन परिश्रम के द्वारा आजीविका करते थे। एक बार वह दुर्गतपताका किसी काम से अन्य महेभ्यों के घर गया, तो उसने वहाँ भिक्षा के लिए आये हुए साधुओं को देखा। वे महेभ्य प्रतिदिन अत्यधिक भक्ति के द्वारा अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि चारों अशन का दान देने के लिए साधुओं को निमन्त्रित करते थे। बार–बार अत्याग्रह करते थे। अनेक वस्त्र, पात्र, औषध आदि ग्रहण करने के लिए विविध भक्ति–युक्त वचनों के द्वारा विज्ञप्ति करते थे। पर साधु जिन–जिन वस्तुओं को निर्दोष व योग्य जानते थे, उन्हें ग्रहण करते थे, अन्यथा नहीं। कुछेक योग्य भी वस्तु निर्लोभी होने से नहीं ग्रहण करते थे। गोचरी के लिए भ्रमण करते हुए प्रत्येक घर में भिक्षा के लिए विज्ञप्ति करते हुए मार्ग में ही आहारादि का निमंत्रण करते थे, पर निःस्पृह भाव से साधुजन किन्हीं के घरों में जाते थे, तो किन्हीं के घरों में नहीं जाते थे। जिनके घर में आहारादि ग्रहण करते थे, वे तो मन में हर्ष धारण करते हुए खजाने के लाभ से भी अधिक होनेवाली प्रसन्नता को प्राप्त करते थे। पर जिनके घरों में नहीं जाते थे, वे अत्यधिक दुःख करते हुए अपनी आत्मा की निंदा करते थे कि हा! हम तो निर्भागियों के शिरोमणि हैं, जो कि हमारे घर में इन मुनियों के चरण नहीं पड़े। अगर आये भी, तो हमारे द्वारा दिया गया कुछ भी इन्होंने ग्रहण नहीं किया। इस प्रकार पुनः–पुनः पश्चात्ताप करते थे। वह सभी दुर्गतपताका देखता था और विचारता था कि अहो! ये महापुरुष परम निःस्पृह हैं, जो कि इस प्रकार के महेभ्यों द्वारा दिये गये अति मूल्यवान सरस मोदकों को ग्रहण नहीं करते, बल्कि रूक्ष व नीरस पदार्थों को ग्रहण करते हैं। इनका अवतार धन्य है, धन्य है वे दानरसिक! जो कि भोजन के द्वारा ऐसे सुपात्र मुनियों का पोषण करते हैं। मैंने तो पूर्वभव में किसी को भी कुछ भी दान नहीं दिया, जिससे उदर भरना भी अत्यन्त कठिन है। मैं महा पापात्मा हूँ। मुझे ऐसा अवसर कब मिलेगा, जबकि मैं दान दूँगा? साधु के योग्य आहार मेरे घर में कहाँ? और मेरे घर में साधु भी कैसे आयेंगे? हम जैसे को नदी–नौका का संयोग कहाँ? अगर आहारादि सामग्री का संयोग भी हो और साधु ग्रहण न करे, तो मेरे मनोरथ व्यर्थ ही

जायेंगे। किसी भी प्रकार के भाग्योदय से दान का योग सफल हो, तो मैं इस सुख को राज्य–प्राप्ति की तरह मानूँगा। पर मेरा ऐसा भाग्य कहाँ? पुण्यहीन होने से मेरा यह मनोरथ ही अयोग्य है।

इस प्रकार बीच–बीच में जब–जब महेभ्यों के घर साधुओं को देखता था, तब–तब इसी प्रकार के मनोरथ करता था। अपने आप की निंदा करता था। इस प्रकार भावना भाते हुए कितना ही समय बीत जाने के बाद बहुत से लोगों के घरों में विवाह आदि विधि उत्सव आये। एक दिन दुर्गतपताका एक परिचित के घर के आगे से निकला। तब उस घर के स्वामी ने उसे देखकर और बुलाकर कहा–"हे दुर्गपताका! तुम्हे भोजन के लिए निमंत्रित करता हूँ। पर तुम्हारा मालिक इसे स्वीकार नहीं करता। वह सोचता है कि यदि आज सेवक को भोजन के लिए आज्ञा दूँगा, तो मेरे घर पर भी अवसर आने पर इसके सेवक को भोजन के लिए निमंत्रित करना पड़ेगा। इस आशय से तुम्हारा सेठ भोजन के लिए तुम्हें मेरे घर पर नहीं भेजता। तुम्हारे साथ तो मेरा स्नेह है। अतः इस सुख से खाये *जानेवाले इस भक्ष्य को ग्रहण करो। चित्त की प्रसन्नता से इसका आस्वाद लो।"*

यह *कहकर स्नेहपूर्वक सुखपूर्वक* भक्षण योग्य पदार्थ खाने के लिए दिये। उन्हें *लेकर* वह निकल गया। मार्ग में उस अद्भुत भोज्य–पदार्थ को देखकर विचारने *लगा*–"अहो! आज मेरे मनोरथ को पूर्ण करने का अवसर है। यह आहार दोष–रहित, प्रशस्त व शुद्ध है। पर मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है कि इस अवसर पर साधु का संयोग होवे और मैं भक्तिपूर्वक साधुओं को दूँ? साधु भी कृपा करके मेरे दिये हुए को ग्रहण करे। इस प्रकार की याचित मेघ–वृष्टि कहाँ से होवे?"

इस प्रकार चिंतन करते हुए मार्ग में चलता हुआ, इधर– उधर देखता हुआ देय के दान के लिए व्याकुल होता हुआ जा रहा था, तब प्रबल पुण्य के योग से एक उग्र तपस्वी मुनि पारणे के लिए नगर में गोचरी के लिए घूमते हुए दिखाई दिये। चन्द्र को देखकर चकोर की तरह, उन्नत मेघ को देखकर मयूर की तरह अति हर्ष से भरे हुए हृदय से उल्लसित रोम–राशिवाला शीघ्र–शीघ्र साधु के समीप जाकर हाथों को जोड़कर विनति करने लगा–"हे स्वामी! हे कृपानिधि! मुझ गरीब पर कृपा करके यह शुद्ध आहार ग्रहण करें। शंका आदि दोषों से रहित यह आपके ग्रहण करने योग्य है। अतः पात्र सामने रखकर मेरा उद्धार कीजिए।"

तब साधु ने भी निर्दोष आहार जानकर अति उग्र भाव देखकर पात्र सामने रखा। वह भी निधान प्राप्त होने की तरह अत्यन्त हर्षपूर्वक सुखभक्षिका

आदि को एक ही बार में वहोराकर धन्य हैं, आपका चारित्र धन्य है। आज मुझ गरीब पर बड़ी कृपा की। मुझे संसार रूप कूप से आपने तार लिया, क्योंकि मुनि के दर्शन से कोटि भवों के किए हुए पाप नष्ट होते हैं। पुनः कृपा करना।''

इस प्रकार स्तुति करके और नमन करके पूर्ण मनोरथवाला हुआ। साधु भी धर्मलाभ देकर वापस लौट गये। दुर्गतपताका भी मुनि–दान की पुनः–पुनः अनुमोदना करते हुए घर आ गया। घर के कार्यों को करते हुए, पुलकित हृदय से मुनि–दान का स्मरण करते हुए, आश्चर्यचकित की तरह उत्साहित होते हुए, चिन्तित कार्य की सिद्धि होते हुए सोचने लगा–''अहो! मेरे भाग्य के योग से अचिन्तित और असम्भव कार्य भी कैसे हो गया? ये निःस्पृह मुनि अनेक महेभ्यों के द्वारा भिक्षा के लिए विनति किये जाने पर भी किसी के घर जाते है, किसी के घर नहीं जाते। जाते हैं, तो कुछ भी ग्रहण नहीं करते। किसी भाग्यवान के घर ही ग्रहण करते हैं। किसी के सामने तक नहीं देखते। ऐसे महेभ्यों की तुलना में मुझ रंक के निमंत्रण–मात्र से मेरे वचनों को अवधारित किया। प्रसन्नतापूर्वक मेरे द्वारा दिया गया ग्रहण किया। अहो! मेरे भाग्य का उदय हुआ। आज से मेरी दुर्गति का नाश हुआ।''

इत्यादि पुनः–पुनः अनुमोदना करते हुए पुण्य की पुष्टता की। उसके बाद धनसुन्दरी के पीहर–पक्ष के सम्बन्धियों के घर में विवाह उत्सव होने के कारण भोजन का निमंत्रण देने के लिए आये। श्वसुर पक्ष के भी घर में विवाह होने से भोजन का निमंत्रण आया। तब श्रेष्ठी आदि प्रमुख मनुष्य अपने ही कुटुम्ब के विवाहोत्सव में जाने के लिए उद्यत हुए। तब धनसुन्दरी ने कहा–''मैं तो पीहर–पक्षीय सम्बन्धियों के घर जाऊँगी। पर उनका दूसरा घर अत्यधिक दूर है, अतः दुर्गतपताका को लेकर जाऊँगी।''

यह सुनकर सेठ ने भी आज्ञा दे दी। तब सेठानी दुर्गतपताका के साथ अपने पीहर गयी। तब उसके सम्बन्धियों ने ''बहुत दिनों से आयी हो'' यह कहकर भोजन के लिए उसे बैठाया। फिर उसके सम्बन्धियों ने कहा–''बहन! तुम्हारे साथ आये हुए इस मनुष्य को आज्ञा दो, जिससे यह तुम्हारी आज्ञा पाकर भोजन ग्रहण करे। अन्यथा तो यह ग्रहण नहीं करेगा। मेरे घर में तो कुछ कमी नहीं है। हजारों लोग खा रहे हैं, दिन भी बहुत चढ़ गया है, यह बहुत दूर से तुम्हारे साथ आया है। उसे भोजन किये बिना नहीं जाने दूँगा।

तब धनसुन्दरी ने विचार–''मेरे साथ आये हुए इसका क्या प्रयोजन, अगर यह भूखा ही मेरे साथ वापस जायेगा?''

यह विचार करके आज्ञा दी कि तुम सुखपूर्वक जैसी इच्छा हो, वैसा

भोजन कर लो। तब दुर्गतपताका भोजन के लिए बैठा। गृहपति ने भी अपनी बहन का आज्ञाकारी जानकर प्रसन्नतापूर्वक अत्यधिक सरस सुखभक्षिका आदि भोजन करवाया। दास ने भी बहुत दिनों से इच्छित रुचि के अनुसार भव्य भोजन प्राप्त करके चित्त की प्रसन्नतापूर्वक आकण्ठ भोजन किया। भोजन के बाद ताम्बूल आदि का आस्वादन करके पुनः सेठानी के साथ घर आ गया। उन्हें घर पर छोड़कर अपनी झोंपड़ी में चला गया। वहाँ आराम करते हुए दान–धर्म की अनुमोदना करने लगा। भोजन अति–मात्रा में करने से उसी रात्रि में उसे अर्जीण हो गया। रात्रि के प्रथम प्रहर में उसे विसूचिका हुई। महती वेदना के अनुभव से पराभूत होता हुआ चिन्तन करने लगा–"यह प्राणों का हरण करनेवाली वेदना प्रकट हुई है। यह अवश्य ही प्राण ले लेगी।"

इस प्रकार निश्चित करके उसने विचार किया–"इस भव में मेरे द्वारा केवल पर की ही सेवा की गयी। दूसरों के द्वारा कहे हुए कार्यों को करते हुए मैंने पापों का ही अर्जन किया है, कुछ भी सुकृत नहीं किया, जो मेरे साथ आये। बस एक बार ही मुनि को दान दिया। अन्य कुछ भी पुण्य का उपार्जन नहीं किया। धन्य हैं वे इभ्य, जो नित्य ही मुनि को दान देने के लिए यत्न करते हैं। मैंने तो आजन्म तक एक ही बार दिया, वह मुझे सफल होवे, उन्हीं मुनि का मुझे शरण हो।"

इस प्रकार का ध्यान करते हुए वह मर गया। मरकर उसी सेठानी की *कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। कुमार वय प्राप्त होने पर मुझे पूर्व में* अनुभूत घर, वस्तुएँ, मनुष्यादि को देखकर जातिस्मरण ज्ञान हुआ। चूंकि महर्षि को दान देने के फल से ही मैं इस घर का स्वामी हुआ हूँ, इसीलिए मैं कहता हूँ कि "दाणं जो दिन्नं मुनिवरह" इत्यादि।"

इस प्रकार धनदत्त के कथन को सुनकर चमत्कृत होते हुए भोगदेव विचार करने लगा–"अहो ! केवलि श्रीगुरु का ज्ञान! अहो! संसार का प्रतिबोध–दायक स्वरूप! अहो! साधु –दान का महाफल! अहो! संचयशील की मूढ़ता व कृपणता।" इस प्रकार संसार भावना के द्वारा केवली के प्रवचन में विश्वास उत्पन्न हुआ। दान में अत्यधिक आदर–भाव हुआ। तब भोगदेव ने भोगवती से–"सुभगे! केवली–वचनों पर विश्वास और दृढ़ हुआ है। यद्यपि जगत की स्थिति परावर्तनीय है, फिर भी केवली के वचन कभी अन्यथा नहीं होते।"

अब एक दिन कोई गणधर नामक अतिशय ज्ञानी साधु संचयशील के घर में प्रविष्ट हुए। उनके द्वारा वह धनदत्त कुमार दोहे को गाते हुए व नृत्य करते हुए देखा गया। अतिशय ज्ञानी मुनि ने अपने ज्ञान से सम्पूर्ण घटना को

जानकर कहा–"हे कुमार! एकान्त के द्वारा हर्ष व उत्सुकता नहीं करनी चाहिए। कहा भी है–

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

विपत्ति में धैर्य, उन्नति में क्षमा, सभा में वाक्पटुता, युद्ध में विक्रम, यश में अभिरुचि तथा धर्म–श्रवण में व्यसन–ये गुण महात्माओं को स्वभातः सिद्ध होते हैं।

इन्द्र भी अपने पुण्य का वर्णन करते हुए लघुता को ही प्राप्त करता है। कहा है–

आप बड़ाई जे करे, ते नर लघुआ हुंत।
फीकां लागे चटकमें, ज्युं स्त्री कुच आप ग्रहंत।।

शास्त्र में भी स्वगुण तथा परदोष का वर्णन सर्वथा त्याज्य कहा गया है। तुम्हारे पिता संचयशील ने बिना दान दिये और बिना भोगे पापस्थानों का आचरण करके अपार धन का संचय किया। उसके बाद धन–संरक्षण से बंधे हुए एकमात्र आर्त्तध्यान की अनुमोदना द्वारा आयु को घटाकर मरकर इसी नगर में नागिल नामक आजन्म दरिद्री के यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुए हैं। अकृत पुण्यवाले उनको वहाँ भी माता–पिता का अनिष्ट होने से पेट–भर अन्न को भी नहीं प्राप्त करते हुए अत्यन्त दुःखपूर्वक काल व्यतीत कर रहे हैं। नीति व धर्मशास्त्रों में भी कहा गया है–

सपुण्ण दिन्नु न धणिय धणु, गड्डहि गोचिय मुक्कं।
न वि परलोओ न इह भवु, दुहिं विप्पयारइ चक्खु।।

तथा

कम्मयरो घरस्सामी, घरस्सामी तस्स चेव कम्मयरो।
को सद्दहे खु एयं अच्चो! विहिविलसियं विसमं?!!

स्वपुण्य के लिए धन का दान नहीं किया और उसे गर्त में छिपाकर रखा। वह धन न तो परलोक में काम आया, न इहलोक में, दोनों से ही ये नेत्र प्रतारित हुए।

और

कर्मकर घर का स्वामी बन गया और घर का स्वामी कर्मकर से बुरी दशा में पहुँच गया। अहो! इस विधिसे विलसित आश्चर्य पर कौन श्रद्धा (विश्वास) करता है?"

इस प्रकार साधु भगवान ने धनदत्त को हितशिक्षा दी। उसे सुनकर

धनसुन्दरी पति के पाप–गर्त में गिर जाने से अत्यधिक तीव्र स्वर में रूदन करने लगी। साधु भगवान ने पुनः उपदेश के द्वारा शिक्षा दी–"हे महानुभावे! क्यों आत्मा को दुःखी करती हो? संसार का स्वभाव ही ऐसा है। भवान्तर में गयी हुई वस्तु को अपना विचारने से भी वह कुछ भी काम नहीं आती है। अनेक हजारों देवताओं के द्वारा सेवित चक्रवर्ती के भवान्तर में चले जाने पर कोई भी उसे मन में भी स्मरण नहीं करता। यह जीव कभी मन रूपी करण से कार्य को साधता है, बहुत से देवों पर शासन करता है, पुनः वही जीव जड़–स्वरूप एकेन्द्रियों अथवा तिर्यंच योनि में अश्व, गर्दभ आदि योनि में उत्पन्न होता हुआ महादुःख को प्राप्त करता है। वहाँ कोई भी देव सहायता के लिए नहीं आता है। इस प्रकार तिर्यंचयोनिक जीव भी देवत्व को प्राप्त करता है। चारों ही गति के जीव परस्पर भव–संतति के द्वारा अनेक सम्बन्धों के साथ उत्पन्न होते हैं, इसमें विस्मय नहीं करना चाहिए। सभी जीव सभी भवों के सम्बन्ध से आत्मीय ही होते हैं। हम भी उन सम्बन्धों से उनके अपने हो जाते हैं पर ऐसे सांसारिक सम्बन्धों को जानकर संसार से तारने में समर्थ धर्म में मति करनी चाहिए। भवान्तर में जाते हुए जीव के साथ सिर्फ पुण्य और पाप ही जाता है, दूसरा कुछ नहीं। अतः चतुराई के साथ पुण्य–कार्य में प्रयत्न करना चाहिए। जो धन हमने अपने हाथ से धर्म व दान के लिए व्यय किया, वही भवान्तर में सहायक होता है। जघन्यतः दसगुणा फल देता है। अतिशुद्धतर व अति–शुद्धतम भाव से व्यय किया हुआ वही धन शतगुणा, सहस्रगुणा, लक्षगुणा, कोटिगुणा व उससे भी अधिक फल देता है। *पाप–मति भी इसी रूप में फल देती है। अतः जैसे दही–घी आदि का कारण* दूध ही है, वैसे ही सभी सुखों का अवन्ध्य कारण धर्म ही है, अतः उसी का आश्रय लेना चाहिए।"

इस प्रकार धर्मोपदेश रूप शिक्षा देकर साधु भगवन अन्यत्र विहार कर गये। तब धनसुन्दरी ने नागिल दरिद्री को बुलाकर कहा–"हे नागिल! मेरे घर में रोज जो भी घर सम्बन्धी कार्य है, वह तुम करना। बदले में मैं तुम्हे आजीविका दूँगी। पर तुम्हारे पुत्र इस बालक को यहाँ मत लाना। जब वय को प्राप्त होगा, तब मेरे घर का कार्य तुम्हारा यही पुत्र करेगा। तब तक हमारे घर में तुम ही कार्य करोगे और आजीविका ग्रहण करोगे।" उसने भी उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कितना ही काल बीत जाने के बाद एक बार रात्रि में सुखपूर्वक सोये हुए भोगदेव ने दो महिलाओं का परस्पर आलाप सुना। एक ने कहा–"तुम कौन हो?"

तब दूसरी ने कहा–"मैं भोगदेव सार्थवाह की घर–लक्ष्मी हूँ।"

पहली ने कहा–"तुम्हारे कुशल और सुख तो है?"

दूसरी ने कहा–"बहन! नये – नये भोग – विलास के कार्यों में आसक्त भोगदेव के द्वारा व्यवहृत, स्वामी के कार्य की आज्ञाधारिका, मुझ कर्मकारी के कुशल व सुख कैसे हो सकता है? प्रतिक्षण उसकी दासी की तरह इच्छित पूर्ति करते हुए दिन–रात बीतते चले जाते हैं। घड़ी–मात्र भी आराम नहीं है। पर तुम कौन हो?"

पहली ने कहा–"मैं संचयशील सार्थवाह की घर–लक्ष्मी हूँ।"

भोगदेव की लक्ष्मी ने कहा–"तुम तो सुखपूर्वक संवास करती हो ना?"

उसने कहा–"भगिनी! नरक जैसे अंधकारवाले कूप की तरह महा–अंधकार रूपी गर्त में छिपायी हुई, चन्द्र व सूर्य की किरणों को भी नहीं देखती हुई बन्दिनी की तरह अंधकार की बहुलतावाले कारागार में डाली हुई मुझे कहाँ सुख है? निरन्तर रोके हुए रखने के दुःख से दुःखित होते हुए मैं दुःखपूर्वक ही वहाँ निवास करती हूँ। तुम तो थोड़ी ही दुःखी हो, पर मुझसे तो तुम सुखी ही हो, क्योंकि तुम्हारे स्वामी के द्वारा उत्साह से किये हुए दान, भोग, विलास आदि में किये गये लक्ष्मी के व्यय को देखकर लोग कहते हैं–धन्य है यह श्रेष्ठी! धन्य है यह लक्ष्मी! जो अनेक जीवों का दुःख से उद्धार करती है और आँखों को सुकून देती है। इस लक्ष्मी ने श्रेष्ठ स्थान को ग्रहण किया है। इस प्रकार सभी लोगों के द्वारा तुम्हारी प्रशंसा ही की जाती है। मेरे स्वामी की तो त्याग व भोग से रहित प्रवृत्ति देखकर तो लोग कहते हैं–धिक्कार है इस श्रेष्ठी को! धिक्कार है इसकी लक्ष्मी को! यह लक्ष्मी मलिन है, जो किसी के भी काम नहीं आती है, यह लक्ष्मी दुष्टा और निष्फला है। इसके होने से तो न होना ही अच्छा है। इसके तो नाम ग्रहण करने पर भी कुछ दोष ही होता है। इत्यादि जले पर नमक छिड़कने के समान सुनने में समर्थ नहीं हूँ। तुम्हे तो ऐसा कोई दुःख नहीं है। कानों को भी सुख मिलता है।"

इस प्रकार उन दोनों की परस्पर वार्ता सुनकर भोगदेव विचारने लगा–"अहो! ये दोनों ही दुःखी हैं। इनका चपला नाम सार्थक ही है, क्योंकि इनको स्थित रखने के लिए जगत में कोई उपाय नहीं है। यह लक्ष्मी न तो शौच से साध्य है, न भक्ति से साध्य है। शौच करते हुए भी नष्ट होती है और भक्ति करते हुए भी चली जाती है। यत्न से संचित करने पर भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् पुण्य के अधीन ही लक्ष्मी है–यह हार्द है। इसलिए जब तक पुण्य क्षीण हो, उससे पहले ही इसका त्याग करना उचित है।"

इस प्रकार विचार करके प्रभात में सकल सामग्री करके भोगवती के साथ रथ पर आरूढ़ होकर दास–सेवकों आदि से परिवृत्त होकर अपने नगर की ओर चला। कुछ ही दिनों में अपने घर पहुँच गया। अगले दिन भोगवती को कहा–"हे सुभगे! मनुष्य भव को प्राप्त करके पूर्व पुण्य के उदय से अपरिमित धन प्राप्त किया। उसमें भी यथा–इच्छित खाया, पीया, भोगा, दान दिया, विलास में धन का व्यय किया। कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रही। सांसारिक वैभव में कुछ भी कमी नहीं है। अतः जब तक पुण्य क्षीण न हो, उससे पहले ही इस लक्ष्मी का त्याग करके चारित्र ग्रहण कर लेते हैं, जिससे इस संसार रूपी आवर्त्त में चक्कर न लगाना पड़े। पुण्य के क्षीण होने पर तो सैकड़ों यत्नों से रक्षित लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है। अतः जब तक यह नहीं जाती है, उससे पहले ही इसका त्याग कर दिया जाये, तो ही श्रेष्ठ है।"

इस प्रकार पति के वचनों को सुनकर भोगवती ने कहा–"स्वामी! आपने जो कहा, वह सत्य है। अभी संयम ग्रहण का अवसर भी है। लोक में प्रशंसा के आस्पद बनेंगे। उम्र के अनुकूल उचित कार्य करने से ही उभय लोक की सिद्धि होती है। अतः आपने जो सोचा है, वह सफल होवे। मैं भी आपकी अनुगामिनी होकर चारित्र ग्रहण करूँगी। पति के बिना घर में रहना कुलवती के लिए प्रेतवन में रहने के समान है। अतः शीघ्रता से इच्छित को पूर्ण करें।"

इस प्रकार के प्रिया के वचनों को सुनकर दुगुने हुए वैराग्य से सम्पूर्ण नगर के जिनमंदिरों में द्रव्यादि को देकर अष्टाह्निका महोत्सव शुरू करवाया। भम्भा, भेरी आदि वादिंत्रों की ध्वनि व गीत आदि की ध्वनियों से दिशाएँ गूंज उठीं। सकल नगर में अमारि का पटह बजवाया गया। सप्त क्षेत्र में अपरिमित धन व्यय किया। अनेक दीन–दुःखियों को पुष्कल धन का दान देकर उनका दारिद्र्य दूर कर दिया। स्वजन–कुटुम्ब आदि को यथेच्छित देकर संतुष्ट किया। उसके बाद स्वजन, मित्र, ज्ञातिवर्ग को आमंत्रित करके भव्य भोजन, ताम्बूल, वस्त्र, भूषण आदि से संतुष्ट करके उनके समक्ष कुटुम्ब का भार ज्येष्ठ पुत्र को देकर सभी के सामने कहा–"मेरे स्थान पर मैं अपने इस पुत्र को आपके समक्ष स्थापित करता हूँ। आज के बाद आप लोग भी इसे मेरे ही समान समझें। इसका महत्त्व तो आपके हाथ में ही है। कभी गलती हो जाये, तो एकान्त में शिक्षा देकर इसकी रक्षा करना।"

इस प्रकार स्वजन आदि को कहकर पुत्र को कहा–"वत्स! ये सभी आत्मीय हितचिंतक और आत्मीय पक्ष के पोषक है। अतः सदैव इनके अनुकूल ही प्रवर्तित होना, प्रतिकूलता मत करना। सदा, दान, पुण्य, परोपकार आदि से

युक्त रहना। व्रत–नियमादि के द्वारा आत्मा को भावित करना। जब हमारी जैसी अवस्था हो जाये, तो तुम भी इसी रीति से भागवती दीक्षा ग्रहण करना।"

सभी को इस प्रकार कहकर बढ़ते हुए परिणाम से शुभ ध्यान से उल्लासित मनवाला होकर शुभ अध्यावसाय के वशीभूत होकर मनोरथ करने लगा कि मैं कल प्रातः जन्म–जरा–मरण आदि दुःखों से रहित मुक्ति के अवन्ध्य कारण, सम्पूर्ण कल्याणों का एकमात्र स्थान संयम को ग्रहण करूँगा। ग्रहण करके विविध प्रकार के तप, संयम, विनय आदि के द्वारा चारित्र की आराधना करके संसार से तर जाऊँगा। इस प्रकार की भावना भाते हुए शय्या पर सो गया। आधी रात्रि हो जाने पर स्त्री का रूप धारण करके लक्ष्मीदेवी भोगदेव को बोली–"मैं तुम्हारे द्वारा यदृच्छा से दी गयी, भोगी गयी, विलास के रूप में मेरा व्यय किया गया, बिना मेरे छोड़े भी तुमने मुझे मुक्त कर दिया। मुझसे विरक्त होकर तुम एकमात्र संयम के रसिक हो गये हो। अतः मैं तुम्हारे द्वारा छली गयी। मैंने तो अनेकों को छला है, पर आज तुमने मुझे छला है। बोलो! अब मैं क्या करूँ?"

भोगदेव ने कहा–"अब मेरे लिए तुम्हारे द्वारा कुछ भी करने के लिए नहीं है। जहाँ इच्छा हो, वहाँ जाओ। तब वह चली गयी। महोत्सव पूर्ण होने पर आडम्बरपूर्वक शिविका पर आरूढ़ होकर भोगवती के साथ प्रशान्ताचार्य के पास जाकर, गुरु–दर्शन होते ही शिविका को छोड़कर, हाथों को जोड़कर, गुरु के सामने आकर, विधिपूर्वक वंदना करके विनति करने लगा–"हे कृपानिधि! मैं राग, द्वेष, प्रमाद आदि से घिरा हुआ जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अग्नि में जलते हुए लोगों को देखकर संसार के भय से उद्विग्न मनवाला होकर रत्नों के करण्डक के समान अपनी आत्मा को लेकर भागता हुआ आपकी शरण में आया हूँ। अतः चतुर्गति के दुःखों का नाश करने में समर्थ चारित्र प्रदान कीजिए।"

गुरु ने कहा–"हे देवानुप्रिय! जिसमें आत्मा का हित हो, वही करो। शुभ कार्य में प्रमाद मत करो।"

तब उत्तर–पूर्व दिशा में अशोक वृक्ष के नीचे जाकर, आभरण–अलंकार आदि का त्याग करके, स्वयंमेव पंचमुष्टि के लोच के बहाने से पाँच प्रमादों का त्याग करके अथवा पाँच शब्दादि विषयों को जड़ सहित उखाड़कर पुनः गुरु के समक्ष उपस्थित हुआ। तब गुरु ने भी मुनिवेष प्रदान किया। उस वेश को मस्तक पर रखकर, हर्षपूर्वक पहनकर, गुरु–चरणों में वंदन करके आगे आकर खड़ा रहा। तब गुरु ने भी यथाविधि पंच–महाव्रत ग्रहण करवाये, रोहिणि–कथा के द्वारा शिक्षा देकर प्रमुदित किया। इसी प्रकार भोगवती को भी संयम ग्रहण करवाकर

"इसे संयम में प्रवीण बनाना"-इस प्रकार कहकर महत्तरा आर्या के सौंप दिया। अब भोगदेव मुनि विविध श्रुत, संयम, तप, ध्यान आदि के द्वारा निरतिचार चारित्र की आराधना करके, अन्त में अनशन करके सर्वार्थसिद्ध विमान में 33 सागरोपम की आयुष्यवाले देव के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए। यथावसर संयम की आराधना करके, घातिकर्मों का क्षय करके, केवलज्ञान को प्राप्त करके, अनेक भव्यों को प्रतिबुद्ध करके, अन्त में अनशन करके योग-निरोध के द्वारा पाँच ह्रस्व अक्षर का उच्चारण करने में लगनेवाले समय-मात्र में सकल कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जायेंगे। भोगवती भी उसी प्रकार मोक्ष में जायेगी।

उधर श्रीदेव लक्ष्मी से छला हुआ, दरिद्र अवस्था को प्राप्त, द्रव्य के बिना व्यापार आदि जीविका के उपाय से रहित, उदर को भरने के लिए दूसरों के घरों में उच्च-नीच कार्यों को करते हुए जैसे-तैसे आजीविका को करता हुआ भी त्रिकाल में लक्ष्मी का पूजन करता था। तब लोग दोनों ही अवस्था को देखकर श्रीदेव को कहने लगे-"हे श्रीदेव! तुमने अन्य देवों को छोड़कर त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक त्रिकाल में भक्ति-पूर्वक जिसकी पूजा-अर्चना की, वह लक्ष्मी कहाँ चली गयी? क्यों तुम्हारी सहायता नहीं करती? पहले तो तुम भुजाएँ ऊपर चढ़ाकर कहते थे कि मेरे तो एकमात्र लक्ष्मी देवता ही मान्य है, पूज्य है, मैं अन्य किसी भी देव को नमस्कार भी नहीं करता। अब कहो?"

इस प्रकार एक के द्वारा उपहास किये जाने पर दूसरा कहने लगा-"हे भाई! तुम ऐसा क्यों बोलते हो? इसके ऊपर तो लक्ष्मी की कृपा है, क्योंकि अनेक व्यापार आदि कार्यों में व्यग्र होने से लक्ष्मी आराधना करने में इसे अन्तराय होती थी, यह देखकर लक्ष्मी ने जाना कि मुझ में भक्ति-परायण इसका सर्वधन व्यापार आदि भक्ति में अन्तराय करता है। अतः इसे अन्तराय करनेवाला सभी धन मेरे द्वारा हर लेना चाहिए, जिससे यह मेरा बिना रुके लगातार स्मरण कर सके। इसलिए श्रीदेवी इसके ऊपर प्रसन्न ही है, उसी प्रसन्नता के कारण उसने इसका सारा धन हर लिया है। तुम क्या जानो? लक्ष्मी तो इसकी परीक्षा कर रही है। थोड़े ही दिनों में बादलों की बरसात की तरह ही इसके घर में धन की बरसात होगी।"

इस प्रकार लोग उसका उपहास करते थे, पर वह गरीब होने से कुछ भी उत्तर देने में समर्थ नहीं था, पर मन में अत्यधिक दुःख करता था। इस प्रकार दुःखपूर्वक निर्वाह करते हुए कितने ही दिन बीत जाने पर श्रीदेव के घर में एक सुलक्षणोंवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके पुण्यबल से धीरे-धीरे लक्ष्मी पुनः उसके

घर में लौटने लगी। अतः फिर से पहले की ही तरह व्यवसाय आदि करने लगा। लक्ष्मी का पूजन भी उसी तरह से रोज करता था। लक्ष्मी के आगमन से पुनः पहले की तरह सभी का मान्य हो गया। वह लोगों के आगे कहने लगा–"देखो, श्रीदेवी की भक्ति का फल।"

इस तरह कितना ही समय बीत जाने के बाद श्रीदेव ने भोग की आसक्ति से दूसरी औरत से विवाह किया। स्त्री को घर ले आया। दो दिनों के बाद रात्रि में प्रधान पलंग पर सोते हुए उसने एक श्रेष्ठ तरुणी को रोते हुए देखा। तब श्रीदेव ने उसके पास जाकर पूछा–"तुम कौन हो? तुम्हे क्या दुःख है? किस कारण से तुम रो रही है?

उसने कहा–"मैं तुम्हारी गृह–लक्ष्मी हूँ। रोने के कारण यह है कि न चाहते हुए तुमसे वियुक्त होना पड़ रहा है।"

श्रीदेव ने कहा–"क्यों?"

उसने कहा–"तुमने जिस दूसरी स्त्री से विवाह किया है, वह पुण्यरहिता, अलक्ष्मी रूप तथा निर्भागिनी है। उसके साथ मेरा रहना नहीं हो सकता। उसके पाप के उदय से मुझमें यहाँ रहने की शक्ति नहीं है। बिना इच्छा के भी मुझे तुम्हारा घर छोड़ना पड़ेगा।"

इस प्रकार कहकर लक्ष्मी अदृश्य हो गयी। थोड़े से ही दिनों में उसका धन धीरे–धीरे चला गया। पुनः गरीबी आ गयी। पहले की ही तरह लोग उसकी हँसी उड़ाने लगे। दूसरों की सेवा आदि के महा–संकट में पड़कर उदर–वृत्ति भी अत्यधिक कष्ट से कर पाता था। इस प्रकार दुःखपूर्वक आयु को पूर्ण करके संसार रूपी समुद्र में पर्यटन करने लगा।

हे कुमार! लक्ष्मी का चरित्र ऐसा ही है। इसलिए प्रज्ञावन्त पुरुषों के अनुकूल जितना क्षीण हो, उतना भोगना ही चाहिए। किसी के भी भोग–दानादि में प्रतिबंध नहीं करना चाहिए, क्योंकि जितना भी इन्द्रिय सुख है, वह पूर्वकृत कर्मोदय के अधीन है। भावी के उदय को रोकने में कौन समर्थ है? **"कडाण कम्माण न मुक्खमत्थि"** अर्थात् किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इस आगम वाक्य का विचार करना चाहिए तथा प्रतिबंध नहीं करना चाहिए। जो उदय की चिंता करता है, वह अपने मूढ़त्व को ही प्रकट करता है। उत्तम जनों को तो बंध की ही चिंता करनी चाहिए, उदय की नहीं। वह तो पूर्व में ही की हुई है। इसलिए सत्पुरुषों को पर–पुरुषों में आसक्ति रखने के स्वभाववाली लक्ष्मी और स्त्री में बिल्कुल भी आग्रह नहीं रखना चाहिए।

शौच का आग्रह रखनेवाले सुचिवोद का लक्ष्मी के द्वारा रोषपूर्वक त्याग

किया गया। अशुचि की खान मातंग की सेवा व उपासना के द्वारा भी उसकी दरिद्रता खत्म नहीं हुई। यहाँ और परलोक में भी दुःखी ही हुआ।

दूसरे श्रीदेव के द्वारा त्रिविध प्रत्यय से पूजित–अर्चित लक्ष्मी भी उसे छोड़कर चली गयी। वह भी लक्ष्मी के द्वारा छला गया।

तीसरा संचयशील था, जिसके द्वारा अत्यधिक संरक्षण में व्यग्रता होने से कठिन प्रयत्नों द्वारा रक्षित भी लक्ष्मी विमुख व रुष्ट हुई और दुर्गति का कारण बनी।

चौथा भोगदेव दान देता था, परोपकार करता था, यथा–इच्छा भोग करता था, पर उस पर भी लक्ष्मी प्रसन्न नहीं हुई, प्रत्युत उसके सेवन के द्वारा श्रांत व उदासीन होने लगी।

इसलिए लक्ष्मी स्वभाव से किसी से भी बंधकर नहीं रह सकती। केवल पूर्वकृत पुण्य–बंध जब तक है, तभी तक रहती है, उसके आगे नहीं। जिन्होंने जिनागम–तत्त्व को नहीं श्रवण किया है, वे सभी संसारी जीव लक्ष्मी के आग्रह के संकट में गिरे हुए हैं। जिस प्रकार ये तीनों ही सुचिवोद आदि जीव संसार के आवर्त्त में गिरे तथा ससांर के दुःख–समुद्र में गिरते–पड़ते घूम रहे हैं। सभी संसारी जीव प्रतिक्षण लक्ष्मी के लिए ही दौड़ रहे हैं। **'अज्ज कल्लं परं परारिं'**–आज, कल अथवा उससे आगे–इस प्रकार आशा रूपी कर्म से परिकर्मित लक्ष्मी के आग्रह को नहीं छोड़ते हैं। लक्ष्मी कृतपुण्य पुरुष के अलावा किसी का भी साथ नहीं करती। जैसे कि वेश्या धनी के बिना अन्य किसी के साथ की इच्छा नहीं करती।

इन चारों के बीच भोगदेव ही प्रशंसा का श्रेष्ठ पात्र है, जिसने यथेच्छापूर्वक त्याग, भोग, विलास आदि के द्वारा लक्ष्मी का फल पाकर पुण्यबल के विद्यमान रहते हुए भी तृण की तरह उसका त्याग भी कर दिया। जिसके द्वारा सभी जीव छले जाते हैं, उसे जिस पुरुष के द्वारा छला गया, वह पुरुष वास्तव में प्रशंसा करने के लिए श्रेष्ठतम है।

अतः हे केरलकुमार! जो विद्यमान भी धन को हानि के भय से न तो भोगता है, न देता है, न उचित स्थान में व्यय करता है, न उपकार के लिए, न ख्याति के लिए कुछ करता है, वह संचयशील के समान ही होता है। भव–भव में दरिद्रता के दुःख से दुःखित होता हुआ परिभ्रमण करता है। इस लोक में संचयशील के समान जो पुरुष दान–भोगादि से पराङ्मुख हैं, वे हाथी के कानों की तरह चपला लक्ष्मी के द्वारा छले जाते हुए चतुर्गति के भ्रमण में पड़ते हुए दुःखों की परम्परा का ही अनुभव करते हैं। जो सत्पुरुष लक्ष्मी–प्राप्ति के अनुरूप

दान–भोगादि करते हैं, अपने सुख से निरपेक्षित रहते हुए परोपकार करते हैं, वे उच्च से भी उच्च लोगों के मध्य लज्जा, प्रतिष्ठा, मान महत्त्व आदि को प्राप्त करके परलोक में महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से च्यवकर अति शीघ्र संसार का अंत करते है। इस संसार में वे पुरुष विरले ही होते हैं, जो भोगदेव की तरह छल को पहचान जाने से चतुराई से लक्ष्मी के द्वारा नहीं छले जाते हैं। उनके द्वारा तो त्याग–भोग–विलास–उपकार आदि के द्वारा लक्ष्मी रूपी रस को चबाकर बाद में अशुद्धता को जानकर उसे गुप्त रूप में त्याग दिया जाता है। उन पुरुषों के गुण आज भी गाये जाते हैं।

इसलिए हे कुमार! अनर्थ को देने में दक्ष लक्ष्मी जब तक हमारा त्याग न करे, उससे पहले ही हमें उसका त्याग कर देना चाहिए, जिससे महत्व की प्राप्ति हो। जो पुनः लक्ष्मी के द्वारा पहले ही त्यक्त हो चुके हैं, वे पुरुष इस लोक में तथा परलोक में अति लघुता को प्राप्त होते हैं, जिसे कहना भी शक्य नहीं है। अतः यदि निराबाध सुख की अपेक्षा है, तो सभी अनर्थों की मूल राज्य आदि पर–भाव–मूर्च्छा का त्याग करके संयम में रति करो।''

इस प्रकार केवली की देशना सुनकर शीघ्र ही त्याग करने में अशक्य होने से आत्म–शुद्धि करने के लिए श्रावक धर्म ग्रहण करके और केवली को नमन करके केरलकुमार घर चला गया। बहुत समय तक सम्यक्त्व से युक्त श्रावक धर्म को कसौटी पर कसकर संयम के अभिमुख होता हुआ पिछली रात्रि में धर्म–जागरणा करते हुए चिन्तन करने लगा–''पहले श्री जिनेश्वर भगवन्त के द्वारा उपदेश से जागृत किये जाने पर भी संयम में अशक्त होने से मेरे द्वारा गृहस्थ–धर्म अंगीकार किया गया। आज तक मैंने यथा–शक्ति व्रतों का पालन किया। इच्छानुरूप इन्द्रिय–सुख का सेवन किया। कुछ भी कमी नहीं रही। अगर मेरे अब कुशलानुबन्धी पुण्य का उदय हो, तो ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मण्डप, द्रोण आदि में विचरते हुए जगत के नेत्र समान श्री जिनेन्द्र यहाँ पधारें और मैं पूर्ण मनोरथवाला महाभक्ति से श्री जिनेश्वर देव को नमन करके संयम की प्रार्थना करूँ। वे करुणानिधि तो शीघ्र ही संयम प्रदान करेंगे। उसके बाद संयम पाकर मैं इस प्रकार से उल्लासपूर्वक संयम में पुरुषार्थ करूँगा, जिससे मुझे फिर से इस भव–संकट में न गिरना पड़े।''

इस प्रकार की भावना भाते हुए प्रभात का समय हो गया। तब शय्या से उठकर प्राभातिक कृत्य करके जब आस्थान सभा में आया, तभी पूर्व दिशा के उद्यान–पालक ने आकर बधाई दी–''स्वामी! आज सकल सुरासुरेन्द्र, नरेन्द्र, खेचरेन्द्र आदि के समूह द्वारा सेव्यमान चरण–कमलवाले श्रीमान तीर्थंकर भगवन्त ने अपने

चरण–न्यास द्वारा हमारे उद्यान को अलंकृत किया है। देवकृत तीन कोट आदि, अशोक वृक्ष, भामण्डल की किरणों आदि शोभा के द्वारा निरुपम अनिर्वचनीय आश्चर्य के द्वारा शोभित हो रहे हैं। जो देखता है, वही जान सकता है। पर उस अनिर्वचनीय स्थिति को बताने में कोई भी समर्थ नहीं है। उन सभी आश्चर्यों के *मध्य सिंहासन पर विराजमान भगवान अमृत को प्रवाहित करनेवाली देशना दे रहे* हैं, जिसके श्रवण–मात्र से जो सुख अनुभव होता है, वह न तो भूत में हुआ, न भविष्य में होगा।''

उद्यानपालक के इस प्रकार के वचनों को सुनकर सूर्योदय के होने पर चक्रवाक की तरह हर्षित होकर आजीविका पूर्ण करने में समर्थ प्रीतिदान देकर चिन्तित मनोरथ के शीघ्र ही सफल होने से अपने आप को धन्य मानते हुए उल्लसित रोमांचवाले होते हुए सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ वंदन करने गया। जिन–दर्शन में दस अभिगम के सत्यापनपूर्वक जिनेश्वर देव को नमन करके–

अद्याऽभवत् सफलता नयनद्वयस्य, देव! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन।
अद्य त्रिलोकतिलक! प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणः।।

हे देव! आपके चरण–कमलों के दर्शन से मेरे दोनों नेत्र आज सफल हुए। हे तीन जगत के तिलक–स्वरूप! यह संसार रूपी समुद्र भी अब मुझे चुल्लुक–प्रमाण लगता है।

इत्यादि स्तुति करके यथोचित स्थान पर बैठकर, अंजलि करके सम्मुख रहते हुए देशना सुनने लगा। प्रभु ने भी मिथ्यात्व रूपी उग्र नाग के जहर को उतारने में नागदमनी के समान, काम रूपी दावानल को बुझाने में एकमात्र वृष्टि के समान, अनादि भव–भ्रमण को मिटानेवाली तथा जन–जन के आनंद को प्रकाशित करनेवाली धर्मदेशना प्रदान की। राजा आदि के द्वारा तीव्र प्यास से पीड़ित को अमृत–पान की तरह कर्ण–सम्पुटों के द्वारा भर–भरकर पान किया गया। उससे अनादि कषाय की थकान नष्ट हो गयी। अति अद्भुत वैराग्य का रंग प्रकट हुआ। इस प्रकार शम, संवेग, निर्वेद आदि गुणों से उल्लसित राजा आनन्दपूर्वक उठकर हाथों को जोड़कर बोले–''हे प्रभो! पहले भी मैंने महा–आनन्द रूपी नगर की प्राप्ति के लिए घोड़े की गति के सदृश श्रावक– धर्म आपके द्वारा ग्रहण किया। आज तो आपकी कृपा से भव से निर्वेद हो गया है। अतः पवन वेगवाले चारित्र रूपी प्रवहण पर सवार होकर मुक्तिपुर जाने की इच्छा रखता हूँ। अतः कृपा करके संयम प्रदान करें।''

तब प्रभु ने कहा–''जैसे आत्मा को सुख व हितकारी हो, वैसा करो।''

राजा जिनेश्वर को नमन करके घर गया। अपने पुत्र को राज्य देकर,

सभी राज व्यवस्था करके, महा–विभूति से युक्त होकर श्री जिनेश्वर भगवान के चरण–कमलों को नमन करके वीर्य के उल्लास के साथ चारित्र ग्रहण किया। फिर ग्रहण व आसेवन शिक्षा के द्वारा निर्दोष चारित्र की आराधना करके घनघाती कर्मों का क्षय करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, अनेक भव्य–जीवों को प्रतिबोधित करके, अनशन करके समस्त कर्म–मल को दूर करके मोक्ष चले गये।

।। इस प्रकार दान आदि के द्वारा त्रिवर्ग को साधने में अग्रणी केरल–भोगदेव का तथा धनदेव का सम्बन्ध पूर्ण हुआ।।

इसलिए हे भव्यों! एक–मात्र पुण्य से बाँधी जानेवाली, संसार रूपी आवर्त में गिरानेवाली, अत्यधिक तृष्णा को बढ़ानेवाली, राज–भय, चौर–भय, अग्नि तथा जलादि भय से व्याप्त, भय रूपी समुद्र में डूबते हुओं के लिए शिला के समान, अठारह प्रकार के पापों के सेवन को तथा दम्भ, महा–आरम्भ आदि को उपार्जित करनेवाली, समस्त अविरति आदि दोषों की एक–मात्र खान, दुर्जन–चरित्र के स्वभाववाली, अत्यन्त क्लेश से साध्य गूढ़ घात करनेवाली ऐसी लक्ष्मी को प्राप्त करके कौन बुद्धिमान हर्ष को प्राप्त करेगा? क्योंकि जीव अनेक पापों के द्वारा परदेश–गमन, भूख–प्यास आदि सहन करने रूप अनेक क्लेशों के द्वारा धर्म–अधर्म की विचारणा में जड़ होते हुए लक्ष्मी को उपार्जित करने के लिए प्रतिदिन पुरुषार्थ करते हैं, पर यदि पूर्वकृत पुण्य का उदय होता है, तो ही वह लक्ष्मी मिलती है, अन्यथा तो मन–वचन–काया के द्वारा अत्यन्त खेदित होते हैं। अगर कभी पूर्व–पुण्य के उदय से लक्ष्मी मिल भी जाती है, तो उसके संरक्षण में होनेवाले रौद्र ध्यान आदि में प्रवर्तित होता है, जिससे नरक रूपी अन्धकूप में ही गमन होता है।

इस प्रकार प्राणी पाप रूपी कुटुम्ब के पोषण की भ्रांति से अत्यधिक धन इकट्ठा करके मर करके अधोगति में उत्पन्न होता है। उसके बाद पुण्यहीन पुत्रादि के हाथों से अचिन्तित किन्हीं शत्रुओं के द्वारा लक्ष्मी का हरण कर लिया जाता है। उस लक्ष्मी के द्वारा वे लोग जो कुछ भी पाप–कर्म करते हैं, उन सभी का विभाग परभव में गये हुए जीव को अवश्य ही लगता है।

अतः इस लोक में तथा परलोक में दुःख का एकमात्र कारण लक्ष्मी ही है। उसके मिलने से कौन प्रमुदित हो? यदि सद्गुरु के कथनानुसार इस लक्ष्मी को काशदण्ड से इक्षु की तरह सप्त–क्षेत्रों में बोया जाये, तो वह संस्कारित किये हुए विषय की तरह सकल इष्टों का एक–मात्र कारण होती है। जैसे रूप्य जल में डूब जाता है, पर रूप्य का पात्र तो तैरता रहता है, उसी प्रकार लक्ष्मी भी रूपयों के आकार में व्यय किये जाते हुए संसार सागर से उतरने में नौका के

समान होती है। अतः लक्ष्मी का व्यय दानादि कार्यों में करने से परोपकार तथा पुण्य होता है–यह जिनाज्ञा है और वीतराग की सेवा से भी जिनाज्ञा का पालन श्रेष्ठ होता है। सेवा का फल तो स्वर्ग की प्राप्ति है, पर आज्ञा–पालन का फल तो मोक्ष ही है। अतः जिनाज्ञापूर्वक यथाशक्ति दानादि धर्म में प्रयत्न करना चाहिए। यही मूल तत्त्व की बात है।"

इस प्रकार मुनीन्द्र के द्वारा यह सब कहकर उपरत होने पर धनसार श्रेष्ठी ने मस्तक पर अंजलि करते हुए अपने हृदय में रहे हुए अनेक संशयों को पूछने के उद्देश्य से कहा–"हे भगवन! किस कर्म के द्वारा मेरा यह धन्य नामक पुत्र सम्पूर्ण अद्भुत सम्पदाओं का एक–मात्र स्थान–रूप हुआ? पुनः मेरे ये धनदत्त आदि तीनों पुत्र विद्वान होते हुए भी सम्पदा की प्राप्ति होने पर भी बार–बार रंक क्यों बने? धन्य के साथ इनका संयोग व वियोग होने पर अग्नि के साथ संयोग व वियोग की स्थिति में लोहे की प्रभा की तरह लक्ष्मी का आना–जाना कैसे हुआ? सतियों में शिरोमणि होने पर भी शालिभद्र की बहन सुभद्रा ने शीत–ताप आदि की वेदना को सहते हुए मिट्टी तक का भी वहन किस कारण से किया?"

धनसार द्वारा इस प्रकार के प्रश्न किये जाने पर वाणी के ईश मुनीन्द्र ने निर्मल व स्वच्छ वाणी में कहा–"हे भद्र! कर्मों की गति विचित्र व अनिर्वचनीय है। कर्मों के द्वारा क्या–क्या नहीं होता? जीवों की गति, कर्मों की परिणति और पुद्गल–पर्यायों का आविर्भाव–तिरोभाव आदि शक्ति जिन अथवा जिनागम को छोड़कर कौन जानने में समर्थ है? अतः इन सभी के पूर्वभवों को सावधान होकर सुनो–

।। धन्य आदि के पूर्वभव।।

इसी भरतक्षेत्र के प्रतिष्ठानपुर नगर में कोई एक विश्व के दरिद्रता रूपी प्राणियों के द्वारा पिसी हुई के समान दासी की तरह दुःखी एक वृद्धा थी। वह अपनी आजीविका का निर्वाह करने के लिए दूसरों के घर में पीसना, खांडना, भूमि का लेपन करना, जल आदि भरकर लाना आदि क्रियाओं के द्वारा अत्यधिक शारीरिक दुःख को सहन करती थी। इस वृद्धा के निर्मल आशयवाला, विनयी तथा दान की रुचिवाला पुत्र था। वह लोगों की गायों व बछड़ों को अपनी आजीविका के लिए चराने ले जाता था। इस प्रकार अत्यधिक कष्टपूर्वक वे दोनों निर्वाह करते थे।

एक बार किसी पर्व के अवसर पर गाय, बछड़ों आदि को चराकर लौटते हुए प्रत्येक घर में खीर का भोजन बनाये जाते हुए और बालकों के समूह द्वारा

उसे खाये जाते हुए इस बालक के द्वारा स्पृहापूर्वक देखा गया। उसके आँगन में स्थित बालक के मुख से श्रेष्ठ स्वादु भोजन के निरीक्षण–मात्र से कुत्ते की तरह लार टपकने लगी।

कुछ समय बाद सभी बालक अपने–अपने घर से भोजन करके निकलने के बाद परस्पर कहने लगे–"हे दोस्त! तुमने आज क्या खाया?"

उसने कहा–"खीर खायी।"

अन्य किसी ने कहा–"आज अमुक पर्व है। अतः खीर ही खायी जाती है, अन्य भोजन नहीं।"

उसी समय किसी बालक ने वृद्धा के पुत्र ने पूछा–"तुमने क्या खाया?"

उसने कहा–"जो घर में बासी राब पड़ी थी, वह खायी।"

तब सभी बच्चे उसकी हँसी उड़ाते हुए कहने लगे–"आज तो खीर के बिना दूसरा भोजन नहीं होता है?"

वृद्धा के पुत्र ने कहा–"मेरी माता ने मुझे जो दिया, वह मैंने खा लिया।"

तब किसी ने कहा– "तुम माँ के पास जाओ और कहो कि मुझे खीर का भोजन दो, क्योंकि आज पर्व का दिन है।"

इस प्रकार बच्चों की बात सुनकर खीर को खाने इच्छावाला वह अपने घर पर जाकर माता को बोला–"हे पुत्रप्रिय! घी व खाण्ड से युक्त खीर का भोजन दो।"

उसने कहा–"हे वत्स! तुझ निर्धन को खीर कैसे मिल सकती है?"

बालक ने कहा–"हे माता! जैसे–तैसे करो, पर मुझे खीर अवश्य खिलाओ।"

इस प्रकार के पुत्र के वचनों को सुनकर वृद्धा विचारने लगी–"बालक को सत्य–असत्य का ज्ञान नहीं होता है। शास्त्र में भी कहा है–

[1]बालको [2]दुर्जन [3]चौरो [4]वैद्यो [5]विप्रश्च [6]पुत्रिका।
[7]अर्था [8]नृपो [9]ऽतिथि[10] र्वेश्या न विदुः सदसद्दशाम्।।

1. बालक, 2. दुर्जन, 3. चोर, 4. वैद्य, 5. ब्राह्मण, 6. पुत्री, 7. धन, 8. राजा, 9. अतिथि व 10. वेश्या अच्छी–बुरी दशा को नहीं जानते।

पुत्र! अपने घर में जो भर–पेट भोजन मिलता है, वही खीर है। निर्धनों को मन–वांछित कैसे मिल सकता है?"

बालक ने कहा–"आज पर्व के दिन खीर के सिवाय अन्य भोजन नहीं खाया जाता है। अतः किसी भी प्रकार से मुझे खीर ही खिलाओ।"

वृद्धा विचार करने लगी–"अहो! मेरे उत्कृष्ट पाप–कर्मों का उदय है। यह बालक तो कभी भी किसी भी वस्तु की माँग हठपूर्वक नहीं करता। जो मैं

देती हूँ, वही खाकर चला जाता है। आज कुछ भी देखकर व सुनकर ही यह तीव्र इच्छा इसके मन में पैदा हुई है। इसी कारण से मेरे आगे आकर माँग कर रहा है। पर मैं कैसे निर्भाग्यों की शिरोमणि हूँ? बुढ़ापे में एक–मात्र लाठी के सहारे के समान इसके खीर–मात्र भोज की इच्छा रूपी दोहद को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हूँ। धिक्कार है मेरे जन्म को!''

इस प्रकार विचार करके दीन के समान बालक को सम्मुख देखकर रोने लगी, क्योंकि निर्बल बालकों की इच्छा पूर्ण न होने पर रुदन करना ही उनका बल कहा जाता है। तब रोती हुई माता को देखकर बालक भी रोने लगा। उन दोनों का करुण रुदन सुनकर पड़ोसिनें अपने–अपने घर से बाहर निकल आयी। उन्होंने पूछा–''तुम दोनों के रुदन का कारण है? अपना दुःख कहो। अगर साध्य होगा, तो हम सब मिलकर अवश्य ही उसका निवारण करेंगी।''

तब वृद्धा ने अपना सम्पूर्ण दुःख बतलाकर कहा–''हे भाग्यवतियों! निर्भागियों के लिए इच्छा–पूर्ति न होने पर रुदन का ही सहारा है।''

यह सुनकर उसके दुःख से दुःखार्त्त होते हुए उन स्त्रियों ने कहा–''हे माता! खीर की अप्राप्ति–मात्र से इतना दुःख मत करो। यह कार्य तो हमसे साध्य है– ऐसा मान लो।''

तब एक ने कहा–''दूध तो मेरे घर में है, तुम्हे जितना चाहिए, उतना ले लो।''

दूसरों ने कहा–''निर्मल अखण्ड कलम जाति के चावल मेरे घर में हैं। मैं तुम्हें दे देती हूँ। तुम उन्हें ग्रहण करके बालक की इच्छा पूर्ण करो।''

उन दोनों के वचन सुनकर तीसरी ने कहा–''अति श्वेत मंदाकिनी के तट पर रही हुई बालुका के समान खाण्ड मैं तुम्हें दे दूँगी। तुम उसे ग्रहण कर लेना।''

तब चौथी ने कहा–''अभी–अभी तपाया हुआ स्वच्छ घी मेरे घर मैं है। मैं तुम्हे देती हूँ, जिसे ग्रहण करके तुम जल्दी से अपने बालक की इच्छा पूर्ण करो।''

उन स्त्रियों से इस प्रकार के वचन सुनकर प्रसन्न होते हुए वृद्धा ने कहा–''हे भाग्यशालिनियों! इच्छा–पूर्ति करने में कल्प–वृक्ष के समान आप लोगों की कृपा हुई। अतः मेरे मनोरथ सफल हुए– मैं यही मानती हूँ।''

फिर वृद्धा ने उनसे दूध आदि सामग्री लेकर घृत–खाण्डादि से मिश्रित खीर तैयार की। पुत्र–वत्सला माता पुत्र की इच्छा को पूर्ण करने में विलम्ब नहीं करती। फिर बालक को बुलाकर भोजन करने के लिए बैठाया। थाल में खीर

भरकर बालक के आगे रखी। बालक भी उस खीर को उष्ण जानकर उसे हाथ से ठंडी करने लगा। माता ने विचार–किया–"दूध आदि का भोज्य–पदार्थ उज्ज्वल (सफेद) होता है। मेरी नजर न लग जाये, अतः स्नेह के कारण पड़ोसी के घर चली जाती हूँ।"

बालक भी जब उस धुआँ निकलती खीर को ठंडी करने लगा, तभी उसके घर की गली में मासक्षमण के पारणे के तपस्वी गुणों की खान रूपी मुनि ने भिक्षा के लिए प्रवेश किया। घर के पास से निकलते हुए मुनि को बालक ने देखा। मुनि का दर्शन होते ही हेतु के परिपाक से उस बालक को दान की रुचि उत्पन्न हुई। वह मन में विचार करने लगा–"अहो! आज समस्त पापों के संताप का शमन करने में समर्थ मुनि मेरे घर के आँगन के निकट पधारे हैं। अगर मेरे भाग्य का उदय होगा, तो मेरे आमंत्रण पर अवश्य ही आयेंगे। भिक्षा ग्रहण करने के लिए महा–इभ्यों के द्वारा सैकड़ों विनतियाँ करने पर भी ये साधु उनके घर पर नहीं जाते। जिनका भाग्योदय होता है, उन्हीं के घर पर पधारते हैं। मेरे निमंत्रण को स्वीकार करके अगर मेरे घर को पावन बनायें, तो श्रेष्ठ होगा। अगर मेरे भाग्य से ये कैसे भी करके पधार जायें, तो मैं धन्यों में भी धन्यतम होऊँगा।"

इस प्रकार बालक होते हुए भी बालक रूपी कल्पतरू की तरह उसके दान–भाव का उल्लास उत्पन्न हुआ। हर्षपूर्वक मुनि के सम्मुख जाकर अति भक्तिपूर्वक प्रणाम करके अंजलिपूर्वक विनति करते हुए कहने लगा–"हे स्वामी! मेरे घर में शुद्ध, निर्दोष आहार है। अतः कृपा करके अपने चरण–न्यासपूर्वक मेरे घर–आँगन को पवित्र करें।"

इस प्रकार की उसकी अतीव दान–भक्ति जानकर उसकी विनति को स्वीकार किया। फिर उस बालक ने अत्यधिक भक्तिपूर्वक मुनि को घर के आँगन में ले जाकर प्रसन्नतापूर्वक थाल उठाकर मुनि के पात्र में एक ही धार में समग्र खीर बहराकर सात–आठ कदम मुनि के पीछे–पीछे जाकर फिर से मुनि को नमन करके दूसरों से भी ज्यादा अपनी आत्मा को कृत्य–कृत्य माना। उसके बाद आनंद के भार से बोझिल हृदय में दान के रस से नष्ट हुई भूख–प्यासवाला वह बालक घर में आकर खाली पड़े उस थाल के पास बैठकर बार–बार विचारने लगा–"दान के योग्य ऐसी भव्य खीर अब कब मिले? मिल भी जाये, तो मुनि का आगमन कहाँ से हो? अगर मुनि का योग मिल भी जाये, तो इन महेभ्यों के घर को छोड़कर मेरे घर में कहाँ से आयेंगे? आज तो बिना बादलों के ही बरसात हो गयी।"

इस प्रकार विचार करते हुए थाली में रहे हुए खीर के लेप–मात्र को

चाटने लगा। तभी पड़ोस में गयी हुई उसकी माता वापस आयी। चाटते हुए बालक को देखकर विचारने लगी–"अहो! मेरे बच्चे ने तो थाली भरी हुई खीर भी खा ली। पर अभी तक इसे तृप्ति नहीं हुई। मेरा पुत्र रोज ही ऐसी क्षुधा को सहन करता है।"

इस प्रकार उसे क्षुधित जानकर पुनः उसे खीर परोसी। पर बालक तो खीर को खाने से ज्यादा खुशी दिये गये दान में मान रहा था। जैसे कि व्यापारी व्यापार में लगाये गये धन से भी ज्यादा रखे हुए धन की वृद्धि में ज्यादा हर्ष मानता है। उस बालक ने अति बहुमानपूर्वक दिये गये दान की अनुमोदना से सुख के हेतुभूत तीव्र रस से युक्त भोग–फल रूपी कर्म को बाँधा। फिर उस बालक को अति गरिष्ठ आहार के सेवन से अजीर्ण रोग समुत्पन्न हुआ। जिसके कारण उसे विसूचिका हुई, उसकी तीव्र पीड़ा में भी मुनि–दान का स्मरण करते हुए मरकर वह तुम्हारे धन्यकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ है। मुनि–दान के प्रभाव से ही यह महान यश और अद्‌भुत सम्पदा का क्रीड़ा–मंदिर बना है। जैसे सुक्षेत्र में बोया हुआ दान सौ–गुणा हो जाता है, वैसे ही पात्र में बोये वट–बीज के तुल्य बीज से वट के समान अनन्तगुणा फल प्राप्त होता है।

अब आपके और आपके इन तीन पुत्रों के द्वारा किये गये कर्म–परिणाम की विचित्रता तथा पूर्वभव को सुनें। धनसार आदि अनिर्वचनीय और असम्भावित कर्म–विपाक को सुनकर चमत्कृत चित्तवाले होते हुए प्रणाम–सहित "तहत्ति" कहकर अंजलि–युक्त होकर सुनने लगे। गुरु ने कहा–

"एक सुग्राम नामक ग्राम में नजदीक–नजदीक घरवाले क्षय हुए धनवाले तीन कुलपुत्र मित्र रहते थे। वे तीनों ही धनाभाव में अन्य व्यापार न हो सकने के कारण वन में रही हुई लकड़ियों के द्वारा अपनी आजीविका का निर्वाह करते थे। एक बार वे तीनों ही लकड़ियाँ ग्रहण करने के लिए अपने–अपने घर से भोजन साथ में लेकर कम्बल आदि वस्त्र ओढ़कर जंगल में गये। तीसरे प्रहर के आरम्भ के समय ग्रीष्मऋतु होने के कारण तीव्र धूप के कारण भूमि तप्त हो जाने से मनुष्यों को व्याकुल बना देनेवाली रवि की किरणों के रहते हुए भी कोई महानुभाव, क्षमा के सार रूप ऐसे क्षमासागर मुनि संसार का वारण करनेवाले तप मासक्षमण के पारणे के लिए गाँव में जाने के लिए उस वन में आये। वे तीनों ही मित्र तप से शुष्क हुए अंगवाले, शेष रही हुई अस्थियाँ और चर्मवाली कायावाले, धर्म के मूर्तिमान स्वरूप उन मुनि को देखकर नट के वैराग्य की तरह सभी दान देने की इच्छावाले हुए। परस्पर विचारने लगे–"अहो! ये मुनि बहुत दूर से आये हुए प्रतीत होते हैं। तीव्र धूपवाली मध्याह्न वेला में तपी हुई बालुका के मध्य में

से अत्यधिक दूर रहे हुए गाँव में कैसे जायेंगे? वहाँ भी प्रत्येक घर में घूमते हुए भी अगर निर्दोष भिक्षा मिलेगी, तो ही इनके द्वारा ग्राह्य है, अन्यथा नहीं। अतः हमारे पास जो भाता है, उसी में से इन्हें आहार बहराया जाये, तो श्रेष्ठतम होगा।'' इस प्रकार तीनों में विचार कर अपना-अपना शम्बल (भाता) मुनि को दे दिया। मुनि भी शुद्ध आहार जानकर, उसे ग्रहण करके तथा धर्मलाभ की आशीष देकर अपने स्थान पर चले गये।

उन तीनों मित्रों को सायंकाल में लकड़ियाँ इकट्ठी करने के प्रयास के क्लेश द्वारा सुबह में खाया हुआ सारा भोजन पच गया। अब प्रबल भूख से जनित वेदना सताने लगी। तब वे परस्पर एक दूसरे को पूछने लगे-''कुछ खाने के लिए है या नहीं?''

तब एक ने कहा-''सारा भोजन तो मुनि को दे दिया।''

तब भूखे पेटवाले वे सभी लकड़ियों को ग्रहण करके सायंकाल में अपने-अपने घर आ गये। वहाँ भी जब तक भोजन न बनाया जाये, तब तक क्या खायें? अतः तीनों ही पश्चात्ताप करने लगे-''अहो! मुनि को दान देने का फल तो हमें यहीं मिल गया। इसी के प्रभाव से आज हम सब भूख से मर रहे हैं। नहीं जानते कि भविष्य में क्या होगा? हा! हा! हम तो व्यर्थ ही इस साधु के द्वारा ठगे गये। उस समय तो तीनों में से किसी के मन में भी यह विचार नहीं आया कि भूख लगने पर हम क्या खायेंगे? इन मुनियों को तो रोज ही तप करने की आदत है। नित्य अभ्यास होने के कारण अगर एकाध दिन ज्यादा भी हो जाता, तो कुछ भी हानि नहीं थी। हमें तो भूखे रहने का जरा भी अभ्यास नहीं है, अतः बड़ा दुःख आ पड़ा है। हाथों से पेट मसलकर हमने दुःख उत्पन्न किया है। हमारे जैसा कौन मूर्ख होगा, जो घर को जलाकर तीर्थयात्रा करे?''

इस प्रकार मुनिभगवंत को आहार देकर भी आत्म-शक्ति से रहित उन तीनों ने पश्चात्ताप के कारण होनेवाले अनंत फल को अति तुच्छ बना दिया। धनसार! वे तीनों ही आयु समाप्त होने पर मरकर तुम्हारे घर में धन-रहित पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए। दान देकर भी पश्चात्ताप आदि दोष से दूषित होने के कारण यहाँ भी बार-बार लक्ष्मी प्राप्त होने पर भी निर्धन हुए। पर सर्व अर्थ की सिद्धि करनेवाले दूषित भी दान का मूल से तो नाश नहीं ही होता। अतः धन्य के संयोग से ही इनकी लक्ष्मी स्थित होती है। पहले जिन पड़ौसी स्त्रियों ने अखण्ड, निष्कम्प अनुकम्पा के अध्यवसाय से शिशु के दुःख को दूर करने के लिए दूध, चावल, खाण्ड आदि दिये, बालक के द्वारा उसी खीर को साधु को

बहराते हुए देखकर उसकी अनुमोदना की–"अहो! इस बालक की कैसी दान–रुचि है! अत्यन्त दुष्कर रूप से लब्ध खीर को भी अखण्ड–धारा से दे रहा है। धन्य है यह बालक!"

इस प्रकार परस्पर अनुमोदना की, पर बालक की माता को नहीं बताया। वे धन्य की ये आठ लक्ष्मी के समान पत्नियाँ हुई हैं। पूर्वभव में वैभव की अधिकता के कारण सुभद्रा ने रोषवश अपनी प्रियसखी को "हे दासी! मिट्टी को वहन कर" इस प्रकार क्रोध किया, जिस कर्म के विपाक से शालिभद्र की बहन होते हुए भी मिट्टी वहन करने के दुःख को भोगना पड़ा, क्योंकि भोगे बिना कर्म का क्षय नहीं होता। अन्यों ने भी कहा है–

इतैकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः!।।

हे भिक्षुओं! आज से इक्यानवे (51) भव पूर्व मेरी शक्ति से एक पुरुष मारा गया था, उसी कर्म के विपाक से मेरे पाँव में कांटा चुभा है। (यह गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था–ऐसा बौद्ध–ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।)

इस प्रकार के गुरु–वचनों को सुनकर उत्पन्न हुए संवेगवाले कितने ही लोगों ने चारित्र ग्रहण किया, तो कितने ही लोगों ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। कितने ही लोगों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। अन्यों ने रात्रि–भोजन का त्याग किया। इस प्रकार मुनि की देशना अति फलवती हुई, क्योंकि दृढ़ मिथ्यात्वियों के आगे तो धर्म–देशना करना प्रलाप–मात्र है। कहा भी है–

अतीताऽर्थे कथिते विलापः, असंप्रहारे कथिते विलाप।
व्याक्षिप्तचित्ते कथिते विलापो, बहुकुशिष्ये कथिते विलापः।।

जो बीत गया, उसे कहना विलाप है, योग्य–अयोग्य की विवक्षा के बिना कहना विलाप है। व्याक्षिप्त चित्तवालों के आगे कहना विलाप है, अत्यधिक कुशिष्यों के आगे कहना भी विलाप–मात्र ही है।

अतः उन्हे उपदेश नहीं देना चाहिए। निपुण श्रोताओं का संयोग होने पर श्रोता और वक्ता–दोनों का ही चित्त समुल्लसित होता है। धनसार ने भी देशना सुनकर, कर्म–विपाक को जानकर, भव–निर्वेद को प्राप्त करते हुए उठकर आचार्य भगवन को नमन करते हुए विनति की–"हे गुणनिधि! संसार–भ्रमण के भय से अत्यधिक उद्विग्न बना हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ। अतः मुझ पर कृपा करके चारित्र रूपी यान प्रदान करें। जिससे उस पर आरूढ़ होकर भव के उस पार जा पाऊँ। आपका अत्यधिक नाम होवे।"

मुनि ने कहा–"हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो। पर शुभ

कार्य में विलम्ब मत करो।''

तब परिग्रह का त्याग करके धनसार ने पत्नी व तीनों अग्रज पुत्रों के साथ प्रव्रज्या अंगीकार की। पत्नियों सहित धन्य ने आचार्य व पितादि मुनियों को नमन करके कर्म का विनाश करनेवाले श्रावक–धर्म का स्वीकार किया और अपने घर को लौट आया। मुनि–कथित पूर्वभव के दानधर्म को स्मरण करते हुए विशेष रूप से धर्म–प्रवृत्ति करने लगा। नये मुनि बने हुए अपने माता–पिता भाइयों आदि को तप मे विशेष रत देखकर उनकी बार–बार स्तुति करते हुए सुखपूर्वक पुण्य के विपाक का भोग करते हुए काल का निर्गमन करने लगा।

हे भव्यों! मुनि को दिये जानेवाले दान–धर्म के फल की महिमा को जानो। धन्य जहाँ–जहाँ भी गया, वहाँ–वहाँ उसे भोग–सामग्री सर्वोत्कृष्ट रूप में प्राप्त हुई। बिना बुलाये हुए भी देवों के द्वारा धन्य के अग्रजों से धन्य को धन छीनकर उन्हें रोका गया। शिक्षा देकर उन्हें अनुकूल किया गया। इस प्रकार बड़े भाई भी न्याय–मार्ग को प्राप्त हुए। इसलिए इहलोक और परलोक में सुख के अभिलाषी लोगों को जिनेश्वर द्वारा कथित दानधर्म में उद्यत होना चाहिए, जिससे सकल अर्थ की सिद्धि होवे।

।। इस प्रकार आठवाँ पल्लव भी समाप्त हुआ।।

नवम पल्लव

एक बार कुछ व्यापारी नेपाल देश में होनेवाले एक–एक लाख मुद्रा के मूल्यवाले रत्नकम्बलों को लेकर राजगृह नगर में बेचने के लिए आये। 'राजभोग्यं वस्तु' जानकर श्रेणिक राजा को नमन करके उन्हें रत्न–कम्बल दिखाये और विनति की–''स्वामी! ये रत्न–कम्बल तीनों ही ऋतुओं में ओढ़ने के काम में आते हैं। वर्षाकाल में इस रत्न–कम्बल के तन्तु परस्पर अत्यन्त सम्मिलित हो जाते हैं, जिससे इन पर वर्षा का जल गिर जाने पर भी वह उससे नहीं छनते हुए भूमि पर गिर जाता है, पर शरीर का रोममात्र भी नहीं भीगता। रत्न–कम्बल स्वयं भी निरुपलेप रहती है। शीतकाल में और हेमन्त ऋतु में ये उष्णता को प्राप्त हो जाते हैं। एक ही लपेटे में शरीर से पसीना आने लगता है। उष्णकाल की गर्मी में शीतलता को प्राप्त कराती है। जब यह देह पर धारण की जाती है, तब चन्दन के लेप के समान शीतलता प्राप्त कराती है। यह कम्बल मैली हो जाने पर अग्नि में डालने पर जात्य सुवर्ण की तरह उज्ज्वलता को प्राप्त हो जाती है। इसीलिए वस्त्रों में यह रत्न के रूप में विख्यात है।''

राजा ने पूछा–''इसका मूल्य क्या है?''

उन्होंने कहा–''एक–एक का मूल्य सवा लाख स्वर्णमुद्रा है।''

वणिकों के मुख से इस प्रकार के मूल्य को सुनकर मन में विस्मित होते हुए राजा ने कहा–''हे विदेशियों! अत्यधिक मूल्यवाले इन कम्बलों को हम तो नहीं लेंगे, क्योंकि धारण किये हुए ये कम्बल ग्वालों के वेश की शोभा को बढ़ाते हैं। उत्तम जाति के मनुष्यों के लिए कम्बल का वेश शोभा नहीं देता। गुणों को तो जो जानता है, वही जानता है, पर इसको धारण करने पर तो सभी लोग तुच्छ जाति के ही मानेंगे। अतः हमें इन्हें ग्रहण नहीं करना है और भी करोड़ों स्वर्ण के द्वारा गृहित हाथी, घोड़े, मनुष्य व रत्नों के संग्रह युद्ध में विजय प्राप्त कराते हैं और राज्य की रक्षा भी करते हैं। पर कम्बल में तो क्या सामर्थ्य होती है? कुछ भी नहीं।''

राजा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर व्यापार में कुशल वे व्यापारी उदास व निराश मुखवाले होकर राजा को नमन करके वहाँ से उठकर अपने रहने के स्थान पर जाने लगे, जाते हुए परस्पर व्यापार की बातें करते हुए शालिभद्र के महल के नीच से निकले। वे आपस में कहने लगे–''भाइयों! यदि इस प्रकार के महानगर में भी हमारे माल का विक्रय नहीं हुआ, तो इससे बढ़कर दूसरा कौन–सा नगर है, जहाँ ये रत्न कम्बल बेचे जा सकेंगे? महाराजाधिराज श्रेणिक भी अगर इन्हें खरीदने में असमर्थ हैं, तो इस देश में इन्हें कौन खरीद सकता है?'' इस प्रकार बोलते हुए वे वहाँ से गुजर रहे थे।

इस समय शालिभद्र की माता भद्रा दासियों के समूह से घिरी हुई झरोखे में बैठी हुई नगर के दृश्यों का अवलोकन कर रही थीं। उन व्यापारियों के वार्तालाप को सुनकर भद्रा माता ने दासी को कहा–''शीघ्र ही जाओ। जो ये परदेशी व्यापारी जा रहे हैं, उन्हें शीघ्र ही बुलाओ।''

माता भद्रा के आदेश को पाकर दासी ने शीघ्र ही जाकर व्यापारियों से कहा–''हे व्यापारियों! मेरी स्वामिनी आपको बुला रही है। अतः आप मेरे साथ आईए।''

उनमें से एक वाचाल व्यापारी बोलने लगा–''तुम्हारी स्वामिनी हमें क्यों बुला रही है? हम वहाँ जाकर क्या करेंगे? हमारे माल को जब राजा भी ग्रहण नहीं कर पाये, तो तुम्हारी वृद्धा स्वामिनी क्या करेगी?''

दासी ने कहा–''आपके जैसे अनेक व्यापारी हमारी स्वामिनी के महल में आये हैं और आते हैं, वे सभी अपने–अपने भाग्यानुसार लाभ लेकर जाते हैं। कोई भी खाली हाथ नहीं जाता। आप तो कोई नये ही दिखायी देते हो, जो कि व्यापार के तरीके नहीं जानते। माल अनेकों को दिखाया जाये, तो कोई न कोई ग्राहक मिल ही जाता है। अगर माल ही नहीं दिखाया जाये, तो ग्राहक कैसे मिलेगा?''

तभी अन्य व्यापारियों ने कहा–''क्यों प्रलाप करते हो? हम व्यापारी हैं। सैकड़ों लोगों को सैकड़ों बार माल दिखाते हैं, तभी कोई खरीदता है। इसमें क्रोध

करने की क्या बात है? चलो दासी! हम तुम्हारी स्वामिनी के पास जरूर आयेंगे।"

इस प्रकार कहकर वे दासी के साथ भद्रा माता के महल में आये। महल के अन्दर प्रवेश करते ही इधर–उधर सोने–चाँदी रत्नमय घर की शोभा बढ़ानेवाले तोरण, माला आदि को देखकर विस्मित होते हुए विचार करने लगे कि क्या यह मनुष्यों का महल है या देव–भवन? घर के दरवाजे पर ही इस तरह की ऋद्धि का विस्तार है, तो घर की स्वामिनी रत्नकम्बलों को यथा–रुचि अवश्य ग्रहण करेंगी। इस प्रकार विचारते हुए वे दूसरी मंजिल पर पहुँच गये। वहाँ तो सूर्य की धूप के समान रत्नों के द्वारा उद्योतित घर को देखते हुए भद्रा माता के निकट पहुँचे। भद्रा ने भी आदर सहित शिष्टाचारपूर्वक उन्हें बिठाया और पूछा–"आप क्या माल लेकर आये हैं?

उन्होंने कहा–"रत्नकम्बल।"

भद्रा ने कहा–"वे कैसे है?"

तब उन्होंने गठड़ी खोलकर कम्बल निकालकर दिखाये। उन्हें देखकर भद्रा ने पूछा–"इनके क्या गुण हैं?"

व्यापारियों ने पूर्व के समान ही सम्पूर्ण स्वरूप बताया। यह सुनकर भद्रा ने कहा–"इनका मूल्य क्या है?"

उन्होंने कहा– "सवा–सवा लाख स्वर्ण मुद्रा प्रत्येक का मूल्य है।"

भद्रा ने कहा–"मेरी बत्तीस बहुओं को एक–एक देने के लिए मुझे बत्तीस रत्न कम्बलों की जरूरत है, पर आपके पास तो सोलह ही है। अब क्या किया जाये? इन्हें फाड़कर दो–दो खण्ड करके सभी बहुओं को एक–एक टुकड़ा दे दूँगी।"

भद्रा के वचनों को सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए थोड़ा हँसते हुए वे एक–दूसरे के कान में कानाफूसी करने लगे–"क्या यह वाचालता में बोल रही है या पागल होकर प्रलाप कर रही है? जहाँ राजा जैसा व्यक्ति भी एक रत्न कम्बल को भी ग्रहण नहीं कर सका, वहीं यह कहती है कि बत्तीस रत्न कम्बल क्यों नहीं लाये? पुनः कहती है कि एक–एक कम्बल के दो–दो टुकड़े किये जाये, यह क्या बोल रही है? इसके वचनों पर कैसे विश्वास किया जाये?"

तब दूसरे ने कहा–"तुम क्यों चिंता करते हो? क्या इसके कहने मात्र से हमने कम्बल के टुकड़े कर डालें? धन कहाँ है? जब यह हमें धन दे देगी, तभी हम इसके कथनानुसार कम्बल के टुकड़े करेंगे।"

इस प्रकार परस्पर बातचीत करके भद्रा से कहा–"हे माता! हम परदेशी हैं, अतः अपने घर लौट जाने को उतावले हो रहे है। इसी कारण से हम उधार का व्यापार नहीं करते, नकद–व्यापार करते है। अतः आप हमें मोल करके नकद धन प्रदान करें, फिर हम आपकी इच्छानुसार इन कम्बलों के टुकड़े कर देंगे।"

भद्रा ने व्यापारियों के मन की अधीरता जानकर मुस्कराते हुए कोषाध्यक्ष को आज्ञा दी।"जितने धन से ये प्रसन्नचित हो जायें, उतने अर्थात् बीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ इन्हें दे दो।"

भाण्डारिक के द्वारा भी उन व्यापारियों को ले जाया गया। उन्हें साथ ले जाकर खजाने का द्वार खोला। व्यापारियों ने ज्योंही अन्दर प्रवेश किया, उन्होंने देखा कि एक तरफ तो अगणित मोहरों के ढेर लगे हुए हैं, दूसरी तरफ स्वर्ण–दीनारें ढेरों के रूप में पड़ी हुई हैं। एक तरफ रजत मुद्राओं के अनेक ढेर लगे हुए थे। उनसे आगे मोतियों से कोठे भरे पड़े थे। उससे आगे स्वर्ण का ढेर लगा हुआ था। उसके बाद माणिक्य की अपार राशि थी। उसके बाद नीलमणि, वैडूर्य–रत्न, परवाला, फीरोज रत्न, रक्तमणि आदि के अनेको ढेर लगे हुए थे। इस प्रकार चौरासी प्रकार के रत्नों की अगणित राशि को देखकर विस्मित होते हुए वे विचार करने लगे–"क्या यह सत्य है या स्वप्न है या इन्द्रजाल है या कोई देवमाया है? यह क्या है? अहो! उसका प्रबल पुण्य! इतने धन का स्वामी तो जो सोचेगा, वही कर गुजरेगा। यह राजगृह नगर धन्य है, जहाँ इस प्रकार के सेठ–साहुकार रहते हैं। राजगृह नाम तो वास्तव में अर्थपरक है।"

तब उन विदेशी व्यापारियों ने यथारुचि धन माँगा, भाण्डागार ने भी लेख करके धन दे दिया। धन लेकर वे सोचने लगे–"हमारे द्वारा अनजाने में ही धन को लेकर जो अधीरता प्रदर्शित की गयी, वह ठीक नहीं थी।" इस प्रकार लज्जित होते हुए वे पुनः भद्रा के पास आये। भद्रा ने कहा–"क्या आपने मन–ईप्सित धन प्राप्त किया?"

उन्होंने कहा–"माता! आपकी कृपा से क्या प्राप्त नहीं होता?"

भद्रा ने पुनः कहा–"एक–एक कम्बल के दो–दो टुकड़े कर दीजिए, क्योंकि मेरी 32 पुत्रवधुएँ हैं। पर कम्बल तो सोलह ही हैं तो कैसे युक्त होगा? इसीलिए मैं टुकड़े करवा रही हूँ।

यह सुनकर व्यापारी चमत्कृत होते हुए मन में विचार करने लगे–'अहो! पुण्य की प्रगल्भता! जो कोई अन्य व्यक्ति जैसे–तैसे एक भी रत्नकम्बल खरीदता है, वह अपने प्राणों की तरह यत्न–पूर्वक इसकी रक्षा करता है और पर्व आदि दिनों में ही इसको प्रयोग में लाता है। यह तो पहले से ही टुकड़े करवा रही है और उस पर भी कोई विचार नहीं हैं। अतः जगत में पुण्य और अपुण्य में महान अन्तर दिखायी देता है।"बहुरत्ना वसुन्धरा" यह युक्ति सत्य रूप से चरितार्थ है।"

तब उन कम्बलों के टुकड़े करके शालिभद्र के पुण्य का वर्णन करते हुए अपने उत्तारक स्थान पर चले गये।

इसके बाद भद्रा ने स्नान का समय होने पर दासियों के हाथ वे 32 ही टुकड़े दिये। दासियाँ उन कम्बल के खण्डों को लेकर स्नान–घर में पहुँची। प्रत्येक

बहू को एक–एक कम्बल–खण्ड दिया।

उन्होंने कहा–"यह क्या है? हम इसका क्या करें?"

दासी ने कहा–"सेठानियों! आज परदेशी व्यापारी सवा–सवा लाख रूपयों के मूल्य वाले सोलह रत्न कम्बल लेकर माताजी के पास आये थे। उन्होंने कम्बल दिखाये। माता ने कहा कि 32 कम्बल चाहिए। तब उन व्यापारियों ने बताया कि ये कम्बल हर जगह नहीं बनते, न ही मिलते हैं। नेपाल देश में जलती हुई ईंटों के मध्य अग्नि–योनि वाले चूहे जब कभी उत्पन्न होते है, तब उनके रोमों को ग्रहण करके ये कम्बल बनाये जाते है। समस्त देशों में भ्रमण करने के बाद भी ये कम्बल इतनी ही मात्रा में उपलब्ध हुए है, ज्यादा नहीं मिले। ये किसी–किसी काल में ही उत्पादित किये जाते है, हमेशा नहीं। इनके गुण तीनों ऋतुओं में सुखदायी होते हैं। अग्नि में डालने पर ये ज्यादा शुद्ध व शुभ्र होकर निखर जाते हैं।" इस प्रकार भद्रा माता ने अति नवीन तथा अद्‌भुत वस्तु जानकर एक–एक कम्बल का सवा–सवा लाख मूल्य चुकाकर सोलहों कम्बल ग्रहण कर लिये। फिर एक–एक कम्बल के दो–दो टुकड़े करवाकर आपके उपयोग के लिए इन खण्डों को भेजा है।"

इस प्रकार दासी के कथन को सुनकर बहुओं ने उन खण्डों को हाथों में ग्रहण किया। ऊनी कम्बल होने के कारण कर्कश स्पर्श जानकर मुँह मचकाते हुए "हम इसे ओढ़ने में समर्थ नहीं है, इनसे केवल पाँव ही पौंछे जा सकते हैं, अन्य कार्य में इनका उपयोग नहीं है।" इस प्रकार कहकर स्नान करके उन खण्डों से पाँवों के तलुवे पौंछकर कूड़ेदान में डाल दिये। दासी ने जाकर भद्रा माता को सब कुछ निवेदन कर दिया। भद्रा ने हँसते हुए कहा कि "देवदूष्य वस्त्र के आगे इन कम्बलों की क्या कींमत?"

उधर राजा की पट्टरानी चेलना देवी ने कम्बल–विषयक राजा और व्यापारियों की सारी बातें सुनकर राजा को आक्रोशपूर्वक इस प्रकार कहा–"आज मैंने मेरे प्रति आपके स्नेह को परख लिया। परेदश से जो कोई भी नयी वस्तु आपके पास आती है, वह आप स्वयं देखकर धन व्यय के डर से बाहर से ही वापस भेज देते हैं, अन्तःपुर में तो दर्शन–मात्र के लिए भी प्रेषित नहीं करते। ऐसा करने का रहस्य मुझे ज्ञात हो गया कि अगर आप अन्तपुर में देखने के लिए भेंजेंगे, तो कदाचित् अन्तःपुर की स्त्रियाँ वे वस्तुएँ खरीदने के लिए आपसे कहेंगी, उससे आपके धन का व्यय करना पड़ जायेगा। अतः अपने इसी कृपणता दोष के कारण आप खुश होकर परदेसी व्यापारियों व उनके माल को बाहर से ही लौटा देते है। क्या आपका हमारे प्रति परम स्नेह है? नहीं है। जो छः ऋतु के अनुकूल सुख प्रदान करनेवाले रत्न–कम्बल आये थे, आपने उनको भी स्वयं ही देखकर विसर्जित कर दिया। एक कम्बल भी हमारे लिए नहीं खरीदा। अतः आपका जो स्नेह हैं, वह दिखावा ही प्रतीत होता है।"

राजा ने कहा–"नहीं, नहीं। यह मेरी कृपणता नहीं है। मैंने तो वास्तव में

जान लिया था कि यह वस्तु नयी है, पर ऊनी होने से कर्कश स्पर्श के कारण रानियों के उपयोग के लिए आनंददायक नहीं होगी, इसीलिए उन्हें लौटा दिया। द्रव्य खर्च का मुझे कोई भय नहीं है।''

रानी ने कहा–''अगर वास्तव में आपके मन में ऐसा ही था, तो एक कम्बल मँगवाकर मुझे दीजिए। जब तक मुझे रत्नकम्बल प्राप्त नहीं होगी, मैं भोजन नहीं करूँगी।'' इस प्रकार रानी ने हठ धारण कर लिया।

राजा उसकी यह जिद्द जानकर अपने आस्थान पर आये और अभय को बताया कि बाल हठ, स्त्री हठ, राज–हठ और योगी हट–ये चारों ही दुर्निवार्य है। अतः जैसे–तैसे भी करके एक रत्नकम्बल कहीं से भी लाओ।

तब राजाज्ञा से बोलने में चतुर एक द्वारपाल को व्यापारियों के पास भेजा गया। उसने व्यापारियों के पास जाकर कहा–''हे साहूकार व्यापारियों! मगध के अधिपति महाराजा श्रेणिक ने आज्ञा दी है कि सवा लाख मूल्य नकद ग्रहण करके एक रत्नकम्बल प्रदान दीजिए। इसमें कोई संदेह नहीं है। वे नकद द्रव्य देकर रत्नकम्बल मँगवा रहे है।

तब व्यापारियों ने ससम्मान प्रत्युत्तर दिया–''हे भद्र! राजा के चरणों में हम सेवकों का भक्तियुत प्रणाम कहना। यह विज्ञप्ति भी उन्हें देना कि जो आपने रत्नकम्बल मंगवाया है, यह हम पर बड़ी मेहरबानी की है। पर जब हम स्वामी के महल से लौटकर अपने उत्तारक–स्थान की ओर आ रहे थे, तो शालिभद्र जी के महल के नीचे से हमें गुजरते हुए देखकर तथा परदेशी व्यापारी जानकर शालिभद्र जी की माता ने हमें बुलवाकर पूछा–''आप क्या बेच रहे है?' तब हमनें उन्हें रत्नकम्बल दिखाये। उन्होंने मुँह माँगी कीमत देकर सारी कम्बलें खरीद लीं। अब हमारे पास एक भी कम्बल नहीं है। अतः अब हम क्या करें? हम सेवक तो बड़ी आशा लेकर सबसे पहले स्वामी के पास ही गये थे, पर तब राजा की खरीदने की इच्छा ही नहीं थी। अतः हमने भी भद्रा माता को सारा माल बेच दिया। पर धन्य है आपके स्वामी! जिनकी छत्रछाया में ऐसे इभ्य सेठ निवास करते हैं। (यहाँ पर इभ्य का अर्थ इस प्रकार है। हाथी पर रखी हुई अम्बाड़ी सहित जितनी ऊँचाई होती है, उससे भी अधिक ऊँचे हीरे, मणि, मोती, रत्नों आदि के ढ़ेर जिसके पास हों, वह इभ्य कहलाता है।) उस एक इभ्य सेठ ने ही हमारे परदेश से लाये हुए अति–मूल्यवान वस्तु को लाने के श्रम को सफल कर दिया। इसके अलावा अन्य कोई भी आज्ञा देंगे, तो हम सिर के बल उसे पूर्ण करेंगे।'

इस प्रकार का उत्तर देकर सम्मानपूर्वक द्वारपाल को विदा किया। द्वारपाल ने भी राजा के पास आकर सारा वृत्तान्त निवेदन किया। तब महाराजा श्रेणिक तथा अभय ने एक प्रधान–पुरुष शालिभद्र की माता के पास प्रेषित किया। वह शालिभद्र के भव्य भवन में पहुँचा। देव–भवन के तुल्य घर को देखकर आश्चर्यान्वित होते हुए

वह भद्रा के समीप गया। भद्रा ने भी अत्यधिक आदर व सम्मानपूर्वक उसे योग्य–आसन पर बिठाया और आगमन का प्रयोजन पूछा। तब उस प्रधान–पुरुष ने कहा–" आपने जो रत्नकम्बल खरीदे हैं, उसमें से एक कम्बल राजा लागत मूल्य देकर आपसे खरीदना चाहते हैं। पटरानी के आग्रह को पूरा करने के लिए ही राजा को रत्नकम्बल की आवश्यकता है। अतः कृपा करके एक रत्न–कम्बल प्रदान कीजिए और उसका लागत मूल्य ग्रहण कर लीजिए।"

राजपुरुष के उपरोक्त कथन को सुनकर भद्रा ने कहा–"यह धन–धान्य भवन आदि सब राजा का ही है। अतः मूल्य से क्या प्रयोजन? मूल्य माँगना या लेना मेरे लिए अनुचित है। अगर और कोई होता, तो शायद मूल्य बताती। अगर मेरी कोई वस्तु महाराज के उपयोग में आये, तो मेरे लिए इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है? यह तो मेरा महान भाग्योदय ही होगा। महाराज की आज्ञा के अनुकूल ही यदि सेवकों के द्वारा कार्य साधे जायें, तो सैकड़ों कार्य सफल होते हैं। ऐसे सैकड़ों कम्बल महाराज पर न्यौछावर किये जा सकते हैं। यदि सेवक के घर में रही हुई वस्तु स्वामी के लिए कार्यकारी होती है, तो उससे ज्यादा फल और कुछ भी नहीं है। वह दिवस भी धन्य है, जिस दिन हमारी कोई वस्तु स्वामी के चित्त को प्रसन्न करनेवाली होगी। पर क्या करूँ? मुझे पहले से ज्ञात नहीं था कि महाराज को इस कम्बल से प्रयोजन है। उनके दो–दो टुकड़े करके मैंने मेरी बत्तीस बहुओं को बाँट दिये। उन्होंने भी "इन कम्बल के टुकड़ों से क्या प्रयोजन?" ऐसा विचार करके अनादरपूर्वक स्नान से निवृत्त होते हुए अपने–अपने पाँव पोंछकर उन टुकड़ों को कूड़ेदान में डाल दिया। यद्यपि इन टुकड़ों को अग्नि में तपाया जाये, तो वे शुद्ध हो सकते हैं, पर फिर भी शुद्धत्व को प्राप्त, लेकिन पूर्व में भोगे हुए उन कम्बलों को महाराज को मैं कैसे भेंट कर सकती हूँ? बिना उपयोग की गयी वस्तु ही महाराज को उपहार में देना योग्य है, अन्यथा नहीं। अतः प्रणतिपूर्वक मेरा कहा हुआ सम्पूर्ण वृत्तान्त आप महाराज के सम्मुख निवेदन कर दें। अन्य कोई वस्तु आपके प्रयोजन के योग्य हो, तो आप ग्रहण करें, क्योंकि यह सब कुछ तो हमारे स्वामी श्रेणिक महाराज का ही है।"

इस प्रकार कहकर भव्य तांबूल (पान)–वस्त्रादि के द्वारा उसका उचित सम्मान करके शिष्टाचार के द्वारा आनन्दित करके उसे प्रेषित किया। उसने भी महाराज व अभयकुमार के पास जाकर सारा वृत्तान्त निवेदन किया। यह सब सुनकर महाराज श्रेणिक व अभयकुमार मन ही मन चमत्कृत हो गये। श्रेणिक मन में चिंतन करने लगा–"अहो! पुण्य की गति कितनी अनिर्वचनीय है! पुण्य–पुण्य में महान अन्तर है। मैं स्वामी हूँ और वह (शालिभद्र) मेरा सेवक है, पर उसके व मेरे पुण्य में महान अन्तर है। वह मेरा सेवक होता हुआ भी एक दिन–मात्र में जो भोगने योग्य भोगता है, वह मैं वर्ष भर में भी भोगने में असमर्थ हूँ। मेरे लिए तो एक ही रत्नकम्बल ने मन में उथल–पुथल मचा रखी है, जबकि इसने तो सोलह ही रत्न कम्बल

जीर्ण–शीर्ण वस्त्र की तरह पाँव पोंछकर फेंक दी हैं। अब वे उसके लिए अस्पृश्य हो गयी है और मैं उस एक रत्न–कम्बल के लिए मरा जा रहा हूँ। श्री जिनेश्वर ने शुभ, शुभतर व शुभतम अध्यवसायों के उदय में जो विचित्रता बतायी है, वह सत्य ही है। पर एक बात से तो मैं भी धन्यतम हूँ कि मेरे राज्य में इस प्रकार के भोग–पुरन्दर सुखपूर्वक विलास करते हैं। इस कारण मेरा जीवन जीना सफलतम है। इस प्रकार की भोगैश्वर्यता पूर्वजन्म–कृत श्री जिनमार्ग के अनुकूल शुद्ध–तपस्या व दानादि का ही फल है, अतः मुझे ऐसे आराधक के दर्शन करने चाहिए। देखना चाहिए कि वह कैसा है? अति पुण्यवानों के दर्शन से वह दिन कृतार्थ हो जाता है।"

इस प्रकार विचार करके अभय से कहा–"तुम उसके घर जाकर, कोमल वचनों से उसे प्रमुदित क़रके सम्मानपूर्वक, अनेक प्रयत्नों के द्वारा, यथेच्छापूर्वक, सुखासन द्वारा रथ आदि पर आरूढ़ करके, दिव्य वाद्ययंत्रों के निर्घोष से आडम्बरपूर्वक यहाँ लेकर आओ, जिससे उस कृतधर्मा, कृतपुण्या आत्मा के मैं दर्शन कर पाऊँ।

इस प्रकार के राज्यादेश को प्राप्त करके अभयकुमार शुभ–परिकर से युक्त होकर हर्षित होता हुआ शालिभद्र के घर गया। सेवकों ने पहले ही भद्रा को अभय के आगमन के बारे में बता दिया था। जब घर की वीथिका के अन्दर अभयकुमार आया, तो भद्रा स्वयं अनेक सखियों व दासियों से घिरी हुई अपने घर–आँगन से सौ कदम आगे आकर सम्मुख आयी। अत्यन्त आदरपूर्वक न्यौछावर करके उसे घर के अन्दर ले गयी। भव्य–आसन पर बिठलाकर, अत्यन्त अद्‌भुत, नये–नये देशों में उत्पन्न वस्तुओं का उपहार देकर पुण्य–ताम्बुल–अत्तर (इत्र) आदि के द्वारा शिष्टाचार करके सामने खड़ी होकर दोनों हाथों को जोड़कर भद्रा ने कहा–"आज हमारा महान पुण्योदय है, आज का दिवस सुप्रभात को लेकर आया है, आज हमारे मनोरथ पूर्ण हुए, क्योंकि हमारे स्वामी महामंत्री ने अपने चारु चरणों द्वारा हमारे घर को पावन किया है। आपने इतना श्रम किया। राज भवन से ही आज्ञा प्रेषित क्यों नहीं की? स्वामी का आदेश सुनते ही मैं स्वयं सिर के बल आपश्री के निर्दिष्ट कार्य को पूर्ण करती, क्योंकि सेवकों को आज्ञा मात्र देने से भी स्वामी के द्वारा निर्दिष्ट कार्य में विलम्ब हो जाता है।"

भद्रा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर अभय ने कहा–"आपने जो कहा, वह सत्य है। मैं जानता हूँ कि आप जैसी कुलीन नारियों की यही स्थिति है, परन्तु मुझे भी स्वामी के आदेश की पालना तो करनी ही चाहिए, क्योंकि आज अत्यधिक प्रसन्नचित्त होकर महाराज ने मुझसे कहा–'तुम परिकर–युक्त होकर शालिभद्र के घर जाओ। जाकर कुशल–क्षेम पूछकर आदर से यत्नपूर्वक उसे यहाँ लेकर आओ, जिससे मैं पुण्यशाली शालिभद्र का मुख देख सकूँ।' इस प्रकार राजा के आदेश को पाकर मैं शालिभद्र को आमंत्रण देने आया हूँ। अतः आप शालिभद्र को मेरे साथ भेजने की कृपा करें, जिससे अति–उत्सुक महाराज के मनोरथ फलीभूत होवें। प्रसन्न होकर

महाराज महत्त्व की बीजरूप महाकृपा का वर्षण करेंगे, जिससे समस्त नगर में आपके घर की यश–प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और दुर्जनों के मुख म्लान हो जायेंगे। मैं एक ही सुखासनपूर्वक अश्व पर सवारी करवाकर, राज–सम्मान दिलाकर पुनः यहाँ ले जाऊँगा। अतः आप शीघ्र ही उसे मेरे साथ भेज दीजिए। अन्य कितने ही महा–इभ्य राजा से मिलने के लिए राजद्वार पर आकर अत्यधिक द्रव्य का व्यय करते हैं। आ–आकर वापस लौट जाते हैं, पर राजा के दर्शन उन्हें प्राप्त नहीं होते। हम जैसों की सेवा करते हैं, हमें विनति भी करते हैं, फिर भी कोई राजा से मिल पाते हैं और कोई नहीं भी मिल पाते। पर आपके पुण्यवान पुत्र से मिलने के लिए तो राजा स्वयं आतुर है। अतः आपको किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए।''

अभय के इन वचनों को सुनकर प्रसन्न होते हुए भद्रा ने कहा–''स्वामी ने जो कुछ भी का, वह सत्य है। जगत में रत्न के समान आप जैसों के वचनों में कैसी अधीरता? कौन मूर्ख इन वचनों पर तर्क–विर्तक करेगा? मैं भी आपकी कृपा से जानती हूँ कि इस लोक में लज्जा, प्रतिष्ठा, मान महत्त्व, यश, ख्याति, शोभा, समृद्धि, सुख, सौभाग्य, शत्रुओं पर विजय आदि–इन सब कार्यों का एक मात्र निर्बाध हेतु राज–सम्मान ही है। राजद्वार पर चले जाना–मात्र ही सभी विघ्नों का नाश–स्वरूप दिखाई देता है। क्योंकि कहा भी है–

गन्तव्या राजसभा, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः।
यद्यपि न भवन्त्यथास्तथाप्यनर्था विलीयन्ते।।

अर्थात् राजसभा में जाना और राज–पूजित लोगों की नजर पड़ना–इनसे विघ्न नही आते और अनर्थों का नाश होता है।

तो अगर राजा स्वयं बुलाते हैं, तो फिर कहना ही क्या? यह तो परम पुण्य के उदय का सूचक और सम्पूर्ण अभीष्टों का साधक है–ऐसा मैं भी जानती हूँ। परन्तु मेरा शालिभद्र राज–सभा के व्यवहार को नही जानता है, क्योंकि वह कभी राजदरबार गया ही नहीं है। राजसभा में 36 प्रकार के राजकुलीन नर होते हैं। वहाँ यह नहीं जान पायेगा कि कौन पहले नमन के योग्य है और कौन बाद में नमनीय है। राजसभा में यह बोलना चाहिए, यह नहीं बोलना चाहिए तथा यहाँ बैठना चाहिए–आदि कुछ भी नही जानता है। और भी, राजसभा में तो बहुत से धनवान, महा–इभ्य श्रेष्ठीगण, बहुत मंत्रीगण और बहुत से क्षत्रिय कुल उत्पन्न व्यक्ति होंगे। उन सबमें आगे कौन है? बाये कौन है? दायें कौन है? ज्येष्ठ कितने हैं? कनिष्ठ कितने है? इनके बीच कैसे बैठना चाहिए? इन सबका अनुभव नहीं होने से शालिभद्र कुछ भी नही जानता है। तो फिर, वहाँ आकर वह कैसे प्रशंसित होगा? महाराज की पूर्ण कृपा से वह आज तक घड़ी मात्र भी पराधीन भाव से नहीं रहा है। इसे राजद्वार जाकर आने से हजार कोस परिभ्रमण करने जितना श्रम उठाना पड़ेगा। अतः इस सेवक पर अगर महाराज की एकान्त कृपा है, सेवक को क्षण मात्र का भी कष्ट न हो– ऐसी महती कृपा है,

तो इस सेवक की मान–वृद्धि के लिए स्वयं ही श्रम करके यहाँ पधारकर अपने पवित्र चरणों के न्यासपूर्वक सेवक के घर को पावन करें। तभी हमारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे। वह सेवक सभी इभ्यों के बीच प्रशंसनीय होगा। स्वामी के चार घड़ी के श्रम–मात्र से सेवक का भव यावत् सुख व मान की वृद्धि होगी। मैंने जो कुछ भी कहा है, वह आपकी प्रसन्नता हो, तो ही करें, अन्यथा नहीं, क्योंकि राजा लोग तो महामंत्री के ही आधीन होते हैं। आप जैसे पर दुःख–नाशक, कृपालु, सज्जन व्यक्ति पर–इच्छित कार्य ही करते हैं। इस महानगर में सभी पुरुषों के मध्य अभी दो ही पुरुष उत्तम माने जाते हैं। एक तो मेरे जामाता और आपकी बहिन के पति धन्यकुमार तथा दूसरे आप श्रीमान, जो कि दूसरों के मनोरथ को पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के *समान हैं। अतः आप कृपा करके "यह करने योग्य है"–इस प्रकार दिल में सोच लेंगे,* तो यह कार्य अवश्य ही हो जायेगा, अन्यथा नहीं। हमारे जैसे वणिकों के घर महाराज का आगमन कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए अब हमारे घर की लाज आपके हाथ में है। इसके उपरान्त आपको जो अच्छा लगे, आप करें।"

तब अभय ने भद्रा के वचनों को सुनकर कहा–"आपने जो कहा, वह सत्य है। पर आपके मनोरथ पूर्ण करने में मैं जरा भी विलम्ब करूँगा, ऐसा आप सोचे भी नहीं, क्योंकि आपके साथ मेरे अनेक प्रकार से सम्बन्ध है। सबसे पहला सम्बन्ध तो यह है कि आप और मैं–दोनों ही श्रीमद्–जिन–चरणों के उपासक हैं। दूसरी बात यह है कि शालिभद्र की बहिन व मेरी बहिन एक ही घर में और एक ही व्यक्ति को ब्याही गयी है। तीसरा सम्बन्ध यह है कि आपके पति गोभद्र श्रेष्ठी महाराज के परम प्रिय कृपापात्र थे ही, अतः आपके कार्य को मैं अपना ही कार्य मानता हूँ। इसमें कोई अन्तर नहीं मानता। पर अगर मैं अकेला ही वहाँ जाकर महाराज को विनति करूँगा, तो सभा में कई दुर्जन व्यक्ति हैं, जो मुझ पर झूठा आरोप लगायेंगे कि मंत्री किसी भी प्रकार से रिश्वत आदि लेकर भद्रा के घर जाने के लिए महाराज को प्रेरित कर रहे हैं। उनके घर का तो कोई भी मुख्य व्यक्ति महाराज का बुलाने नहीं आया। कोई वाचाल कहेंगे–"बस! यही थी महाराज की आज्ञा! जिस आज्ञा को सुनकर भी स्वेच्छा से तो नहीं आया, प्रत्युत राजा को अपने घर बुलाता है, राजा अगर स्वयं वहाँ जाये, तो फिर उनका क्या महत्व?" पुनः कोई कहेगा–"यदि महाराज होकर भी एक वणिक के घर जायेंगे, तो हमारे घर क्यों नही आयेंगे? उनकी बात रखने के लिए महाराज प्रत्येक के घर जायेंगे, तो उनकी लघुता होगी।' ऐसे अनेक विकल्प सामने आने पर भी हो सकता है राजा की महती कृपा आप पर हो फिर भी क्या पता? राजाओं के चित्त क्षण–क्षण में स्थिर–अस्थिर होते रहते हैं। अतः कदाचित इन बातों से मन में खटास आ जाने से मेरी बात वे न भी मानें। अतः आप अगर अपने मनोरथ पूर्ण करना चाहती हैं, तो मेरे साथ सुख–आसन पर बैठक राजा के पास चलें। वहाँ आकर मेरे सामने की गयी विनति को आप राजा के समक्ष भी करें। उस समय मैं

अलग होकर अवसरोचित कथन के द्वारा आपके कार्य को सम्पादित करूँगा। धन्य भी वहीं पर रहेगा, वह भी आपकी ओर से महाराज को प्रेरणा करेगा। वहाँ आने–मात्र से ही आपका प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा।''

अभय के वचनों को सुनकर भद्रा माता ने उपहार योग्य अद्‌भुत वस्तुएँ अपने साथ लीं और सुखासन पर आरूढ़ होकर अनेक दास–दासियों को साथ लेकर अभय के साथ राजद्वार की ओर गयीं। यावत् सुखासन से उतरकर सभा के अंदर प्रवेश किया, तब तक अभय ने आगे जाकर राजा के कानों में निवेदन किया–''स्वामी! शालिभद्र की माता विनति करने आयी हैं। आप कृपा करके ध्यानपूर्वक उनकी बातें श्रवण करें।''

भद्रा भी राजा के समीप जाकर उपहार उनके समक्ष रखकर प्रणाम करके खड़ी हो गयी। राजा ने आदरपूर्वक हाथ के इशारे से बैठने का स्थान दिखाकर कहा–''हे सौभाग्यशालिनी! आपका स्वागत है। आपके पुण्यशाली पुत्र की कुशल क्षेम तो है?''

भद्रा ने कहा–''स्वामी की कृपा से सुख व प्रसन्नता तो होती ही है। उस पर भी अगर स्वामी की शुभ दृष्टि का प्रसार जिस पर हो जाये, तो सुख–विलास को खण्डित करने में कौन समर्थ है? जिसके ऊपर आपश्री की पूर्ण कृपा दृष्टि हो, ऐहिक भव सम्बन्धी सुख–भोग में आश्चर्य ही क्या? उसे कौन बाधा पहुँचा सकता है?'' पुनः राजा ने कहा–''हे भद्रे! मेरे द्वारा निमन्त्रित किये जाने पर भी आपका सुख–विलासी पुत्र क्यों नहीं आया?''

भद्रा ने कहा–''स्वामी! जन्म से लेकर आज तक आपकी पूर्ण कृपा से वह सुख–उपभोग का ही स्वामी रहा है। सुख का उपभोग करना मात्र ही वह जानता है, अन्य कुछ नहीं। उसके सम्पूर्ण स्वरूप को मैंने महामंत्री अभय कुमार जी के समक्ष निवेदन कर दिया है। अतः स्वामी की कृपा तो है ही, फिर भी विशेष करके सेवक के मंदिर को पवित्र कीजिए। जहाँ स्वामी की पूर्ण कृपा होती है, वहाँ कुछ भी विचारणीय नहीं होता। जैसे–श्रीरामचंद्र जी चर्मकार की पुत्री के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए बिना बुलाये भी स्वयं वहाँ जाकर, उसे स्वयं अपने साथ उसके श्वसुर–गृह ले जाकर वहाँ छोड़कर आये। इस प्रकार अनेक प्रकार से प्रजा का लालन–पालन किया। जो आप जैसे महान व्यक्ति होते हैं, वे पर के मनोरथ को पूर्ण करने में अन्य कुछ भी विचार नहीं करते। हम जैसे परमाणु के समान सेवकों का मनोरथ पूर्ण करने में आप जैसों की गुरुता की महती वृद्धि होगी, गुरुता की क्षति नहीं होगी। ''अहो! इनकी कृपालुता! अहो! इनकी सरलता! अहो! इनकी प्रजा के प्रति लालन पालन की भावना!'' इस प्रकार अनेक युगों तक आपकी कीर्ति स्थिर रहेगी। अतः कृपा करके मेरी विनति स्वीकार करके यथासुख आपके पुनित–चरणों के न्यासपूर्वक मेरे घर को पावन कीजिए। आपके पधारने से आपके सेवक लीलापति

(शालिभद्र) को यथार्थ फल की प्राप्ति होगी। अगर वह यहाँ आया, तो उसे हजार कोस तक चलने जितना श्रम उठाना पड़ेगा। इसके बाद तो जैसी आपकी इच्छा! आपकी आज्ञा किसको मान्य नहीं होगी? आप अपनी इच्छा बतायें, हमारे द्वारा सिर के बल स्वीकार्य होगी।''

भद्रा के उन वचनों को सुनकर राजा ने अभय की ओर देखा। तब अभय ने कहा-''प्रजा पालन में तत्पर आप जैसे महापुरुष का इनके घर जाना युक्त ही होगा, कोई लोकापवाद नहीं। आपके पधारने पर इनका मनोरथ पूर्ण होने से इन्हें अनिर्वचनीय आनन्द होगा। लोक में प्रजावत्सलता से आपकी कीर्ति फैलेगी। फिर भी जैसे आपकी इच्छा।''

उसी समय धन्यकुमार ने भी अभय के कथन का समर्थन करते हुए कहा-''महाराज! मंत्रीराज सही कह रहे है। आपके वहाँ पधारने से वास्तव में प्रजा का वात्सल्य होगा, जिससे आपकी कीर्ति का प्रसार होगा।''

तब राजा ने भद्रा से कहा-हे भद्रे! आप सुखपूर्वक घर जायें। हम आपके घर जरूर आयेंगे।''

राजा के इन वचनों को सुनकर हर्षपूर्वक स्वर्ण व रत्नों के द्वारा राजा के मस्तक को न्यौछावर करके पुनः सुखासन पर आरूढ़ होकर भद्रा घर पर आ गयी। अपने प्रधान-पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी कि हमारे घर से राजद्वार तक के सम्पूर्ण मार्ग को साफ करके सुगन्धित जल छिड़ककर अनेक प्रकार के सुन्दर व सुगन्धित पुष्प बिछाकर मार्ग को दर्शनीय बना दो। तिराहों व चौराहों को विशाल मण्डप-ध्वज-पताका-तोरण आदि से सजाकर अति-रमणीय बना दो। मार्ग में रही हुई दुकानों की श्रेणियों व बाजारों को विविध देशों में उत्पन्न स्वर्णमय-धागे से बने हुए वस्त्रों से आच्छादित करके आश्चर्यकारी बना दो। स्थान-स्थान पर कृष्णागरू, कस्तूरी, अम्बर आदि का धूप जलाकर समस्त मार्ग को सुवासित बना दो। बाजार में जगह-जगह पुष्पमालाएँ लटकाकर उनकी शोभा द्विगुणित करो। इस प्रकार भद्रा के आदेश को पाकर वे सभी वैसा ही करने में प्रवृत्त होने लगे। उसी समय पुत्र-मोह से मोहित होकर हमेशा पुत्र की ओर ही ध्यान रखनेवाले गोभद्र देव ने अपनी शक्ति से पृथ्वी तल पर रहे हुए राजगृह नगर को स्वर्ण की उपमा के अनुकूल बना दिया। जिसे पूरे दिन देखते हुए भी मनुष्यों की दृष्टि तृप्त ही नहीं होती थी।

तत्पश्चात् राजा श्रेणिक अभय आदि प्रधान पुरुषों, राजमान्य सामन्त आदि विशाल सेना से घिरे हुए गीत आदि गाये जाते हुए, वाद्ययंत्रों के वादन के साथ बंदीजनों द्वारा बिरुदावलि गाये जाते हुए इत्यादि महा-आडम्बर से युक्त राजद्वार से निकलकर बाहर की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो नगर की शोभा देखकर चमत्कृत व संभ्रमित होते हुए पास में रहे हुए लोगों को पूछने लगे-''इस प्रकार का अत्यन्त रमणीय नगर किसने बनाया?''

तब संदेश–वाहक पुरुषों ने कहा–"स्वामी को घर पर आमंत्रित करने की खुशी में भक्ति–पूर्वक भद्रा ने ही यह सब करवाया है। यह तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है। आगे तो अनिर्वचनीय सजावट की हुई है। उसे तो जिसने देखा है, वही जानता है, क्योंकि मुख से तो यथार्थ रूप से कहना शक्य नहीं है।" मार्ग में जैसे–जैसे आगे बढ़ते गये, वैसे–वैसे, नये–नये तथा अदृष्टपूर्व अनिर्वचनीय शोभा देखने को मिली। क्षण–क्षण में सैनिक कौतुक से आकर्षित चित्तवाले होकर चित्रलिखित से रह जाते थे, उनके कदम आगे ही नहीं बढ़ते थे। अगर कोई आकर उन्हें प्रेरित करता कि "आगे चलो। इससे भी सुन्दर शोभा रची हुई है।" तभी उसके कदम उठते थे। पुनः आगे चलते हुए फिर किसी अद्वितीय रचना को देखकर स्तम्भित होकर एकटक देखते हुए मनुष्य देवों के समान हो जाते थे। राजा श्रेणिक भी हाथी पर आरूढ़ हुए इधर–उधर जहाँ भी दृष्टि डालते थे, वहाँ–वहाँ निरुपम, अभूतपूर्व रचना को देखते हुए अत्यधिक आश्चर्य–युक्त हो रहे थे। एक ओर देखते, तो दूसरी तरफ का दृश्य गौण हो जाता था, तब सेवक कहते–"महाराज! इधर भी दृष्टिपात करें, कितना सुन्दर व दर्शनीय दृश्य है।" जब राजा चेहरे को तिरछा करके उस ओर दृष्टि डालते, तब तक अन्य सेवक कहता–"महाराज! आगे का कौतुक देखिए।" तब राजा पुनः मुँह आगे करके आगे के दृश्य देखने लगते। इस प्रकार क्षण–क्षण में फटी हुई आँखों से गोभद्र देव निर्मित शोभा को देखते हुए बार–बार आश्चर्य–निमग्न नेत्रों को चौड़ा करके इधर–उधर देखते हुए राजा विभ्रमित हो गये।

"किस प्रकार इन सबकी रचना की गयी होगी?" इस प्रकार पग–पग पर शंकित होते हुए पुनः–पुनः आगे अभिनव आश्चर्यों को देखते हुए और ज्यादा बुद्धि लगाकर विचार करने लगे, पर इस रचना के निर्माण के रहस्य को नहीं समझ पाये। इस प्रकार के लीला–वैभव को देखकर विचार करने लगे–"क्या यह सत्य है या स्वप्न है या इन्द्रजाल है? इस प्रकार की आश्चर्यकारी वस्तुएँ किसने बनायी? किस रीति से बनायी? किन द्रव्यों से बनायी? ये वस्तुएँ अधर में कैसे झूल रही हैं? अहो! पुद्गलों की विचित्रता! जिनमत के बिना अन्य कौन इसके रहस्य को जान सकता है? अतः जिनवचन ही सत्य है, क्योंकि आगम में भी कहा गया है–जीवों की गति की विचित्रता, पुद्गलों की पर्यायों के आविर्भाव–तिरोभाव की विचित्रता, कर्मों के बंध व उदय की विचित्रता के रहस्य को जिनेश्वर या जिनागम ही जान सकते हैं, अन्य नहीं। अतः वे दोनों ही सत्य हैं।" इस प्रकार विचार करते हुए स्थान–स्थान पर नवरचना को, मण्डप, मण्डप के स्तम्भ की लकड़ी में खोदी हुई नृत्य करती पुतलियाँ आदि महा–आश्चर्य को देखते हुए" क्या ये सचतेन हैं या अचेतन? अथवा साक्षात देवियाँ है? इस प्रकार बार–बार विचार करते हुए, पुनः जिनागम ज्ञान को सत्य मानते हुए, हर्षित होते हुए "अगर मैं इसके घर न आया होता, तो इन विचित्र अदृष्टपूर्व कौतुकों को कैसे देखता?" इस प्रकार प्रसन्नता की विचारणा करते हुए, परिषदा के

साथ राजा दिव्य शोभा से उपशोभित होते हुए शालिभद्र के महल तक पहुँचे।

वहाँ प्रथम प्रवेश द्वारा पर नील रत्नों के समूह से उपशोभित सुवर्ण कलशों से चमकते बीच–बीच में अनेक श्रेष्ठ रत्नों से बनाये हुए विचित्र तीन तोरणों को राजा ने देखा। फिर सभी महल में प्रवेश करते हुए आगे बढ़े, तभी जल का भ्रम पैदा करनेवाले, स्फाटिक रत्न से बने हुए भूमितल को देखकर कितने ही व्यक्ति जल के भ्रम से कपड़ों को पकड़कर ऊपर करने को उद्यत होने लगे, तभी बुद्धि सम्राट अभयकुमार ने अपनी निपुणता दिखाने के लिए तथा अज्ञता व हँसी का पात्र बनने से रोकने के लिए हाथ से सुपारी को आगे की ओर गिराया। भूमि के संयोग से आवाज होती हुई सुनकर "यह भूमितल स्फटिकमय है।" इस प्रकार निश्चय करके लोग आगे बढ़ने लगे।

उससे आगे दिव्य मणियों से युक्त स्तम्भ से घिरे हुए अति–सुन्दर स्थान को देखकर मन में चमत्कृत होते हुए राजा के वहाँ ठहरने के अभिप्राय को उनकी इंगिताकृति से जानकर भद्रा ने कुलवधुओं के साथ राजा को मणियों व मोतियों से बधाकर अनेक हजारों लाखों सुवर्ण–रत्नों से न्यौछावर करके अंजलि–युक्त होकर विनति की–"स्वामी! ऊपर की मंजिल भी पवित्र कीजिए। यहाँ पर आपके विराजने योग्य स्थान नहीं है, क्योंकि यहाँ तो द्वारपाल आदि के रहने का तथा पशुओं को बाँधने का स्थान है।"

यह सुनकर राजा सोचने लगा–"अहो! पुण्यवानी में कितना अन्तर है? मेरा शयन स्थान भी ऐसा रमणीय नहीं है। शुद्ध भावों के द्वारा अत्यन्त मानपूर्वक दिये गये दानादि धर्म का ही यह फल है। जिनागमों में भी कहा गया है– असंख्याता *अध्यवसायों से एक प्रकृति स्थान निर्मित होता है, वह भी असंख्याता* भेदों से युक्त कहा गया है, वहाँ भी अनुभाग–भेद अनंता है। इस प्रकार श्रीमद् जिनेन्द्रों द्वारा कहे गये पुण्य व पाप के भेद विचित्र हैं। अतः उनके वचन ही सत्य हैं।"

इस प्रकार शुभ उपयोग–युक्त होकर सीढ़ियों द्वारा राजा अपनी परिषदा के साथ ऊपर की मंजिल पर चढ़ा। उस मंजिल के गवाक्ष विविध प्रकार के रत्नों से तथा मोतियों से गूँथी हुई जालिका से युक्त थे। स्थान–स्थान पर सुगन्धित धूप आदि वासित हो रहे थे। विविध वाद्ययंत्र व शस्त्र–समूहों की सजावट से चारों ओर दर्शनीयता प्रतीत हो रही थी। वहाँ भी भद्रा ने आकर निवेदन किया–"पूज्य–पादों द्वारा ऊपर की भूमि को अलंकृत करने की कृपा की जाये। यहाँ तो दासी, दास, तलवार–भाले को धारण करनेवाले, वाद्ययंत्रों को बजानेवालों का निवास है। यह भूमि भी आपके विराजने योग्य नहीं है। आप ऊपरी मंजिल पर पधारें।"

राजा चमत्कृत होते हुए फिर से विचारने लगे–"देखो! पुण्य का विलास! मेरे निवास–स्थान से बढ़–चढ़कर तो इनके दास–दासियों का स्थान है। यह सभी उत्कृष्ट भावपूर्वक दिये गये दानादि का ही परिणाम है।" इस प्रकार विचार करते हुए

राजा तीसरी मंजिल पर पहुँचे। वह स्थान विविध देशों में उत्पन्न चीनांशुक वस्त्रों से रमणीय था। जैसे कि चन्द्रोदय के समय होनेवाली संध्या की आभा रमणीयतर होती है। स्फटिक आदि विविध चमकते हुए पत्थरों से रचित विचित्र प्रकार का भूमितल था। उसे अत्यन्त सुन्दर जानकर राजा वहाँ बैठने को उत्सुक हुए। यह जानकर पुनः भद्रा ने कहा–"स्वामी! चौथी मंजिल को पवित्र कीजिए। यह भूमि भी आपके विराजने–योग्य नहीं है। यह व्यापार–अधिकारी, लेखाकार, वसूली करनेवाले सेवकों आदि का स्थान है।"

यह सुनकर राजा विचारने लगे–"अहो! पुण्य की शक्ति। मैं तो राजा हूँ। ये तो मेरी प्रजा हैं। पर इनके व मेरे पुण्य में कितने अन्तर है? पर इसमें आश्चर्य कैसा? पुण्य में भावातिरेक से किये गये दान का फल जो जिनेश्वरों द्वारा बताया गया है, वह सत्य ही है।" इस प्रकार विचार करते हुए राजा चौथी मंजिल पर पहुँचे।

वह स्थान रत्न–जटित रमणीय स्तम्भों से शोभित था। वहाँ के आवासों की दीवारे रत्नों से जड़ी हुई परस्पर प्रतिबिम्बों के पड़ने से मार्ग की भ्रान्ति पैदा करती थी। स्थान–स्थान पर बावना चंदन, अगरु, कस्तूरी, अम्बर, तुरुष्क आदि धूपों से उठनेवाली सुगन्ध से परिपूरित घ्राणेन्द्रिय को देखकर सभी मस्तक धुनने लगे। मंदार के सुमनों से गूँथी हुई मालाओं के लटके हुए जाल से स्पर्श करती हुई हवा अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न करते हुए मंद–मंद बह रही थी। ऊपर आकाश में चन्द्रोदय के समय रत्नों की लताओं के वलय में शोभित होते रत्नमय पत्रों व पुष्पों का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? वहाँ झूमकों में लहलहाती हुई मणियाँ, मुक्ताफल आदि के विचित्र वर्णों को देखकर आँखे वहाँ से हटती ही नहीं थी। स्थान–स्थान पर अनेक अभिनव रचनायें थीं, क्या–क्या देखा जाये और क्या–क्या कहा जाये? जो जहाँ *देखता, उसकी दृष्टि वहीं स्थिर रह जाती। उसके बाद राजा आदि स्वयं ही कहने* लगते–"हम तो यही रुकेंगे, यही रहकर इन रचनाओं को देखेंगे।"

तब भद्रा ने राजा के आशय को जानकर रत्नमय भव्य सिंहासन मँगवाकर ऊँचे स्थान पर स्थापित करवाकर दिव्य छत्र आदि से संस्कारित करवाकर राजा से कहा–"देव! इस आसन को अलंकृत कीजिए।" राजा ने वह सिंहासन देखकर "क्या यह इन्द्र का है अथवा चन्द्र का है?" इस प्रकार विचार करते हुए उस सिंहासन पर बैठकर कहा–"भाग्यवती! आपका ऐश्वर्यशाली पुत्र कहाँ है? आप उसे बुलायें, ताकि मैं उस पुण्यनिधि के दर्शन कर पाऊँ।"

तब भद्रा ने राजा के आदश को प्राप्तकर सातवीं मंजिल पर जाकर शालिभद्र से कहा–"वत्स! नीचेवाली मंजिल पर शीघ्र ही चलो। महाराज श्रेणिक हमारे आवास पर स्वयं पधारे हैं।"

इस प्रकार के माता के वचनों को सुनकर शालिभद्र ने कहा–"माता! इसमें मुझे क्या कहना? योग्य धन देकर श्रेणिक को ग्रहण कर लीजिए। क्या मैं आपसे

ज्यादा निपुण हूँ।''

माता ने कहा– ''हे पुत्र! वे पृथ्वी पर अति मूल्यवान नहीं, बल्कि अमूल्य है। भाग्य से ही ऐसा अवसर आता है।''

शालिभद्र ने कहा–''अगर ऐसा है, तो मुँहमाँगी कीमत देकर ग्रहण कर लीजिए, जिससे वह दूसरों के हाथ न लगे।''

पुत्र की त्रिभुवन में अद्भुत ऐश्वर्य–लीला को देखकर ''अहो! यह लीलापति पुत्र किस प्रकार बोलता है।'' इस प्रकार विचार करती हुई माता मन में अत्यन्त प्रसन्न हुई। पर मन में विचार किया कि इस प्रकार एकान्त रूप से अति भद्रिकता व सरलता शोभा को प्राप्त नहीं होती, जो अवसरोचित पद्धति जानता है, वही निपुण होता है। अतः इसे कुछ नीति वचन सुनाकर जागृत करती हूँ।''

इस प्रकार विचार करके बोली–''हे पुत्र! महाराज श्रेणिक कोई माल नहीं है, किन्तु तुम्हारे स्वामी व समस्त देश के अधिपति हैं। हमारे जैसे अनेक लोग दिन–रात उनकी सेवा में लगे रहते हैं। अनेक माण्डलिक राजा, सामन्त श्रेष्ठी आदि आठों प्रहर जागृत रहते हुए उन्हीं की सेवा में बैठे रहते हैं। 'अब राजा क्या बोलेंगे'– इस प्रकार सुनने के उत्सुक, हाथ जोड़े सभी लोग अपलक जिनको निहारा करते हैं। तुम भी उन्हीं की कृपादृष्टि से इच्छित सुख–वैभव भोग रहे हो। अगर उनकी दृष्टि कुपित हो जाये, तो कोई भी अपनी छाया के समीप भी न खड़ा रहे। उनके प्रसन्न रहने पर सभी प्रसन्न रहते हैं। राजा के रुष्ट होने पर अपने लोग भी व्यक्ति की बात तक सुनना पसन्द नहीं करते। अतः तुम स्वयं नीचे आकर उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम करके उनकी कृपा का अर्जन करो। उनके आने से तुम्हारे घर की शोभा में वृद्धि हुई है। अतः तुम उनके सामने जाकर विनय–बहुमान आदि करते हुए और भी ज्यादा गौरव को हासिल करो। राजा तो तुम्हारे दर्शनों के लिए उत्सुक है। तुम्हारे आने से उन्हें बहुत ही प्रसन्नता होगी। वे जमाने के अनुरूप तुम्हारा बहुमान करेंगे। अतः शीघ्र ही तुम नीचे आओ।''

माता के इन वचनों को सुनकर दिल में अपार वेदना से दुःखित होते हुए शालिभद्र विचार करने लगा–''हा! मेरे भी कोई मालिक है। इतने दिन तक तो मैं अरिहंत को ही स्वामी समझता रहा। उनके बिना अन्य किसी को भी मैंने स्वामी–भाव से नहीं जाना। जिसका नाम प्रातः उठते ही लिया जाता है, भक्ति स्तुतिपूर्वक उन्हीं को नमन किया जाता है। अगर माँ कहती है कि मेरा भी कोई स्वामी है, तो फिर वह मुझसे भी ज्यादा पुण्यशाली है। मेरा पुण्य तो उनसे हीन है। ऐसी पराधीनता में कैसा सुख? संसार में पराधीनता से बढ़कर कैसा दुःख? संसार में पराधीनता से बढ़कर और कोई दुःख नहीं है। मैंने पूर्व जन्म में अल्पतर पुण्य का ही उपार्जन किया, जिससे मुझे पराधीनता, दूसरों को नमन करना आदि दुःख भुगतने पड़ रहे हैं। अतः अब मुझे ऐसा कुछ करना चाहिए, जिससे आगे मुझे किसी भी प्रकार की पराधीनता

का अनुभव न हो।"

इस प्रकार विचार कर "माता के वचन का उल्लंघन नहीं करना कुलीन–वृत्ति है"– इस प्रकार मानकर "माता की भक्ति में किसी प्रकार की हीनता न आये।" अतः आसन से उठकर माता के साथ अपने आवास से नीचे उतरने लगा। तब महाराज श्रेणिक, अभय आदि मुख ऊपर करके देखने लगे और देखकर सोचने लगे–"क्या यह इन्द्र है या दोगुन्दक देव? अथवा मूर्तिमान पुण्य का जीवन्त रूप है?"

इस प्रकार शालिभद्र अपने शरीर की कान्ति से घर को दीप्तिमान करते हुए, हिलते हुए कुण्डलों व आभूषणों से सैकड़ों बिजलियों के तेज को फैलाते हुए, वचन, नेत्र और मन की चपलता का निवारण करते हुए अर्थात् सभी को स्थितिभूत करते हुए राजा के समीप आकर विनयपूर्व राजा को प्रणाम किया। क्योंकि उत्तम लोगों का यही व्यवहार होता है। कुमार के आते ही राजा ने भी अत्यन्त आदर व स्नेहपूर्वक हाथ पकड़कर कुमार को अपने पास बिठाया।

शालिभद्र के रूप, आभरण, सुकुमारता, मधुर वचन, हाथों की भंगिमा आदि उत्कृष्ट पुण्योदय से विभ्रमित होते हुए सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये। परस्पर बोलने में भी वे समर्थ नहीं हुए। सिर–हिलाने मात्र की ही चेष्टा वे कर पा रहे थे। राजा भी उसे देखकर थोड़े समय के लिए तो स्तम्भित रह गये, पर फिर शिष्टाचार पालने के लिए साहस धारण करके तथा हृदय को दृढ़ बनाकर प्रीतिपूर्वक शालिभद्र से कुशल क्षेम आदि वृत्तान्त पूछा–"हे वत्स! आपकी क्रीड़ाएँ अनवरत, सुखरूप, मन इच्छित तथा बिना किसी बाधा के गतिमान तो है ना?"

कुमार ने उत्तर दिया–"श्रीमद् देव–गुरु के प्रसाद तथा आप–पूज्य की कृपा से क्यों नहीं होंगी?

इस प्रकार चंदन से भी शीतल मधुर–वचनों को सुनकर उल्लासपूर्वक राजा ने कहा–"वत्स! तुम मेरी ओर से किसी प्रकार का संकोच मत करना। जैसी इच्छा हो, वैसे ही मन के अनुकूल विलास का अनुभव करना, क्योंकि तुम तो मुझे प्राणों से भी ज्यादा प्रिय हो। नेत्रों के समान रक्षा के योग्य हो। मेरे राज्य–नगर–ऐश्वर्य का मूल तुम ही हो। भिखारी के हाथ में आये हुए रत्न की तरह तुम प्रतिक्षण स्मरणीय हो। अतः यथेच्छा लीला–विलास करना। मन में अधीरता मत लाना। अगर मेरे लायक कोई कार्य हो, तो मुझे जरूर कहना। उसे क्षण–मात्र में पूरा कर दूँगा। मेरे घर को अपने घर के समान ही समझना, कोई अन्तर मत समझना। अगर तुम्हारे मनोरथों की पूर्ति में कोई बाधा आयी, तो वह मेरे लिए बहुत बड़ा दुःख होगा।"

इस प्रकार कहकर विश्वास उत्पन्न करने के लिए शालिभद्र की पीठ थपथपाथी, क्योंकि राजा की जिस पर महान कृपा होती है, राजा उसकी पीठ थपथपाता है–यह राजनीति है। राजा के हाथों के कर्कश स्पर्श से पहाड़ से बहते हुए झरने की तरह उसके पसीने के बिन्दु बहने लगे। शरीर मुट्ठी में रहे हुए कमल की

तरह म्लान हो गया। यह देखकर भद्रा ने राजा से निवेदन किया–"स्वामी! यह पैत्तालिक देव है। दिन के अग्नि–ताप को सहने की शक्ति नहीं है, अतः आप इसे विलास–भवन में जाने की अनुमति प्रदान कीजिए।"

तब राजा ने सहर्ष बहुमानपूर्वक आज्ञा दी–"वत्स! सुखपूर्वक ऊपरी आवास पर पधारो।"

तब राजा के आदेश को पाकर शालिभद्र तत्क्षण सातवीं मंजिल पर गया, जैसे मोह से मुक्त आत्मा लोकान्त में जाकर ठहरती है। ऊपर जाकर वैराग्यपूर्ण हृदयवाला होकर शय्या पर बैठ गया।

उधर–भद्रा ने करबद्ध अंजलिपूर्वक बहुमान के साथ परिकर सहित राजा को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। अत्यन्त आदर व भक्ति देखकर राजा ने स्वीकृति दे दी।

तब जो सैकड़ों–हजारों बार संस्कारों द्वारा सिद्ध किये गये शत–सहस्र–लक्ष द्रव्यों द्वारा तैयार किये गये शतपाक, सहस्त्रपाक, लक्षपाक तेलों द्वारा मज्जन–शाला में निपुण मालिशकारों द्वारा राजा की मालिश करवायी गयी। उसके बाद सुवासित व गर्म तीर्थ–जल के द्वारा राज–स्नान विधि से नहाते हुए राजा के हाथ से रूठी हुई पत्नी की तरह मणि की मुद्रिका कुएँ में गिर गयी। स्नान करके शुद्ध रक्त वस्त्र से अंगों को पौंछकर पहले बावना चंद के रस से शरीर का लेप किया गया। उसके बाद शृंगार करने के समय आभूषणों व वस्त्रों को धारण करते हुए राजा को अंगुलि में अंगूठी दिखायी नहीं दी। तब उसे खोजने के लिए राजा ने इधर–उधर देखा, फिर पुनः पुनः अंगुलि को देखने लगे और विचार करने लगे–"मेरे राज्य का सार रूप मुद्रा रत्न खो गया। अब क्या किया जाये? किसको कहा जाये? दूसरों के घर पर आकर किसी पर झूठा आरोप लगाना युक्त नहीं है।"

इस प्रकार राजा अपने मन ही मन में विचार कर रहा था कि दूर खड़ी भद्रा ने अपनी निपुणता से जान लिया कि राजा की मुद्रिका कहीं खो गयी है। तब उसने इशारे से दासी को बुलाया और कहा कि जलयंत्र से आभूषणों को खींचों, जिससे वे ऊपर आ जावें। दासी के द्वारा वैसा ही किये जाने पर महा–इभ्य नागरिकों में आये हुए गरीब गंवार की तरह अलंकारों के ढ़ेर पर पड़ी मुद्रा–रत्न को देखकर राजा ने दासी से कहा–"ये इतने आभूषण किसके हैं ?"

दासी ने कहा–"प्रभु ! हमारे स्वामी शालिभद्र द्वारा प्रतिदिन त्यागा जानेवाला कचरा है।"

यह सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए राजा विचार करने लगा–"अहो! पुण्य की गति अनिर्वचनीय है। स्वामी और सेवक के पुण्य का अन्तर तो देखो। अपने–अपने अध्यवसायों की प्रबलता की विचित्रता से किये गये धर्म का ही यह विचित्र फल है। यह जैन वाणी कभी मिथ्या नहीं होती।"

तब अपनी मुद्रिका ग्रहण करके, शुद्ध वस्त्रों को पहनकर तैयार किये गये भोजन मण्डप में पूर्व–कृत आसन को राजा ने अलंकृत किया। तब गोभद्र देव द्वारा दी गयी विविध वस्तुओं से निष्णात रसोइयों द्वारा निष्पादित व सज्जित 18 प्रकार के नव्य व दिव्य पकवान भद्रा ने राजा व राजपरिवार को परोसे। राजा आदि सभी उस भोजन का आस्वाद लेते हुए नयी–नयी सुसंस्कृत, विविध प्रकार की तथा कभी पूर्व में आस्वाद नहीं ली गयी वस्तुओं को देखकर आश्चर्यचकित होते हुए "यह क्या है, यह क्या है"– इस प्रकार बार–बार रसोइयों से पूछने लगे। भोजन करते हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए सभी ने यथेच्छापूर्वक पेट भर लिया। भोजन से निवृत होकर और वहाँ से उठकर सभी वापस आस्थान मण्डप में आकर बैठ गये। फिर रत्न जटित स्वर्णमय पानदान में पंच–सुगन्ध से युक्त पान के बीड़े भरकर उनके सामने पेश किये गये। फिर दिव्य अत्तर आदि छिड़ककर विविध वस्त्रों व आभरणों के द्वारा सभी का सत्कार किया गया। राजा को भी विविध देशों में उत्पन्न श्रेष्ठ वस्त्र रत्नों से जड़ित विविध प्रकार के अन्य आभूषण अनेक दिव्य रत्नों से भरे हुए थाल उपहारस्वरूप भेंट में दिये गये। इसी के साथ अदृष्टपूर्वक अनेक अश्व, रथ आदि, इलाचयी, लवंग–जायफल आदि स्वादिम तथा दाख–अखरोट–बादाम–पिस्ता आदि अनेक खादिम द्रव्य राजा को उपहार में देकर उन्हें तुष्टि प्रदान की। राजा ने भी भद्रा को चित्त की प्रसन्नता से कहा–"हे भद्रे! तुम्हारे ऐश्वर्याधिपति पुत्र को अत्यन्त यत्नपूर्वक रखना। अगर मेरे लायक कोई कार्य हो, तो खुशी से कहना। हमें पराया न समझना। मेरे घर को अपने घर की तरह ही मानना। तुम्हारे साथ मेरा स्वामी–सेवक–सा व्यवहार नहीं है। तुम समस्त राज्य को अपना ही समझना। किसी भी प्रकार की शंका दिल में मत रखना। शालिभद्र तो मेरे देश–नगर–राज्यादि की शोभा–स्वरूप है। अतः मुझे वह प्राणों से ज्यादा प्रिय है।" इस प्रकार बहुमान करके राजा महलों में लौट गये।

उधर शलिभद्र शय्या पर हाथ गाल में लगाकर उदास मन से चिन्तन करने लगा–"मैंने पूर्वजन्म में पूर्ण रूप से सुकृत नहीं किया होगा, श्रीमद् जिनाज्ञा पूर्ण भावपूर्वक नहीं आराधी होगी, जिससे इस भव में विष–मिश्रित मिष्टान्न की तरह पराधीन–सुख प्राप्त हुआ है। परतंत्र–भाव से मिला सुख दुःख ही है। मैंने तो पूर्व में मुक्तिपद और श्रीमद् जिनेश्वर के बिना अन्य किसी को स्वामी के रूप में जाना ही नहीं था। पर आज ज्ञात हुआ कि राजा श्रेणिक भी मेरे नाथ है। अतः पराधीन वृत्ति से जीवन जीना निरर्थक है। अतः मेरे लिए यही उचित है कि मैं अपनी आत्मा को स्वाधीन बनाकर, स्वाधीन सुख की सिद्धि के लिए श्रीमद् जिनाज्ञा को आगे करके गुरुचरणों की उपासना करके श्रीमद् रत्न–त्रय को प्राप्त करानेवाले चारित्र की आराधना करूँ, जिससे स्वाधीन स्वरूप–रमणता का सुख प्राप्त किया जा सके। अतः अब मुझे यही कार्य करना चाहिए। इसे कदापि नहीं भूलना चाहिए। यह काम–भोग रूपी राक्षस अमृतमय सुखवाले विष–घट की तरह विश्वसनीय नहीं है। यह सभी

इन्द्रजाल है। इनका क्या विश्वास?'' इस प्रकार मन ही मन भावना भा रहा था, तभी देव–दुन्दुभि का नाद सुनायी दिया।

उस आवाज को सुनकर शालिभद्र ने सेवकों से पूछा–''हे सेवकों ! यह देव दुन्दुभि कहाँ से सुनायी पड़ रही है?''

उन्होंने कहा–''स्वामी! आज भव्य–जीवों के प्रबल भाग्योदय से वैभारगिरि पर्वत पर मोह रूपी अंधकार को नष्ट करनेवाले रवि के समान श्री वीर प्रभु पधारे हैं। इसी कारण से देवों ने दिव्य भेरी बजायी है।''

तब शालिभद्र पुण्यपुंज श्रीवीर प्रभु के आगमन की खबर पाकर बादलों के गर्जन को सुनकर मयूर की तरह अतीव प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। हर्षपूर्वक भक्ति–भाव से युक्त होकर सद् अलंकारों से अलंकृत होकर सार–सार परिवार को ग्रहणकर सुखासन पर आरूढ़ होकर चला और श्रीवीर प्रभु का दर्शन होते ही सुखासन से उतरकर पाँच–अभिगमपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर पंचांग द्वारा नमन करके यथोचित स्थान पर देशना–श्रवण को उत्सुक बनकर बैठ गया। तब श्रीवीर प्रभु ने संसार वासना के क्लेश को नाश करनेवाली आक्षेपणी आदि भेदों से युक्त देशना प्रारम्भ की। जैसे :–

आदितस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीविते,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्म जरा–विपत्ति–मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्त–भूतं जगत् ।।2।।

सूर्य के बार–बार आने और जाने से जीवन क्षय को प्राप्त होता रहता है। व्यापारों व कार्यों के अत्यधिक भार से काल का ज्ञान ही नहीं होता। जन्म, जरा, विपत्ति, मरण, त्रास को देखकर मोह–मदिरा को पीकर प्रमाद से उन्मत्त बने मनुष्य को फिर भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता।

अनादि शत्रु रूप पाँच प्रमादों के वश में रहा हुआ जीव तत्त्व–अतत्त्व कुछ भी नहीं जानता है। अन्य–अन्य गतियों से आकर एक घर में समुत्पन्न हुए व्यक्तियों को अज्ञानतावश जीव अपना मानता है और उन्हें हितकारक भी मानता है। उनका पालन–पोषण करने के लिए जीव अट्ठारह पापों का सेवन करता है। पर यह नहीं जानता कि सुख–दुःख प्राप्त होना स्वकृत पुण्य व पाप के उदय के बल पर ही होता है। अगर पुण्योदय हो, तो सभी अनजान, अपरिचित, असंभव, बिना माँगे ही आकर सेवा करते है और पाप का उदय हो, तो अत्यन्त परीचित, अनेक दिनों से पालन–पोषण किये हुए, प्राणों की आहुति देकर पाले हुए भी सुख का लेश मात्र भी नहीं देते, बल्कि दुःखदायक ही होते हैं। जैसे–सुभूम चक्रवर्ती के पाप का उदय होने पर वह समुद्र में डूब गया। जो छः खण्ड का भोक्ता, चौदह रत्नों का स्वामी, नव–निधि का भण्डार, दो हजार क्षोणि–सेना का स्वामी था, जिसकी एक–एक भुजा में चालीस लाख

अष्टापदों का बल था, जिन रत्नों–निधियों आदि को हस्तगत करके वह जल में भी स्थल पर चलने की तरह पाद–विहार करता था, जल की दो धारा करके उसके बीच में से निकल जाता था, कभी भूमि के अन्दर प्रवेश करके इच्छित स्थान पर ही बाहर निकलता था, कभी मछली की तरह जल में तैरता था– इस प्रकार के अनेक हजारों प्रकार की महिमा से मण्डित रत्न, औषधि मंत्र, यंत्र आदि जिसके भाण्डागार में थे, जिसके दक्षिण–उत्तर की श्रेणियों के नायक गौरी–गांधारी–प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याओं के साधक थे, विमानयान को चलानेवाले थे, वे सभी सेवक के समान आज्ञा मात्र से सभी कार्यों को सफल करनेवाले थे। जिनके पास जल में गति करनेवाले अत्यन्त कुशल अनेक घोड़े, जहाज आदि तथा जल को तैरकर पार करने में समर्थ चर्मरत्न आदि थे। जो सदा 25–25 हजार सुरों तथा असुरों से सेवित था। इतने ऋद्धि बल से गर्वित होने पर भी वह पाप का उदय होने पर समुद्र में डूब गया। इसी सुभूम चक्रवर्ती के पूर्व में पुण्योदय के समय बिना माँगे, बिना बुलाये चक्र आकर हाथ में स्थित हुआ, जिसके फल–स्वरूप समस्त भूतल को उसने जीत लिया। वहीं पाप की उदयावस्था में कुछ भी सहायक साबित नहीं हुआ।

वासुदेव के प्रश्न करने पर नेमिनाथ भगवान ने उत्तर दिया– जराकुमार के हाथों तुम्हारी मौत होगी, यह सुनकर अत्यन्त दुःखित होता हुआ जराकुमार राज्य के सुखों को त्यागकर वन में चल गया। पर पापोदय के बल से उसी के बाण द्वारा कृष्ण मारा गया।

अतः कुटुम्ब के ऊपर राग भाव रखना व्यर्थ है और उसके लिए प्रयास करना भी व्यर्थ है। अनादिकाल से मोह राजा का वृद्ध भ्राता कर्म रूपी परिणाम है और वह नट के हाथ में रहे हुए बन्दर की तरह दिन–रात नाचता रहता है, क्षणमात्र भी विराम नहीं लेता। उसके सहायक मोह–मिथ्यात्व–अज्ञान आदि विविध बंध–उदय –उदीरणा आदि पिंजरों में जीवों को डालकर दुःख देते हैं। कर्म–क्लेश की सम्पूर्ण विचित्रता श्री जिनेश्वर देव जानते हैं, पर सम्पूर्ण कथन करने में वे भी समर्थ नहीं है। अतः सहज सुख चाहनेवालों को पहले श्री जिनागमों का अभ्यास करके कर्मों की बंधोदय की विचित्रता का सम्यक् रीति से अवलोकन करना चाहिए, क्योंकि एकमात्र आश्रव द्वार द्वारा ही जीव पुण्य–पाप रूपी फल की विचित्रता को प्राप्त करते हैं। अध्यवसायों की तरतमता तथा योग–स्थानों व वीर्य स्थानों के असंख्याता होने से सम–विषम रूप विचित्र विपाक होता है।

समस्त संसारवर्ती जीव सुख अथवा दुःख का अनुभव करते हैं। इन सुखों व दुःखों का दाता कर्म ही है, अन्य कोई नहीं। जो अज्ञानी जीव कर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ है तथा सुख–दुःख का दाता अन्य को समझते हैं, वे मिथ्यात्वी व अज्ञानी हैं। उन्होंने धर्म के स्वरूप को जाना ही नहीं है। उनके लिए यह अनादिकालीन भ्रम ही है। इसलिए धर्मदत्त की तरह पहले कर्म के स्वरूप को जानकर बाद में

आत्म–हित का अनुसरण करना चाहिए।

स्वामी के इस प्रकार कहे जाने पर सभा में उपस्थित लोगों ने पूछा–"हे भगवन! धर्मदत्त कौन था, जिसने कर्म की कदर्थना को जानकर अपना हित साधा था?"

तब स्वामी ने कहा–"सुनो!"

धर्मदत्त की कथा

इसी भरतक्षेत्र में कश्मीर नामक देश है। वहाँ चन्द्रपुर नामक नगर है। वहाँ न्यायनिष्ठ यशोधवल नामक राजा राज्य–पालन करता था। उसकी रानी का नाम यशोमती था। उसकी कुक्षि से प्रभूत गुणों से सम्पन्न चन्द्रधवल नामक कुमार उत्पन्न हुआ। वह सभी शास्त्रों में पारंगत, शास्त्र–रहस्य का ज्ञाता, सभी धनुर्वेद आदि शस्त्र–कलाओं में निपुण व विशेष रूप से शकुन–शास्त्रों में अत्यन्त प्रवीण था। एक बार रात्रि में अपने भवन की ऊपरी मंजिल पर वह सुख की नींद में सोया हुआ था। तब उसने पिछली रात्रि में शृगाली के शब्दों को सुना। उसके शब्दों को जानने में कुशल होने से हृदय में विचार करते हुए यह हार्द प्राप्त हुआ कि यह शिवा मुझे महान लाभ बता रही है। इस प्रकार विचार करके शय्या से उठकर तलवार हाथ में लेकर उसके शब्दों का अनुगमन करते हुए श्मशान में पहुँचा। वहाँ एक जगह अग्निकुण्ड के मध्य में जलते हुए शव से निष्पन्न स्वर्ण–पुरुष को भिगोकर उसे कुण्ड से निकालकर दूसरी जगह भूमि के अन्दर रखकर निशान बनाकर पुनः अपने घर आकर निद्रा में लीन हो गया। सूर्योदय होने पर वाद्ययंत्रों की ध्वनि व बन्दी–जनों के आशीवर्चन की आवाज से वह जागृत हुआ। तब देव–गुरु के स्मरणपूर्वक उठकर प्राभातिक कार्य करके राजसभा के योग्य वस्त्रों व आभूषणों को धारण करके परिषदा से युक्त होकर पिता को नमन करने के लिए राजसभा में गया। तब राजसभा के योग्य अभिगमों का समर्थन करते हुए उसने राजा को प्रणाम किया। सभी सभ्यों द्वारा भी यथा योग्य विनयपूर्वक नमन किया गया। राजा ने भी अति स्नेह–युक्त वचनों द्वारा सम्मान देकर उसे अपने निकट के आसन पर बिठाया और सुख–क्षेम की वार्त्ता करने लगा। तभी प्रतिहारी आकर हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया। राजा ने भ्रू–संज्ञा से पूछा–"क्यों आये हो?"

प्रतीहारी ने कहा–"स्वामी! कोई भव्य–पुरुष मस्तक पर राख लगाकर जोर–जोर से "मैं लूटा गया हूँ, मैं लुटा गया हूँ"– इस प्रकार चिल्ला रहा है। अति विह्वल होकर यहाँ आये हुए उस व्यक्ति को मैंने सिंहद्वार पर रोक दिया है। अब उसके लिए क्या आज्ञा है?"

प्रतिहारी के इन वचनों को सुनकर राजा के चिंतन किया–"व्यवहार शास्त्र में भी कहा गया है कि–

दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम्।।
पिशुनैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः।।1।।

दुर्बल, अनाथ, बाल, वृद्ध, तपस्वी तथा पिशुन–परिभूत सभी लोगों की गति राजा ही है। अर्थात् इन सबका त्राता राजा ही है। इस कारण जो कोई अत्यन्त दुःख रूपी संकट में गिरता है, वह मेरे पास ही आता है, अन्यत्र नहीं जाता है।"

इस प्रकार विचार करते हुए राजा ने भौंहों के संकेत से उसे लाने की आज्ञा दी। राजा के आदेश को प्राप्तकर प्रतिहारी ने जाकर सिंह द्वार पर खड़े पुरुष को कहा–"तुम सुखपूर्वक अन्दर जाओ।"

वह भी आदेश पाकर राजसभा में जाकर राजा को नमस्कार करके फिर से चीत्कार करने लगा। तब राजा ने कहा–"हे भाई! तुम धीरज धरकर अपना दुःख कहो। क्या तुम्हारा कुछ चोरी हो गया है या किसी दुष्ट के द्वारा तुम पराभूत हुए हो अथवा किसी चोर ने खात्र करके तुम्हारा सर्वस्व हर लिया? या मार्ग में आते हुए चोरों ने तुम्हारा धन चुरा लिया है? या फिर घर में रहे हुए अतिप्रिय अपने आजीविका से उपार्जित धन को पारिवारिक व्यक्ति ने ही विश्वासघात करके हड़प लिया है? इन दुःखों में से तुम्हें कौन–सा दुःख है, जो इस प्रकार विलाप कर रहे हो? सच–सच बताओ।"

राजा के कथन को सुनकर उसने कहा–"हे देव! आज रात्रि में मेरा स्वर्ण–पुरुष चला गया। मैं क्या करूँ? कैसे जानूँ कि चोरी करनेवाला कहाँ चला गया? अतः आप जैसे पुण्यनिधि को निवेदन करने चला आया। क्योंकि–

पंचमो लोकपालस्त्वं कृपालुः पृथिवीतले।
दैवेनाहं पराभूतस्त्वमेव शरणं मम।।2।।

आप कृपालु तो इस पृथ्वी तल पर पाँचवें लोकपाल हैं। भाग्य से पराभूत हुए मुझ पुरुष की आप ही शरण हैं।"

राजा ने उसकी कृशकाय व मलिन वस्त्र देखकर कहा–"हे भाई! तुम युक्ति–युक्त वचन कहो। तुम तो दरिद्रता की प्रतिमूर्ति दिखायी देते हो। तुम्हारे पास स्वर्ण–पुरुष कैसे हो सकता है? जिसके पास स्वर्ण–पुरुष हो, उसकी ऐसी अवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि अतुल भाग्यवानों को ही स्वर्ण–पुरुष की प्राप्ति होती है। स्वर्ण–पुरुष जिसके पास हो, उस पुरुष के श्रेष्ठ लक्षण प्रत्यक्ष दिखलायी देते हैं। सुनो–

कुचोलिनं वन्तमलाऽवधारिणं बह्माशिनं निष्ठुरवाक्य–भाषिणम्।
सूर्योदये चाऽस्तमने च शायिनं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिनम्।।2।।

खराब वस्त्रोंवाले, गन्दे दाँतोंवाले, बहुत खानेवाले, निष्ठुर वाक्यों को कहनेवाले, सूर्योदय व सूर्यास्त के समय सोनेवाले विष्णु को भी श्री अर्थात् लक्ष्मी छोड़ देती है। और भी,

दक्षिणाभिमुखं शेते क्षालयत्यङ्घ्रिमङ्घ्रिणा।
मूत्रमासूत्रयत्यूर्ध्वो निष्ठीवति चतुष्पथं।।

दक्षिण की ओर मुख करके सोता है, पाँव से पाँव को धोता है, मूत्र को ऊपर की ओर उछालता है और चतुष्पथ पर थूकता है, उसे भी लक्ष्मी त्याग देती है।

इत्यादि नीतिशास्त्र में हीन–पुण्यवालों के अनेक लक्षण कहे गये है। दोनों हाथों से शरीर को खुजलाना दाँतो से मूँछ को चबाना आदि दरिद्रता के लक्षण जिसके शरीर में दिखायी देते हैं, उसको महा–लब्धियों की सिद्धि नहीं होती और बहुत ज्यादा धन भी नहीं होता। तुममें तो ये सभी लक्षण प्रत्यक्ष दिखायी पड़ रहे हैं, जो धन के सूचक नही हैं। अतः सच–सच कहो। वास्तव में तुम्हारे साथ क्या हुआ है? व्यर्थ ही क्यों चिल्ला रह हो?"

तभी सभासदों ने भी कहा–"स्वामी ने जो कहा है, वह यथार्थ है। पर इसी से पूछना चाहिए कि तुमने स्वर्ण–पुरुष कैसे प्राप्त किया? इसके बोलने पर सारा वृत्तान्त ज्ञात हो जायेगा।"

सभासदों के कथन को सुनकर राजा ने पूछा–"हे भाई! कहो! किस उपाय से व किसकी सहायता से तुमने स्वर्ण–पुरुष पाया?

तब उसने कहा–" हे देव! सुनिए! इसी नगर में श्रीपति नामक श्रेष्ठी थे। उनके घर में लक्ष्मी इतना विलास करती थी कि उसका कमलावासा नाम भी विस्मृत हो गया। उनकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उसके साथ श्रीमती अपने घर आयी हुई अपनी सखी को पुत्र को दुलराते हुए देखकर स्वयं के पुत्र न होने से अतीव दुःखित हुई। क्योंकि –

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्या अबान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्या दरिद्रता।।

पुत्र के बिना घर सूना है, बान्धवों के बिना दिशाएँ सूनी हैं। मूर्ख का हृदय सूना है और दरिद्रता से सब कुछ सूना है।

अतः भोजन के अवसर पर घर आये हुए श्रेष्ठी के द्वारा उसे दुःखी देखकर दुःख का कारण पूछा गया। उसने भी भोजन के बाद दुःख का कारण बताया। वे भी दुःखी होकर विचार करने लगे।

गेहं पि तं मसाणं जत्थ न दीसन्ति धूलिधूसरा निच्चं।
उट्ठन्ति पडन्ति रडन्ति दो तिन्नि डिंभाइ।।1।।

जिस घर में दो तीन बच्चे धूल–धूसरित होकर उठते, गिरते, रोते हुए दिखायी नहीं देते, वह घर श्मशान तुल्य है। और भी,

पियमहिलामुखकमलं, वालमुहं धूलिधूसरच्छायं।
सामिमुहं सुप्पसन्नं, तिन्नि वि पुण्णेहि पावन्ति।।1।।

प्रिय–स्त्री के मुखकमल को, धूलि–धूसरित बालक के मुख को तथा स्वामी के मुख को प्रसन्न देखना–ये तीनों बातें पुण्य से ही प्राप्त होती है।"

इस प्रकार विचार कर अपनी प्रिया से कहा–"हे प्रिये! दुःख मत करो! मैं

पुत्र के लिए प्रयास करूँगा।

इसके बाद श्रेष्ठ मंत्र, तंत्र, यंत्र, देवी, देवता के पूजन आदि मिथ्यात्व–कार्यों में प्रवृत्त हुआ। दुःखी व्यक्ति क्या नहीं करता? क्योंकि :–

आर्ता देवान् नमस्यन्ति, तपः कुर्वन्ति रोगिणः।
निर्धना विनयं यान्ति, क्षीणदेहाः सुशीलिनः।।

दुःखी लोग देवों को नमस्कार करते है, रोगी व्यक्ति तप करते हैं, निर्धन विनय को प्राप्त होते हैं और अच्छे चारित्रवाले क्षीण शरीरी हो जाते हैं। और भी,

इहलोइयम्मि कज्जे, सव्वारंभेण जह जणो कुणइ।
ता जइ लक्खंसेण वि, परलोए तरा सुही होइ।।

सर्वारम्भ के द्वारा मनुष्य इसलोक के हितार्थ जो भी करता है, उसका लाखवाँ अंश भी अगर परलोक के लिए करे, तो वह सुखी हो जाता है।

एक बार उसके मित्र धनमित्र ने कहा– हे मित्र! तुम मिथ्यात्व में मत पड़ो, क्योंकि इसके द्वारा स्वयं भव–भव के अंधकूप में गिर रहे हो। आगे भी तुम्हारा अनुकरण करते हुए तुम्हारे पुत्रादि का मिथ्यात्व भी गाढ़तर हो जायेगा और परम्परा से वे भी डूबते जायेंगे। कहा भी है–

सम्मत्तं उच्छिंदिय, मिच्छत्तारोवणं कुणई निअकुलस्स।
तेण सयलो वि वंसो, दुग्गइमुहसम्मुहं नीओ।।1।।
मिच्छत्तं उच्छिंदिय, सम्मत्तारोवणं कुणइ निअकुलस्स।
तेण सयलो वि वंसो, सिद्धिपुरीसंमुहं नीओ।।2।।

सम्यक्त्व का उच्छेद करके जो मिथ्यात्व का आरोपण करता है, उसके द्वारा अपने कुल का सम्पूर्ण वंश दुर्गति के सम्मुख ही ले जाया जाता है।

और

मिथ्यात्व का उच्छेदन करके जो सम्यक्त्व का आरोपण करता है, उसके द्वारा अपने कुल का सम्पूर्ण वंश सिद्धिपुरी के सम्मुख ले जाया जाता है।

देवशर्मा की कथा

एक गाँव में देवशर्मा नामक ब्राह्मण ने पुत्र के लिए पाद्र देवता की आराधना की। उसने कहा–"हे भगवती! यदि मेरे पुत्र होगा, तो तुम्हारे देवकुल का द्वार भव्य–रीति से बनवाऊँगा। उसके आगे अनेक वृक्षों से शोभित तालाब कराऊँगा। प्रतिवर्ष एक बकरे की बलि चढ़ाऊँगा।"

ऐसी याचना के अनन्तर भाग्य से उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। हर्षित–हृदय से महोत्सव करके उस पुत्र का नाम देवीदत्त रखा। फिर भक्ति–वश देवशर्मा ने देवी के भवन का उद्धार किया। उसके सामने तालाब बनवाया। उसके चारों ओर पाली बनवाकर उस पर वृक्ष आरोपित करवाये। इस प्रकार क्रमशः आयु का क्षय होने पर घर, पुत्रादि की चिन्ता में आर्त्तध्यानी होकर मरकर उसी नगर में बकरे के रूप में पैदा

हुआ। उसकी मृत्यु के ठीक एक वर्ष बाद उसी के पुत्र ने उस बकरे को धन देकर खरीदा और अपने घर लेकर आया। अपने ही घर को देखकर उस बकरे को जातिस्मरण–ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्व का सारा स्वरूप उसे ज्ञात हो गया। तब मन में भयभीत होते हुए देवी के सामने वध के लिए ले जाये जाते हुए वह चलता नहीं। पुत्र के द्वारा जबर्दस्ती ले जाये जाने पर भी नहीं चलता। इसी समय मार्ग में जाते हुए एक साधु ने अपने ज्ञान से सारा वृत्तान्त जानकर उसको प्रतिबोधित करने के लिए एक गाथा कही–

खड्ड खणाविय ते छगल! ते आरोविय रुक्खइ अ।
पवत्तिअ जन्नवह अह कांऽ बूबइं मुक्क?

हे बकरे ! तूने ही खड्डा खोदा। तूने ही वृक्ष आरोपित किये। यज्ञ में वध का प्रवर्त्तन भी तुमने ही किया। अब क्यों दुःख की निःश्वासें छोड़ रहे हो?
इस प्रकार के मुनि–वचनों को सुनकर साहस करके बकरा चलने लगा, यह देखकर लोग चमत्कृत हो गये। तब विस्मित–चित्त होकर देवीदत्त ने साधु से कहा –"मेरे बकरे को चलानेवाला मंत्र मुझे दीजिए।"

साधु ने पूछा–"क्यों?"

तो बाह्मण ने कहा–"पुनः इसका काम भविष्य में भी पड़ सकता है।"

साधु ने कहा–"हे भद्र! क्यों अज्ञानतावश प्रलाप करते हो?"

बाह्मण ने पूछा–"कैसे?"

साधु ने कहा–"इस बकरे के रूप में तुम्हारे पिता हैं। जातिस्मरण होने के कारण अपना मृत्यु समय सामने जानकर आगे चलने से कतरा रहा है। पूर्व में उसने मिथ्या श्रद्धा के कारण अनेक बकरे मारे, उसी कार्य के फलस्वरूप यह बकरे के रूप में पैदा हुआ। अगर मेरे वचनों पर तुम्हें कोई सन्देह है, तो इसके बन्धन को छोड़ो, जिससे तुम्हें जो धन प्राप्त नहीं हुआ था, क्योंकि तुम्हारे पिता ने बताया नहीं था, वही द्रव्य अब यह बकरा दिखायेगा। तब ये वास्तव में ही तुम्हारे पिता हैं, अन्यथा नहीं।"

यह सुनकर ब्राह्मण ने वैसा ही किया, तब उस बकरे ने जहाँ छिपा हुआ धन पड़ा था, वहाँ खुरो से खुरचकर स्थान दिखाया। खोदने पर धन निकला, जिससे ब्राह्मण को साधु के वचनों पर प्रतीति हुई। इसलिए वह मिथ्यात्व त्यागकर परम श्रद्धावान–श्रावक बन गया और जैन धर्म की आराधना करने लगा।

।। इति देवशर्मा कथा ।।

इसलिए हे श्रीपति ! तुम भी देवशर्मा ब्राह्मण की तरह मिथ्यात्व के सेवन से भव परम्परा को ही बढ़ाओगे।"

धनमित्र के वचनों को सुनकर श्रीपति ने मिथ्यात्व को त्यागकर मित्र से कहा–"हे मित्र, अब मैं कौन–सा उपाय करूँ?"

उसने कहा –

वीतरागसदृशो न हि देवो, जैन धर्मसदृशो नहि धर्मः।
कल्पवृक्षसदृशो न हि वृक्षः, कामधेनुसदृशी न हि धेनुः।।1।।

"वीतराग के सदृश कोई देव नहीं है, जैन धर्म के सदृश कोई धर्म नहीं है, कल्पवृक्ष के सदृश कोई वृक्ष नहीं है ओर कामधेनु के सदृश कोई गाय नहीं है। अतः तुम जैन धर्म का दृढ़ता के साथ पालन करो।"

मित्र के वचनों को मानकर उसने श्रावक–धर्म अंगीकार किया। तीनों वेला में वह जिन–पूजन करता था। उभयकाल सामायिक प्रतिक्रमण करता था। प्रतिदिन पंच–परमेष्ठी महामन्त्र का स्मरण करता था। सातों क्षेत्र में अपने धन का खर्च करता था। दीन–हीन जनों का उद्धार करता था। इस प्रकार करते हुए छः मास व्यतीत हो गये।

तब एक दिन शय्या पर सोते हुए पिछली रात्रि को जागृत होकर विचार करने लगा– "अहो! जैन–धर्म का पालन करते हुए भी इष्ट–फल की सिद्धि नही हुई। क्या यह धर्म भी निष्फल है?"

इस प्रकार चिन्तन कर ही रहा था, तभी शासन देवी ने कहा–"हे मूर्ख ! प्राप्त फल को मत हार। धर्म में शंका मत कर। क्योंकि –

आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासए बंभं।।
संकाए सम्मत्तं, पव्वज्जा अत्थगहणेण।।

आरम्भ करने में दया का नाश होता है। स्त्री–संसर्ग से ब्रह्मचर्य का नाश होता है, शंका से सम्यक्त्व का नाश होता है और धन ग्रहण करने से साधुता का नाश होता है।

और भी,

धम्मो मंगलमुत्तमं नरसुरश्रीभुक्ति–मुक्तिप्रदो,
धर्मःपाति पितेव वत्सलतया मातेव पुष्णाति च।
धर्मः सद्गुणसंग्रहे गुरुरिव स्वामीव राज्यप्रदो,
धर्मः स्निह्यति बन्धुवत् दिशति वा कल्पद्रुवद् वाञ्छितम्।।

धर्म उत्तम मंगल है, मनुष्य व देव–सम्बन्धी उत्कृष्ट भोगों को तथा मुक्ति को प्रदान करनेवाला है। धर्म पिता की तरह रक्षा करता है और माता की तरह वात्सल्यपूर्वक रक्षण करता है। धर्म सदगुणों के संग्रह में गुरु की तरह है तथा स्वामी की तरह राज्य को देनेवाला हैं। धर्म बन्धु की तरह स्नेह करनेवाला है और कल्पवृक्ष की तरह वांछित वस्तु देनेवाला है।

अतः हे विचारमूढ़! अगर अन्य दीन–हीन आदि के उद्धार आदि लौकिक कार्य रूपी व्यवहार धर्म भी निष्फल नहीं होते, तो अगणित पुण्यों द्वारा प्रप्त कर सकने योग्य लोकोत्तर, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा भाषित धर्म की आराधना निष्फल कैसे हो सकती है? कभी नहीं। तुम्हारे गुणों से युक्त पुत्र होगा, पर तुमने जिनधर्म में शंका

की है, अतः पुत्र का सुख तुम्हें नहीं मिलेगा। अतः धर्म में अपनी मति स्थिर करो।''

इस प्रकार कहकर शासन देवी अन्तर्धान हो गयी। उसका कथन सुनकर श्रेष्ठी हृदय में हर्षित होता हुआ विचार करने लगा–''यदि पुत्र होगा, बड़ा होगा, तभी तो सुख को देनेवाला है– यह ज्ञात होगा। उसने पहले जन्मोत्सव, लालन–पालन, तुतलाती भाषा का श्रवण, विविध आभूषण, वस्त्र–परिधान आदि मनोरथों के सुख का अनुभव तो करूँगा। मेरी पत्नी को जो वन्ध्या की गाली लगती है, वह तो उतर जायेगी। भव्य घर में उसका विवाह करके परस्पर की स्थिति से देन–लेन आदि उत्सवों में उत्तम मनोरथ सफल होंगे। पुनः अविच्छिन्न संतान–परम्परा भी बढ़ेगी। सुख–दुःख देने की बात तो यौवन–वय प्राप्त होने पर ही ज्ञात होगी। उससे पहले का फल तो प्राप्त होगा ही।''

इस प्रकार विचार करते हुए शेष रात्रि बीताकर प्रभात होने पर जिनेश्वर के नाम के स्मरणपूर्वक चैत्यवन्दन करके प्रत्याख्यान धारण करके घर के अन्दर गया। तब श्रीमती ने भी आकर प्रणामपूर्वक इस प्रकार कहा–''स्वामी ! आज रात्रि में मैंने सुख से सोते हुए स्वप्न में एक पूर्ण कलश को मुख में प्रवेश करते हुए देखा।''

श्रेष्ठी ने कहा–''गुणों से पूर्ण एक पुत्र–रत्न को तुम प्राप्त करोगी। मुझे भी आज रात्रि में शासन देवी ने इसी अर्थ को सूचन करनेवाला कथन किया है। अतः कोई भी उत्तम जीव तुम्हारी कुक्षि में अवतीर्ण हुआ है।''

श्रेष्ठी के इन वचनों को सुनकर वह हर्षपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी। दिन पूर्ण होने पर उसको पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रेष्ठी ने बारह दिन का महोत्सव करके, स्वजन–कुटुम्बादि को भोजन कराकर सभी के समक्ष उसको धर्मदत्त नाम दिया। क्रम से शुक्ल द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ता हुआ वह 7–8 वर्ष का हुआ। तब पिता ने उसे पढ़ने के लिए लेखशाला में भेजा। उसने भी अपने कुल के योग्य सभी कलाएँ सीखीं। फिर पिता ने धर्म कला में कुशलता पाने के लिए साधु के समीप रखा, क्योंकि–

बावत्तरिकलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न याणन्ति।।1।।

72 कलाओं में निष्णात वे पंडित–पुरुष भी अपण्डित ही होते हैं, जो सभी कलाओं में श्रेष्ण धर्मकला को नहीं जानते हैं।

धर्मदत्त ने अनुक्रम से यौवन वय को प्राप्त किया। पिता ने महा–इभ्य श्रेष्ठी की कन्या श्रीदेवी के साथ उसका परिणय–सम्बन्ध किया, पर शास्त्रों में कुशल होने से सदा शास्त्र–रस में मग्न रहता था, क्षण भर के लिए भी पुस्तक को नहीं छोड़ता था। उसे नये–नये शास्त्रों के विनोद में समय के बीतने का ज्ञान भी नहीं होता था। कभी भी उसके स्मृति–पथ पर स्त्री–विलास नहीं आता था। वह स्वप्न में भी स्त्री नाम को ग्रहण नही करता था। इसका कारण स्त्री के प्रति द्वेष, नहीं था, अपितु शास्त्र के

रसास्वादन में अति लालसा थी। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर उसकी माता ने यह सब जाना। तब उसने अपने पुत्र को एकान्त में ले जाकर समझाया–"बेटा! हमारा घर प्रमुख है– यह जानकर महेभ्य ने अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे साथ सुख–प्राप्ति के लिए किया था। हम भी इसी हेतु दूसरे की पुत्री अपने घर पर लाये। पर तुम तो उसकी खोज–खबर तक नहीं लेते। स्त्रियों के सभी सुखों में पति का मान प्रथम सुख है। उसके बिना सभी सुख भाड़े के सुखों की तरह प्रतीत होते हैं।"

इत्यादि बहुत प्रकार से समझाये जाने पर वह "ठीक है" ठीक है" कहकर सब कुछ सुनकर मौन को धारणकर पुनः शास्त्र पढ़ने में लीन हो गया। तब श्रीमती ने पति से कहा–"आपका यह पुत्र सभी शास्त्रों में कुशल होने के बावजूद भी मूर्ख ही दिखाई देता है। इसे घर, व्यवहार आदि का कुछ भी ज्ञान नही है। कहा भी है–

काव्यं करोतु परिजल्पतु संस्कृतं वा,
सर्वाः कलाः समधिगच्छतु वाच्यमानाः।
लोकस्थितिं यदि न वेत्ति यथानुरूपां,
सर्वस्य मूर्खनिकरस्य स चक्रवर्ती।।1।।

संस्कृत में चाहे काव्य करे या बातचीत, सभी कलाओं को पढ़ते–पढ़ते सीख ले, पर अगर वह यथा–अनुरूप लोकस्थिती को नहीं जानता है, तो वह मूर्ख–समूह का शिरोमणि है।

इस कारण से यह पढ़ा–लिखा मूर्ख सींग व पूंछ से रहित पशु ही है। जैसे लोक में वेद, वैद्यकी, व्याकरण, प्रणाम, लक्षण, ज्योतिषि आदि के पठित मूर्खों की कथा प्रसिद्ध है, उसी प्रकार वह भी उन्हीं मूर्खो के सदृश है। अतः अगर इस पुत्र को मनुष्यों की श्रेणि में लाना है, तो इसे जुआरियों को सौंप दो। वे लोग इसे कुछ ही दिनों में निपुण बना देंगे। अन्यथा तो इसे हाथ से गया हुआ ही समझें।"

श्रेष्ठी ने कहा–"हे प्रिये! ऐसी बुद्धि रखना शोभा नहीं देता, क्योंकि–

काके शौचं द्युतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता, राजा मित्रं केन दृष्ट श्रुतं वा?।।1।।

कौए में शुक्लता, जुआरी में सत्यता, सर्प में क्षमा, स्त्रियों में काम की उपशान्ति, नपुंसक में धैर्य, शराबी में तत्त्व–चिन्ता तथा राजा में मैत्री–भाव क्या किसी ने देखा अथवा सुना है?

ये सभी दोष जुआरियों में होते है, वे दुष्ट पापी व कुमार्गी होते हैं, उनकी संगति करवाने के लिए निर्मल पानी के स्वभाववाला पुत्र योग्य नहीं है। जैसे निमित *का संयोग जोड़ा जायेगा, यह उसी के अनुरूप हो जायेगा। तब फिर हमें दुःख* होगा। अभी तो यह गुणों का भाजन है, पर जब यह दुर्गुणी बनेगा, तो हमारे ही घर का लुटेरा बन जायेगा। हे प्रिये! पुत्रादि कितने ही पदार्थो के गुणों व दोषों की प्रबलता संसर्ग के अनुरूप ही होती है। इस विषय में तापस व भील के घर में दो

अलग–अलग तोतों का उदाहरण पर्याप्त है। इस प्रकार तो हमारा सन्मार्ग–गामी पुत्र कुमार्ग–गामी बन जायेगा। फिर कुसंगति से उत्पन्न हुए उसके दोषों को दूर करने में कोई भी समर्थ नही होगा।''

इस प्रकार श्रेष्ठी द्वारा अत्यधिक समझाये जाने पर भी तुच्छ मति के कारण तथा भवितव्यता के योग से सेठानी नहीं मानी। वह बार–बार श्रेष्ठी पर दबाव डालने लगी। अत्यधिक आग्रह से श्रेष्ठी का चित्त भी भ्रान्त हो गया। क्योंकि–

जे गिरुया गंभीर थिर, मोट्टा जेह मरट्ट।
महिला ते भमाड़िया, जिमकर धरिय घरट्ट।।
रे रे यन्त्रक! मां रोदीः कं कं न भ्रामयन्त्यमूः।
भ्रुवः प्रक्षेप्रमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा?।।1।।

हे यंत्रक! मत रोओ। इन स्त्रियों ने भौंहों के इशारों पर किस–किस को नहीं नचाया, तो फिर हाथ से खींचने का तो कहना ही क्या?

तब सेठानी के अत्याग्रह से श्रेष्ठी ने जुआरियों को बुलाकर कहा–''यह मेरा पुत्र मुनि–जनों के संसर्ग से केवल धर्मशास्त्रों में श्रवण, पठन, पाठन परावर्तन आदि में समय बिताता है। पर खाने–पीने मौज शौक, स्त्री, विलास, वस्त्राभूषण, परिधान, वन–उपवन में गमन, राग सिक्त गीतों का श्रवण आदि सांसारिक सुखों में आसक्ति का लेश मात्र अंश भी नहीं है। यह प्रतिक्षण शास्त्रों का ही अभ्यास करता है। एक वर्ग का साधन करने मात्र से गृहस्थ–धर्म का निर्वाह नहीं होता। गुरुओं ने भी गृहस्थों को त्रिवर्ग साधने के लिए कहा है। तुम लोग निपुण हो, शास्त्र अभ्यास के बहाने से इसके पास रहो। फिर अवसर प्राप्त होने पर बातों ही बातों में इसे अनुकूल करके इसका मन मोड़कर उपवन में गमन करने तथा राग–रंग के श्रवणादि में इसे रसिक बनाना, क्योंकि जिसका सर्वशास्त्रों में परिचय विस्तारपूर्वक होता है, वह जिस किसी स्थान पर जाता है, वहाँ–वहाँ उसका चित उस विषय के हार्द का ग्राही होने से प्रमोद का अनुभव करता है, क्योंकि वह निपुण होता है। सभी लोग इसलिए अपनी–अपनी कलाओं में कुशल होते है। तुमलोगों के हाथ में समर्पित है। इसे किसी भी प्रकार से योग रसिक बना दो। धन की चिन्ता मत करना। मैं मुँहमाँगा धन दूँगा।''

श्रेष्ठी के वचनों को सुनकर वे जुआरी प्रसन्न हुए, क्योंकि ''वैद्य–उपदिष्ट ही इष्ट है'' इस नीति वाक्य के अनुसार उनका इच्छित कार्य ही हुआ। वे परस्पर मन्त्रणा करने लगे–''हम कुमार को उद्दाम कला में कुशल व्यक्ति के पास ले जायेंगे, तब वह इसे महेभ्य जानकर उसका मन जीतने के लिए अपनी अद्भुत कलाओं को दिखायेगा। तब हम भी धन–खर्च के द्वारा अपूर्व–अपूर्व कौतुक देखेंगे। धन तो इस श्रेष्ठी का ही खर्च होगा। हम तो प्राप्त नर–भव को सफल करेंगे। अपनी इच्छित खान–पान आदि प्रवृत्ति पूर्ण करेंगे। आज तो हमें परम निधि प्राप्त हुई, इसमें कोई

शंका नही है।''

इस प्रकार परस्पर मंत्रणा करके श्रेष्ठी के आदेश को प्राप्त करके भव्य वस्त्रों से सज्जित होकर कुमार के समीप जाकर जय–जयकार व प्रणामादि करके बैठते हुए कहने लगे–''स्वामी! आपकी शास्त्र–निपुणता की कीर्त्ति जगह–जगह सुनकर हमारी भी इच्छा हुई कि हम भी कुमार के समीप जायें, जिससे कुछेक शास्त्रीय अंशों का हमें भी ज्ञान प्राप्त हो। अतः कानों को पवित्र बनाने के लिए आपके पास आये है। आप कृपा करके हमारे कर्णों को पवित्र कीजिए।''

इस प्रकार कहकर विनयपूर्वक कुमार के समीप बैठे गये। कुमार ने भी शास्त्र–श्रवण के इच्छुक जानकर उन्हें सम्मान दिया एवं कहा–''आप सुखपूर्वक प्रतिदिन पधारें।''

यह सुनकर वे सभी जुआरी नियमित रूप से कुमार के पास आने लगे। कुमार जो–जो भी बोलता था, उस–उसको विस्मयपूर्वक सिर हिलाते हुए श्रवण करते थे और प्रंशसा करते थे। ऐसा करते हुए उन्होंने कुछ ही दिनों में कुमार के मन को जीत लिया।

एक दिन संगीत शास्त्र की चर्चा में एक जुआरी ने कहा–''हे कुमार! इस शास्त्र के एक विशारद (पण्डित) यहाँ आये हुए हैं। हम उसके संगीत को सुनकर अत्यन्त आह्लाद को प्राप्त हुए हैं, पर उसके हार्द को जानने व बोलने में असमर्थ हैं। उस संगीत–विशारद ने पूछा–''क्या इस नगर यें कोई मर्मज्ञाता है, जो मेरे कथन के हार्द को जानकर प्रत्युत्तर दे सके?''

हमने कहा–''हाँ, है।''

उसने कहा–'' तो आप मुझे उनसे मिलवायें।''

अतः अगर आपकी इच्छा हो, तो आप कल वहाँ पधारें। आप तो सभी शास्त्रों के पारंगामी है। पर वह भी सज्जनों में शिरोमणि है। मनुष्यों को पहचाननेवाला एवं गुण–ग्राही है। आपको देखकर प्रसन्न ही होगा। आप भी जान जायेंगे कि वह निपुणों में अग्रणी है।''

कुमार ने कहा–''ठीक है, कल चलेंगे।''

यह सुनकर हर्षित होते हुए वे श्रेष्ठी के पास जाकर कहने लगे–''हे श्रेष्ठी प्रवर ! हमने कुछ अनुकूल कार्य किया है। हम इसे प्रभात में बाहर ले जायेंगे। अतः धन देने की कृपा करें। धन के बिना रसरंग की बात तक नहीं होती।''
तब श्रेष्ठी ने धनरक्षक से कहा–''ये जितना माँगे, उतना धन दे दिया जाये।''

तब उन्होंने परिमित धन ग्रहण किया। धन लेकर राजा के एक माननीय संगीत–शास्त्र में विशारद पण्डित को जाकर कुछ भव्य वस्तुएँ उपहार–स्वरूप देकर कहा–''आप कल अमुक वाटिका में आ जाना। हम वहाँ कल नगर के प्रमुख महेभ्य के पुत्र को लेकर आयेंगे, जो संगीत शास्त्र में विशारद और पण्डितों का प्रिय है।

उसके चित्त को आप अपनी कला से प्रसन्न करें। अपरिमित धन का स्वामी है। ज्यादा क्या कहें? यह जंगम कल्पवृक्ष है।''

उसने भी कहा–''ठीक है। उसे शीघ्र ही ले आओ।''

प्रभात होने पर वे पुनः धर्मदत्त के समीप आये। विनय युक्त बातचीत के द्वारा कुमार के मन को प्रसन्न करके अवसर देखकर गत दिवस में की गयी बात का संकेत किया। कुमार ने कहा–''हाँ हाँ। चलते हैं।''

तब सेवकों द्वारा शीघ्र ही रथ तैयार करके लाया गया। उस रथ पर जुआरियों के साथ सवार होकर अनेक सेवकों के द्वारा घिरे हुए नगर के आश्चर्यों को देखते हुए संगीतकार के घर कुमार पहुँचा। उसने भी अत्यन्त आदर व सत्कार–सम्मान करके घर के पिछवाड़े में रही हुई अत्यन्त रमणीय वाटिका में भव्य भद्रासन पर बिठाया। पुष्प–ताम्बूल आदि आगे रखकर परिकर–सहित उन्हें सम्मानित किया। फिर अनेक प्रकार के ताल, मान, लय को ग्रहण करने की मात्रा, मूर्च्छना आदि भेदों से भिन्न अनेक रसों व अलकारों से युक्त गीत गाने के लिए प्रवृत हुआ। कुमार भी भद्रासन पर बैठकर सुनने लगा। बीच–बीच में गीत, अलंकार नायक–नायिका के भेदों को, स्थायी सात्विक आदि रस की उत्पत्ति करनेवाले विभाव–अनुभाव आदि भेदों को प्रकट करके कहने लगा। कुमार से पूछने लगा। कुमार भी शास्त्र–अभ्यास में होशियार होने से उसके स्वरूप को कहता है। तब संगीतकार उठकर प्रणाम करके प्रशंसा करता–''अहो! कुमार की बुद्धि–कुशलता।'' इस प्रकार पुनः–पुनः चातुर्य का वर्णन करते हुए कुमार के मन को प्रसन्न किया। अतः कुमार कान देकर तन्यमता के साथ हर्षपूवक सुनने लगा। इस प्रकार दो प्रहर संगीतकार ने अपनी कला दिखायी। कुमार भी प्रसन्न हुआ। तब जुआरियों ने कुमार के कानों में कहा–''इसे कुछ भी दान देना उचित होगा।''

कुमार ने कहा–''अच्छी बात है। दान तो सबसे पहले देना ही चाहिए।''

तब जुआरियों ने श्रेष्ठी के घर से कुमार का नाम लेकर धन मँगवाकर कुमार के सामने रख दिया। कुमार ने चातुर्य–प्रिय और उदारता–युक्त होने के कारण सभी धन उसे अर्पित करके ''फिर आऊँगा'' यह कहकर उठ गया। फिर वाटिका को देखता हुआ घर आ गया। मार्ग में जुआरियों ने पूछा–स्वामी! यह आपको कैसा लगा?''

कुमार ने कहा–संगीतकला में अत्यन्त निपुण है, हम फिर इसके पास जायेंगे।'

फिर घर जाकर भोजनादि से निवृत्त होकर कुमार आस्थान मण्डल में जाकर बैठ गया। पुनः जुआरियों ने संगीत की बातचीत छेड़ दी। कुमार ने उसकी कला की फिर प्रशंसा की। तब जुआरियों ने कहा–''एक जवान श्रेष्ठ तरुणी है। वह भी संगीत नाटक आदि में श्रेष्ठतर है और देखने योग्य है।''

कुमार ने कहा–''किसी दिन वहाँ भी जायेंगे।''

इस प्रकार सूर्यास्त तक कुमार के समीप ठहरकर, संध्या समय कुमार की आज्ञा लेकर सेठानी के पास जाकर सारी घटना का निवेदन सेठानी को किया। उसने भी सारी बात जानकर अत्यन्त हर्षित होते हुए उन्हें बहुत–सा द्रव्य देकर कहा–''अपनी इच्छानुसार द्रव्य का खर्च करो। किसी भी प्रकार का संकोच मत रखना। मैं तुम्हारी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करूँगी। पर मेरे पुत्र को भोग–रसिक बना देना।''

उन्होंने कहा–''आपके पुण्य–बल से थोड़े ही समय में आपका इच्छित मनोरथ पूर्ण होगा। तब हमारा मुजरा जानना चाहिए।''

यह कहकर वे लोग अपने–अपने घर लौट गये। कुमार भी सुख–शय्या पर सोया हुआ दिन में देखा हुआ स्मरण करके प्रसन्नचित्त होते हुए संगीत ग्रंथों में रहे हुए नये–नये भावों के उल्लेख की कल्पना अपने मन में क्षयोपशम की प्रबलता से करने लगे। इस प्रकार शेष रात्रि को बिताकर प्रभात होने पर प्रभातिक कृत्य करके जब अपने आस्थान–मण्डप में जाकर बैठे, तो वे सभी जुआरी भी इकट्ठे होकर आ गये। पुनः–पुनः कुमार को प्रेरणा करके संगीतकार के घर ले जाकर तीन–चार घड़ी तक वहाँ रूककर फिर कुमार को प्रेरित करके वहाँ से उठाया एवं कहा–''स्वामी! आज अमुक पर्व है। अमुक स्थल पर मेला लगा हुआ है, वहाँ महा–आश्चर्य है। चलिए, चलकर देखा जाये।''

तब संगीतकार ने भी कुमार को प्रोत्साहित किया। अतः जुआरियों व संगीतकार को साथ लेकर नदी के तट पर लौकिक देवालय में अनेक लोगों के समूहों को देखते हुए, कहीं हास्य–रस को उत्पन्न करनेवाली बातों के विनोद को सुनते हुए, कहीं विविध वेशभूषा से युक्त व्यक्तियों के नृत्य को देखते हुए, कहीं भाण्डों व भाण्डियों की चेष्टा को देखते हुए नदी के प्रवाह में नौका पर आरूढ़ होकर कुमार एक उच्च स्थान पर आरूढ़ हो गया। चारों ओर वे जुआरी भी विनयपूर्वक बैठ गये। संगीतकार ने कुमार के सामने बैठकर ताल–तन्त्री–मदृंग–वीणा आदि के वादनपूर्वक संगीत शुरू कर दिया। कुमार चारों ओर तट पर रहे हुए लोगो को देखने लगा। नदी के प्रवाह में नौका इधर–उधर भ्रमण करने लगी। एक तरफ बसन्त ऋतु में हरे–भरे पल्लवित पुष्पित वृक्षों की शोभा को देखते हुए, एक तरफ रस–रंग को उत्पन्न करनेवाले कोयल के मधुर शब्दों का श्रवण करते हुए कुमार का हृदय प्रसन्न हो गया। इस प्रकार के अद्भुत रस का आस्वाद का अनुभव करते हुए कुमार के भोजन का समय आने के पूर्व ही जुआरियों ने कहा–''स्वामी! आज तो बहुत ही रसिक दिन है। अगर आपकी आज्ञा हो, तो भोजन–सामग्री यहीं तैयार करायी जाये।''

कुमार ने कहा–'' अच्छा है। जल्दी तैयार करवायें।''

तब उन्होंने हर्षित होते हुए विविध प्रकार की रसोई रसोइयों द्वारा बनवायी।

श्रेष्ठ द्रव्यों से मिश्रित रम्य रसों को मिलाकर स्वादिष्ट वस्तुएँ तैयार करवायीं। तब तक समय भी हो गया। मध्याह्न काल से दो घड़ी ऊपर जाने पर कुमार आदि सभी को भूख लग गयी। तब कुमार ने पूछा–"रसोई बनी या नहीं? मुझे तो भूख लग गयी है।"

तब उन्होंने कहा–"स्वामी के आदेश मात्र से ही तैयार हो गयी है।"

फिर कुमार ने वहाँ से उठकर उन सभी के साथ विविध रसों से युक्त रसोई का भोजन किया। पुनः नंदनवन के समान वाटिका में जाकर, भव्य स्थान पर बैठकर ताम्बूलादि के द्वारा मुख–शुद्धि करके पुनः गीत आदि शुरू कर दिये। इसी समय नृत्य करने में कुशल एक विदेशी नर्तकी आ गयी। जन समूह व उन जुआरियों के अत्याग्रह से वह कुमार के सामने आकर नृत्य करने लगी। विविध हाव–भाव, कटाक्ष, विभ्रम, अंग–विक्षेपादि के द्वारा अत्यद्भुत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि से कुमार के मन को मोह लिया। कुमार भी एकटक निर्निमेष दृष्टि से उसे देखने लगा। इस प्रकार दिन अस्त होने से मुहूर्त्त शेष रहते हुए कहा कि ऐसा दिव्य नाटक श्रेष्ठी पुत्र के बिना कौन दिखाये? लोगों की प्रशंसा सुनकर आनन्दित होते हुए कुमार खूब सारा धन देकर पुनः यान पर सवार होकर घर की ओर रवाना हुआ। मार्ग में उन जुआरियों ने कहा–"स्वामी! आज हमारा मन आपकी कृपा से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। पर आपका मन प्रसन्न हुआ या नहीं?"

कुमार ने कहा–"ऐसा नृत्य मन को क्यों नहीं प्रसन्न करेगा? फिर कभी और ऐसा नृत्य देखेंगे।"

तब उन्होंने कहा–"इसने तो नृत्य अच्छा ही किया था, पर कामपताका के नृत्य के आगे तो इसका नृत्य सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।"

कुमार ने कहा–"वह कौन है?"

उन्होंने कहा–"हमारे नगर के राजमहल के समान बहुत बड़े आवास में रहती है। स्त्रियों के जो कोई भी गुण हैं, उन सबमें वह प्रधान रूप रखती है। जिसको देखने मात्र से देव कन्या का भ्रम होता है। वह भी आप जैसे गुणवानों के आगे ही अपनी कला का प्रदर्शन करेगी, हर–एक के आगे नहीं। स्वामी! ज्यादा क्या कहा जाये? आप जैसे दर्शक के आगे जब वह नृत्य करेगी, तो जो रस उत्पन्न होगा, उसका वर्णन करने में कौन समर्थ है? स्वामी भी जान जायेंगे कि उसका क्षण–भर का भी संग क्या रंग लाता है?"

कुमार ने पूछा–"क्या पहले कभी आप लोगों ने उसका नृत्य देखा है?"

उन्होंने कहा–"हम जैसे मंदभागियों को कब ऐसा अवसर मिले? पर एक बार दो वर्ष पहले राजा ने अत्यन्त आदरपूर्वक उसका नृत्य करवाया था, तब आप जैसे पुण्यवानों के पीछे–पीछे जाकर देखा था, वह हम आज तक नहीं भूले हैं। अब आपकी चरण, सेवा के प्रसाद से बहुत दिनों से इच्छित मनोरथ पूर्ण करने का

विश्वास पैदा हुआ है, वह स्वामी के द्वारा अवश्य पूर्ण होगा। वह भी आपके चातुर्य, आपकी विद्वत्ता को देखकर परम प्रसन्नता को प्राप्त होगी। अगर आपकी इच्छा हो, तो कल ही उसके घर पर चला जाये। वह स्थान आपके जाने योग्य है, आगे आपकी जैसे इच्छा।''

इस प्रकार की छल–भरी वार्त्ता को सुनकर प्रसन्न होते हुए कुमार ने कहा–''कल ही जायेंगे।''

उन्होंने कहा–''बहुत अच्छा। बड़ी कृपा की। हम बिचारों का मनोरथ आपने पूर्ण किया।'' इस प्रकार बातें करते हुए घर आ गये। रात्रि में भी कुमार के ही पास रहकर उसके रूप सौन्दर्य–चातुर्य–गीत गाने की कुशलता आदि का वर्णन करके कुमार के चित्त को उसके मिलन के लिए चंचल बना दिया। ''कल अवश्य ही जायेंगे''–इस प्रकार निश्चय करके वे सो गये। प्रभात होने पर प्रातः कार्य से निवृत्त होकर कुमार ने स्वयं ही कहा–''रथ को तैयार करो।''

तब एक जुआरी ने घर के अन्दर सेठ से सारा वृत्तान्त निवेदन किया और कहा–''जरा देखिए तो सही, हम सेवकों का प्रयास। जिसने कभी भोगों का नाम तक नहीं लिया, वह थोड़े ही दिनों में आपके द्वारा इकट्ठी की गयी सारी सम्पदा को सफल बनायेगा। उसे देखकर आपके मनोरथ पूर्ण होंगे। तब आप इन सेवकों के प्रयास की प्रशंसा करना।''

वे पति–पत्नी यह सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन जुआरियों में से कुछ ने आगे जाकर कामपताका को निवेदन किया कि ''आज तुम्हारे घर नगर–सेठ के पुत्र को लेकर आयेंगे। अतः तुम उनके आगे अपनी कला के कौशल का अत्यधिक प्रदर्शन करके उनके मन को मोह लेना। कुमार ऐसी–वैसी कलाओं में ही कुशल नहीं है, बल्कि सभी शस्त्रों के हार्द को भी जाननेवाला है। अतः तुम सावधानीपूर्वक अपनी समस्त कलाओं का प्रदर्शन करना। अगर कुमार प्रसन्न होंगे, तो जंगम कल्पवृक्ष के समान इच्छित से भी ज्यादा प्रदान करेंगे।''

उसने कहा–''आप तो उन्हें शीघ्र ही ले आइए। बाद में सब कुछ ज्ञात हो ही जायेगा। संयमी मार्ग में स्थित मुक्तिपुरी में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्तियों को भी हम पणांगनाओं ने सब कुछ छुड़वाकर कामभोग का रसिक बनाया है, तो उनके सामने इसकी क्या बिसात? यह तो मात्र वणिक पुत्र है। सब अच्छा ही होगा।''

इतना कहकर उसने उन सभी को भेज दिया। फिर कुमार रथ पर आरूढ़ होकर उन सभी के साथ उसके आवास गृह पर गया। उसने भी कुमार के आगमन मात्र का श्रवण कर, उठकर स्वर्ण, रत्न व मोतियों से अंजलि भरकर मुख्य द्वार पर आकर कुमार को बधाकर कहा कि आप अपने चरणों से इस घर को पावन कीजिए। यह आपकी चरणोपासिका का घर है। आज आपने बड़ी कृपा की, मेरे आँगन में बिना बादलों के अमृत की वर्षा हुई। आज मेरे आँगन में कल्पवृक्ष फलित हुआ। बिना

बुलाये स्वर्ग–गंगा मेरे घर में आयी, जो कि नगर के महा–इभ्य के कुलदीपक कुमारवर ने मेरे घर को अलंकृत किया।''

इत्यादि वचनामृत के द्वारा संतुष्ट करके ''खमा–खमा'' शब्द करते हुए कुमार को भवन के अन्दर ले गयी। उसके बाद पुनः मधुर वचनों से प्रसन्न करते हुए ऊपरी मंजिल पर चित्रशाला में देव–शय्या के समान पलंग पर आदरपूर्वक बैठाया। जहाँ–जहाँ भी नजर पड़ती थी, वहाँ–वहाँ काँच आदि की शोभा से साक्षात् देव–विमान जैसी भ्रांति होती थी। कामसेना ने सबसे पहले कस्तूरी, चंदन, अत्तर आदि महामूल्यवाले पदार्थों से कुमार के शरीर को सुवासित किया। गुलाब–जल आदि गंधोदकों से आच्छादन किया। फिर अनेक प्रकार के संतरे, आम, दाड़म, आंजीर आदि शीघ्र ही परिपक्व मधुर व स्वादिष्ट फल इसके आगे पेश किये। उसके बाद, दाखें, अखरोट, बादाम आदि विविध देश से आये हुए मेवे उसके सामने रखे। फिर जायफल, अंगुर, कस्तूरी, अभ्रक, केसर, सीताफल आदि से निर्मित कामोत्तेजक विशिष्ट मादक द्रव्य से युक्त काढ़ा कटोरा भरकर सामने उपस्थित किया। फिर फूल, पान आदि 500 गंधिक द्रव्यों से युक्त पान के बीड़े पेश किये। बीच–बीच में प्रीतिवर्धक तथा कामोद्दीपक मीठे–मीठे वचन बिखेरती हुई सोलह शृंगार के भार से लदी हुई हाव–भाव आदि दर्शाती हुई मुख के आगे खड़ी रही। कुमार भी उसके हाव–भाव, सेवा चातुर्य आदि में मगन होकर बैठा रहा। तब वह अत्यधिक मीठे, ललित, सुकुमार, कोयल से भी मधुर वचनों के द्वारा कुमार को प्रेरित करने लगी–''हे स्वामी! यह ग्रहण कीजिए। यह बहुत अच्छा है। यह शरीर में ताप को बढ़ानेवाला है। यह मंगलों में सर्वश्रेष्ठ होने से शकुनकारी है। इसे तो जरूर ही ग्रहण करना चाहिए।''

इस प्रकार मिष्ट–वचनों से संतुष्ट होते हुए कुमार ने यथारुचि आस्वादन *किया। फिर यथास्थान बैठ जाने पर नृत्य शुरू हुआ। अनेक राग, तान,* नये–नये कामोद्दीपक हाव–भाव के द्वारा कुमार को तन्मय बना दिया। फिर कुमार के प्रथम यौवन से उत्पन्न विकारों के द्वारा अत्यन्त मादक द्रव्यों से बनाये हुए, पकाये हुए पदार्थों के भक्षण से अन्तरतम को भेदनेवाले कटाक्ष–बाणों से कामोद्दीपन हुआ। पणांगना ने यह जानकर भौंहों के इशारे से सभी जुआरियों को उठा दिया। वे भी कुछ न कुछ बहाना बनाकर चित्रशाला सें बाहर चले गये। फिर जन–शून्य *चित्रशाला हो जाने से यथेच्छापूर्वक आलिंगन आदि स्पर्श–सुख देकर कुमार को* विह्वल कर दिया। तब कुमार ने पहली बार सुरत–सुख का अनुभव किया। इस अनुभव से कुमार का चित्त उस पणांगना में ही रसिक हो गया। उसे क्षणमात्र के लिए *भी वहाँ से हटने नहीं देता था। एक मात्र उसे ही देखता रहता था। वेश्या ने अवसर* देखकर अनेक प्रकार की दिव्य रसोई तैयार करवायी। जुआरी आदि भी वापस आकर इकट्ठे हुए, पर कुमार को वे अन्तराय डालनेवाले लगने लगे। उन सभी ने जान लिया कि ''कुमार का चित्त स्त्री के पाश में फंस गया। अब तो यह हमारे साथ भी

प्रसन्नतापूर्वक बात नहीं करता। हमने जिस आयोजन के लिए यह उद्यम किया था, वह सफल हो गया। कुमार प्रातःकाल तक यहीं रहेंगे। अतः अब हम तो सेठ के पास जाकर उन्हें बधाई देकर बहुत सारा धन ग्रहण करेंगे।''

इस प्रकार एकान्त में परस्पर मंत्रणा करने लगे, तभी पणांगना के सेवकों ने आकर कहा–''रसोई तैयार है।''

फिर कुमार को स्नान–मण्डप में ले जाकर, शतपाकादि तेलों से मालिश करवाकर, सुगंधित उष्ण जल से स्नान करवाकर, चंदनादि से विलेपन करके, भव्य वस्त्रों व अलंकारों से भूषित करके भोजन के लिए बैठाया गया। जुआरी भी कुछ दूरी पर बैठ गये। वेश्या भी कुमार के समीप ही बैठ गयी। कुमार ने अनेक संस्कारों द्वारा तैयार, नाना प्रकार के रसों व स्वाद से युक्त रसोई वेश्या के साथ आनंदपूर्वक ग्रहण की। उन जुआरियों ने भी भोजन किया। उसके बाद वे सभी पुनः चित्रशाला में जाकर बैठ गये। तब उस वेश्या ने विविध प्रकार के मादक द्रव्यों से युक्त पान के बीड़े सभी को यथायोग्य दिये। तब तक दिवस का अवसान होने को आया। उन जुआरियों ने कुमार के मन की परीक्षा लेने के लिए कहा–''स्वामी! दिन अस्त होने को है।''

उनका यह कथन कुमार के कानों में पिघले हुए सीसे की तरह प्रतीत हुआ। उसने सुनकर भी उपेक्षा भाव से कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उन्होंने जान लिया कि हमारा कथन कुमार को प्रतिकूल लग रहा है। अतः इसको यहीं छोड़कर चला जाये। उन्होंने वेश्या से कहा–''कुमार का मन तो तुमने एक ही दिन में वश में कर लिया है। अतः इन्हें यहीं रखना, क्योंकि हम तो जा रहे है।''

इसके बाद उन्होंने पुनः कुमार को बताया कि घर जाने का समय हो गया है। तभी वह वेश्या आकर क्रोधपूर्वक बीच में बोली–''कुमार तो यहीं रहेंगे, क्यों आप सभी मुझे मारने पर तुले हुए है? अब तो कुमार के बिना मैं क्षणभर भी नहीं रह सकती। आप तो मुझे दुःख देने के लिए यहाँ आ गये है। मैं तो प्राण–रहते इन्हें कदापि नहीं छोडूं। ये मेरे प्राणाधार है। अतः आप सभी पधारें। मेरा जीवन इनसे ही है। कुमार कदाचित् आपके कहने से यहाँ से जाने का मन कर लें, पर मैं इन्हें कैसे जाने दूँ?''

तब उन्होंने कुमार से कहा–''हे कुमार! यह अत्यधिक आग्रह करती है। अतः आज की रात आप यहीं रुक जायें। इसे आपका वियोग रूपी दुःख देना उचित प्रतीत नहीं होता। हम प्रभात में आयेंगे।''

तब कुमार ने कहा–''ठीक है आप लोग पधारें। मैं यहीं रूकता हूँ।''

तब वे सभी जुआरी कुमार को प्रणाम करके सेठ के घर गये। पति–पत्नी को बधाई देते हुए कहा–''स्वामी! आपका कार्य हो गया। आपका पुत्र अपनी इच्छा से कामपताका वेश्या के घर पर रहा हुआ है। उसकी काम भोग की वासना तीव्रतर

हो गयी है। अतः उसे कुछ दिन वहीं रहने दें।''

यह सुनकर श्रेष्ठी ने उन्हें अत्यधिक धन देकर विदा किया। कुमार सुख में निमग्न वहीं रह गया। रात्रि में वेश्या व कुमार ने विविध भोगों को भोगते हुए विषय–जागरण के उत्सव को करते हुए पिछली रात्रि में निद्रा को ग्रहण किया। सवेरे की निद्रा अत्यधिक मीठी होती है। चार घड़ी दिन चढ़ने पर ही वे दोनों जागृत हुए। कुमार देह–चिंता आदि से निवृत्त होकर आलस्य भरी देह से झरोखे में खड़े होकर आवास गृह में रही हुई वाटिका में पुष्प आदि को देखने लगा, तभी वेश्या भव्य झारी में शुद्ध जल भरकर दातुनादि लाकर कुमार के समीप आकर कहने लगी–''स्वामी! आप दातुन कर लीजिए।'' इस प्रकार कहकर मुस्कुराते हुए वह, वहीं बैठ गयी। तभी कुमार की माता ने कुमार की खोज–खबर लेने के लिए गृह–सेवक को भेजा। उसने आकर कुशल–क्षेम पूछी एवं कहा कि द्रव्य आदि की आवश्यकता हो, तो हम ले आते हैं।

कुमार ने कहा–''जब तक मैं यहा हूँ, तुम प्रतिदिन सौ दीनारें लेकर आते रहना।''

सेवक ने जाकर माता को पूर्ण जानकारी दी। माता ने भी हर्षित होकर दीनारें भेज दीं। तब तक जुआरी भी आ गये। तब कुमार वेश्या के साथ वीणा आदि से तथा जुआ आदि खेलने लगा। उन्हें देखकर भी राग–रंग की अधिकता से मर्यादा को छोड़कर खेलने लगा। यह देखकर वे कुछ समय वहाँ ठहरे, फिर अपने घर चले गये। इस प्रकार वे रोज आने जाने लगे। कुछ दिनों बाद वेश्या ने उन जुआरियों को हमेशा के लिए वहाँ से निष्काषित कर दिया। उसके माता–पिता प्रतिदिन उसे सौ दीनार भेजने लगे।

इस प्रकार कितने ही दिन बीत जाने के बाद एक बार श्रेष्ठी ने अपनी पत्नी से कहा–''अब कुमार को बुला लेते हैं, जिससे घर पर रहकर ही सुखों का उपभोग करे और उसकी पत्नी भी प्रसन्न हो जाये। हम भी उसे देख लेंगे। कई दिनों से उसे देखा नहीं है।''

इस प्रकार विचार करके घर के व्यापार के सबसे बड़े अधिकारी को भेजा। उसने वहाँ जाकर अत्यन्त बहुमानपूर्वक आने के लिए कहा–''स्वामी! आपके दर्शनों को आतुर आपके पिता आपको देखने चाहते हैं। माता भी आपके दर्शनों के लिए उत्कण्ठित हैं। प्रतिक्षण भगवान की तरह आपके नाम का जाप करती है। आपके आने से घर की शोभा में वृद्धि होगी। मेरे जैसे सेवक भी नित्य ही आपका मार्ग देखते हैं कि कब हमारे स्वामी भद्रासन को अलंकृत करेंगे। इस प्रकार प्रतिदिन प्रतीक्षा करते हैं। छोटी सेठानी भी स्वामी का आगमन चाहती है। अतः आपका घर पधारना बहुत ही अच्छा रहेगा, फिर जैसे आपकी इच्छा।''

तब कुमार ने क्रोधपूर्वक वक्र–दृष्टि करके कहा–''ठीक है, ठीक है। अभी तुम जाओ। क्यों आये हो? यहाँ रहते हुए हमें दिन ही कितने हुए हैं, जो कि तुम मुझे

घर आने के लिए युक्तियों–प्रयुक्तियों के द्वारा प्रेरित कर रहे हो। अतः जाओ–जाओ। जब मुझे आना होगा, तब आ जाऊँगा। आप सभी ओर से अत्यधिक निपुण हो, जो मुझे शिक्षा देने आये हैं। अतः जाइए, आप अपना कार्य करें। हमारे खर्च के लिए धन शीघ्र ही भेजें।''

इस प्रकार कहकर उसे शीघ्र ही भेज दिया। वह भी निराश होकर श्रेष्ठी के भवन पर लौटा। वहाँ आकर उसने सेठ व सेठानी से कहा–''उसका मन तो चारों ओर से उसी में आसक्त है। अभी तो वह आने के लिए तैयार नहीं है।''

यह सुनकर श्रेष्ठी ने दुःखित होते हुए सेठानी से कहा–''जो मैंने कहा था, वह आज सामने आ ही गया। कितना भी निपुण पुरुष क्यों न हो, जब वेश्या में आसक्त हो जाये, तो सभी गुणों को हार देता है और दुर्बुद्धि व दुष्कर्म को इकट्ठा करता है।''

सेठानी ने पुत्र–मोह से कहा–''क्या हुआ? नया–नया सीखा है, शीघ्र ही रंग लगा है, कुछ ही दिनों में आ जायेगा। मार्ग पर तो आ ही गया है। सब अच्छा ही होगा। द्रव्य–खर्च के डर से आप व्याकुल न बनें, क्योंकि इसके पुण्य से धन इकट्ठा हुआ है, तो यही विलास करे। इसमें क्या हानि है? हमारे पास तो अपरिमित धन है। अभी से ही हृदय को संकुचित करके क्यों बैठे हैं?

सेठानी के कथन को सुनकर सेठ मौन धारणकर घर के कार्यों में लग गया। वह प्रतिदिन भोगद्रव्य भेजने लगा, पर कुमार तो घर आने का नाम ही नहीं लेता। पुनः कुछ दिन बीत जाने के बाद फिर से कुछ बड़े लोगों को कुमार को बुलाने के लिए भेजा, पर पहले की तरह क्रोधपूर्वक कुछ भी उत्तर देकर उन्हें भेज दिया। इस प्रकार बहुत बार बुलाने पर भी जब वह नहीं आया, तो सेठ–सेठानी निराश हो गये। उसके वियोग के दुःख से दुःखित होकर वे दिन व्यतीत करने लगे। पर पुत्र–मोह के कारण धन बराबर भेजते रहे।

एक बार श्रेष्ठी को देवता के वचन याद आ गये। तब उन्होंने सेठानी से कहा–''प्रिये! देव वचन अन्यथा नहीं होते। अब पुत्र के आने की कोई आशा मत संजोना, अब तो आत्म चिंतन करें, जिससे सद्गति हो।''

इस प्रकार विचार करके वे दोनों धर्म करने को समुद्यत हुए। दान, शील, तप, भावना रूप चतुःआराधना का यथाशक्ति अनुष्ठान करने लगे। सात क्षेत्रों में हर्षपूर्वक धन का व्यय किया। फिर घर का भार पुत्र पर आरोपित करने के लिए प्रधान–पुरुषों को बुलाने के लिए भेजा, फिर भी वह नहीं आया।

अतः धर्म की आराधना करके पुत्र–वियोग के शल्य को हृदय में पालते हुए ही वे दम्पत्ति मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके पीछे का प्रेतकार्य करने के लिए समस्त नगर एकत्रित हुआ, पर धर्मदत्त नहीं आया। घर में तो धर्मदत्त की पत्नी अकेली ही थी। वह सुकुल की कन्या थी, अतः कितने ही दिनों तक उसने धन भेजा। रोकड़ा धन

खत्म हो जाने के बाद पीहर व ससुराल पक्ष के गहने आदि भेजती रही। उनके भी खत्म हो जाने पर चाँदी, ताम्बे आदि के पात्र प्रेषित किये, क्योंकि कुलीन स्त्री पति की प्रीति का त्याग नहीं करती। कहा भी है :–

पङ्गुमन्धं च कुब्जं च कुष्ठिनं व्याधिपीडितम्।
निःस्वमापद्गतं नाथं न त्यजेत् सा महासती।।1।।

पंगु को अंधे को, कुबड़े को, कोढ़ी को, रोग पीड़ित को, निर्धन को तथा आपत्ति को प्राप्त हुए पति को जो न छोड़े, वही महासती है।

उधर अक्का ने पात्र देखकर जान लिया कि इसके घर का धन खाली हो गया है। अतः अब इसे यहाँ से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार विचार करके दासियों को सिखाया कि यह अब निर्धन हो गया है, अतः धूल निकालने के बहाने तुम लोग इसे निकाल दो।

दासी ने भी घर की साफ–सफाई करने के समय धर्मदत्त से कहा–"आप बाहर के प्रदेश में बैठें। यहाँ से सफाई करनी है।"

यह सुनकर कुमार बाहर जाकर बैठ गया। दासी ने भी शयनगृह साफ करने के बाद झाड़ू से धूल कुमार के सिर पर डाल दी। तब कुमार ने क्रोधित होते हुए दासी से कहा–हे कुटिला! क्या मैं तुम्हे यहाँ बैठा हुआ दिखाई नहीं देता? क्या तुम्हारी दृष्टि में अंधता आ गयी है? दासी ने कहा–मेरी दृष्टि में तो अंधता नहीं आयी है, पर आपके हृदय में अंधापन आ गया है–ऐसा दिखाई देता है, क्योंकि निर्धन पुरुष वेश्या के घर में विलास की इच्छा करता है, वह हृदयान्ध है। कल तुम्हारे घर से भाजन आये, वे तुमने नहीं देखे? अतः अब यहाँ रहने की आशा करना निष्फल है। जहाँ इच्छा हो, वहाँ चले जाओ। अब यहाँ रहने का आग्रह कोई नहीं करेगा, क्योंकि कहा है–

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसा,
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं मन्त्रिणः।
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः,
सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते तत् कस्य को वल्लभः?।।1।।

वृक्ष के फलहीन हो जाने पर पक्षी उसे छोड़ देते हैं, तालाब के सूख जाने पर सारस उसका त्याग कर देते हैं। धन–रहित पुरुष को गणिका त्याग देती है, भ्रष्ट राजा को मंत्री त्याग देते हैं। पुष्प के मुरझा जाने पर भौंरे उसको छोड़ देते हैं, जलते हुए वन को मृग छोड़ देते है। सभी वस्तुएँ कार्यवश ही सभी को प्रिय लगती हैं। अतः कौन किसका प्रिय है? इसलिए यह जानकर अब तुम यहाँ से चले जाओ।"

यह सुनकर धर्मदत्त उदास हो गया। वेश्या के घर से निकलता हुआ विचार करता है कि हाय! धिक्कार है वेश्या के स्नेह को, क्योंकि :–

अधममध्यमनें तेडें अर्थ लेति नजेडें,
तरुणमन खेडें एकस्यूं एक भेडें।

प्रियशिर रज रेडें वेशपाडें, खभेडे,
विलगें जेह केडें तेहनुं नाम फेडे।।1।।

मध्यमजनों में भी यह अधम है, इसे धन से मतलब है, धनहीन होने पर तरुणों को भी निकाल देती है, धन होने पर एक से एक भौंडे पुरुष भी उसे अतिप्रिय होते हैं। उसका मस्तक चूमती है, उसकी रज शिर से लगाती है, उसका वेश संवारती है। पर धन से विलग होते ही उसे निकाल बाहर करती है।

कः कोपः का प्रीतिर्नट–विटपुरुषहतासु वेश्यासु
रजकशिलातलसदृशं, चासां वदनं च जघनं च।।1।।

नट व कामी पुरुषों द्वारा हत की गयी वेश्याओं पर क्या क्रोध और क्या प्रीति? धोबी के शिला–तल सदृश जिसके मुख और तन है।

इस प्रकार चिंतन करता हुआ बार–बार स्वयं की निंदा करने लगा। जैस–मैं शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी मूर्ख व जड़ की तरह इसके द्वारा ठगा गया। इस पापिनी के लिए वृद्ध व सेवा करने योग्य माता–पिता आदि की सेवा भी नहीं की। निर्लज्ज होकर मैंने लोक–व्यवहार का भी त्याग कर दिया। केवल मात्र अपयश का ही भागी बना। अब कैसे साहूकारों के मध्य अपना मुख दिखा पाऊँगा?''

इस प्रकार अपनी अज्ञान–दशा का बार–बार स्मरण करते हुए मार्ग में श्रीपति के घर को पूछते हुए घर आ गया। घर को जर्जर व गिरा हुआ देखता है, तब तक तो पड़ोसी के मुख से माता–पिता की मृत्यु के समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखित होता हुआ उदासीन मन से घर के अन्दर आया। वहाँ आगे एक स्थान पर माचे पर बैठ अपनी पत्नी को सूत कातते हुए देखा, क्योंकि पति–विरहिता अबला–स्त्रियों की यही आजीविका होती है। उसने भी उसे देखकर अनुमान से अपना पति जानकर उसका सत्कार किया, क्योंकि कुलवती स्त्रियों के ये ही लक्षण है।

प्रहृष्टमानसा नित्यं स्थानमानविचक्षणा।
भर्तुः प्रीतिकरा नित्यं सा नारी न पराऽपरा।।1।।

हमेशा प्रसन्न मनवाली सम्मान के स्थान में विचक्षण, पति की प्रीति को धारण करनेवाली प्रमुखा नारी ही होती है, अन्य कोई नहीं।

उसने बहुमानपूर्वक भद्रासन दिया, उस पर वह बैठ गया। बाद में घर की सारी स्थिति पूछी। उसने भी जो भी जैसा घटित हुआ, वह सभी पति के आगे कह दिया। सब कुछ सुनकर अत्यन्त दुःखित होते हुए वह विचारने लगा–

सौरभ्याय भवन्त्येके नन्दानाश्चन्दना इव।
मूलोच्छित्त्यै कुलस्याऽन्ये बालका बालका इव।।1।।
स एव रम्यः पुत्रो यः कुलमेव न केवलम्।
पितुः कीर्तिं च धर्मं च गुरुणां चाऽपि वर्धयेत्।।1।।

सुरभित करने के लिए, आनन्दित करने के लिए चंदन वृक्ष की तरह एक ही नंदन पर्याप्त है, पर कुल के मूल को उखाड़ने के लिए कोई भी बालक अज्ञानी की तरह काफी है। वही पुत्र सुन्दर है, जो केवल कुल को ही नहीं, पिता की कीर्ति व गुरुओं के धर्म को भी बढ़ाये।

इस प्रकार पति को खेदखिन्न देखकर पत्नी ने कहा—"स्वामी! अब शोक करने से क्या फायदा? क्योंकि—

का मुण्डिते मूर्ध्नि मुहूर्तपृच्छा? गते च जीवे किल का चिकित्सा?
पक्वे घटे का विघटा घटन्ते? प्रतिक्रिया काऽऽयुषि बद्धपूर्वे?।।1।।

सिर के मुण्डित हो जाने पर मुहूर्त पूछने से क्या लाभ? जीव के मर जाने पर चिकित्सा का क्या? घड़े के पक जाने पर फिर उसके अवयव क्या अलग-अलग हो सकते हैं? पूर्व में आयुष्य बाँध लिया हो, तो फिर क्या प्रतिक्रिया करना? अतः हे प्राणेश्वर! अगर अब भी आप सावधान हो जायें, तो सब अच्छा ही होगा।"

पति ने कहा—"धन के बिना सावधानी क्या कर लेगी? क्योंकि—

धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति,
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।
धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके,
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्।।1।।

धन से दुष्कुलीन कुलीन हो जाते हैं, मनुष्य धन के द्वारा आपदाओं से भी पार पा लेता है। धन से बढ़कर लोक में कोई भी बान्धव नहीं है। अतः धन का अर्जन करो। धन का अर्जन करो।"

पत्नी ने कहा—"स्वामी! स्नान भोजन आदि कीजिए, नाद में उपाय कहूँगी।"

उसने विचार किया—"यह मुझे किसी निधान आदि के बारे में कहेगी।"

तब वह स्नानादि करके भोजनादि करके कुछ देर बैठा, क्षर भर विचार किया, फिर बोला—"प्रिय! कहो! क्या उपाय है?"

तब उसने अपने लाख मूल्य के आभरणों में से पचास हजार मूल्य के आभरण निकालकर दिये। उन्हें देखकर कुमार हर्षित होता हुआ विचार करने लगा—"कुलीन स्त्रियों के लक्षण विपत्ति के समय ही ज्ञात होते हैं, क्योंकि—

जानीयात् प्रेषणे भृत्यान्, बान्धवान् व्यसनागमे।
आपत्कालेषु मित्राणि, भार्या च विभवक्षये।।2।।

दासों को भेजने में, बान्धवों को दुःख के आने पर, मित्रों को आपदा में तथा पत्नी को वैभव का क्षय होने पर ही जानें।

अहो! इसका निश्छल स्नेह सम्बन्ध!"

अब उसने उस द्रव्य से व्यवसाय करना प्रारम्भ किया। पर करोड़पति का पुत्र होकर अल्प धन से व्यवसाय करने के कारण लोगों के वचन सुनने पड़ते थे कि

यह धर्मदत्त अब किस प्रकार का सीमित व्यवसाय कर रहा है? धन के नष्ट हो जाने से अब करे भी क्या? पहले तो इसके पिता के द्वार पर सत्यंकार देने पर करोड़–करोड़ मूल्य के क्रय–विक्रय हुआ करते थे। अभी तो यह अवसर के अनुकूल ही कार्य कर रहा है।

इत्यादि लोगों की बातें सुनकर वह लज्जित होता था कि मैं पिता से अत्यधिक हीन पुण्यवाला अपने ही दोष से हुआ हूँ। इस प्रकार एक बार उदासीन होकर घर पर जाकर पत्नी से कहा–"प्रिये! मैं क्रय–विक्रय के लिए समुद्री यात्रा पर *जाना चाहता हूँ, क्योंकि–*

इक्षुक्षेत्रं समुद्रश्च जात्यपाषाण एव च।
प्रसादो भूभुजां चैव सद्यो घ्नन्ति दरिद्रताम्।।1।।

इक्षु का खेत, समुद्र, कीमती रत्न व राजा की कृपा– ये शीघ्र ही दरिद्रता का नाश करते हैं।

उसने कहा–"प्राणेश! समुद्र–गमन बहुत ही दुष्कर है। पुण्य के अनुसार प्राप्ति तो सभी जगह हो सकती है। जैसे कि समुद्र में समुद्र–प्रमाण, तालाब में तालाब प्रमाण, घड़े में घड़ा प्रमाण ही पानी आती है।"

प्रिया के इस कथन को सुनकर धर्मदत्त ने कहा–

विद्यां वित्तं च सत्त्वं च तावन्नाप्नोति मानवः।
यावद् भ्रमति नो भूमौ देशाद् देशान्तरं भृशम्।।1।।

विद्या, धन और सत्त्व को मानव तब तक प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक देश से देशान्तर की भूमि पर बार–बार भ्रमण नहीं करता।

अतः समुद्र को तैरकर देशान्तर जाऊँगा, क्योंकि जो भाग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से बंधा हुआ है। वह वैसा ही है, पर वे द्रव्यादि के संयोग में ही फलते हैं, अन्यथा नहीं। अतः अगर यह उस क्षेत्र से प्राप्त होना है, तो यहाँ कैसे प्राप्त होगा?"

इस प्रकार प्रिया को प्रत्युत्तर देकर–अपने स्वजनों को घर आदि की भलावन देकर, उस देशान्तर के योग्य माल लेकर तैयार जलयान पर चढ़ गया। जहाज कर्कोटक द्वीप के लिए रवाना हुआ। क्रमशः जाते हुए एक बार प्रतिकूल वायु के योग से जहाज टूट गया, पर धर्मदत्त के हाथ में एक फलक आ गया, उसके आधार से समुद्र को लांघकर पत्नी की शिक्षा को याद करते हुए कुछेक दिनों में तट को प्राप्त हुआ। समुद्र को देखता हुआ प्यास से पीड़ित होता हुआ बोला–

वेलोल्लालितकल्लोल! धिक् ते सागर! गर्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति कूपिकाम्।।1।।

"लहरों से आलोदित भयंकर गर्जना करते हुए हे सागर! तुझे धिक्कार है। *जिसके किनारे बैठकर प्यास से पीड़ित पथिक कुएँ के बारे में पूछते हैं।"*

इस प्रकार कहते हुए वेलावन में चारों ओर घूमते हुए इस प्रकार जल से

परिपूर्ण तालाब को देखकर प्रसन्न होता हुआ विचार करने लगा–

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।।1।।

पृथ्वी पर तीन ही रत्न कहे गये है–जल, अन्न और सुभाषित वचन। मूर्ख लोग तो पत्थर के टुकड़ों को रत्न के नाम से पुकारते हैं।"

फिर वस्त्र से छानकर मीठा जल पिया। तालाब की पाल पर लगे हुए वृक्षों की छाया में समुद्र को पार करने की थकान से युक्त होकर अनेक प्रकार के विचार करता हुआ निद्रा से निमिलित नेत्रवाला होकर सो गया। तभी उसे किसी ने उठाया। जागृत होते हुए स्वयं यह जानकर आँखें खोलकर देखता है तो सामने विशालकाय भंयकर राक्षस को देखकर भयभीत होता हुआ पुनः आँखे बंदकर विचारने लगता है–अहो! कर्मों की गति विचित्र व दुर्निवार है। क्योंकि–

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां,
पर्यन्ताऽग्निशिखाकलापजटिलाद् निःसृत्य दूरं वनात्।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः
कूपान्तः पतितः करोति विमुखे किं वा विधौ पौरुषम्।।1।।

जाल को छोड़कर, कूट रचना को दूर करके, जबर्दस्ती विपत्ति का भंग करके ऊँची–ऊँची लपटों से घिरे वन से भी निकलकर दूर जाकर भी, शिकारियों के बाणों से भी ज्यादा तेज गति से उछलकर दौड़ता हुआ भी मृग आखिर कुएँ के अन्दर गिर जाता है। अहो! भाग्य के विमुख होने पर पुरुषार्थ का क्या? और भी–

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः संतापितो मस्तके,
वाञ्छन देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापदा भाजनम्।।2।।

मुंडित मस्तकवाला सूर्य की किरणों से मस्तक के पीड़ित होने पर जरा–सी छाया की वांछा करते हुए भाग्यवशात् ताल–वृक्ष के नीचे गया। वहाँ पर भी बहुत बड़े फल के द्वारा गिरते हुए आवाज के साथ उसके मस्तक को भग्न किया। अहो! भाग्य रहित पुरुष जहाँ भी जाता है, वहाँ विपदा का ही पात्र बनता है।

अहो! मैं समुद्र से सकुशल निकला, तो यहाँ राक्षस के द्वारा पकड़ा गया। अतः अब क्या करूँ? जो होना है, हो जाये। अब डरने से क्या? क्योंकि–

तावद् भयाद्धि भेतव्यं यावत् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यम् भीतवत्।।

अर्थात् भय से तब तक ही डरना चाहिए, जब तक कि भय सामने नहीं आता। भय को आया हुआ देखकर भींत की तरह प्रहार करना चाहिए।"

इस प्रकार दृढ़मन से विचार करते हुए अपने आपको कहीं किसी स्थान पर

मुक्त जानकर आँखे खोलकर देखता है, तो वहाँ राक्षस तो नहीं था, पर वृक्ष की छाया का आश्रय लेती हुई एक दिव्य रूपवाली कन्या को देखा। उसे देखकर आश्चर्य चकित होते हुए विचार करता है–"क्या राक्षस कन्या के रूप में बदल गया। या फिर वह अन्य कोई कन्या है? क्या यह पाताल कुमारी है या खेचरी है या कोई देवी है? इस प्रकार विचारते हुए साहस धारणकर पूछा–"हे बाला! तुम कौन हो?"

उसने प्रतिप्रश्न किया–"तुम कौन हो?"

कुमार ने कहा–"मैं तो मानव हूँ।"

उसने भी कहा–"मैं भी मानवी हूँ।"

कुमार ने पूछा–"इस विषम वन में अकेली कहाँ से आकर ठहरी हो?"

उसने कहाँ–"भाग्य की विडम्बना है।"

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तः सदा संकटे।
रुद्रा येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गमने तस्मै नमः कर्मणे।

जिसके द्वारा ब्रह्मा कुम्हार की तरह नियमित ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड के उदर में बिठाया गया है, जिसके द्वारा दश अवतार रूपी गहन संकट में विष्णु को सदा डाला गया है, जिसने कपाल रूपी पुटक को हाथ में लेकर रुद्र को सदैव भिक्षाटन ही करवाया है और जो सूर्य को सदैव गगन में भ्रमण कराता है, उस कर्म को नमस्कार है।

अघटितघटितं घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्तयति।।

अघटित को घटित बनाती है और जो सुघड़ रूप से घटित है, उन्हें जर्जर करती है। विधि वैसी रचना करती है, जिसकी पुरुष कल्पना भी नहीं करता।

उसने पूछा–"ऐसा कैसे हुआ?"

उस स्त्री ने कहा–"तो सुनिए–सिंहल द्वीप में कमलपुर नामक नगर है। वहाँ 'यथा–नाम तथा गुण' के अनुसार धनसार नामक श्रेष्ठी है। उसकी पत्नी का नाम धनश्री है। उनकी पुत्री मैं माता–पिता को प्राणों से भी ज्यादा प्रिय हूँ। मैं क्रम से बढ़ती हुई यौवन को प्राप्त हुई। तब पिता ने विचार किया–इसके अनुरूप इभ्य–पुत्र खोजना चाहिए। पर यह पुत्री उसी को दूँगा, जिससे इसकी जन्म–पत्रिका के साथ ही राशि, गण, वर्ण, नाड़ी, स्वामी आदि का मेल होगा, जो भाग्योदय वाला होगा, उसके साथ लग्न कर दूँगा।

इस प्रकार विचार करके अन्य–अन्य इभ्य पुत्रों की जन्म–पत्री देखने लगे, पर किसी के साथ नौ स्थानों का अविरुद्ध मेल नहीं बैठा। बहुत सारे इभ्य पुत्रों की कुण्डली देखी, पर किसी के भी साथ मेरी जन्म कुण्डी का मेल नहीं हुआ।

एक बार चन्द्रपुर से एक ज्योतिषि को जाननेवाला दैवज्ञ आया। मेरे पिता अचानक इसे मिल गये। उसे ज्योतिषि जानकर समीप में रहे हुए मेरी ओर उद्देश्य करके पिताजी ने पूछा–"यह मेरी पुत्री है। इसकी जन्मपत्री जिसके साथ भी मिलायी, विरोधी ग्रह देखने को मिले।"

उस दैवज्ञ ने मेरी जन्मपत्री देखकर कहा–"हे श्रेष्ठी! चन्द्रपुर नामक नगर में श्रीपति श्रेष्ठी के धर्मदत्त नामक पुत्र है। उसकी जन्मपत्री मैंने ही बनायी है। उसकी जन्मपत्री से यह पूर्ण रूपेण मिलती है।"

तब उसने भुर्जपत्र पर लिखकर उसकी जन्म कुण्डली बतायी। मेरे पिता भी उसे देखकर अतीव प्रसन्न हुए। पर भाग्योदय को नष्ट देखकर मेरे पिता खिन्न हुए। तब उसने कहा–"यह धर्मदत्त सोलह करोड़ स्वर्ण का स्वामी होगा। इसमें कोई शक नहीं है।"

तब श्रेष्ठी ने कहा–"उसी के साथ अपनी पुत्री का विवाह करूँगा, क्योंकि–

कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या।।

कुल, शील, सनाथता, विद्या, धन, शरीर और वय–ये सात गुण वर में देखने योग्य होते हैं, उसके बाद तो कन्या का भाग्य ही काम आता है।

मूर्ख–निर्धन–दूरस्थ–शूर–मोक्षाऽभिलाषिणाम्।
त्रिगुणाऽधिकवर्षाणामपि देया न कन्यका।।

मूर्ख, निर्धन, दूरस्थ, सुभट, मोक्षाभिलाषी तथा तीन गुना ज्यादा वयवाले वर को कन्या नहीं देनी चाहिए।

उसने गणना करके लग्न मुहूर्त्त देखा और निर्णय करके कहा कि इस वर्ष अठारह दोषों से रहित शुद्ध लग्न मुहूर्त्त एक ही है और वह माघ शुक्ला पंचमी को दो–ढ़ाई प्रहर बीत जाने के बाद का है।"

यह सुनकर श्रेष्ठी ने कहा–"उस लग्न में तो बहुत थोड़े दिन रह गये हैं। अतः उसे आमंत्रण दिया जाये और वह आ सके, उतना समय भी नहीं है। भव्य लगन छोड़ना भी नहीं चाहिए। अतः पुत्री को लेकर हम वहाँ चले जाते हैं।"

इस प्रकार कहकर ज्योतिषी को स्नेहपूर्वक अत्यधिक दान देकर भेज दिया। जलपोत तैयार करवाकर अपनी पत्नी व पुत्री से युक्त वे वाहन पर चढ़े। प्रवहण भी वायु से प्रेरित होता हुआ तेज गति से चलने लगा। आधा मार्ग तय कर लेने के बाद दैव–योग से प्रतिकूल पवन के चलने से जहाज टूट गया। आयु शेष रहने से मेरे हाथ एक फलक लग गया। उसके सहारे तैरते हुए सातवें दिन किनारे पर पहुँची। वन के बीच रहते हुए सरोवर के पानी को पीकर श्रम से खेदित हुई वृक्ष के तले में जाकर जैसे ही सोयी, राक्षस ने उठाकर यहाँ छोड़ दिया। मुझे भय से कांपते हुए देखकर राक्षस ने कहा–"डरो मत। सात दिन से भूखा होने पर भी तुम्हें देखकर मेरे

मन में करूणा उत्पन्न हुई है। अतः अगर अन्य कोई भक्ष्य मिल जायेगा, तो तुम्हे नहीं खाऊँगा।'' यह कहकर वह गया और तुम्हें ले आया।

हे सत्पुरुष! तुम्हे देखकर मैं मन में सोचती हूँ कि विधि ने मुझे अभागी के रूप में क्यों पैदा किया? पहले माता–पिता का वियोग देखा और अब इस पुरुष का विनाश देखने के लिए मैं यहाँ बैठी हूँ।

यह कहकर उसने फिर कहा–''हे सत्पुरुष! आप कहाँ के हैं? सत्य–सत्य कहिए।''

उसके कथन को सुनकर हँसते हुए धर्मदत्त ने कहा–''भद्रे! तुमने अभी जिसके बारे में बताया, मैं वही धर्मदत्त हूँ। मेरा जन्म–स्थानादि तुमने बता ही दिया है, अन्य क्या बताऊँ? मुझसे और क्या पूछती हो?''

यह सुनकर वह सम्भ्रान्त–सी हुई, तभी उसकी बायीं भुजा फड़कने लगी। तब वह हर्षित होती हुई विचार करने लगी–यह तो शुभ लक्षण है। इससे यह इष्ट संयोग भी कुशलता का सूचक ही प्रतीत होता है। पर इसका रहस्य तो जिनेश्वर ही जानते हैं।

तब धर्मदत्त ने कहा–''हे भद्रे! यद्यपि हम दोनों का योग भाग्य ने किसी भी प्रकार से मिला दिया है, पर विचार करके बताओ कि लग्न का दिन कब का कहा है?

उसने भी सोच–विचारकर दिन का निर्णय करके कहा–''वह दिन तो आज का ही है और अभी की ही बेला है।''

उसने कहा–''तो फिर यह कल्याण वेला कैसे छोड़ी जा सकती है?''

कन्या ने कहा–''ठीक है।''

तब धर्मदत्त ने उस शुभ वेला में उस युवती से विवाह कर लिया।

अब कन्या ने कहा–''प्राणेश! पाणिग्रहण तो हो गया, बहुत दिनों से इच्छित कार्य भी सिद्ध हुआ, पर राक्षस का डर तो अभी भी वैसे का वैसे है।''

धर्मदत्त ने पूछा–''राक्षस कहाँ है?''

श्रेष्ठी–कन्या ने कहा–''उसी सरोवर में स्नान करके, तलवार को सरोवर के पास रखकर देवों की पूजा करके उनकी स्तुति कर रहा है। वह भक्ति करते हुए मारणान्तिक कष्ट आने पर भी अपने स्थान से उठेगा नहीं।''

तब धर्मदत्त ने कहा–''मैं वहाँ जाकर राक्षस को मारता हूँ।''

उसने कहा–''अगर ऐसी वीरता है, तो यह बेला उचित है।''

यह सुनकर वह अपने स्थान से उठकर आगे की ओर चला। पीछे–पीछे, धीरे–धीरे चलते हुए वह भी गयी। धर्मदत्त ने दूर से सेवा–पूजा करते हुए राक्षस को देखा। फिर धीरे–धीरे बिना आवाज किये पाँवों को रखते हुए उसके पीछे से तलवार

लेकर वीरता के साथ सामने जाकर उसे ललकारा–"हे पापिष्ठ! हे अनेक जीवों की घात करनेवाले! आज तुम्हारे पापों का उदय हुआ है। आज तुम्हे मैं छोडूँगा नहीं। तुम्हे मार डालूँगा।"

यह सुनकर क्रोधाविष्ट होते हुए राक्षस जैसे ही उठने लगा, अपनी ही तलवार से राक्षस मारा गया। यह देखकर चमत्कृत होते हुए धनवती ने उसकी भुजाओं की फूलों से पूजा की।

तब वे दोनों निर्भीक होकर वन में होनेवाले केले, द्राक्षा, जामुन आदि फलों का आहार करते हुए युगलिकों की तरह सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन उसकी पत्नी ने कहा–"हे स्वामी! धर्म के बिना जीवन निरर्थक ही बीत रहा है। क्योंकि–

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ।।

जो–जो रात्रियाँ बीत रही हैं, वे लौटनेवाली नहीं है। अधर्म करनेवालों के लिए रात्रियाँ निष्फल ही जाती हैं। और भी–

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

जिनके न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण है, न धर्म है, वे मृत्युलोक में भारभूत ही हैं। ऐसे मनुष्य पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में रहते हुए भी पशुओं की तरह विचरण करते हैं।

अतः अपने निवास–स्थान पर चला जाये, तो अच्छा होगा। वहाँ जाने पर देव–गुरु आदि के दर्शन होंगे। क्योंकि–

यस्मिन् देशे न सन्मानं न वृतिर्न च बान्धवाः
न विद्यागमः कश्चिद् न तत्र दिवसं वसेत्।।

जिस देश में सम्मान नहीं, आजीविका नहीं, बान्धव नहीं, विद्या का आगमन नहीं, वहाँ बहुत दिनों तक नहीं रहना चाहिए।" अतः वे दोनों वहाँ से रवाना हो गये। चलते हुए काश्मीर देश के चन्द्रपुर नगर के निकट वन में पहुँचे। एक दिन संध्या के समय वन के बीच क्लांत होते हुए उन्होंनें कहीं विश्राम किया। पिछली रात्रि में सूर्योदय से पूर्व ही जागृत होते हुए धर्मदत्त क्रीड़ावश अपनी पत्नी को इस तरह जगाने लगा–

प्रोज्जृम्भते परिमलः कमलावलीनां
शब्दायते क्षितिरुहोपरि ताम्रचूडः।
शृंगं पवित्रयति मेरुगिरे विवस्वान्
उत्थीयतां सुनयने! रजनी जगाम।।

"कमल–पंक्तियों की सुरभि जम्हाई ले रही है, वृक्ष पर मुर्गे बांग दे रहे है,

मेरुपर्वत पर सूर्य चोटी को पवित्र कर रहा है, हे सुनयने! रात्रि बीत गयी है। अब उठो।''

पर वह हुंकार मात्र भी नहीं देती। क्षण–भर प्रतीक्षा करने के बाद वह पुनः कहता है–

एते प्रजन्ति हरिणास्तृणभक्षणाय, चूर्णि विधातुमथ यान्ति ही पक्षिणोऽपि।
मार्गस्तथापि सुवहः किल शीतलः स्याद्, उत्थीयतां प्रियतमे! रजनी जगाम।।1।।

ये हरिण घास चरने के लिए जाते हैं, दाना–पानी चुगने के लिए पक्षी भी आकाश में चल पड़े हैं। मार्ग भी चलने योग्य व शीतल ही होगा, हे प्रियतमा! रात्रि बीत गयी है, अब तो उठो।

फिर भी वह कुछ नहीं बोलती। तब वह सम्मुख आकर देखने लगा, तो उसने अपनी पत्नी को वहाँ नहीं पाया। वह विचारने लगा–वह कहाँ गयी? क्या वह पहले उठकर लघु–शंका आदि के निवारण के लिए गयी है? क्षण–भर प्रतीक्षा करने के बाद उसने आवाज दी–हे प्रिये! यहाँ आओ। यहाँ आओ, पर जब नहीं आयी, उठकर चारों ओर देखा, पर कहीं भी वह दिखायी नहीं दी। उसके पाँवों के निशान तक नहीं दिखायी दिये। वह अत्यन्त चिन्तित हो गया। वन में घूम–घूमकर थक गया। पर कहीं भी नहीं मिली। तब पत्नी के वियोग से दुःखित होते हुए कहने लगा–हे हंस! हे मयूर! हे हरिण! हे चम्पक! हे अशोक! हे सहकार! मेरी प्रिया के कुछ तो समाचार दो।

इत्यादि स्नेह से व्याकुल होकर बोलता हुआ पुनः–पुनः आकर शयन के स्थान को देखता है, क्योंकि जगत में मोह दुर्जेय है। इस प्रकार मोहग्रस्त होता हुआ इधर–उधर घूमता है और सोचता है–

यन्मनोरथशतैरगोचरं, यत् स्पृशन्ति न गिरः कविरपि।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा, लीलयैव विदधाति तद् विधिः।।2।।
देशाद्देशान्तरं यातु पुण्य–पापमयः पुमान्।
पुरः किचिंत् प्रतीक्षन्ते सम्पदो विपदोऽपि च।।2।।

जो सैकड़ों मनोरथों से भी अगोचर है, जिसे कवि की वाणी भी स्पर्श नहीं कर पाती, जो स्वप्न में भी दुर्लभ है, उसे विधि क्षण भर की लीला में रच देती है।।1।।

पुण्य व पाप से युक्त पुरुष देश से देशान्तर भी चला जाये, वहाँ भी सम्पदा या विपदा प्रतीक्षा करती हुई मिलती है।।2।।

यह विचारकर 'घर को जाऊँगा" ऐसा चिन्तन करके चन्द्रपुर पहुँचा। जैसे नगर–द्वार में प्रवेश करने लगा, वैसे ही मन में विचार उत्पन्न हुए–हे मूढ़बुद्धि धर्मदत्त! क्या करते हो? कहाँ जा रहे हो? पहले ही पूर्व में तुमने भोग–लम्पट होकर पिता के धन का नाश किया है। अहो! तुम्हारी मूढ़ता! माता–पिता का मरण भी तुमने

नहीं जाना। फिर उस निर्लज्जा, निःस्नेही स्वभाव वाली साधारण सी स्त्री के द्वारा अपमान करके निकाले गये तुम घर आये। उस कुलवती पत्नी ने तुम्हें पचास हजार दिये, उन्हें भी अपनी कुबुद्धि से तुमने नष्ट कर दिया। अब पुनः घर जाकर कैसे अपना मुख दिखाओगे? अगर निर्लज्ज होकर घर पर रहोगे, तो भी स्वजन, परजन आदि तुम जैसे निर्धन, भाग्यहीन व मूर्ख–शिरोमणि पर हँसेंगे, उनके वचनों को तुम कैसे सहन करोगे? क्योंकि कहा भी गया है–

वरं वनं व्याघ्र–गजेन्द्रसेवितं, द्रुमालयः पत्र–फला–ऽम्बुभोजनम्
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्।।2।।

बाघ व सिंह से युक्त वन में वृक्ष को घर बनाकर पत्ते, फल व पान का भोजन करना, तृण की शय्या पर सोना तथा वल्कल के वस्त्र पहनकर रहना श्रेष्ठ है, पर बान्धवों के बीच धनहीन–जीवन जीना ठीक नहीं है।

अतः फिलहाल तो वन का आश्रय ही श्रेष्ठ है। यह निश्चय करके वापस वन की ओर मुड़ गया। वहाँ फल–फूल आदि के द्वारा प्राण–वृत्ति को धारण करने लगा। इस प्रकार वन में रहते हुए एक बार एक विद्यासिद्ध योगी ने उसे देखा। उसे सुलक्षणों से युक्त जानकर कहा–"भाई! तुम चिन्तित क्यों दिखायी दे रह हो?" उसने कहा–"निर्धन को निश्चिंतता कहाँ? क्योंकि–

निर्द्रव्यो ह्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रंश्यते तेजसा,
निस्तेजाः परिभूयते परिभवाद् निर्वेदमागच्छति।
निर्विण्णः शुचमेति शोकसहितो बुद्धेः परिभ्रंश्यते,
निर्बुद्धि : क्षयमेत्यहो! अधनता सर्वापदामास्पदम्।।1।।

धनहीन होने से लज्जा चली जाती है, लज्जाहीन का तेज नष्ट हो जाता है, तेज रहित व्यक्ति हर जगह पराभूत होता है, परिभव से निर्वेदता आती है। निर्विग्नता से शोक आता है, शोक सहित रहने से बुद्धि का नाश होता है, निर्बुद्धिवाला पुरुष नाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार धनहीनता सभी आपत्तियों का वास है।

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्तिताः।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः।। 1।।

दरिद्र, व्याधि से पीड़ित, मूर्ख, प्रवासी, दास–ये पाँच व्यक्ति जीवित होने पर भी मृत के समान है–ऐसा व्यास ने कहा है।"

यह सुनकर योगी ने कहा–"मैं 'दरिद्रता रूपी जड़ को उखाड़नेवाला' माना जाता हूँ। इसलिए मैं ऐसा सोचता हूँ–

मयणदेव ईश्वर दह्यो लंक दहि हणुएण।
पांडुउवन अरजुन दहिउ पुण दालिद्दं न केण।। 1।।

कामदेव का दहन समर्थ ही करता है, लंका का दहन हनुमान ने किया। पांडुकवन का दहन अर्जुन ने किया। पर दरिद्रता का दहन किसी ने नहीं किया।

अतः मेरी ऐसी इच्छा होती है कि मैं दरिद्रता को जला डालूँ।"

यह सुनकर धर्मदत्त प्रसन्न होता हुआ बोला–"कहिए, आप दरिद्रता का नाश कैसे करेंगे?"

योगी ने कहा–"स्वर्ण–पुरुष को साधूँगा।"

धर्मदत्त ने सोचा–"अगर जीव हिंसा के बिना स्वर्ण पुरुष साधे, तो अच्छा होगा। अन्यथा ठीक नहीं होगा।"

ऐसा विचारकर कहा–"हे योगीराज! पहले सुना है कि स्वर्ण पुरुष जीव–वध से निष्पादित होता है, वह सत्य है या नहीं?"

उसके कथन को सुनकर 'हाय! धिक्कार है, हाय! धिक्कार है" इस प्रकार कहकर थूथू करते हुए कहा–

तत् श्रुतं यातु पाताले तच्चातुर्य विलीयतान्।
ते विशन्तु गुणा वह्नौ यत्र जीवदया न हि।।1।।

उसका शास्त्र पाताल में चला जाये, उसकी चातुर्यता विलीन हो जाये, उसके गुण अग्नि में प्रवेश कर जायें, जिसमें जीवदया नहीं है।

ददातु दानं विदधातु मौनं, वेदादिकं वाऽपि विदाङ्करोतु।
दैवादिकं ध्यायतु नित्यमेव, न चेद् दया निष्फलमेव सर्वम्।।2।।

दान देवे, मौन धारण करे, वेदादि का ज्ञाता हो, नित्य ही देवादि का ध्यान करे, पर अगर दया नहीं है, तो सब कुछ निष्फल है।"

पुनः वह योगी वीणा हाथ में लेकर उसे बजाते हुए लोक भाषा में गोरख–वाक्य गाने लगा।

कंध जगोटी हाथ लंगोटी, ए नहिं योगी मुद्रा।
जीवदया विणुं धर्म नहिं रे, करे पाखंडी मुद्रा।। जंपे गोरख सुण रे बाबू
अथिर एह संसार असारा, देखत सब जग जाइं।
पुत्र कलत्र परिवारे मोह्यो, मरणने देखे नांई।। जंपे गोरख सुण रे बाबू
भारवहो कांई जटा जनोई, विण दया धर्म न कोई।
जीवदया तुम पालो बाबू! हियडें निर्मल होई।। जंपे गोरख सुण रे बाबू
सोनांके पुरुसा क्या कीजे? जो नहि दया–प्रधान!
तिण सोनां पहिरें क्या माचे? जिणसे तुटें कान।। जंपे गाोरख सुण रे बाबू
गोरख जंपे सुणरे बाबु म गणिस आप पराया।
जीवदया इक अविचल पालो, अवर धर्म सवि माया।। जंपे गाोरख सुण रे बाबू

कन्धे पर झोली, हाथ में लंगोटी रखना योगी की मुद्रा नहीं है, क्योंकि जीवदया के बिना धर्म नहीं है। ऐसी मुद्रा तो पाखण्डी की होती है।

यह संसार तो अस्थिर है–असार है। जग में सब देखते ही देखते चले जाते हैं। स्त्री–पुत्र–परिवार के मोह में मरण को देख ही नहीं पाता।

जटा व जनेऊ का धागा भार रूप ही है, क्योंकि दया बिना धर्म नहीं। अगर जीवदया का पालन किया जाये, तो हृदय निर्मल हो जाता है।

अगर दया मन में नहीं है, तो उस सोने के पुरुष का क्या करोगे? उस सोने को पहनने से क्या फायदा, जिससे कान टूटते हों। गोरख फकीर कहता है–बाबू! सावधान होकर सुनो। अपना–पराया गिनना छोड़कर एक–मात्र जीवदया पालो, बाकी धर्म तो माया है।

इन वचनों से प्रसन्न होते हुए धर्म–दत्त ने योगी से कहा–"तो स्वर्णपुरुष का निर्माण आप किस प्रकार करेंगे?"

योगी ने कहा–"रक्तचन्दन के काष्ठ से पुरुष–प्रमाण पुतला बनाकर, मन्त्र के प्रभाव से सरसों को छिड़ककर कुण्ड में गिरायेंगे। तब उष्ण व शीतल जल से सिंचित होता हुआ वह स्वर्ण–पुरुष बन जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

धर्मदत्त ने कहा–"फिर तो जल्दी से तैयारी कीजिए, क्योंकि सज्जनों की सम्पदा परोपकार के लिए ही होती है। अतः हे योगीन्द्र! स्वर्ण पुरुष बनायें, जिससे आपकी कृपा से मेरी दरिद्रता का भी नाश हो। जैसे कि हाथी के भोजन से गिरते हुए ग्रास का लव–मात्र भी कीड़ियों के समूह का पोषण करता है।"

योगी ने कहा–"हे भद्र! हम जैसे योगियों का स्वर्ण पुरुष से क्या प्रयोजन? गुरु–कृपा से हम ऐसी प्रार्थना भी नहीं करते। केवल तुम्हारी दरिद्रता देखकर मुझे करूणा आ गयी, जिससे मैं तुम्हारे लिए यह सारा उपक्रम करूँगा।"

उसके कथन को श्रवणकर धर्मदत्त ने कहा–"आप सत्य कहते हैं। आप जैसे तो एकमात्र परोपकार करने में ही तत्पर रहते हैं। सज्जन तो कवच की तरह अपने शरीर पर दुःख झेल कर भी दूसरों का तो उपकार ही करते हैं। क्योंकि–

कप्पासह सारिच्छडा विरला जणणी जणंत।
नियदेह वंफट्टे वि पुण परगुह्यक ढंकंत।।1।।

कवच जैसे पुरुष को बिरली माता ही जन्म देती है, जो अपनी देह पर वार झेलकर भीतर रहे हुए वक्ष को ढक देता है।"

तब योगी ने कहा–"हे भद्र! सबसे पहले सपादलक्ष पर्वत के मध्य से शीतोष्ण पानी लाने का विचार करते हैं।"

अतः वे दोनों वहाँ से चले। वहाँ जाकर शीतोष्ण–कुण्ड का पानी लेकर आये। फिर रक्तचन्दन काष्ठ से पुरुष–प्रमाण पुतला योगी ने बनाया। फिर आहुति आदि की सम्पूर्ण सामग्री इकट्ठी की। फिर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को वे दोनों श्मशान में गये। वहाँ पर अग्निकुण्ड बनाकर उसमें अग्नि को प्रज्जवलित किया। फिर योगी ने धातु की (लोह–रक्षा के) रक्षा के बहाने से खड्ग अपने बगल में रखकर उसके समीप स्वयं बैठ गया। धर्मदत्त से पूछा–"तुम्हारे पास भी लोह–रक्षा है?"

उसने कहा–"है। पर आपकी कृपा है, तो रक्षा से क्या प्रयोजन?"

यह कहकर गहरी गम्भीर बुद्धिवाला वणिक होने से हृदय में कुछ विचार करके गुप्त खड्ग रक्षा के लिए समीप रख ली। फिर योगी ने धर्मदत्त को अपने सामने पराङ्.मुख करके बिठाया एवं कहा–"तुम पीछे की ओर मत देखना।"

उसके बाद दोनों के बीच रक्तचन्दन के पुतले को स्थापित किया। फिर योगी ने पहले क्रिया करके अन्त में इच्छित फल की सिद्धि के लिए सरसों अभिमन्त्रित करके धर्मदत्त की पीठ पर उछालने लगा। इस प्रकार उछालते हुए कितना ही समय व्यतीत हो गया। तब धर्मदत्त के मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि "इस योगी ने मुझसे पूर्व में कहा था कि रक्त चन्दन से निर्मित पुरुष का मंत्र व उच्छाटन के द्वारा स्वर्ण पुरुष बनाऊँगा। पर अभी तो यह काष्ठ के पुतले को छोड़कर मेरी पीठ पर उच्छाटन कर रहा है। क्या समझूं? मुझे ही मारने के लिए तो प्रवृत्ति नहीं कर रहा है? अगर इसका कथन सत्य है, तो जिसका स्वर्ण–पुरुष बनाना है, उसी पर आच्छोटन करे, पर यह तो मुझ पर उच्छाटन कर रहा है। अतः मुझे कुछ ठीक नहीं लग रहा है। जटाधारी का विश्वास नहीं करने चाहिए–यह नीतिशास्त्र में भी कहा हुआ है।"

ऐसा विचार कर सर्व आपदाओं का निवारण करनेवाले, सकल श्रुत के सार रूप नमस्कार महामंत्र–**'ॐ नमो अरिहंताणं, शिरस्कं शिरसि स्थितम्'** इत्यादि वज्रपंजर स्तोत्र के द्वारा आत्म–रक्षा की। अपने सम्पूर्ण अंगों को वज्रपंजर स्तोत्र में रहे हुए अंग–न्यास से अभेद्य करके उसी का ध्यान करता हुआ बैठा रहा। जब योगी भी 108 बार आच्छोटन विधि पूर्ण करके खङ्ग को तैयार करने लगा, तो कुमार ने तिरछी दृष्टि से उसे खङ्ग तैयार करते हुए देखा। विचार करने लगा कि यह तो मेरे वध के लिए ही निश्चयपूर्वक खड्ग को तैयार कर रहा है, अब कोई देर नहीं है।

तब प्रत्युत्पन्नमति से धर्मदत्त ने शीघ्र ही गुप्त रखी हुई खङ्ग लेकर सम्मुख आकर योगी का वध करके उसे कुण्ड में डाल दिया। तब मन्त्र–क्रिया के प्रभाव से योगी के शरीर का स्वर्ण–पुरुष बन गया, क्योंकि जो दूसरे निरपराधी पुरुष के ऊपर बुरी नजर रखता है, वह स्वयं ही संकट में गिर जाता है। इसमें कोई शक नहीं। तब धर्मदत्त ने विचार किया कि इस पापी ने तो पहले ही कपट–कला के द्वारा धर्म–मार्ग रूपी वचन–रचना से मुझे छल लिया। पर अत्यधिक पाप–प्रवृत्ति के कारण इसका अपना ही शस्त्र अपने घात के लिए हुआ। अतः इस लोभ को धिक्कार है, क्योंकि–

लोभस्त्यक्तो न चेत्तर्हि तपस्तीर्थफलैरलम्।
लोभस्त्यक्तो भवेत्तर्हि तपस्तीर्थफलैरलम्।।1।।

अगर लोभ का त्याग नहीं किया, तो तप व तीर्थ का फल व्यर्थ है और अगर लोभ का त्याग कर दिया, तो तप व तीर्थ के फल से क्या!

जीव लोभवश अपने इष्ट की सिद्धि के लिए बड़े–बड़े पाप करता है। पर पुण्योदय के बिना स्व–चिन्तित से विपरीत ही होता है। धर्म के बिना सामने आये हुए

दुःख को कोई भी विफल नहीं कर सकता। वह स्वर्ण–पुरुष अचिन्त्य भाग्य से प्राप्त हुआ है। अब इसे शीतोष्ण जल से सींचता हूँ।

इस प्रकार विचार करते हुए पूर्व में लाये हुए शीतोष्ण जल को लाने के लिए जल रखे हुए स्थान पर गया। वहाँ रखा हुआ जल लाकर जब कुण्ड के समीप आकर देखता है, तो वहाँ स्वर्ण–पुरुष को नहीं देखा। यह देखकर उसके वियोग से पीड़ित होकर मूर्च्छित होता हुआ भूमि पर गिर गया। वायु के द्वारा जब सचेतन हुआ, तो विचारने लगा–अहो! मेरे द्वारा पाप किया गया, पर फल प्राप्त नहीं हुआ। चलने में असमर्थ होने पर भी चण्डाल के दरवाजे तक गया। पर अपने पेट की पूर्ति भी नहीं हुई। हा दैव! अमृत से भरा पात्र भूखे के हाथ में देकर, जब भूखा व्यक्ति हर्षपूर्वक कौर बनाकर उसे मुख में डालने को तत्पर हुआ, तब सहसा उस पात्र को छीन लिया। ऐसी ही दुर्दशा मेरी भी हुई है। हे दैव! आपको मैं ही दिखाई दिया। आपने तो गिरे हुए को ही लात मारी है। अगर आपको मुझे देना ही नहीं था, तो दिखाकर दुःख के ऊपर दुःख क्यों दिया? घाव के ऊपर नमक क्यों छिड़का? क्या आपको जरा भी दया नहीं आयी? मैंने आपका क्या अपराध किया था?

इस प्रकार विलाप करते हुए अत्यन्त दुःखपूर्वक शेष रात्रि व्यतीत की। प्रभात होने पर विचार किया–बना हुआ स्वर्ण–पुरुष वन के अन्दर ही रहनेवाले किसी व्यक्ति ने ही चुराया है। अतः मैं राजा के समीप जाकर पूकार करता हूँ। क्योंकि–

दुर्बलानामनाथानां पीडितानां नियोगिभिः।
वैरिभिश्चाऽभिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः।।1।।

निर्बल, अनाथ, नियोगि आदि से पीड़ित और शत्रु से अभिभूत–इन सभी की एकमात्र गति राजा की है।

हे राजन! मैं वही श्रीपति श्रेष्ठी का पुत्र धर्मदत्त यहीं का निवासी हूँ। मैंने आपके समीप आकर स्वर्ण–पुरुष की सिद्धि आदि सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा है। आप जैसे अच्छे राजाओं के राज्य में माता–पिता तो सिर्फ जन्म के हेतु हैं, पर सम्पूर्ण जीवनयापन सुख का निर्वाह तो राजा से ही होता है। ऐसा विचार कर मैं आपके समीप आया हूँ। अब तो आपको जैसा अच्छा लगे, वैसा कीजिए। आप के सिवाय अन्यत्र कहीं भी गति नहीं है, क्योंकि राजा से बढ़कर कोई नहीं होता। कहा भी है–

शठदमनमशठपालनमाश्रितभरणानि राजचिह्नानि।
अभिषेकपट्टबन्धो वालव्यजनं प्रणस्यापि।।1।।

दुष्ट का दमन व सज्जन का पालन, आश्रितों का भरण–पोषण राजा के चिह्न हैं।

मस्तकाभिषेक, पट्ट–बन्धन तथा पंख झलना–ये कार्य तो घायल के भी होते हैं।

हे स्वामी! मैंने अत्यन्त दुःख रूपी समुद्र में गिरकर दुःख से विह्वल हृदय

वाला होकर योग्य व अयोग्य रूप में जैसा–तैसा बोल गया हूँ, वह आप मन पर न लगायें। क्योंकि दुःख से अत्यन्त पीड़ित होने पर बुद्धि भ्रष्ट–सी हो जाती है। दुःखी मन में सभी असह्य होता है। अतः दुःख रूपी समुद्र में डूबे हुए मेरी आप ही गति हैं, आप ही शरण है और आप ही सहारा हैं। आप ही कृपा करके मेरा उद्धार कीजिए।"

इस प्रकार धर्मदत्त की विज्ञप्ति सुनकर सभी सभासदों व राजा ने उसे पहचान लिया, और परस्पर कहने लगे–"अहो! श्रीपति श्रेष्ठी के पुत्र की ऐसी अवस्था हो गयी। अतः किसी को भी धनादि का गर्व नहीं करना चाहिए।"

राजा ने धर्मदत्त से कहा–"हे भद्र! महासिद्धि रूपी स्वर्ण पुरुष किसी सिद्ध के द्वारा, गन्धर्व के द्वारा, विद्याधर के द्वारा अथवा व्यन्तर के द्वारा चुराया गया होगा, वह अल्प पुण्यवाले तुम्हारे हाथ में कैसे आये? पुनः ऐसा कौन भाग्यशाली, देव–बल से युक्त साहसिकों का शिरोमणि पुरुष होगा, जो दूसरे बलवान के हाथ में गये हुए स्वर्ण–पुरुष को लाकर तुम्हारे हाथ में दे देवे। तुम्हारे दुःख को देखने में हम असमर्थ हैं, अतः लाख या करोड़ प्रमाण–जितनी भी इच्छा हो, उतना धन माँग लो, उतना प्रमाण स्वर्ण मैं अपने कोष से तुम्हें प्रदान करूँगा, उसे लेकर सुखी जीवन जीओ।"

धर्मदत्त ने कहा–"देव! अगर वही स्वर्ण–पुरुष मिल जाये, तो मुझे शान्ति मिलेगी। दूसरा स्वर्ण नहीं ग्रहण करूँगा। मैं माँगनेवाला भी नहीं हूँ। अतः अन्य माल ले लो, यह भी अब आप मत कहना। अगर अपनी भुजाओं से उपार्जित स्वर्ण–पुरुष आप जैसे पर–दुःख–भंजक की चरण–शरण में आकर भी प्राप्त नहीं किया, तो अन्य स्वर्ण–ग्रहण करने से क्या फायदा? जो होना है, वह होकर रहे–मैं अन्य स्वर्ण ग्रहण नहीं करूँगा। पर–धन लेकर महेभ्य–पुत्र के बिरुद को कैसे लज्जित करूँ? मेरा स्वर्ण पुरुष तो आपके नगर–उपवन के अन्दर ही गायब हुआ है, अन्यत्र नहीं। पहले भी पर दुःख–भंजक का बिरुद निभानेवाले राजाओं ने देवता आदि के द्वारा चुराये हुए वस्त्र, कंचुक, आभूषण आदि को साहस, धैर्य, बुद्धि आदि बल के द्वारा देवादि के पास से भी लाकर दिये हैं। वर्त्तमान में तो आप भी पर–दुःख भंजक हैं। आप अपनी प्रजा का पुत्र से भी ज्यादा ख्याल रखनेवाले पिता–समान प्राणपालक हैं। अगर मुझे दुःख रूपी समुद्र से उबारने में आप अपने बुद्धि–बल से अथवा किसी भी छल से स्वर्ण–पुरुष को खोज करके प्रकट करके देंगे, तो आपके चरणों में रहकर ही मैं सेवा करूँगा। अन्यथा तो आपका कल्याण हो। मैं तो वापस देशान्तर में चला जाऊँगा।"

उसके कथन को सुनकर राजा विचार करने लगा–"अहो! यह मेरे देश का नागरिक है, दुःख से संतप्त होकर मेरे ही पास आया है। अगर इसके दुःख को दूर नहीं करता हूँ, तो इसका मेरे आगे पूत्कार करना वृथा होगा। अगर इसके दुःख को सुनकर अपना वीर्य नहीं दिखाता हूँ, तो मेरे राजा होने पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा। बन्दीजनों द्वारा संचित यश विफल हो जायेगा। दिया हुआ धन यह लेता नहीं है, और गयी हुई वस्तु तो भाग्य के अधीन है। क्या करूँ? मुझ पर तो कठिनाई आ पड़ी। मेरी

इस सभा में भट, धीर–वीर तथा (परोपकार करने में) हजारों बार रसिक हैं। अतः इनके मध्य जो कोई भी कार्य साधेगा, तो मेरी ही महत्ता बढ़ेगी।''

वह विचार कर अपने हाथ में बीड़ा उठाकर समस्त सभा के सामने कहा–''इस सभा में कोई माई का लाल है, जो इसके स्वर्ण–पुरुष को वापस लाकर मेरी, अपनी और इस सभा की लाज रख सके? यह कार्य करने का बीड़ा कौन उठा रहा है?''

राजा ने इस प्रकार कहते हुए सभी को बीड़ा दिखाया, पर दुःसाध्य कार्य होने से किसी ने भी हाथ नहीं बढ़ाया, तब चन्द्रधवल कुमार ने विचार किया–''स्वर्ण–पुरुष तो मेरे पास है। पिताश्री के बीड़े को कोई भी ग्रहण नहीं कर रहा है। अतः मुझे ही यह ग्रहण कर लेना युक्त है, जिससे पिताश्री की महिमा का नाश न हो और इसका दुःख भी नष्ट हो जाये। पिता के महत्त्व को अखण्डित रखने में मेरे ही महत्त्व की वृद्धि होगी और पिता की अपकीर्त्ति दूर करने से सुपुत्र के रूप में मेरी ख्याति भी होगी।''

ऐसा विचार कर कुमार ने प्रमाणता–पूर्वक बीड़े को ग्रहण किया। यह देखकर राजा और लोग चमत्कृत होते हुए परस्पर विचार करने लगे–''यह देवादि कृत छल की अज्ञात घटना जानकर, स्थान के सद्भाव का निर्णय नहीं होने से किस उपाय के द्वारा अथवा किसकी सहायता से स्वर्ण नर को वापस लेकर आयेगा? कैसे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करेगा?''

इस प्रकार महा आश्चर्यकारी होने से और कार्य के असाध्य होने से अनेक प्रकार से वे विचार करने लगे।

उधर कुमार बीड़ा ग्रहण करके धर्मदत्त के साथ सभा से बाहर निकल गया। उसने मन में विचार किया कि अगर इसे मैं अभी स्वर्ण–पुरुष दे देता हूँ, तो इसके मन में कुछ भी शंका उत्पन्न हो जायेगी और कार्य की दुःसाध्यता भी नहीं रहेगी। बल्कि विचित्र बातें करनेवाले लोग असद्भूत अर्थ को प्रकट करके अभ्याख्यान ही देंगे। यह भी मेरे उपकार की गम्भीरता पर श्रद्धा नहीं करेगा। इससे महायश की प्राप्ति के स्थान पर अल्पयश की ही प्राप्ति होगी। जैसा कार्य होता है, उसके अनुरूप ही आडम्बर भी करना चाहिए। अतः इस कार्य में देर करना ही उचित है।

ऐसा विचार कर धर्मदत्त से कहा–''तुमने स्वर्ण पुरुष किस स्थान पर बनाया था? वह स्थान दिखाओ। तब धर्मदत्त ने वह स्थान तथा सारी घटना बतायी।''

राजकुमार भी सिर हिलाते हुए धर्मदत्त को कहने लगा–''हे भद्र! यह तो प्रबल शक्तिमान किसी देव, दानव, अथवा विद्याधर के द्वारा तुम्हारा स्वर्ण–पुरुष ग्रहण किया गया है, सामान्य व्यक्ति के द्वारा नहीं–ऐसा जान पड़ता है। अतः अगर यहाँ रात्रि में रुका जाये, तो किसी प्रकार से उसके स्वरूप को जाना जा सकता है?''

धर्मदत्त ने कहा–''जैसी आपकी आज्ञा। मैं तो आपका अनुचर हूँ।''

कुमार ने कहा–"स्वर्ण–पुरुष को प्राप्त किये बिना मैं नगर में प्रवेश नहीं करूँगा, अतः तुम अधीरता को धारण मत करो।"

इस प्रकार वार्त्तालाप करते हुए वे दोनों परिभ्रमण द्वारा दिन व्यतीत कर रात्रि में किसी भव्य जगह पर जाकर सो गये।

प्रथम प्रहर बीत जाने के बाद धर्मदत्त तो निद्राधीन हो गया, पर कुमार जागृत था, तभी दिव्य–वाद्यों की ध्वनि सुनायी दी। तब उत्सुकतावश कुमार ने धर्मदत्त को नींद में ही छोड़कर तलवार हाथ में लेकर मार्ग का अनुमान करते हुए आगे चला। आवाज का अनुसरण करते हुए आगे चलते हुए दूर किसी वन के अन्दर एक विशाल यक्ष–भवन देखा। उस भवन में वाद्ययंत्रों के साथ नाटक होते हुए देखकर कुमार साहस धारण करते हुए उसके समीप पहुँचा। पर बन्द दरवाजेवाले देवघर को देखकर आश्चर्य–चकित होते हुए बाहर ही खड़ा रहा। थोड़ी देर बाद इधर–उधर देखते हुए दरवाजे में एक छिद्र दिखायी दिया। उस छिद्र से देखते हुए देवकन्याओं को नृत्य करते हुए देखा। उन सभी के मध्य रूप व लावण्य में सबसे सुन्दर स्त्री को देखकर विस्मित हो गया। पर लक्षणों के द्वारा उसे निश्चय हो गया कि यह मनुष्य–स्त्री है। अतः विचार करने लगा कि यह नारी देव–कन्याओं के मध्य कैसे रह रही है? अहो! विधि की रचना देखो! मनुष्य जाति की होते हुए भी रूप में देवांगनाओं को भी तुच्छता का एहसास कराती है। इस प्रकार विचार करते हुए गहराई से देखते हुए 'यह मनुष्य स्त्री ही है" इस प्रकार निर्णय करते हुए घड़ी मात्र वहाँ रुका। तभी धर्मदत्त की याद आयी–'अहो! मैं धर्मदत्त को निद्रा में ही छोड़कर यहाँ चला आया, पर वहाँ कोई जंगली पशु घूमता हुआ आ गया, तो उसकी क्या दशा होगी? जगत में ऐसे कौतुक तो बहुत होते हैं। अतः मैं शीघ्र ही वहाँ जाऊँ।

यह विचार कर अनुमान से देखता हुआ धर्मदत्त के समीप आया। वह भी उसी क्षण जागा था। कुमार ने कहा–"हे भद्र! क्या तुमने कुछ सुना?"

उसने कहा–"स्वामी! ये बोलते हुए शृंगाल तथा कलकलायमान भैरवी की आवाज सुनायी पड़ती है, और कुछ नहीं।"

धर्मदत्त के कथन को सुनकर कुमार ने मुस्कुराते हुए कहा–"तुमने तो भर–नींद में रात्रि गुजारी है। मैंने तो जीवन में अविस्मरणीय कौतुक देखा है।"

धर्मदत्त ने पूछा–"क्या? कैसे? कहाँ?"

कुमार ने कहा–"आज एक प्रहर रात्रि बीतने पर आतोद्य–गीतादि की आवाज सुनायी दी। उसका अनुसरण करते हुए उस आवाज तक पहुँचा, तो एक बन्द दरवाजेवाले देवकुल को देखा। दरवाजे में रहे हुए छिद्र से मैंने देखा कि वहाँ 108 देव–कन्याएँ नृत्य कर रही हैं। उन सभी के मध्य देव–कन्याओं के रूप को जीतनेवाली एक मनुष्य–कन्या को नृत्य करते हुए देखा। घड़ी–मात्र वहाँ रहने के बाद तुम्हारे अकेलेपन की चिन्ता करते हुए मैं वापस शीघ्र ही लौट आया। पर वह

नाटक मैं अभी तक नहीं भूल पाया।"

यह सुनकर धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! जो मानवी आपने देखी है, वह मेरी प्रिया ही हो सकती है। इसी वन में मेरी पत्नी का भी किसी ने हरण कर लिया है। अतः आप शीघ्र ही चलें। वहाँ जाकर मैं उसे देखता हूँ।"

वे दोनों वहाँ से चले। जब वे यक्षगृह पहुँचे तो नृत्य समाप्त हो चुका था। यह देखकर धर्मदत्त हाथ मलते हुए बार–बार राजकुमार से पूछने लगा–"वह कितने वर्ष की थी?उसका वर्ण कैसा था? कैसा मुख था?"

कुमार ने जैसा देखा था, निपुणता के साथ वैसा ही बताया। यह सुनकर धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! स्वर्णपुरुष जाने दीजिए। आप तो मेरी पत्नी मुझे वापस दिला दें।"

राजकुमार ने कहा–"तुम चिन्ता मत करो। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक उसे वापस लाकर ही दम लूंगा–यह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ।"

प्रभात होने पर पुजारी ने आकर द्वार खोला। तब उन दोनों ने अन्दर जाकर यक्ष को नमस्कार किया और बैठ गये। तब कुमार ने विचार किया कि मैंने इसकी प्रिया को वापस लाने की जो प्रतिज्ञा की है, वह देव की सहायता के बिना सफल नहीं होगी। अतः मैं यक्ष की आराधना करता हूँ। इष्ट की सिद्धि के लिए आपकी ही शरण है–इस प्रकार विचार करके निश्चल चित्तवाला होकर उसी यक्ष का ध्यान करने लगा। तीसरे उपवास–वाली रात्रि में सिंह–बाघ–सर्पादि भयंकर रूपों के द्वारा क्षोभित किये जाने पर भी कुमार ध्यान से चलित नहीं हुआ। अतः अत्यद्भुत साहस देखकर यक्ष ने प्रकट होकर कहा–"मैं तुम्हारे धैर्य से प्रसन्न हुआ। कहो, क्या चाहते हो? माँगो।"

यह कहने पर कुमार ने कहा–"देव! मेरे मित्र धर्मदत्त की पत्नी मुझे सौंप दो।"

यक्ष ने कहा–"यह मेरे अधिकार में नहीं है।"

कुमार ने कहा–"तो किसके अधिकार में है?"

यक्ष ने कहा–"वह मेरी प्रिया को दी हुई है, अतः तुम्हें देना मेरे लिए शक्य नहीं है।"

कुमार ने कहा–"कैसे?"

यक्ष ने कहा–"सुनो, एक बार मैं अपनी प्रिया क साथ वन में गया। वहाँ इच्छानुसार परिभ्रमण क्रिया करते हुए मेरे द्वारा वह दिव्य रूपवाली मेनका से भी सुन्दर स्त्री सोयी हुई देखी। मैंने विचार किया कि ऐसी मानवी मेरे दृष्टि पथ पर कभी नहीं आयी। इस महान आश्चर्यकारिणी स्त्री को आश्चर्य–प्रिया मेरी पत्नी को सौंप दूँ, तो वह इसे देखकर प्रसन्नचित्त हो जायेगी। यह विचार कर मैंने इसका अपहरण कर मेरी प्रिया के पास इसे छोड़ दिया। वह उसे देखकर अत्यन्त प्रमुदित

हुई। वह उसे बड़े ही यत्नपूर्वक रखती है, उसे क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ती। अतः अब यह बात मेरे वश में नहीं है।''

कुमार ने कहा-''हे यक्षराज! मैंने तो इसके लिए ही आपकी आराधना की है, अतः आप मुझे वही स्त्री देवें।''

यक्ष ने कहा-''वह मेरी प्रिया को समर्पित की हुई है। इस बात में अब मेरा सार्मथ्य नहीं है। कौन गृह-क्लेश को शुरू करे? अन्य जो कुछ भी तुम माँगोगे, मैं तुम्हारा समीहित पूर्ण करूँगा, पर इस विषय में नहीं।'' यह कहकर यक्ष अदृश्य हो गया।

कुमार भी यक्ष के कथन को सुनकर हर्ष-विषाद-विस्मय- आश्चर्य आदि मिश्रित भावों से युक्त होता हुआ विचारने लागा-''धिक्कार है! देव भी स्त्री के अधीन दिखाई देते हैं। मोहनीय कर्म किसको मोहित नहीं करता? जिन्होंने जिनागम के हार्द को प्राप्त नहीं किया है, वे जीव कर्माधीन हैं-इसमें कोई विस्मय नहीं। अब की हुई प्रतिज्ञा के पालन का क्या उपाय है? इस प्रकार क्षण-भर विचार करने के बाद निर्णय किया कि तप के बिना अन्य कोई उपाय नहीं है, क्योंकि दुःसाध्य कार्य तप से ही सिद्ध होता है। कहा भी है-

यद् दूरं यद् दूराराध्यं,यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।1।।

जो कठिन हैं, कठिनाई से आराध्य हैं अथवा कठिनतम है, वे सभी कार्य तप से साध्य हैं, क्योंकि तप को लांघना सहज नहीं है।''

यह विचार कर उस यक्षिणी का उद्देश्य कर छः उपवास निश्चल-चित्त से किये। पूर्ववत् धैर्यबल से यक्षिणी का आसन कम्पायमान हुआ, वह प्रकट होकर बोली-''वत्स! यह साहस क्यों किया?''

कुमार ने कहा-''धर्मदत्त की प्रिया लौटा दीजिए।''

यक्षिणी ने कहा-''कल्पान्त होने पर भी उसे लौटाना शक्य नहीं है, पर तुम्हारे उत्कृष्ट साहस की अवहेलना करने में भी समर्थ नहीं हूँ।''

यह कहकर बिना इच्छा के भी वस्त्राभूषणों से सत्कार करके धर्मदत्त की प्रिया को लौटा दिया।

कुमार ने भी धर्मदत्त को बुलाकर कहा-''यह तुम्हारी प्रिया है या नहीं?''

वह भी दिव्य आभूषणों से अलंकृत तथा दिव्य वस्त्रों से उपशोभित अपनी प्रिया को देखकर प्रसन्न होता हुआ कुमार से बोला-''आपकी कृपा से मेरा इष्ट सिद्ध हुआ।

कुमार ने कहा-''अभी आगे चलो, जिससे तुम्हारा स्वर्ण-पुरुष भी तुम्हें वापस दिलाऊँगा।''

यह कहकर प्रिया युक्त धर्मदत्त को लेकर वह श्मशान में गया। वहाँ पर

अनुमान से वृक्ष के निकट प्रदेश की भूमि दिखायी और कहा–"हे भद्र! तुम इस भूमि को खोदो।"

उसके वचनों पर विश्वास करते हुए धर्मदत्त ने भूमि खोदी तो वहाँ रहा हुआ देदीप्यमान महान स्वर्ण–पुरुष निकला। धर्मदत्त ने विचार किया–"अहो! इस प्रकार का निष्कारण उपाय करनेवाला कुमार ही है, अन्य कोई नहीं। मैं सैकड़ों उपाय करूँ, तो भी इस उपकार का प्रतिफल नहीं चुका सकता। पर यथाशक्ति कुमार की सेवा मुझे करनी चाहिए। मुझे उन्हीं के अनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिए, पुनः–पुनः अपने मुख से उनकी स्तुति करनी चाहिए।"

इस प्रकार क्षण–भर विचार करने के बाद कुमार से कहा–"हे कुमार! आपने मुझ पर महान उपकार किया है, जिसे एक मुख द्वारा सैकड़ों–हजारों वर्षों तक भी कहना शक्य नहीं है। इससे आगे अब क्या माँगूं?"

तब कुमार ने कहा–"प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाने से मेरा चित्त भी अत्यंत आनन्दित हो रहा है। अपने वचनों को निभाने से ही पुरुष का पौरुष प्रशंसित होता है। क्योंकि–

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः।
निजप्रतिज्ञामनुरुध्यमाना, महोद्यमाः कर्म समारभन्ते।।1।।

अर्थ, सुख व कीर्ति भी अनर्थकारी न हो, अतः धीर पुरुष अपनी प्रतिज्ञा के अनुरोध से अत्यन्त पुरुषार्थ वाले कर्म का समारम्भ करते हैं।

तुम्हारे मनोरथ की पूर्ति होने से मैंने तो सब कुछ प्राप्त कर लिया।"

यह कहकर चुप होने पर धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! यह स्वर्ण–पुरुष आप ही ग्रहण करें, मैंने तो प्रिया को पा लिया, तो मानो सौ स्वर्णनरों को प्राप्त कर लिया। अतः इसे आप ही ग्रहण करें।

कुमार ने कहा–"क्या तुम पागल हो गये हो या प्रिया–दर्शन से मतिभ्रान्त हो गये हो? जो कि इस अत्यन्त प्रयत्न से साध्य व दुष्प्राप्य स्वर्ण–पुरुष को ग्रहण नहीं कर रहे हो?"

तब धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! मैं तो वणिक हूँ। अतः यह स्वर्ण–पुरुष मेरे घर में उचित प्रतीत नहीं होता। आपकी कृपा से मेरे यहाँ तो सब अच्छा ही होगा। यह तो आपके ही योग्य है, अन्य के लिए नहीं।"

कुमार ने कहा–"कहीं भी सुना अथवा देखा है कि कष्ट कोई सहन करे और उसका फल कोई और ग्रहण करे! तुम ही वन–2 में घूमे, तुमने ही गर्मी आदि महान कष्ट सहन किये। तुमने मरणान्त उपसर्ग आदि सहनकर अत्यन्त क्लेशपूर्वक यह स्वर्ण–पुरुष निष्पादित किया है। उसे मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? अतः तुम्हारा बनाया हुआ यह स्वर्ण–पुरुष तुम ही ग्रहण करो।"

धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! स्वर्ण पुरुष को ग्रहण करने योग्य भाग्य मेरा नहीं है। मेरे भाग्य की तो मैंने पहले ही परीक्षा कर ली है। अगर भाग्य होता, तो क्षणभर में ही वह गायब कैसे हो जाता? गुम हो गये स्वर्ण–पुरुष को आपने अपने वीर्य–बल व पुण्य–बल से प्रकट किया है। यह मेरा दिया हुआ नहीं है। आपका प्रकट किया हुआ आप ही ग्रहण करें। मुझे आपके चरणों की सौगन्ध है। मैंने तो इसे आपको भेंट कर दिया है।"

इस प्रकार अत्यधिक आग्रह से कुमार मान गया। तब कुमार ने कहा–"हे भद्र! इसमें से तुम यथेष्ट स्वर्ण ग्रहण करो, जिससे तुम व्यापार करने में समर्थ हो सको। अगर तुम इसमें से स्वर्ण ग्रहण करोगे, तो मेरी खुशी का पार नहीं होगा।"

तब धर्मदत्त ने दोनों हाथों व दोनों पैरों का छेदन करके स्वर्ण ग्रहण किया। फिर कुमार से कहा–"आपकी कृपा से मैंने व्यवसाय–योग्य स्वर्ण ग्रहण कर लिया है। अब आप इसे ग्रहण कर नगरी को अलंकृत करिए।"

तब कुमार ने अत्यधिक आग्रह से गला, शीर्षादि शेष रहे हुए स्वर्ण–पुरुष को उठाकर कहीं छिपा दिया और घर चला गया। राजा से मिला। राजा ने पूछा–"उस दुःखी का मनोरथ सिद्ध हुआ?"

कुमार ने कहा–"आपकी चरण कृपा से उसका मनोरथ सिद्ध हो गया।"

राजा ने कहा–"अच्छा हुआ।"

उसने अन्य कुछ भी नहीं पूछा, क्योंकि वह राजा स्वभाव से निर्लोभी तथा धन–स्मृद्धि आदि से पूर्ण था। कुमार ने भी सोचा कि कहीं बात न खुल जाये, अतः विस्तार से कुछ नहीं बताया। फिर राजा व राजकुमार–दोनों ही अपने–2 कार्यों में व्यस्त हो गये। एक दिन राजकुमार ने रात को गुप्त रूप से स्वर्ण पुरुष अपने महल में ले आया।

फिर धर्मदत्त किसी निकटवर्ती नगर में जाकर भव्य–भवन लेकर वहाँ रहने लगा। वहाँ रहकर उसने उसी स्वर्ण से व्यवसाय शुरू कर दिया। अनेक मन्त्रियों को माल से भरे हुए करभ, शकट आदि देकर देशान्तर में भेजा। वहाँ उसने अपने पुण्य–प्राग्भार के उदय से बीस गुणा मूल्य में वह माल बेचा। पुनः वहाँ का माल जहाजों में भरवाकर अपने नगर में मँगवाया। वहाँ पर भी दसगुणा मूल्य में उस माल को बेचा। इस प्रकार माल का क्रय–विक्रय करते हुए थोड़े ही समय में उसने सोलह करोड़ धन इकट्ठा कर लिया।

फिर एकबार धर्मदत्त ने विचार किया–"सोलह करोड़ धन इकट्ठा हो गया अब यहाँ निवास करना युक्त नहीं है। अब अपने नगर में जाऊँ। वहाँ जाकर पिता का नाम रोशन करूँ, अपनी मुख्य पत्नी के मनोरथों को पूर्ण करूँ, स्वजन आदि को सन्तुष्ट करूँ। सुपात्रदान, पूजा आदि के द्वारा प्राप्त मनुष्य–भव को सफल करूँ।"

यह सोचकर वहाँ रहे हुए व्यापार का संहरणकर, बहुत बड़ा सार्थ लेकर,

अपनी पत्नी को सुखासन पर बैठाकर स्वयं अश्व–रथयान आदि वाहनों पर इच्छानुसार आरूढ़ होते हुए अनेक सैकड़ों भटो से परिवृत होकर अपने नगर की ओर जाने के लिए रवाना हुआ। वह थोड़े ही दिनों में अपने नगर के नजदीक पहुँच गया। फिर अपने घर बधाई भेजी कि धर्मदत्त श्रेष्ठी बहुत सारा धन अर्जन करके समृद्धियुक्त होकर आ रहा है।

यह सुनकर पूर्वपत्नी ने स्वजनों को बधाई में वस्त्र–धन–आभूषणादि दिये। तब स्वजन विविध सुखासन् यान–वाहन आदि पर आरूढ़ होकर, अनुपम वस्त्राभरणों से अलंकृत होकर विविध वाद्ययंत्रों को बजाते हुए 'पहले मैं–पहले मैं " इस प्रकार दौड़ते हुए एक योजन की दूरी तक धर्मदत्त के सामने गये। धर्मदत्त भी स्वजनों से गरम–जोशी के साथ गाढ़–आलिंगनपूर्वक मिला। परस्पर कुशल–क्षेम पूछी।

फिर कुलवृद्धों को व अति–परिचित जनों को अत्यन्त सम्मानपूर्वक अपने रथ पर बिठाकर, अन्यों को भी यथा–योग्य वाहन आदि पर सवारी कराकर, अनेक आडम्बरों से युक्त, हजारों की संख्या में लोगों से घिरा हुआ, अनेक वाद्ययंत्रों की ध्वनि के साथ, सुहागिनें कुल–वधुओं के द्वारा मंगल गीत गाये जाते हुए, प्रबल उत्साहपूर्वक याचक–जनों को दान देते हुए, तिराहे, चौराहे व राजपथ पर पग–2 पर नगरवासी महाजनों के द्वारा जय–जयकार किये जाते हुए अपने घर आया। पूर्व–पत्नी के द्वारा अक्षत–पुष्प आदि के द्वारा बधाकर उसका घर–प्रवेश करवाया।

जब आस्थान में आकर बैठा, तो स्वजनों तथा अन्य परिचितों–अपरिचितों ने आकर विविध वस्त्र–आभरण, स्वर्ण–चांदी, रूपये, सिक्कों आदि द्वारा उपहार भेंट किये। घर की मर्यादा के अनुकूल रखने योग्य उपहारों को उसने ग्रहण किया। फिर कुमार ने भी विविध देशों में उत्पन्न वस्त्रादि के द्वारा यथायोग्य सभी का सत्कार किया। फिर धनवती सुखासन से उतरकर बहुत प्रकार के वस्त्र–द्रव्यादि चरणों में चढ़ाकर धर्मदत्त की पूर्वपत्नी के पैरों पर गिर पड़ी। उसने भी आशीर्वाद देकर गाढ़ आलिंगन किया। परस्पर सुख–समाधि पूछी। सम्पूर्ण नगर के वासी व पूर्व के दास–दासी आदि को जैसे–2 खबर मिली, सभी मिलने के लिए आये। धर्मदत्त ने भी मधुर बात–चीत के द्वारा उन्हें सम्मानित किया। पूरे नगर में धर्मदत्त का यश फैल गया। देखो! श्रीपति श्रेष्ठी का पुत्र कैसा निकला? पिता के नाम को गौरवान्वित किया। पूर्व में विनाश को प्राप्त होने पर भी अपने भुजबल से बहुत सारा धन अर्जित करके आया है। कुल का नाम बढ़ाया है। जो सुपुत्र होता है, वह कुल को उज्ज्वल ही करता है, क्योंकि–

एकेनापि सुपुत्रेण, जायमानेन सत्कुलम्।
शशिना चेव गगनं, सर्वदैवोज्ज्वलीकृतम्।।1।।

जैसे–एक ही चन्द्र द्वारा समस्त गगन उज्ज्वल हो जाता है,, वैसे ही एक ही सुपुत्र के पैदा होने से सत्कुल सदैव जाज्ज्वल्यमान रहता है।

इस प्रकार प्रत्येक घर व प्रत्येक मुख पर उसका यश गाया जाने लगा। दूसरे दिन स्वजनों, मित्रों, ज्ञातिजनों को निमन्त्रित करके, अत्यन्त स्वादिष्ट व सुखपूर्वक खायी जानेवाली रसोई जिमाकर, पुष्प–ताम्बूल आदि देकर उनका यथा–योग्य वस्त्र–आभरणों के द्वारा सत्कार किया।

पूर्व पत्नी के आगे जहाज पर चढ़ने से लेकर घर आने तक की संपूर्ण घटना कही। वह भी आँखों में आँसू भरकर बोली–"स्वामी! पूर्वजों के धर्म–प्रसाद से आपके दर्शन हो गये। मैंने ये दिन महान दुःख में व्यतीत किये। उस दुःख को या तो मेरा मन जानता है या फिर जिनेश्वर जानते हैं। ऐसा दुःख किसी शत्रु को भी न मिले। पर आपके दर्शन होते ही मेरे सारे दुःखों का नाश हो गया। अब तो मैं भाग्यवतियों की भी शिरोमणि हूँ।"

सभी स्वजनों को भी हर्ष व संतोष प्राप्त हुआ। तब से धर्मदत्त भी पिता की तरह व्यापार करने में प्रवृत्त हो गया।

एक बार यशोधवल राजा ने दर्पण में देखते हुए श्वेत बाल देखा, तो अद्भुत वैराग्य की उत्कटता से चन्द्रधवल को राज्य देकर दीक्षा ले ली। फिर दुस्तर तप करके, घातीकर्मों का क्षय करके, केवल ज्ञान प्राप्त करके पृथ्वी पर अनेक भव्यों को प्रति–बोधित करके अन्त में एक मास की संलेखन करके अघाती कर्मों को भी योग–निरोधपूर्वक खपा करके महा–आनन्द रूपी मोक्ष पद को प्राप्त किया।

उधर चन्द्रधवल भी राज्य प्राप्त होने पर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। उसके द्वारा युक्ति से पूजे जाते हुए स्वर्ण–पुरुष के हाथ–पाँव का छेदन करने पर भी वे प्रतिदिन वापस उत्पन्न हो जाते थे। इस प्रकार प्रतिदिन बढ़ते हुए स्वर्ण से उसका कोश अक्षय हो गया। दरिद्रता से पीड़ित लोगों को देखकर उत्पन्न हुई करूणा वाले चन्द्रधवल ने स्वर्ण–पुरुष से उत्पन्न स्वर्ण के द्वारा विश्व की दरिद्रता को दूर करके समग्र पृथ्वी को ऋण–रहित करके अपना चन्द्र संवत्सर प्रवर्तित किया।

एक बार पिछली रात्रि के समय जागृत होकर राज्य–चिन्ता करते हुए राजा को धर्मदत्त का स्मरण हो आया–"अहो! मैंने प्रमादवश राज्य में ही मग्न रहते हुए परम उपकारी, कृतज्ञों के शिरोमणि परम मित्र धर्मदत्त को कभी याद ही नहीं किया। प्रभात होते ही उसकी खोज–खबर मँगवाकर सभा में बुलाकर अति आदर–पूर्वक सम्मान देना चाहिए।"

इस प्रकार विचार करते हुए प्रभात हो गया। तब राजा ने शय्या से उठकर, प्राभातिक कृत्य करके आस्थान को अलंकृत करके नगर–वासियों से पूछा–"श्रीपति श्रेष्ठी का पुत्र धर्मदत्त यहीं है या देशान्तर गया हुआ हैं?"

उन्होंने कहा–"स्वामी! उसने तो देशान्तर में जाकर अत्यधिक धन का अर्जन करके घर आकर पिता के नाम को बहुत ही गौरवान्वित किया है। अभी तो

सम्पूर्ण नगर में उसके समान कोई नहीं है। नगर में यही मुख्य है।"

यह सुनकर प्रसन्न होते हुए मुख्य मंत्री को भेजकर बहुमानपूर्वक उसे बुलाया। धर्मदत्त भी अद्भुत वस्तुएँ उपहार के रूप में लेकर मन्त्री के साथ रथ पर आरूढ़ होकर सभास्थल पर पहुँचा। राजा को नमन करके उपहार उनके चरणों में भेंट किये। राजा ने भी बहुत ही सम्मान देकर अपने बिल्कुल पास में ही उसे बिठाया। कुशल–वार्ता पूछी। फिर राजा ने कहा–"तुमने मुझे जो स्वर्ण पुरुष प्रदान किया, उससे पृथ्वी के समस्त लोगों को मैंने ऋणमुक्त कर दिया। मेरा यश चारों ओर फैल गया। यह सब तुम्हारे द्वारा ही किया हुआ उपकार है।"

धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! आप क्यों मेरी बड़ाई कर रहे हैं? स्वर्ण–पुरुष तो आपने ही खोजा था। अगर वह मेरे भाग्य में लिखा होता, तो क्षणान्तर में ही मेरे हाथ से कैसे निकल जाता? बल्कि आपने तो मेरे वियोग के दुःख को भी दूर किया। स्वर्ण देकर मेरी दरिद्रता का भी निवारण किया। मनुष्यों की पंक्ति में आपने ही मुझे रखा है।"

इस प्रकार दोनों ने ही सज्जन–प्रकृति होने के कारण एक दूसरे के गुणों का ही वर्णन किया। फिर राजा ने धर्मदत्त को नगर–श्रेष्ठी का पद दिया। पट्टबन्धपूर्वक अत्यधिक वस्त्राभूषण आदि देकर राजकीय सामन्तों तथा सभी महेभ्यों के साथ महान विभूति व गीत–नृत्यादि तथा बन्दी जनों द्वारा बिरुदावलि गाये जाते हुए महा–महोत्सव के साथ घर भेजा।

धर्मदत्त ने भी यथायोग्य ताम्बूल वस्त्रादि देकर उन सभी को विदा किया। फिर वह प्रतिदिन राजसभा में जाने लगा। राजा भी दिन–2 उसकी मान–वृद्धि करने लगा।

एक बार राजा ने पूछा–"तुम्हारे पास कितना धन है?"

धर्मदत्त ने कहा–"स्वामी! आपकी कृपा से सोलह करोड़ धन है, पर एक बहुत ही आश्चर्य की बात सुनिए–पूर्व में वन के मध्य आपके आदेश से मैंने स्वर्ण–पुरुष से बहुत सारा धन यथेच्छापूर्वक ग्रहण किया। फिर आप से अलग होकर उस स्वर्ण से व्यवसाय करते हुए मैंने सोलह करोड़ का धन उपार्जित किया। फिर मैं यहाँ आ गया। पुनः भी यहाँ जल–थल आदि पथों से व्यापार किया, पर वर्ष के अन्त में लाभ निकालने के लिए लेखा–जोखा किया तो १६ करोड़ ही देखा। न अधिक, न कम। कम ज्यादा खर्च करने पर भी मेरे पास सोलह करोड़ ही बचता है। उसे बढ़ाने के लिए निपुणतापूर्वक अनेक प्रकार से व्यापार किया, सभी व्यापारियों ने मेरे व्यापार की बहुलता देखकर अपने–अपने मन में विचार किया कि इस वर्ष में धर्मदत्त के धन में चार–पाँच करोड़ की वृद्धि होगी, पर मैंने जब हिसाब किया, तो धन उतना का उतना ही रहा। कुछ भी ज्यादा नहीं। फिर अत्यधिक संकुचित व कृपण रीति से व्यापार करके अत्यधिक खर्च किया, तो भी धन उतना का उतना ही

रहा। अतः मैं अत्यधिक परिश्रम नहीं करते हुए यथोयोग्य रीति से व्यवसाय करता हूँ, अधिक नहीं। मुझे यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य हो रहा है, पर अतिशय ज्ञानी के बिना इसका हार्द बताने में कौन सक्षम है?"

इस प्रकार राजा के आगे अति सरलतापूर्वक अपनी बात बता ही रहा था, तभी प्रतिहारी के साथ वनपाल ने आकर प्रणामपूर्वक निवेदन किया–"महाराज! आज आपके वसन्त विलास नामक उद्यान में अनेक मुनियों से परिवृत्त श्रीमद् धनसागर सूरि पधारे हैं। अपने अतिशय ज्ञान के द्वारा भव्यजनों का उपकार करते हुए विचरण कर रहे हैं।

उसका कथन सुनकर राजा व धर्मदत्त श्रेष्ठी–दोनों ही परिषदा सहित गुरु को वन्दन करने के लिए गये। जैसे ही गुरु दृष्टिपथ पर आये, पाँच अभिगमपूर्वक राजा व धर्मदत्त ने श्री गुरु को वन्दन किया। श्री गुरु ने भी धर्मोपदेश दिया। यथा––

दुल्लहं माणुस्सं जम्मं लद्धूणं रोहणं व रोरेण।
रयणं व धम्मरयणं बुद्धिमया हंदि घित्तव्वं।।1।।
जिण गुरु भत्ति जत्ता, पभावणा सत्तखित्त धणवावो।
सम्मत्तं छयावस्सय धम्मो सय लद्ध सुहहेऊ।।2।।

बुद्धिमानों द्वारा दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके नारक के द्वारा स्वर्णाचल गिरि को प्राप्त करने के तुल्य धर्मरत्न को रत्न की तरह ग्रहण करना चाहिए। जिनेश्वर व गुरु की भक्ति, यात्रा, प्रभावना सात क्षेत्रों में धन का वपन आदि करना चाहिए। सम्यक्त्व, छः आवश्यकादि रूप धर्म सदा सुख के हेतु को प्राप्त करानेवाला है।

इस प्रकार की सम्यग् देशना को सुनकर अवसर प्राप्त कर राजा ने पूछा–"प्रभु! धर्मदत्त ने अत्यन्त पुरुषार्थपूर्वक कष्ट सहन करके यह स्वर्ण पुरुष प्राप्त किया, पर वह स्वर्ण पुरुष निर्विघ्न मेरे घर में आ गया। यह अत्यन्त लगनपूर्वक व श्रमसाध्य व्यवसाय करता है, तो भी सोलह करोड़ से ज्यादा इसके पास ठहरता नहीं। इसका क्या कारण है? कृपा करके हमें बतायें।"

राजा के द्वारा किये हुए प्रश्नों को सुनकर जैसे ही गुरुवर बोलने को उद्यत हुए, तभी एक बन्दरी ने वृक्ष से उतरकर गुरु को वन्दना की और बार–बार चारों ओर घूमने व नृत्य करने लगी। यह देखकर राजा ने कहा–"प्रभो! पूर्व में जो प्रश्न किये, उनके उत्तर आप बाद में दें, पर पहले यह बतायें कि यह मर्कटी नृत्य व वन्दन क्यों कर रही है?"

गुरुवर ने कहा–"राजन! जगत में मोहनीय कर्म की गति विचित्र है। अनिर्वचनीय है। भवितव्यता है। यह नगर में स्थित धर्मदत्त मेरा जामाता है। मैं इसका संसारपक्षीय श्वसुर हूँ। यह मर्कटी अपने पूर्व भव में मेरी पत्नी थी। धर्मदत्त की जो

धनवती नामकी पत्नी है, यह उसकी माता थी।''

इतने में ही उनके बगल में बैठा कोई व्यक्ति वहाँ से उठकर दौड़ता हुआ। नगर के अन्दर धर्मदत्त के घर जाकर धनवती से बोला–''आपके पिता धनसागर मुनि–वेश में आचार्य पद को प्राप्त किये हुए यहाँ पधारे हैं। वे अतिशय ज्ञानी हैं। सभी लोगों के संदेह का निवारण कर रहे हैं।''

वह अपने पिता के समाचार सुनकर तत्क्षण वहाँ आयी। तब तक मुनि ने भी पुत्री के विवाह के जिए जहाज पर चढ़ने आदि की बात बता दी थी। तब पिता के दर्शन कर आँखों से अश्रुकणों को गिराते हुए उसने वन्दना की। फिर धनवती ने पूछा–''यह वेश क्या है? यह सब कैसे हुआ?''

गुरु ने कहा–''वही कहता हूँ। सुनो, जब जहाज टूटा, तो मेरे हाथ फलक लगा। उसके आधार से तैरते हुए नौ दिनों में मुझे किनारा मिला। फलक छोड़कर तट पर उतरकर मैं आगे चला, तो दूर से एक नगर को देखकर उस नगर की ओर चला। तभी मार्ग में कोई ब्राह्मण मिला। विप्र ने चलाकर मुझसे कहा–'हे धनसागर! आओ–आओ, मेरे घर आओ।'

मैंने कहा–'तुम कौन हो? मुझे कैसे पहचानते हो?'

उसने कहा–'मेरे घर चलो। सब कुछ बताता हूँ।'

यह कहकर वह अपने घर ले गया। फिर उसने तेल से मालिश करवाकर गर्म पानी से स्नान करवाकर मार्ग–श्रम को दूर कर दिया। फिर विविध रसों के स्वादवाली रसोई बनवाकर भक्ति–भावपूर्वक मुझे खाना खिलाया। फिर आचमन करके, मुँह साफ करके, ताम्बूल आदि से मुख–शुद्धि करके घर की ऊपरी भूमि पर हम दोनों जाकर बैठे। तब मैंने पूछा–'हे द्विज श्रेष्ठ! बिना जान–पहचान के आप मेरी सेवा–भक्ति क्यों कर रहे हो? मैं तो आपको नहीं पहचानता हूँ।'

उसने कहा–'आश्चर्यकारी वार्त्ता सुनो। यह शंखपुर नामक नगर है, यहाँ मैं जैन धर्म से वासित अन्तःकरणवाला जिनशर्मा नामक ब्राह्मण रहता हूँ। श्रीमद् जिनाज्ञा से यथाशक्ति धर्म में प्रवर्तित रहता हूँ। सद्गुरुओं व सुसज्जनों की सेवा द्वारा शास्त्रों में रहे हुए अनेक हार्द प्राप्त किये। मुझे आजीविका भी सुलभ है, पर कुल की परम्परा को बढ़ानेवाला एक भी पुत्र नहीं है। मैने इसके लिए देवता की आराधना की। उसने भी मेरी सेवा से प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष प्रकट होते हुए कहा–'मेरी आराधना तुमने क्यों की?'

मैने कहा–'मुझे पुत्र प्रदान करें।'

उसने कहा–'वत्स! तुम्हारे अन्तरायकारी निकाचित कर्मों का उदय है, अतः तुम्हारे पुत्र नहीं हो सकता।'

तब मैंने कहा–'अपुत्र की गति नहीं है–सद्गुरु के प्रसाद से यह श्रद्धा तो मुझे नहीं हैं। क्योंकि शुद्ध पुण्य रूप अध्यवसायों से ही सद्गति होती है, अन्यथा

नहीं। पर मैंने अनेकों उत्तम महा–पुरुषों की सेवा के द्वारा उनके चित्त को प्रसन्न करके अनके चमत्कारिणी विद्याएँ प्राप्त कर ली हैं, वे नाश को प्राप्त हो जायेंगी। इसका मुझे दुःख है।'

तब उसने कहा–'कमलपुरवासी धनसागर वणिक जहाज के टूट जाने से नौ दिनों बाद यहाँ इस तट पर आयेगा। तुम उसे अपने घर पर लाकर निःशंक होकर उसे सारी विद्याएँ दे देना। वह योग्य है, एक बार सुनने से ही उसे सारी विद्याएँ याद हो जायेगी। इस तरह तुम उऋण हो जाओगे। पात्र को न देने पर और कुपात्र को देने पर महान प्रायश्चित्त आता है। अतः पात्र प्राप्त होने पर क्षण मात्र का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए तथा तुम्हे अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ करना चाहिए–यह कहकर देवी अन्तर्धान हो गयी।'

देवी की कही हुई सारी बात आज मिल गयी। अतः मैं तुम्हारी भक्ति कर रहा हूँ। अतः हे सज्जन! संकल्प–विकल्प छोड़कर मेरे घर को अपना–सा मानकर सुखपूर्वक रहो। जहाज भग्न होने की चिन्ता छोड़ दीजिए। ज्ञानी ने जो देखा है, वही होता है। शुद्ध–श्रद्धावान जैनों को कर्मोदय की चिन्ता प्रबल नहीं होती। जब उदय पर अपना वश नहीं चलता, तब चिन्ता से क्या फायदा? बल्कि आर्त्त–ध्यान से जीव पाप–कर्मो को बढ़ाता है। अतः भव्य जीवों को प्रति–क्षण हेय उपादेय रूप से सम्यक् रीति से कर्म–बन्ध का विचार करना चाहिए, क्योंकि कर्मों का बन्ध तो अपने ही अधीन है। अतः हेय व उपादेय के परिचय से प्रायः पाप–कर्म का बन्ध नहीं होता और पुण्य प्रबल होता है। शुभ भाव होने से पूर्वकृत कर्मो के रस–बन्ध मन्द–स्थिति वाले हो जाते हैं और अल्प रसवाले कर्मों की तो निर्जरा ही हो जाती है। अतः हमेशा शुभ–भावों के साथ ही समय बिताना चाहिए–यही जिनाज्ञा है। आप भी तो आगमों में अन्तर्श्रद्धा रखनेवाले हैं। अतः आपको अधीरता नहीं लानी चाहिए।'

इस प्रकार आश्वासन देकर उसने मुझे अपने घर पर रखा। मैं भी जिनाज्ञा समक्ष रखकर कर्मोदय–जन्य चिंता का त्याग करके उसके घर में रहने लगा। फिर एक अच्छा दिन देखकर उसने मुझे एकान्त में बिठाकर अपने अन्दर रही हुई सम्पूर्ण विद्याएँ अपने मन की प्रसन्नता के साथ मुझे प्रदान की। मैंने भी उन विद्याओं को विधिवत् ग्रहण किया। फिर शुभ दिन शुभ मुहुर्त्त में अपनी शक्ति के अनुसार महोत्सव करके उसने अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ कर दिया और घर का भार मुझ पर डालकर निश्चिन्त होकर घर में ही रहते हुए धर्माराधन–पूर्वक काल बिताने लगा। फिर एक दिन अपनी आयु की स्थिति को पूर्णता की ओर जाती हुई देखकर समाधिपूर्वक व विधिपूर्वक आराधना करते हुए देवलोक को प्राप्त हुआ।

फिर मैं उसके मृत्यु–कार्य करके धर्म–अर्थ–काम रूप त्रिवर्ग–साधन युक्त होकर रहने लगा। इस प्रकार मेरे साथ सांसरिक–वैषयिक सुख को अनुभव करते हुए द्विज–पुत्री ने गर्भ धारण किया। समय पूर्ण होने पर उसे पुत्र पैदा हुआ, उसका

नाम धनदत्त रखा गया। उस पुत्र का लालन–पालन करते हुए वह आठ–वर्ष का हो गया। तब उसे विद्याएँ सिखायी जाने लगीं। प्रायः करके उसने बहुत सारी विद्याएँ सीख लीं। इस प्रकार कितना ही समय बीत जाने पर उसी नगरी में श्री अजितसिंह सूरि पधारे। लोगों के द्वारा ज्ञात होने पर हम दम्पति पुत्र सहित वन्दना करने गये। पाँच अभिगमपूर्वक वन्दना करके वहाँ बैठ गये। तब अमृत–वर्षिणी देशना सुनकर वैराव्य रंग से आप्लावित होकर हम दोनों ने गृहस्थी का त्यागकर उन आचार्य के पास पुत्र–सहित दीक्षा ग्रहण कर ली। ग्रहण व आसेवन शिक्षा ग्रहण करके मैंने गुरु–कृपा से बुद्धि के अनुसार अनेक शास्त्रों के हार्द प्राप्त किये। फिर गुरु के पास तपश्चर्या करते हुए ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्राप्त किया। गुरु ने कृपा करके मुझे आचार्य पद प्रदान किया। अनेक साधुओं का समुदाय भी दिया। इस प्रकार भूमण्ड़ल पर विचरण करते हुए मैं यहाँ आया हूँ। वह तुम्हारी माता पोत के भग्न हो जाने पर जल में डूब गयी और आर्त्त–ध्यान में मरकर मछली बनी। पुनः आर्त्त ध्यान में मरकर इस बन्दरी के रूप में प्रकट हुई है, क्योंकि आर्त्त ध्यान से जीव तिर्यंच गति में, रौद्र ध्यान से नरक गति में, धर्म ध्यानपूर्वक देवगति में तथा शुक्ल ध्यानपूर्वक मोक्ष गति में जाता है। शुभ–आर्त्त ध्यान से मध्यम परिणाम–युक्त जीव मनुष्यगति में जाता है। फिर यहाँ आकर बैठी, तो मुझे देखकर पूर्वभव के स्नेहोदय से चारों ओर घूम रही है और नृत्य कर रही है।"

इस प्रकार गुरु–वचनों को सुनकर धनवती बन्दरी को देखकर बार–बार रोने लगी–"हा! माता! तुम्हारा यह क्या हाल हुआ?" इस प्रकार बोलती हुई नयनों से अश्रु–धारा बहाने लगी।

गुरु ने कहा–"हे पुत्री! कर्मों की गति विचित्र है। यह संसार–सागर दुस्तर है, क्योंकि–

न सा जाई न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो।।२।।

ऐसी कोई जाति नहीं, कोई योनि नहीं, कोई स्थान नहीं, कोई कुल नहीं, जहाँ सभी जीवों ने अनन्तबार जन्म–मरण न किया हो।

घणकम्मपासबद्धो, भवनयरचउप्पहेसु, विविहाओ।
पावइ विडंबणाओ, जीवो को इत्थ सरणं मे ?।।२।।

निबिड़ कर्मों के पाश में बंधा हुआ जीव भव रूपी नगर के चतुष्पथ पर विविध विडम्बना को प्राप्त करता है। वहाँ कौन उसकी शरण है?

अतः धर्म ही संसार के दुःखों से उद्धार करने में समर्थ है, अन्य नहीं। क्योंकि–धर्म से ही जन्म, कुल आदि श्रेष्ठ रूप में प्राप्त होते हैं–आदि।

अतः दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके जो श्री जिनधर्म की आराधना तीन प्रकार की शुद्धि के साथ करता है, वह शीघ्र ही जन्म–मरणादि संसारिक दुःखों का

उन्मूलन करके सिद्धिगति में चिदानन्द पद का अनुभव करता है।''

तब पुनः–पुनः धनवती को देखते हुए, गुरु वचनों को सुनते हुए पूर्व में आराधित धर्म–कर्म आदि प्रवृत्ति को धनवती व गुरु मुख से सुनते हुए उस बन्दरी को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब वह धनवती, अपने पति और गुरु को पहचानकर अत्यन्त अधीरतापूर्वक दुःख करने लगी।

तब गुरु ने प्रतिबोध दिया–''भद्रे! अब वृथा विलाप करना व्यर्थ है। मोह की गति ही ऐसी है। तुमने मृत्यु के समय पति व पुत्री की चिन्ता से आर्त्त–ध्यान किया, इससे तिर्यंच गति प्राप्त हुई। अपने ही दोषों के कारण जीव दुर्गतियों में भ्रमण करते हैं। सभी जीव अपने ही कर्मों का अनुसरण करते हुए जैसे कर्म बाँधे हैं, वैसे ही भोगते हैं। पूर्वोपार्जित कर्म को बिना उग्र तपस्या के कोई भी खपाने में समर्थ नहीं है, क्योंकि जो संसार के स्वरूप को जानकर दुःखित होते हुए मुक्ति के लिए एकान्त रूप से उद्धत होता है, वह भी नवीन कर्मों को तो नहीं बाँधता है, पर पूर्व में बाँधे हुए कर्म तो भोग कर तथा तपस्या के द्वारा ही खपाता है। तुम भी पंचेन्द्रिय हो। पंचम गुणस्थान प्राप्त करने के योग्य हो, अतः शक्ति के अनुरूप तप को स्वीकार करो। नमस्कार के ध्यान को अविच्छिन्न गति से ध्याओ, जिससे तुम्हें दुर्गति से छुटकारा मिलेगा और उस बीज के द्वारा परम्परा से सिद्धि–सुख को तुम पाओगी। यह तुम्हारी पुत्री धनवती तुम्हारा परिपालन करेगी और तुम्हारी सहायता करेगी।''

इस प्रकार गुरु वचनों को सुनकर उस मर्कटी ने मन ही मन एकान्तर उपवास का नियम गुरु–साक्षी से ग्रहण किया। गुरु ने भी वह सभी धनवती को बता दिया–''तुम इसे अपने घर पर रखकर इसकी धर्म–सहायिका बनना। यह तुम्हारी माता है। तुम करोड़ों भवों तक भी इसके उपकार का कर्ज चुकाने में असमर्थ ही रहोगी। पर माता के उपकार का बदला चुकाने का एकमात्र अवसर यही है कि धर्म से च्युत हुई इसको पुनः धर्म में जोड़ दो। तुम दोनों का माता–पुत्री का सम्बन्ध सफल हो जायेगा।''

तब धनवती ने गुरुवचनों को अंगीकार करके उस मर्कटी को पूर्णनिष्ठा भाव के साथ रखा।

पुनः राजा ने पूछा–''स्वामी! धर्मदत्त को सोलह करोड़ ही धन क्यों मिला, उससे ज्यादा क्यों नहीं? आप उसका हार्द बता रहे थे, तभी मर्कटी के नृत्य के कारण वह वृत्तान्त बीच में ही रह गया। अब बताने की कृपा कीजिए।''

तब गुरु ने कहा–''तो आप सभी ध्यान से सुनिए–

धर्मदत्त और चन्द्रधवल के पूर्व भव का वृत्तान्त

कालिंग देश में कांचनपुर नामक नगर था। वहाँ लक्ष्मीसागर नामक व्यापारी था। उसकी पत्नी का नाम लक्ष्मीवती था। उनके घर में लक्ष्मी नही थी, फिर भी परम्परा से जिनधर्म से वासित कुल होने से भक्तिपूर्वक सर्वज्ञोक्त धर्म ही करते थे।

उसकी पत्नी भी धर्मप्रिया थी। सेठ उभय सन्ध्या में प्रतिक्रमण करता था। यथा–अवसर सामायिक भी करता था। पर्वों में पौषध करता था। पारणे के दिन अतिथि संविभाग व्रत का पालन भी करता था। व्रत नहीं छोड़ता था। इस प्रकार धर्म करता था। पर संविभाग व्रत को बीच–बीच में अतिचारपूर्वक करता था। जैसे–कभी शक्कर आदि वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रही हुई जानकर भी "यह निर्दोष है" इस प्रकार कह कर साधुओं को दे देता था। कभी देने की इच्छा न होने से अचित्त वस्तु को भी कुटिलतापूर्वक सचित्त वस्तु के ऊपर रख देता था। कभी–कभी भिक्षा का समय बीत जाने के बाद भी निमन्त्रित करता था। जैसे–जब गोचरी में गये हुए साधु अपने निर्वाह योग्य आहार को पाकर लौटकर जब उपाश्रय की ओर चल पड़ते थे, तब घर से बाहर आकर बहुत ही जोर देकर बहुमानपूर्वक विविध प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा निमन्त्रित करता था। यह सब सुनकर लोग जानते थे–अहो! इसकी दान–रुचि! साधु तो निर्वाह–मात्र जितना प्राप्त हो जाने पर अधिक ग्रहण नहीं करते है, क्योंकि वे निःस्पृह होते है। कभी–कभी वह साधुओं को आहार करने के बाद निमन्त्रित करता था। कभी–कभी नहीं देने की भावना से कहता था–यह आहार के योग्य वस्तु शुद्ध है, पर दूसरों की है। उसकी भी दान की रुचि तो है। "दे दिया" यह सुनकर हर्षित भी होगा। अतः अगर आपको कल्पता है, तो आप ग्रहण कर सकते हैं।

तब जितेन्द्रिय साधु कहते–नहीं, हमें यह कल्पनीय नही है।

तब वह कहता–आपको बिना दिये मैं कैसे भोजन ग्रहण करूँगा? क्योंकि उसके आने पर वह आग्रहपूर्वक मुझे देगा और उसे मना करना मेरे लिए अशक्य होगा। फिर क्या होगा?

तब साधु कहते–वह तुम्हारा हिस्सा होगा। तुम यथारुचि ग्रहण कर सकते हो। तब वह उस वस्तु को खा लेता था।

कभी–कभी "यह दान देता है, तो क्या मैं उससे भी हीन हूँ?" इस प्रकार के अभिमान व ईर्ष्या से दूसरों के प्रति मात्सर्य भाव रखता था।

अथवा बिना चाहे ये साधु आ गये हैं। जिस वस्तु की याचना के लिए ये साधु निकले हैं, वह वस्तु तो उनके मुख के सामने ही पड़ी है। दृष्ट वस्तु माँगेंगे, तब बिना दिये कैसे छुटकारा होगा? अतः वह वस्तु उनकी नजर में न आये–यही अच्छा है। साधु तो दृष्ट की ही याचना करते हैं, अदृष्ट की नहीं।

इस प्रकार वह कभी–कभी कृपणता के कारण संविभाग करता था। इस प्रकार के धर्म का निर्वाह करते हुए उसके कई वर्ष व्यतीत हो गये।

एक बार उसके नगर से कोई सार्थ बसन्तपुर जाने की इच्छा से उद्यत हुआ। सभी जन रास्ते के सामान की तैयारी में लग गये। तब लक्ष्मीसागर के मित्र वसुदेव ने उससे कहा–"हे मित्र! मैं वसन्तपुर जाना चाहता हूँ। अतः तुम भी वसन्तपुर जाने के लिए तैयार हो जाओ।"

लक्ष्मीसागर ने कहा–"हे मित्र! गाड़ी–बैल आदि का योग मुझे नही है। अतः कैसे तैयार होऊँ?

वसुदेव ने कहा–"बलीवर्द आदि का योग मैं करा दूँगा। जो तुमसे हो सके, वह तुम कर लो। बाकी सभी मैं दिलावा दूँगा।"

इस प्रकार मित्र द्वारा उत्साहित किये जाने पर वह भी तैयार हो गया और सार्थ भी रवाना हो गया।

पीछे–पीछे वह भी भरी हुई गाड़ी व बैलों के साथ–साथ चला। किसी तृण–जल आदि से युक्त प्रदेश में रात्रि निवास के लिए लक्ष्मीसागर व सार्थ के अन्य लोग भी भव्य स्थल देखकर रूक गये। यथा–अवसर सभी सो गये। पिछली रात्रि में लक्ष्मीसागर ने उठते हुए निद्रा को त्यागकर और सामायिक लेकर परमेष्ठि–शरण ली। तभी रात्रि का अल्प समय शेष जानकर जो पैदल चलनेवाले लोग थे, उन्होंने सार्थ के स्वामी को जानकारी करायी–"हे श्रेष्ठी! ग्रीष्म काल का समय है। दिन चढ़ते ही धूप में हम दुःखी होंगे। अतः ठण्डे–ठण्डे समय में रास्ता काट लेना उचित है।"

तब सार्थपति ने सेवकों को आज्ञा दी–"शीघ्र ही सार्थ को रवाना किया जाये।"

तब सेवकों ने आवाज लगायी–"हे सार्थ के लोगों! सार्थ रवाना होता है, सभी उठ जाइए।"

सभी ने अपने–अपने गाड़े जोड़ लिये। उस समय लक्ष्मीसागर ने अपने नियम की जानकारी देने के लिए तथा उन्हें कुछ देर रुकने का इशारा करने के लिए दो–तीन बार 'हुँ–हुँ' किया, छींक की। फिर भी जब वे नहीं रुके, तो उसने चिल्लाकर कहा–"हे अमुक! मेरे सामायिक है।"

यह सुनकर कुछ स्वार्थप्रिय लोगों ने कहा–"देखो! सेठ की निपुणता। इसने सामायिक कैसे समय में ग्रहण की है? प्रयाण तो दूर रहा, सूर्योदय होते ही धूप तपने *लगेगी, लोग व बैल धूप से पीड़ित होंगे, वे पशु भूख से मरते हुए भार ढ़ोते हुए जब* उत्तारक स्थान पर पहुँचेंगे, तभी उन्हें आहार प्राप्त होगा। यह तो अपनी धर्म–रसिकता बताने के लिए सामायिक लेकर बैठ गया।"

इस प्रकार बोलते हुए अपनी गाड़ी को ठीक करके चलाने लगे। कोई–कोई अपने वचनों की चतुराई दिखाते हुए "हे सेठ! हम जा नहीं रहे है, किन्तु गाड़ों को *जोड़कर मार्ग पर खड़ी रखकर रुके हुए है। जल्दी से आ जाना, देर मत करना।"* इस प्रकार कहते हुए आगे चल पड़े। कुछ लोग "हम आगे जाकर सार्थ को रोकते हैं" इस प्रकार कहते हुए चले गये।

इस प्रकार अनेकों बहाने बनाकर सभी चले गये। श्रेष्ठी के खुद के बैल व गाड़ी रह गयी, अन्य कोई नहीं। तब श्रेष्ठी ने विचार किया–धिक्कार है इन पाप

मंत्रियों की मित्रता को! सभी एकनिष्ठ–भाव से स्वार्थी हो गये। अच्छा है कि हमारा एकमात्र सहायक धर्म ही है, वह कहीं नहीं गया। ऐसे लोगों के साथ मैत्री नहीं करनी चाहिए, क्योंकि–

सो चिय मित्तो किज्जई, जो किर पत्तम्मि वसणसमयम्मि।
न हु होइ पराहूओ, सेलसीलघडिअपुरिसुव्व।।

उसे ही मित्र बनाना चाहिए, जो दुःख का समय प्राप्त होने पर शैलेशी को प्राप्त लकड़ी वाले पुरुष की तरह पराभूत नहीं होता। तथा–

उत्तमैः सह साङ्गत्यं, पण्डितैः सह संकथाम्।
अलुब्धैः सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति।।२।।

उत्तम लोगों के साथ संगति, पंडितों के साथ बातचीत तथा निर्लोभियों के साथ मित्रता करता हुआ इन्सान व्यथित नहीं होता।

अभी तो मुझे "पुण्योदय ही श्रेष्ठतर है" इस लोकोक्ति को मान लेना चाहिए।"

उसके बाद सामायिक पूर्ण होने पर पारकर सभी सामान तैयार करके जैसे ही चलने के लिए तैयार हुआ, तभी जोर–जोर से हाहाकार मच गया। थोड़ा ही आगे चला था कि आगे गये हुए सार्थजनों को वस्त्र रहित दिगम्बरों की तरह दौड़कर आते हुए देखा। उन्हे देखकर विस्मित होते हुए श्रेष्ठी ने पूछा–"आप लोगों की ऐसी अवस्था कैसे हुई?"

उन्होंने भी कहा–"तुम धन्य हो! तुम्हारा धर्म धन्य है। तुम्हारी आस्था धन्य है। जैसी तुम्हारी धर्म में स्थिरता है, वैसा ही फलित पुण्य हमने प्रत्यक्ष देखा है। हम सब उतावले होकर आगे जा रहे थे। आधा कोस–मात्र गये होंगे, तभी गहन कुंज से धाड़ उठी। उन धाड़ चोरों ने हमारी ऐसी अवस्था करके हमें छोड़ दिया। सभी लुटे गये। किसी को भी नहीं छोड़ा।"

यह सुनकर श्रेष्ठी ने उन सभी को वस्त्रादि दिये, जिससे यश–वृद्धि हुई। तब श्रेष्ठी ने विचार किया–"अभी आगे जाना उचित नहीं है। मैं पुण्योदय से बच गया। सभी जगह पुण्यबल ही समर्थवान है। अगर पुण्य बल है, तो घर बैठे ही लाभ हो जायेगा। आज से मैं गाड़ी आदि से देशान्तरगमन से कठोर कर्म व्यापार नहीं करूँगा, क्योंकि शास्त्रों में इसके लिए बहुत बड़ा प्रायश्चित्त कहा है। अतः इस व्यापार का मुझे यावज्जीवन नियम है।"

इस प्रकार का नियम करके लौटकर वापस घर आ गया। तभी पुण्यबल से उस कंचनपुर से जो माल वसन्तपुर में बेचने के लिए खरीदा था, वह वहीं कंचनपुर में महँगा हो गया। सेठ ने जब वह माल वापस वहीं बेचा, तो वसन्तपुर से जिस लाभ की आशा थी, उससे भी ज्यादा लाभ प्राप्त हुआ। श्रेष्ठी के लाभ, यश व धर्म–तीनों की वृद्धि हुई। लोग प्रशंसा करने लगे–"धन्य है यह! जैसी इसकी धर्म में दृढ़ता है,

वैसी ही इसे घर में ही रहते हुए धनवृद्धि प्राप्त हुई है।"

उस धन से वह प्रचुर व्यापार करने लगा। वहाँ भी पुण्यबल से धीरे-धीरे लक्ष्मी की वृद्धि ही हुई। वह महेभ्य हो गया। सर्वत्र ख्याति को प्राप्त हुआ।

उसको कुछ समय बाद पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम लक्ष्मीचन्द्र रखा गया। क्रम से बड़े होते हुए उसको पढ़ने के लिए भेजा गया। थोड़े ही समय में उसने सारी कलाएँ पढ़ ली। पिता की संगति से धर्म क्रिया में भी वह कुशल एवं रुचिवाला हुआ। क्रम से यौवन को प्राप्त हुआ। व्यापार-कार्य में निपुण होने से लोक में उसके वचन श्रद्धास्पद बन गये। तब श्रेष्ठी उसकी योग्य वय एवं निपुणता देखकर श्रेष्ठी पुत्री के साथ विवाह के लिए सामग्री इकट्ठी करने लगा। ज्ञातिजनों, स्वजनों व परिचितजनों के भोजन के लिए विविध प्रकार की बहुत अधिक भोजन सामग्री करवाकर पहले से घर के कोठे आदि भर लिये।

एक दिन श्रेष्ठी जिनपूजा कर रहा था, तभी मध्याह्न के समय सेठ के घर पर कोई साधु का सिंघाड़ा एषणीय आहार की गवेषणा के लिए आया। देवघर में स्थित श्रेष्ठी ने जब "धर्म लाभ" शब्द सुना, तो कहा-"क्या घर में कोई भी दाता है।"

तब नीचे स्थित लक्ष्मीचन्द्र ने कहा-"पिताजी! मैं ही हूँ।"

सेठ ने कहा-"यहाँ आओ।"

लक्ष्मीचन्द्र पिता के पास गया।

पिता ने कहा-"बेटा! तुम पूछो। कौन आचार्य पधारे हैं? कितने शिष्यों के परिवार से पधारे हैं?"

तब लक्ष्मीचन्द्र ने दरवाजे पर आकर पिता का कहा हुआ वृत्तान्त पूछा।

साधुओं ने कहा-"देवानुप्रिय! आज श्री धर्मघोष सूरि 500 साधुओं से परिवृत्त यहाँ पधारे हुए हैं। हम उन्हीं के शिष्य है, गुरु आज्ञा से एषणीय आहार की गवेषणा के लिए आये हैं।"

तब लक्ष्मीचन्द ने यह सभी श्रेष्ठी को बताया। तब सेठ ने कहा-"बेटे! ये तपोधनी मुनि 500 की संख्या में है। इनमें कई वयोवृद्ध हैं, कई प्रतिमाधारी हैं, कई जरा से जर्जरित देहवाले हैं, कई विविध अभिग्रहवाले हैं, कई विविध आगमों के अभ्यास में तत्पर हैं, कई ग्लान होने पर भी शरीर की सेवा-शुश्रूषा नहीं कराते। इन्हें भक्ति से प्रतिलाभित करने पर महान पुण्य होगा। क्योंकि-

पहसन्त-गिलाणेसुं, आगमगाहीसु तह य कयलोए।
उत्तरपारणगम्मि य, दिन्नं बहुफलं होई।।2।।

पथ से थके हुए, ग्लान, आगम पाठी, लोच किये हुए और उत्तर पारणा करनेवाले को दान देना बहुत फलदायक होता है और महान पुण्य होता है।

इस कारण से हे वत्स! साधुओं को सोलह मोदक दो। बहुत सारे साधु हैं, अतः चार-पाँच साधुओं के योग्य आहार दे दो। अपने घर के योग्य दान देना

चाहिए।''

तब लक्ष्मीचन्द्र ने ''अच्छा'' कहकर नीचे जाकर विचार किया–''पिता ने तो 16 मोदक देने की आज्ञा दी है, पर साधु तो बहुत सारे हैं। मेरे विवाह के लिए हजारों की संख्या में मोदक बनवाये है, उन्हें तो अविरति, मिथ्यात्वी संसारी जीव खायेंगे। ये तो निःस्पृह तपस्वी हैं, जो रत्नों के पात्र सरीखे है। परम पुण्योदय से इन का योग मिलता है। ये साधु आहार करके ध्यान स्वाध्याय, तप, जप आदि करेंगे। संसारी लोग तो स्निग्ध आहार करके विषयादि में विशेष रूप प्रवृत्ति करेंगे। अतः मेरे विवाह के लिए तैयार किये गये मोदक अगर मैं इन साधुओं को दूँगा, तो मेरे लिए इसलोक व परलोक में अत्यधिक लाभदायी होगा। अगर मैं भक्तिपूर्वक अधिक दूँगा, तो मुझे लाभ होगा। बुजुर्ग लोग तो प्रायः कृपण ही होते हैं। आज मेरा महान भाग्योदय है कि विवाह के अवसर पर मोदकों से भरे घर में बिना बुलाये जंगम कल्प वृक्ष की तरह ही साधु कहीं से भी पधार गये हैं। जन्म–जात दरिद्री के घर में कामधेनु के आगमन की तरह प्राप्त अतर्कित लाभ के स्थान को कैसे छोड़ूँ?''

इस प्रकार वीर्योल्लास की वृद्धि से प्रफुल्लित हृदय व रोमांचित शरीर–युक्त होकर हर्षपूर्वक अगणित मोदक थाल में भर के हाथों में उठाकर साधुओं के समीप जाकर हँसते हुए मुख से कहा–''स्वामी! इन मोदकों को ग्रहण कीजिए।''

तब साधुओं ने उपयोग लगाकर आगम अनुसार शुद्धाहार जानकर कहा–''हे देवानुप्रिय! इतने मोदक क्यों लाये हो? इनमें से हमें यथोयाग्य दे दो। हमें अधिक से प्रयोजन नहीं है। किसी को अन्तराय न हो–इसका ध्यान रखना।''

लक्ष्मीचन्द ने कहा–''स्वामी! अन्तराय तो आज मेरी टूटी है, जो मुझ गरीब के आँगन को आपने अपने चरण–कमलों द्वारा पावन किया है। मेरे महान भाग्य के उदय से अनेक पण्डित मुनियों के साथ श्री धर्मघोष सूरि पधारे हैं। वे मोदक आपकी रुचि के अनुसार आहार करने के योग्य हैं। पुनः आप अन्य साधुओं को भी ये मोदक दे देना। मेरे इस हर्ष को आप कृपा करके पूर्ण करें। पात्र फैलायें और मेरा उद्धार करें।''

इस प्रकार उसके अत्यधिक भावोल्लास को जानकर निस्पृह मुनियों द्वारा ''इसके भावों पर कुठाराघात न हो'' इस कारण उसके सामने पात्र रख दिया। तब कुमार ने अपने हाथों से थाल उठाकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक पात्र में फैलायी हुई झोली में सारे मोदक उड़ेल दिये। साधु तो ''बस बस'' करते रह गये। कुमार के हृदय में तो हर्ष का पार ही नहीं था। हर्षित होते हुए विनति करने लगा–''आज स्वामी ने मुझ बालक पर महान कृपा की, जिससे मेरे भाव खण्डित नहीं हुए। आपको तो इसकी वांछा नहीं है, यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। साधुओं को तुष के ढोकले और घेवर में कुछ भी अन्तर नजर नहीं आता। केवल मुझ बालक की इच्छा पूर्ण करने के लिए ही करूणापूर्वक आपने मेरी विनति स्वीकार की है। आपके इस उपकार को मैं आजन्म नहीं भूलूँगा। ऐसा दिन फिर कब आयेगा?''

इस प्रकार कहते हुए कुमार ने साधुओं को वन्दन किया। तब साधु धर्मलाभ देते हुए वापस लौट गये। कुमार भी सात–आठ पाँव उनके पीछे जाकर पुनः–पुनः वन्दना करके दान की अनुमोदना करते हुए घर आकर गृह–कार्य में प्रवृत्त हो गया। कुमार ने उस भावोल्लास द्वारा अत्यन्त पुण्य का उपार्जन किया, क्योंकि दूषण रहित व भूषण–रहित दिया गया दान अनंतगुणा फलित होता है। दान के दूषण ये हैं–

अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं विप्रियं वचः।
पश्चात्तापश्च पञ्चाऽमी सद्दानं दूषयन्त्यहो!।।२।।

अनादर, विलम्ब, विमुखता, कठोर वचन और पश्चात्ताप–ये पाँच दोष सत् दान को भी दूषित कर देते है।

दान के भूषण इस प्रकार है–

आनन्दाश्रुणि रोमाञ्चो बहुमानं प्रियं वचः।
किञ्चाऽनुमोदना काले दानभूषणपञ्चकम्।।2।।

आनन्द के आँसू आना, रोमांच होना, बहुमान, प्रिय वचन और समय पर अनुमोदना–ये दान के पाँच भूषण है।

पूजा पूर्ण होने पर श्रेष्ठी ने पूछा–"मेरे कहे हुए मोदक तुमने दिये?"

कुमार ने उत्तर दिया–"हाँ। दे दिये।"

तब श्रेष्ठी ने परिमित भाव रूप से उतनी ही मात्रा में पुण्य का उपार्जन किया। अध्यवसायों की गति विचित्र है। पुत्र ने तो अपरिमित भावों के उल्लासपूर्वक सुपात्र के बहुमान द्वारा अमित पुण्य का उपार्जन कर लिया। गम्भीरतापूर्वक किसी के भी आगे नहीं कहा। अवसर आने पर बार–बार अनुमोदना भी की। लग्न–मुहूर्त के दिन लक्ष्मीचन्द्र का विवाह हो गया।

उधर कितने ही दिनों तक भव्यों को प्रतिबोध देकर गुरुदेव अन्यत्र विहार कर गये। वे दोनों पिता–पुत्र यावज्जीवन धर्म की परिपालना करते हुए पूर्ण आयु का भोग करके शुभ ध्यान से मरकर सौधर्म देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यवकर पिता का जीव यह वही धर्मदत्त हुआ है। पूर्वजन्म में संविभाग व्रत में बीच–बीच में अतिचार लगाने से बीच–बीच में दुःख प्राप्त हुआ। बाद में 16 मोदकों के दान का अनुमोदन करने से 16 करोड़ स्वर्ण का स्वामी हुआ, अधिक का नहीं। पुत्र का जीव च्यवकर तुम्हारे रूप में राजा हुआ। पूर्ण भक्तिपूर्वक दान देने से अधिक पुण्यबंध करने से अक्षय स्वर्ण पुरुष प्रकट हुआ।

।। इति धर्मदत्त व चन्द्रधवल के पूर्वभव का दृष्टान्त।।

इस प्रकार पूर्वभव की बात सुनकर राजा विचार करने लगा–"शास्त्रों में जैसा कहा गया है, वैसा ही दिखायी देता है, क्योंकि–

धर्म एव सदा येषां, दर्शनं प्रतिभूरभूत्।
क्वचित् त्यजति किं नाम, तेषां मन्दिरमिन्दिरा।।

अर्थात् जिनके दर्शन की प्रतिमूर्त्ति सदा धर्म ही रही है, अगर कदाचित् उसी धर्म का त्याग करता है, तो उस मन्दिर की ध्वजा का क्या?

यद्यपि ऐसा है, फिर भी मोक्ष बिना अक्षय सुख नहीं मिलता।"

यह विचार करके गुरु से कहा–"प्रभु! अपार भव रूपी संसार से तिरने के लिए मुझे चारित्र रूपी यान प्रदान करें।आपकी कृपासे ही मेरा कार्य सिद्ध होगा। अतः मैं घर जाकर जन–व्यवहार की अनुवृत्ति द्वारा राज्य–चिंता करके आजन्म आपके चरणों की उपासना करने के लिए आ जाऊँगा। तब आप मुझ पर कृपा करके चारित्र रत्न प्रदान करना।"

गुरु ने कहा–"जैसे आत्मा का हित हो, वैसा करो। पर प्रमाद मत करो।"

राजा ने कहा–"जैसी आपकी आज्ञा।"

तब राजा ने गुरु को नमन करके घर आकर, भोजन करके आस्थान–मण्डप में आकर मंत्रियों को बुलाकर कहा–"हे मन्त्रियों! राज्य किसको देना चाहिए?"

उन्होंने कहा–"जगत में विधि की गति विपरीत है। क्योंकि––

शशिनि खलु कलङ्क कण्टकः पद्मनाले,
जलधिजलमपेय पण्डिते निर्धनत्वम्।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे,
धनवति कृपणत्वं रत्नदोषी कृतान्तः।।२।।

चन्द्रमा में कलंक है, पद्मनाल में काँटे हैं, समुद्र का जल पीने योग्य नहीं, पण्डित निर्धन होता है, स्त्रियों का वियोग होता है, रूपवान दुर्भाग्यशाली होता है, धनवान में कृपणता होती है, यमराज रत्नदोषी होता है।

जो भी उत्तम पदार्थ हैं, वे सभी एक–एक दोष से दूषित होते हैं, क्योंकि शुद्ध न्याय के प्रवर्त्तक, स्वर्ण देकर समस्त लोगों के ऋण का उच्छेद करके, संवत्सर के प्रवर्त्तक श्रीमद् जिनेन्द्र–भाषित, धर्म में रत, परोपकार करने में एकमात्र अग्रणी आपके पुत्र ही नहीं हुआ और जिस किसी अनिपुण को राज्यदान युक्त नहीं है। अतः अभी तो आप ही राज्य को अलंकृत कीजिए, जब तक कि राज्य के योग्य पुरुष का संयोग न हो। न्याय में एकनिष्ठ, दुष्कर्मों से विमुख आप जैसों के द्वारा राज्य–पालन भी महान पुण्य का कार्य है, क्योंकि राजा पवित्र–धर्म से युक्त होता है–यह श्रुति में भी कहा है। गृहस्थों के रूप में ही अनेक तरह से विविध प्रकार के दान, दयादि धर्म–कर्म की उपासना करके संसार का अन्त किया जाता हुआ सुना जाता है, पर अयोग्य को राज्य देकर संयम लिया हो, ऐसा नहीं सुना जाता। पूर्व में भी गृहस्थावस्था में ही जिनाज्ञा का पालन करते हुए जीवन्मुक्ति के बिरुद को प्राप्त किया। आगमों में भी गृहस्थ–लिंग सिद्धा अनंत संख्या में सुने जाते हैं। अतः जब तक आपके अन्तराय का उदय है, तब तक आप स्वयं ही राज्य करें। जगत में परोपकार करने के समान अन्य कोई धर्म नहीं है।"

इस प्रकार के अमात्य-वचनों को सुनकर थोड़ा-सा हँसते हुए चन्द्रधवल ने कहा-"मन्त्रीवर! जो आपके वचन की सरस रचना द्वारा राज्य-पालन में भी धर्म दर्शाया है, वह किसका? जो पंच-महाव्रत के पालन में अशक्त है, मन्द शक्तिवाला है अथवा शिवकुमार की तरह जिसे पिता की अनुमति प्राप्त न हुई हो अथवा प्रशस्त भक्ति-राग द्वारा पूर्व संचित अति पुण्य-प्रकृतिवाला हो, अविरति से युक्त संचय किये हुए पुण्य प्राग्भार वाला हो, वह धर्मप्रिय व्यक्ति घर पर रहता हुआ ही न्यायपूर्वक राज्य-पालन करता हुआ जिनाज्ञा का पालन करता है और जो तुमने कहा- "गृहस्थ-लिंग सिद्धा अनंत संख्या में सुने जाते है," वह सत्य है, पर उन सबके वैसी ही भवितव्यता का योग रहा होगा, कारण का परिपाक रहा होगा, अत्यधिक कर्मों के योग का उदय हुआ होगा, बाधक कर्म का उदय रहा होगा अथवा बाधक कर्मों की अल्पता से ऐसा हुआ होगा। यह तो कदाचित् एक पैदल चलने की पगडंडी-मात्र है, राजपथ नही हैं। जो सिद्धों की अनन्तता कही है, वह काल की बहुलता की अपेक्षा से है। कोई भी मूर्ख इस प्रकार जान ले और उसी को साध्य बनाकर गृहस्थ- धर्म में रत रहकर ही मोक्ष की वांछा करेगा, तो उसके इच्छित की सिद्धि नहीं हो पायेगी। हमारे जैसे अत्यधिक कर्म-स्थिति की सत्तावालों के द्वारा गुरुकृपा से संसार के स्वरूप को जाने हुए, जन्म, जरा, मरण रोग, शोक आदि की अवश्य प्राप्ति होने से उल्लसित वैराग्यवालों का शीघ्र ही चरित्र ग्रहण करना श्रेय है। विलम्ब करना महा-मूर्खता होगी, क्योंकि धर्म की गति शीघ्रता ही है। संसार में श्रेय-कार्यों में बहुत विघ्न आते है। कदाचित् विलम्ब करने से अध्यवसाय आदि निमित्त के योग से आयु के अपवर्त्तन-करण के बल से मरण हो जाये, तो सोचे हुए भाव निष्फल हो जायेंगे। गत्यन्तर में गया हुआ जीव पूर्व भव में आचरित संयम, तप, श्रुत आदि कुछ भी नहीं जान पाता। जिस कुल में उत्पन्न होता है, उसी की श्रद्धा करता है, अन्य की नहीं। कोई-कोई तो सुमंगल आचार्य तथा आर्द्रक कुमार की तरह कुछ पूर्वबद्ध प्रबल आराधक पुण्य के उदय से किसी की भी सहायता मिलती है, तो पुनः पूर्वजन्म का स्मरण होता है, पर अपने स्वभाव से नहीं। हाथ से गये हुए को पुनः मिलना दुष्कर है। जो तुमने कहा-परोपकार के सदृश अन्य कोई धर्म नहीं है। वह सत्य है। पर पहले अपने आपको तारते हुए अन्यों को भी तारता है-यही साधक का लक्ष्य है और जिनाज्ञा भी यही है। पर अपने आप को संसार-पथ पर चलाकर अन्य का उपकार करने में क्या दक्षता है? जैसे कि घर के बच्चों के भूखे होने पर भी चौराहे पर जाकर दानशाला की स्थापना करना व्यर्थ है। वह कार्य मूर्खता का ही सूचक है। मैं तो मूर्ख नहीं हूँ, अतः जो होना है, वह होकर रहे, पर चारित्र तो अवश्य ही ग्रहण करूँगा। जिनेश्वर प्रभु के द्वारा धर्म में उद्यम ही मुख्य रूप से बताया गया है। औदायिक भावों में तो नियमा कर्मों की मुख्यता कहीं गयी है। अतः कल निश्चयपूर्वक चारित्र ग्रहण करूँगा।"

यह कहकर मंत्रियों को भेजकर संयम ग्रहण करने की चिन्ता से युक्त होता हुआ शय्या पर सो गया। फिर पिछली रात्रि में एक स्वप्न देखा कि कोई दिव्य रूपवाली दिव्य आभरणों से भूषित स्त्री ने आकर राजा से कहा–"राजन! राज्य की चिन्ता मत कीजिए। आपका राज्य न्याय–कार्य में एकनिष्ठ वीरधवल को दे दिया है। अतः उत्साहपूर्वक सुख से संयम ग्रहण करे। यह वरमाला संयम रूपी लक्ष्मी की निशानी है, जो आपके गले में डाली जाती है।"

यह कहकर देवी अदृश्य हो गयी। तब राजा जागृत होता हुआ विचार करने लगा–"यह क्या है? इसका क्या भावार्थ है? वीरधवल कौन है? उसका कभी नाम भी नहीं सुना।" इस प्रकार विचार करते हुए प्रभात हो गया।

तब मन्त्रियों को बुलाकर स्वप्न की घटना कहते हुए पूछा–"वीरधवल कौन है? पूर्व में कभी नहीं जाना, न ही सुना। मेरे राज्य के योग्य है–यह कौनसी बात हुई?"

मन्त्रियों ने कहा–"हमें भी ज्ञात नहीं। श्री गुरुदेव से ही पूछना चाहिए।"

तब राजा ने स्वल्प सभासदों के साथ गुरु के पास जाकर और नमन करके रात्रि में देखे हुए स्वप्न के स्वरूप को पूछा–"स्वामी! वीरधवल कौन है? पहले न तो कभी जाना, न सुना।"

तब गुरु ने कहा–"राजन! तुम संयम के लिए तैयार हो जाओ। जब तुम दीक्षा लेने के लिए यहाँ आओगे, तब उसका पूर्व–दिशा से आगमन होगा। वह तुम्हारी दीक्षा का उत्सव करेगा।"

यह सुनकर निश्चिन्त होकर घर जाकर सेवकों आदि को यथा–योग्य धन देकर संयम रूपी लक्ष्मी को पुष्टि का आधार मानकर संयम रूपी लक्ष्मी के जिज्ञासु के रूप में जिन भवन, जिनबिम्ब आदि सातों क्षेत्रों में उल्लासपूर्वक लक्ष्मी का वपन करके राजा धन्य व कृत–कृत्य हो गया।

तब धर्मदत्त भी धनवती के कुक्षि में उत्पन्न रत्नसिंह नामक पुत्र पर घर के भार को सम्भलाकर धनवती के साथ संयम ग्रहण करने के लिए तैयार हो गया। उसके बाद वह भी स्वजनों, परिवार आदि को यथोचित धनादि देकर सभी के साथ क्षमा–याचना करके उनका आशीष लेकर पत्नी के साथ निकल गया।

फिर राजा और धर्मदत्त दोनों ही महोत्सवपूर्वक सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ गुरु चरण में गये। तब लोग विचार करने लगे–"राजा तो दीक्षा ले रहा है। हमारे पालन के लिए कोई राजा भी नियुक्त नहीं किया। अब क्या होनेवाला है?"

राजा भी विचार कर रहा था कि गुरु महाराज द्वारा कहा गया राज्य योग्य व्यक्ति अभी तक नहीं आया। श्रीमद् गुरु के वचन अन्यथा भी नहीं हो सकते। तभी पूर्व दिशा से दिव्य वाद्ययंत्रों की ध्वनि सुनायी दी। तब राजा और सभी लोग विस्मित होकर देखने लगे कि 'यह क्या है?' 'यह क्या है?' इस प्रकार बोलने लगे, तभी पूर्व

दिशा से श्वेत हाथी पर आरूढ़ श्वेत छत्र धारण किये हुए दोनों ओर चामर हिलाये जाते हुए दिव्य आभरणों से भूषित कोई दिव्य वाद्ययंत्र, गति, नृत्य आदि से युक्त बहुत सारी देव–ऋद्धि से युक्त होकर वहाँ आया। आगमन के साथ ही वह श्वेत गज से उतरकर सविनय गुरु को नमन करके बैठ गया।

तब गुरुदेव ने राजा से कहा–"राजन। यह वही वीरधवल है।"

राजा ने कहा–"स्वामी! यह कौन है? कहाँ से आया है? इसने मेरी दीक्षा के अवसर को कैसे जाना? यह सभी कृपा करके बताए।"

गुरु ने कहा–"इसकी घटना भी सुनिए–

वीरधवल का वृत्तान्त

सिंधु देश में वीरपुर नामक नगर है। वहाँ जयसिंह नामक राजा थे। उसके वीरधवल नामक पुत्र था। वह शिकार का शौकीन था। प्रतिदिन शिकार में व्यस्त रहता था। एक बार उसने एक गर्भवती हरिणी को बाण से बींध दिया। उसके गर्भ को तड़फड़ाकर भूमि पर गिरा हुआ देखकर तथा भविव्यता के योग से कुमार स्वयंमेव ही करूणा को सम्प्राप्त हुआ। स्वयं की निन्दा करने लगा–"हा! मैंने गर्भवती हरिणी को मार डाला। ये वन में उत्पन्न प्राणी अनाथ, अशरण, निर्दोष हैं, हम जैसे राजाओं द्वारा निःशंक होकर मारे जाते हैं, तो ये बिचारे किसके आगे फरियाद करें, क्योंकि–

रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, कुनीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलो, हहा! महाकष्टमराजकं जगत्।।२।।

उस जगह पौरुष रसातल में चला जाये, कुनीति निर्दोषों की शरण में न जाये, जहाँ बलवानों के द्वारा दुर्बलों की घात की जाती हो। हा! जगत में अराजकता का महाकष्ट है! तथा–

इक्कस्स कए नियजीवियस्स, बहुयाओ जीवकोडिओ।
दुक्खे ठवन्ति जे केवि, ताण किं सासयं जीयं?।।२।।

एकमात्र अपने जीवन के लिए जो अनेक कराड़ों जीवों को दुःख में डालते हैं, क्या उसका अपना जीव शाश्वत है?

इस प्रकार विचार करते हुए केवल हिंसा में ही दोषों की अपरिमितता को देखकर और दया में अपरिमित गुणों को देखकर करूणा का पोषण करने के लिए अपने मन में जीवघात–नियम को दृढ़ता के साथ ग्रहणकर लौटकर घर आ गया। उस हरिणी का घात जब कभी स्मृति–पथ पर आता, तो पुनः उसी प्रकार अपनी निन्दा करते हुए बहुत सारे पूर्वकृत पाप–कर्मों का क्षय किया।

एक दिन नागरिक पुकार करते हुए राजसभा में आये–"देव! कोई भी अपूर्व व निपुण चोर प्रकट हुआ है, नगर को लूट लिया। कितने ही धनवान महेभ्य दरिद्रता को प्राप्त होते हुए अनिर्वचनीय कष्ट को प्राप्त हो रहे हैं।"

तब राजा ने नगर–रक्षकों को बुलवाकर कहा–"हे आरक्षकों! क्या तुम नगर की रक्षा नहीं कर सकते?"

उन्होंने कहा–"देव! नगर बहुत बड़ा है। आरक्षक बहुत थोड़े हैं। वह चोर अल्पजनों के द्वारा पकड़ा जाना कठिन है। अत्यन्त दुर्बुद्धि का भण्डार है यह चोर! अनेक कष्ट उठाने पर भी वह हमारे हाथ नहीं आया।"

तब राजा ने कहा–"आज में ही चोर को पकडूँगा।"

यह सुनकर नागरिक प्रसन्न होते हुए अपने–अपने घर आ गये। राजा ने सन्ध्या में वीरधवल को बुलवाकर कहा–"वत्स! चोर ने अनेकों को पीड़ित किया है। हमें यह सुनकर लज्जा आती है। अतः आज पूरी तैयारीपूर्वक नाटकीय ढ़ंग से चौकड़ी–चौकड़ी बनाकर अप्रमत्त मौनपूर्वक छिपकर रहना चाहिए, जिससे यह धूर्त हमारे हाथ में आ जाये। तुम इस दिशा में जाओ, मैं पश्चिम दिशा में जाता हूँ।"

इस प्रकार विभाग करके स्थान–स्थान पर चौकड़ी छोड़ दी। सभी राजा द्वारा निर्देश किये गये स्थानों पर गुप्त रूप से छिपकर बैठ गये।

उस रात वह चोर भाग्यवशात् कुमार की चौकड़ी में पड़ गया। तब कुमार की आज्ञा से उन भृत्यों द्वारा ढ़ाल से ही आच्छादित कर दिया गया, जिससे अधिक लोग न जान सके। तब कुमार ने विचार किया–"प्रातःकाल राजा इसको मार डालेगें। पंचेन्द्रिय के वध से निश्चित ही मुझे पाप लगेगा, तब मेरे द्वारा गृहीत नियम मलिन हो जायेगा। पाप से उत्पन्न यश तो दुर्गति का ही हेतु है। अतः अभी इसे जीवनदान देना ही श्रेष्ठ है।

इस प्रकार विचार करके उसे जीवित ही मुक्त कर दिया। तत्क्षण भागता हुआ वह चोर कहीं चला गया। कुमार ने रक्षा की बात छिपाने के लिए सेवकों के आगे कहा–"चोर को मुक्त करने की बात मत कहना।"

प्रभात में राजा ने सभी सेवकों को बुलाया, तब वे चोर नहीं पकड़ पाने से खिन्न होते हुए राजा के आगे नमन करके खड़े रह गये।

राजा ने कहा–"हे सैनिकों, क्या चोर पकड़ में नहीं आया?"

उन सभी ने कहा–"नहीं।"

सभी के चले जाने के बाद कुमार के किसी सेवक ने राजा का प्रियपात्र बनने के लिए और राजा के दण्ड के भय से राजा के सामने चोर को मुक्त करने की घटना स्वयमेव ही कह दी।

यह सुनकर कुपित होते हुए राजा ने कुमार के वस्त्र–आभूषण आदि लेकर कुमार को देश–निकाला दे दिया। कुमार अपने पूर्वकृत कर्मों की निन्दा करते हुए मार्ग में चलने लगा। विचारने लगा कि मैंने पूर्व में दूषित–भाव से पंचेन्द्रय–जीवों को मारण, ताड़न आदि पाप किये हैं। उनका फल ऐसा ही होता है। क्या इतने मात्र से ही मैं छूट जाऊँगा? न जाने आगे क्या होगा? क्योंकि अत्यन्त उग्र पुण्य व पाप का

फल यहीं प्राप्त हो जाता है–यह शास्त्रोक्ति है। इस प्रकार आत्म–निन्दा करते हुए वन–वन में घूमने लगा। फलादि के द्वारा प्राणों को धारण करते हुए कितने ही दिनों तक घूमते–घूमते भद्दिलपुर नामक नगर को प्राप्त हुआ। तब कुमार क्षुधा से पीड़ित होते हुए भिक्षा के लिए नगर में प्रविष्ट हुआ। देखो भव्यों! रूठा हुआ भाग्य क्या नहीं करता? कहा भी है–

यस्य पादयुगपर्युपासनाद्, नो कदापि रमया विरम्यते।
सोऽपि यत् परिदधाति कम्बलं तद् विधेरधिकतोऽधिकं बलम्।।

जिनके पाद युगल की पर्युपासना से लक्ष्मी से कभी विरमण नहीं होता। वह भी जिस कम्बल को धारण करता है, वह विधि की अधिकता से अधिक बलवाला हो जाता है। अतः विधि बलवान है।

उस कुमार ने उसी दिन पर्व होने से एक महेभ्य के घर से सत्तु व गुड़ की भिक्षा प्राप्त की। वह उसे लेकर सरोवर के किनारे गया। वहाँ सत्तु को जल से गीला करके उसमें गुड़ मिलाकर खाने योग्य बनाया। तब कुमार ने विचार किया–"अभी कोई भी अन्न का प्रार्थी आ जाये, तो बहुत अच्छा हो। उसे थोड़ा देकर बाद में मैं खाऊँ। थोड़े से थोड़ा भी हो, तो भी देना चाहिए। यह श्रुति है।"

इस प्रकार वह चिन्तन कर ही रहा था कि तभी असीम पुण्योदय से कोई मासखमण के तपस्वी साधु को मार्ग में जाते हुए देखा। वे पारने के लिए गोचरी लेने गाँव में गये थे, वहाँ पहले प्रासुक जल तो मिल गया, पर एषणीय आहार प्राप्त नहीं हुआ। अतः जल मात्र लेकर "नहीं प्राप्त होने पर तप की वृद्धि होती है और प्राप्त होने पर देह की धारणा होती है" इस प्रकार विचार करते हुए एकमात्र समता में लीन संतोष रूपी अमृत का भोजन करते हुए मुनि नगर से बाहर जा रहे थे। उन्हें देखकर कुमार मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न होते हुए विचार करने लगा–"अहो! आज भी मेरा भाग्य जागृत है, जो यह अतर्कित मूर्तिमान धर्म की तरह साधु जी पधारे हैं। यह विचारकर सात–आठ पाँव सम्मुख जाकर कहा–

अद्य पूर्वसुकृतं फलितं में, लब्धमद्य प्रवहणं भववार्द्धौ।
अद्य चिन्तितमणिः करमागाद्, वीक्षितो यदि भवान् मुनिराजः।।

"आज मेरे पूर्वकृत सुकृत फलित हुए हैं। भव–समुद्र में आज मुझे तिरानेवाला यान प्राप्त हुआ है, आज मेरे हाथ चिंतामणि रत्न आया है, क्योंकि आज मैने आपके दर्शन पाये हैं।

आज मुझ अनाथ को परम नाथ मिल गये हैं। हे करूणा–सागर! मुझ करूणा–पात्र पर कृपा करके पात्र फैलायें, यह निर्दोष पिण्ड ग्रहण करें और मेरा निस्तार करें।"

इस प्रकार कहते हुए समग्र पिण्ड उठाकर हाथ में लेकर साधु के आगे खड़ा हो गया। तब साधु ने भी एषणीय जानकर कहा–"देवानुप्रिय! अल्प ही प्रदान

करो। हम समग्रग्राही नहीं हैं।"

कुमार ने कहा–"स्वामी! यदि संपूर्ण संसार के दुःख समूह से रक्षण की इच्छा हो, तो मैं अन्न का एक भाग ही दूँ, पर मुझे तो मेरे संपूर्ण संसार को जड़ से उखाड़ने की इच्छा है। अतः यह सब देने के लिए उत्कण्ठित हूँ। आप तो परम उपकारी, जगत के लिए एकमात्र निष्कारण वत्सल रूप हैं। इसलिए मुझ दीन पर दया करके इस समग्र पिण्ड को ग्रहण करके बहुत दिनों से दान देने की इच्छा को पूर्ण कीजिए, जिससे मुझे निरुपाधिक सुख की निश्चय ही प्राप्ति होवे।"

इस प्रकार उसके अत्यन्त भक्ति से भरे भावोल्लास को जानकर उसकी भक्ति खण्डित न हो, अतः मुनि ने पात्र बाहर निकाला। कुमार ने भी समग्र पिण्ड दे दिया। उस अवसर पर कुमार के मस्तक से पैर तक समुद्र की लहरों की तरह हर्षोल्लास वृद्धि को प्राप्त हुआ, जिससे हृदय मन में न समाता था। हर्ष के प्रकर्ष से प्रमोद से जकड़े हुए की तरह प्रतीत होता था। मानो आजन्म दरिद्री को अकस्मात् करोड़ों मूल्य का निधान अपने घर में प्राप्त हो गया हो। हर्ष से व्याकुल होता हुआ वह वचन बोलने में भी समर्थ नहीं हो पा रहा था। ऐसे अवसर पर उसी मार्ग से आकाश में जाते हुए शासन–देव व देवी कुमार की अत्यन्त दान–भक्ति को देखकर चित्त में अत्यन्त चमत्कृत हुए। उन्होंने कुमार के ऊपर गुण–राग से आकर्षित हृदयवाले होकर ऊँचे स्वर में देव–दुन्दुभि बजवायी और कहा–"तुम धन्य हो! तुम धन्य हो! तुमने श्रेष्ठ दान दिया है। अतः धर्म रूपी वृक्ष के पुष्प रूप चन्द्रधवल का राज्य तुम्हें दिया।"

इस प्रकार वरदान देकर देव–देवी अन्तर्धान हो गयी। कुमार तो साथ–आठ कदम साधुजी के पीछे जाकर पुनः नमन कर अपने स्थान पर आ गया। पर दान के अवसर पर मिले हर्ष से पुनः–पुनः पुलकित होने लगा। कितने ही समय तक अनुमोदना करके पुनः गाँव के अन्दर भिक्षा द्वारा सत्तु प्राप्त करके प्राणवृत्ति की। उसी शासन–देवी ने तुम्हें भी स्वप्न में बताया। पुनः दूसरे दिन उसी देवी द्वारा अति–भक्तिपूर्वक दान–धर्म के फल की प्राप्ति के द्वार से यश–कीर्ति के विस्तार के लिए देव–वर्ग के साथ बहु–मानपूर्वक यहाँ लाया गया राजन! यह वही वीरधवल है।"

तब राजा ने सुख–क्षेम वार्त्ता आदि शिष्टाचार करके, तिलक करके सात अंग वाला राज्य उसे दे दिया। वीरधवल को शिक्षा दी कि तुम्हारे द्वारा राज्य शुद्ध परिणतिपूर्वक और न्यायपूर्वक पाला जाना चाहिए, जिससे किसी को भी मेरी याद न आये। अन्त में तुम भी चारित्र ग्रहण करना। श्लेश्म से चिपकी मक्खी की तरह मत बनना।

वीरधवल ने उसकी सभी बातें विनयपूर्वक एकाग्र मन से सुनीं तथा स्वीकार की। उसके बाद वीरधवल ने महोत्सवपूर्वक चन्द्रधवल, धर्मदत्त आदि को अनुमोदनापूर्वक दीक्षा प्रदान करवायी। उन्होंने पंच–महाव्रत अंगीकार किये। विधिपूर्वक शिक्षा लेकर

यथार्थ मुनि मण्डली में प्रविष्ट हो गये। गुरुदेव ने उपदेश दिया–

चारित्ररत्नान्न परं हि रत्नं, चारित्रलाभान्न परो हि लाभः।
चारित्रवित्तान्न परं हि वित्तं, चारित्रयोगान्न परो हि योगः।।

चारित्र रत्न से श्रेष्ठ अन्य रत्न नहीं है। चारित्र लाभ से श्रेष्ठ अन्य कोई लाभ नहीं है। चारित्र धन से श्रेष्ठ अन्य कोई धन नहीं है और चारित्र योग से श्रेष्ठ अन्य कोई योग नहीं है।

न च राजभयं न चौरभयम्, इहलोकसुखं परलोकहितम्।
नर–देवनतं वरकीर्तिकरं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम्।।

इसमें न तो राजा का भय रहता है और न चोरों का ही भय रहता है। यह इसलोक में सुखकारी और परलोक में हितकारी है। मनुष्य व देवों द्वारा यह नमस्कार–कारी है–इस प्रकार यह श्रमणत्व रमणीय से भी रमणीय है।

तावद् भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डकाङ्क्षिणः।
यावन् कुले विशुद्धात्मा यतिः पुत्रो न जायते।।

पिण्ड के आकांक्षी पितर संसार में तब तक भ्रमण करते है, जब तक कुल में यति रूप पुत्र पैदा नहीं होता।

इत्यादि धर्म–देशना सुनकर वीरधवल आदि ने भी गृहस्थ– धर्म को अंगीकार किया।

उधर जातिस्मरण ज्ञान से युक्त मर्कटी को गुरु–आज्ञा से धनवती ने घर ले जाकर अपने पुत्र व पुत्रवधू से पूर्वभव सम्बन्धी स्नेह–सम्बन्ध के विपाक को बताकर कहा–"इसका पालन–पोषण हमें करना चाहिए। यह मर्कटी जाति–स्मरण ज्ञान से सम्पन्न है। अतः इसके एकान्तर उपवास के नियम–योग्य पारणा आदि का तुम दोनों ध्यान रखना। ज्यादा क्या कहूँ? मेरे जैसा ही इसको समझाना, कुछ भी अन्तर मत समझना।"

यह कहकर धनवती संयम में सावधान मनवाली हो गयी। मर्कटी भी धर्म की आराधना करके थोड़े ही समय में मरकर सौधर्म देवलोक में देवी हुई। अवधिज्ञान से उपकार का स्मरण कर उन्हीं आचार्य की सेवा में रहने लगी। गुरुदेव भी नवदीक्षित साधुओं के साथ पृथ्वी पर विहार करने लगे। क्रम से संयम की आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त करके चन्द्रधवल राजर्षि ने मोक्ष को प्राप्त किया। धर्मदत्त व धनवती भी संयम की आराधना करके एक–एक मास की संलेखना से समाधि–मरण द्वारा मरकर अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ तेंतीस सागरोपम की आयु का पालन करके महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य–जन्म लेकर मोक्ष में जायेंगे।

उधर वीरधवल महा–विभूति के साथ नगर में प्रवेश करके न्याय–घण्टे के वादनपूर्वक राज्य का पालन करने लगा। कुछ दिनों बाद उसके पिता ने उसकी वार्ता सुनी, तो हर्षपूर्वक बहुमानपूर्वक बुलाकर उसे राज्य देकर आत्म–साधना में जुट गये।

इस प्रकार वीरधवल दोनों राज्यों को बहुत समय तक पालकर अवसर आने पर श्रीदत्त नामक पुत्र को राज्य देकर तीन प्रकार की शुद्धिपूर्वक चरित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त हुआ।

।। इति धर्मदत्त–वृत्त व उसके अन्तर्गत चन्द्रधवल व वीरधवल का वृत्तान्त।।

इसलिए हे भव्यों! धर्मदत्त के मोह से मलिन किये गये कर्मों के विचित्र विपाक से युक्त परम वैराग्य–जनक चरित्र को सुनकर उसे जीतने के उपाय रूप परम वैराग्य रस से युक्त संसार भावना को भजो, क्योंकि संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों द्वारा विविध कर्मों की गति से चारों गतियों में किस–किस पर्याय को प्राप्त नहीं किया गया। जैसे–राजा बनकर रंक होता है और रंक भी राजा हो जाता है। गरीब अमीर बन जाता है और अमीर गरीब बन जाता है। देवराज मरकर गधा बनता है और गधा मरकर देव बनता है। कीड़ी हाथी के रूप में पैदा होती है और हाथी मरकर कीड़ी बनता है। इत्यादि भवान्तर में अनेक पर्यायें उत्पन्न होती है। जीव को पूर्वभव में अनुभूत कुछ भी याद नहीं रहता। प्राप्त भव के अभिमान से मत्त होकर रहता है। जो इसलोक में अखण्ड प्रचण्ड शासनवाला राजा सात अंगों से युक्त राज्य का पालन करता हुआ आँख झपकाने मात्र में करोड़ों जीवों को कम्पायमान करता है, हमेशा श्रेष्ठ बल से युक्त होता है, अनेक राजाओं को अपने चरणों में नमाता है, उसके मुख से निकला एक वाक्य भी व्यर्थ नहीं जाता है, शिकार के द्वारा हजारों बार जीवों को व्यथित करता है, गीत–नृत्यदि में मग्न रहता हुआ जगत के जीवों को तृणवत् मानता हुआ रहता है, वह भी मरकर नरकों में उत्पन्न होता हुआ एकाकी ही क्षेत्र वेदना, परमाधामी देवों द्वारा दी जानेवाली वेदना तथा परस्पर कृत वेदना को सहन करता है, वहाँ भी अनेक जीवों को मारकर तिर्यंच या मानव भव पाकर हिंसादि पाप कर पुनः नरकों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार के क्रम से भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार परभव तो दूर रहा, इसी भव में विचित्र कर्मों के विपाकोदय से जीव अनेक अवस्थाओं का अनुभव करता है। चक्रवर्ती भी भिखारी की तरह गोते खाता हुआ सुना जाता है। जब तक जीव कर्मों के अधीन है, तब तक संसार में परिभ्रमण करता है। जब तक अच्छी श्रद्धा से श्रीमद् जिनवाणी के द्वारा कर्म–गति में कुशल होकर मोहनीय कर्म का क्षय नहीं करता, तब तक जीव को सुख कहाँ? वहाँ जो सांसारिक सुख है, वह तो चोर को वध के समय मिष्टान्न देने के समान है। जैसे मरण अत्यन्त सन्निकट देखकर चोर को मिष्टान्न प्रिय नहीं लगता, इसी प्रकार आगम से पौद्गलिक सुख के आस्वादन का कटु फल रूप नरक–निगोदादि के स्वरूप को जानकर सांसारिक सुख प्रिय नहीं लगता, बल्कि वैराग्य का ही उदय हैं। क्योंकि–

मधुरं रसमाप्य स्यन्दते, रसनायां रसलोभिनां जलम्।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं, विरतानां तु ततो दृशि जलम्।।

मधुर रस को प्राप्त करके रस–लोभियों की जिह्वा में पानी आने लगता है, पर विपाक की कटुता को जानकर विरत व्यक्तियों के तो दृष्टि में जल आ जाता है।

इस प्रकार पुनः–पुनः वीर–देशना सुनकर दुगुने हुए संवेगवाला शालिभद्र प्रभु को नमन करके वेगपूर्वक अपने भवन पर आकर, वाहन से उतरकर, घर की ऊपरी मंजिल पर जाकर जहाँ माता थी, वहाँ आकर बोला–"माँ! आज मैं वीर प्रभु की वन्दना के लिए गया। वहाँ मैंने धर्मदेशना सुनी, वह देशना मुझे रुचिकर प्रतीत हुई।"

माता ने कहा–"तुम धन्य हो! कृतपुण्य हो! तुमने बहुत अच्छा किया, पुत्र! जो तुम श्रीमद् जगन्नाथ को वन्दन करने के लिए गये।"

तब शालिभद्र ने कहा–"माता! उस देशना को सुनकर मेरी अनादिकाल की भव भ्रान्ति दूर हो गयी है। चतुर्गति रूप संसार मुझे सम्यक् प्रकार से दिखाई दे रहा है। अब संसार में मेरा राग–भाव नहीं रहा। वर्तमान में रमणीय लगनेवाले कामभोग अनन्तकाल तक दुःख के हेतु रूप होने से अब मुझे रोचक प्रतीत नहीं होते। इस संसार में जरा–मरणादि दुःख के समय में कोई भी शरण प्रदाता नहीं है। दुष्कर्म के फल–अनुभव के समय एकाकी जीव ही भटकता हुआ उदयगति को प्राप्त होता है। करोड़ों की संख्या में रहे स्वजन व सेवक–वर्ग के होने पर भी जीव अकेला ही जाता है और आता है। शुभाशुभ कर्म–प्रकृति को छोड़कर अन्य कोई भी साथ नहीं जाता है। जब तक जन्म–मरण आदि का भय नहीं जाता, तब तक जीव को सुख नहीं हैं। शहद लिपटी तलवार की धार को चाटने के समान ये विषय मुख में मीठे तथा परिणाम में कठोर होते है। वे विषय शूली, दुर्जन तथा चोर की तरह अवश्य ही दुःख देते हैं। अतः अगर आपकी आज्ञा हो,तो जन्मादि समस्त दुःखों के समूह का नाश करने रूप परम औषधि के रूप में चारित्र को ग्रहण करूँ। इस परम पवित्र औषधि द्वारा मेरे जैसे अनंत जीव परमानंद पद को प्राप्त हुए हैं। अतः मुझे चारित्र ग्रहण करने की अनुज्ञा प्रदान कीजिए।"

शालिभद्र के इन वचनों को सुनकर स्नेह से ग्रस्त माता मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। तब दासियों द्वारा शीतल पवनादि के उपचार द्वारा उन्हें होश में लाया गया। फिर वियोग दुःख की कल्पना–मात्र से विदीर्ण हुए ह्रदय से आक्रन्दन करती हुई माता कहने लगी–"हे पुत्र! कान में पिघले सीसे को डालने के समान तुमने यह क्या कहा? तुम्हारे व्रत की यह कौनसी बात है? व्रत तो तुम्हारा अशुभ सोचनेवाले पड़ोसी ग्रहण करेंगे, तुम चारित्र क्यों ग्रहण करो?"

तब शालिभद्र ने कहा–"माता! ऐसा मत कहो। जो चारित्र ग्रहण करनेवाले होते हैं, वे किसी के भी अशुभ–चिन्तक नहीं होते। वे तो जगत के जीवों पर मैत्री–भाव को प्राप्त होते हुए सकल जीवों के हितकारक तथा जगत के जीवों द्वारा

वन्दनीय होते हैं।''

तब माता ने कहा–''बेटा! तुम्हारा शरीर अति कोमल है। इस शरीर से संयम–निर्वाह नहीं हो सकता। चारित्र तो वज्र के समान कठिन है। जो अति अति मजबूत शरीरवाले हैं, उनके द्वारा भी भागवती दीक्षा का पालन दुष्कर है, तो तुम कैसे निर्वाह कर पाओगे?''

शालिभ्रद ने कहा–''मेरे से भी ज्यादा कोमल राजा एकमात्र राज्य को छोड़कर दुष्कर चारित्र लेकर श्रीवीर प्रभु के चरण कमल की उपासना कर रहे हैं।''

माता ने कहा–''वत्स! मैंनें तो तुम्हारे शरीर की दृढ़ता तभी जान ली थी, जब महाराज हमारे घर पधारे थे। तुम्हें बहुमानपूर्वक अपनी गोद में बिठाया था। उस समय राजा ने स्नेहपूर्वक तुम्हारी पीठ पर हाथ फेरा, तब तुम्हारे शरीर से पहाड़ी झरने के उद्‌गार की तरह पसीने की धारा बह निकली थी। मैंने ही विनति करके तुम्हें उनसे छुड़वाया था। ऐसे कोमल शरीरवाले तुम जिनदीक्षा के लिए उत्सुक हो, यह किसके लिए हास्यास्पद नहीं होगा? खटमल गुड़ की गुणी को उठाने की इच्छा करे–यह कैसे संभव है?''

तब शालिभद्र ने कहा–''माता! बेइन्द्रियादि जीव अत्यन्त कोमल होने पर भी पुरुषार्थ से ही सघन लकड़ी को खोखला बना देते हैं और उसके रस को सोख लेते हैं। अतः कठिनता या कोमलता का कार्य के साधने व न साधने में एकान्त रूप से नित्यत्व नहीं है। बल्कि तीव्र श्रद्धा के साथ किये गये उद्यम से सभी कार्य सिद्ध होते हैं। और भी, परम सुख के आस्वाद में निमग्न, सुख के आस्वाद में एकमात्र रसिक, छत्र की छाया से आच्छन्न शरीरवाले भी अति कोमल सिंहासन पर बैठे हुए, जिनके आगे गायक–वृन्द द्वारा आतोद्य से उत्पन्न मधुर राग की मूर्च्छना से मूर्च्छित हृदयवाले राजा होते हैं, वे भूमि पर पाँव भी नहीं रखते। घर के अन्दर घूमते हुए बहुत से सेवकों द्वारा ''खमा–खमा'' शब्द से लालित किये जाते हुए राज्य सुखों का भोग करते हैं। प्रत्येक ऋतु के अनुकूल प्रत्येक सुख का भोग करते हुए बीते हुए काल को भी नहीं जान पाते। पर सभी सुखों को छोड़कर, भारी लौह–कवच को धारण करके शिर पर वज्र–कण्टक से आकीर्ण लोहमय मुकुट धारण करके, अत्यधिक वेगवाले अश्व पर सवार होकर, तलवार, खेटक, तोमर, धनुष–बाण आदि 36 प्रकार के आयुधों के साथ तैयार कर, शूरता के प्रकर्ष सेना में सबसे आगे होकर, ग्रीष्मकाल के सूर्य के अति प्रचण्ड ताप से तप्त, छाया व जल से वर्जित रणभूमि में मरण–भय को त्यागकर, चक्र–भ्रमण, वेग से गमन आदि अनेक घुड़सवारियाँ करते हुए वज्र से भी कठोर हृदयी बन, अनेक धनुष–बाण आदि की कला के द्वारा शत्रुओं का हनन करते हुए, शत्रु के द्वारा किये गये घातों से छलपूर्वक बचते हुए शत्रुओं को जीतकर जय को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मेरे जैसे संसारी भी पूर्व मूर्खता से ''संसार में भोग ही तत्त्व के रूप हैं।'' इस प्रकार मानते हुए पूर्वकृत पुण्यों के द्वारा प्राप्त भोगों को भोगते हुए

पराधीन को स्वाधीन मानते है। वे अस्थिर को स्थिर की तरह, परकीय को स्वकीय की तरह, भविष्य में दुःखदायी को सुखदायी मानते हुए, औपचारिक को वास्तविक मानते हुए, बद्ध लालसावाले, उसी में लीन होते हुए बीते हुए काल को नहीं जानते। उसके बाद किसी–किसी के कुशलानुबन्धी पुण्य के उदय से सद्गुरु का संयोग हुआ। तब दुःख के एकमात्र कारण कषायों को सुख–प्राप्त करानेवाले साधन जानते हुए हेय पदार्थों को उपादेय मानते हुए पूर्व संचित पुण्य धन को लूटनेवाले विषय–प्रमाद को अति–प्रिय परम हितैषी मानते हुए विपरीत श्रद्धान वाले सांसारिक जीवों को देखकर उनके निष्कारण परम उपकारी जगत के एकमात्र बन्धु सद्गरू का चित्त करुणा से आर्द्र हुआ। उसके बाद "अहो! ये बिचारे प्रमाद के सेवन में तत्पर चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण न करें" इस प्रकार परम दयाभाव से आर्द्र चित्त द्वारा उन्हें हितोपदेश दिया–"हे भव्यों! ये पाँचों प्रमाद सुख के हेतु हैं– इस प्रकार तुम जानते हो, पर तुम्हारे लिए इनके जैसा बैरी और कोई नहीं है। ये पाँच ही जगत के बैरी मोह राजा के सिपाही हैं। पूर्व में तुम्हारे द्वारा जो चतुर्गति में दुःख प्राप्त किया गया, वह मोह–राजा की आज्ञा से इन्हीं के प्रभाव से प्राप्त किया गया। आगे भी अगर तुम उसी को चाहते हो, तो यथारुचि जो जी में आये, वही करो। पर अगर सुख पाने की इच्छा है, तो इस चारित्र–चिन्तामणि को ग्रहण करो, जिसके प्रभाव से परिवार सहित अनादि शत्रु मोहराज को शीघ्र जीतकर जन्म–जरा–मरण–रोग–शोक आदि समस्त दुःखों से रहित परमानन्द पद को सादि अनन्त स्थिति से प्राप्त किया जाता है। अपुनरावृत्ति के द्वारा अकृत्रिम निरुपाधिक अप्रयास रूप अनन्त शाश्वत सुख का अनुभव किया जाता है।"

अतः हे माता मैंने भी परमोपकारी वीर के वचनों से हार्द को जान लिया है, अब मैं वैसा ही करूँगा।"

माता ने कहा–"वत्स! चारित्र बहुत दुष्कर है। गहन वन, पर्वत व पर्वत की गुफा आदि में निवास करना होता है। वहाँ तुम्हारी सार सम्भाल कौन करेगा? घर में तो प्रतिक्षण सावधानीपूर्वक सेवकादि यथानुकूल कार्य करते हैं। चारित्र ले लेने पर वहाँ तो कोई नहीं होगा, बल्कि संयम–श्रुत –तप आदि करने पड़ते हैं। वयोवृद्ध आदि की सेवा करनी पड़ती है।"

शालिभद्र ने कहा–"माता! वन मे रहनेवाले मृगादि सुकोमल पशुओं की कौन सार करता है? उनसे भी मैं तो पुण्यवान हूँ, क्योंकि परम करूणा से भरे हुए आचार्य उपाध्याय–स्थविर गणावच्छेदक, रत्नाधिक आदि की सहायता से मुझे क्या दुःख हो सकता है? अतः सौ बात की एक बात करता हूँ कि मैं चारित्र तो अवश्य ही ग्रहण करूँगा, इससे कोई सन्देह नहीं है।"

यह सुनकर माता ने जान लिया कि इन वचनों से यह निश्चय ही घर का त्याग करेगा। अतः अब तो इस कार्य में देर होती जाये, वैसा ही करना चाहिए। यह

विचार कर माँ शालिभद्र से बोली–"वत्स! अगर तुम चारित्र ग्रहण करना ही चाहते हो, तो तुम जल्दी मत करो। कुछ दिन तक प्रतीक्षा करो। थोड़ा–थोड़ा त्याग करो। प्रतिदिन एक–एक नारी का त्याग करो, जिससे अपनी शक्ति की परीक्षा हो सके फिर धर्म–ध्यान में मन लगाओ, जिससे अखण्ड संयम का पालन कर सको।"

माता के इन वचनों को सुनकर शालिभद्र विचार करने लगा–"स्नेहाविष्ट माता सहसा तो आज्ञा देगी नहीं और माँ की आज्ञा के बिना कोई भी चारित्र प्रदान नहीं करेगा। अतः जो माता कहती है कि दस दिन चारित्र को तोलो, तो माता के वचन स्वीकार करने से माँ भी प्रसन्न हो जायेगी। मैंने जो मन में निर्धारित किया, वह अभी तो होनेवाला नहीं है। अतः माता के वचनों का पालन करना ही युक्त है। अवसर आने पर मन–इच्छित को साकार रूप दूँगा।"

इस प्रकार विचार करके माता को नमन करके महल के ऊपर वाले वासगृह में चढ़ गया। माता भी प्रसन्न हो गयी कि इस सुपुत्र ने मेरे वचन स्वीकार कर लिये, मेरी आज्ञा का लोप नहीं किया। उधर जिनवाणी से परिकर्मित मतिवाले शालिभद्र ने संसार–स्वरूप की चिन्ता से युक्त होकर शेष अहोरात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन प्रभात होने पर पहली पत्नी को आज्ञा दी–

"आज से तुम अधोभूमि में रहने चली जाओ। मेरी बिना आज्ञा के यहाँ मत आना।"

यह सुनकर "कुलीन स्त्रियों को पति के वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए" इस कारण से दुःखपूर्वक वह अधोभूमि में जाकर रहने लगी एवं सोचने लगी कि "हा! मेरे स्वामी ने यह क्या किया? मुझ निरपराध का त्याग क्यों किया? क्या मुझे सबसे पहले पाणिग्रहण किया था? लज्जा और विनय से ढ़की मैं कुछ भी प्रश्न करने में समर्थ न हो पायी? अब क्या होगा? मेरे दिन–रात कैसे बीतेंगे? सबसे आगे मुझे मेरे पति ने क्षण–भर में गणना से बाहर कर दिया। अतः अनुमान से जाना जाता है। कि क्रम से सभी की यही गति होनेवाली है। अगर कभी अन्यों का त्याग नहीं होगा, तो मेरे ही दुष्कर्मों का उदय है। मैं ही सभी दुर्भागिनियों की सिरमौर हूँ।"

इस प्रकार विकल्प–कल्पना की कल्लोलों से कष्ट में गिरी हुई मुख के निःश्वास से मलिन हुए दर्पण की तरह स्याह मुखवाली होकर अत्यन्त कष्टपूर्वक दिन व रात्रि व्यतीत की।

तीसरे दिन प्रभात होने पर पुनः दूसरी पत्नी को आज्ञा कि तुम भी आज से त्यक्त हो, अतः प्रथम पत्नी के पास जाकर रहो। तब वह भी उदास मुख से उसके पास चली गयी। प्रथम पत्नी भी उसे आते देखकर थोड़ा मुस्कराकर उठकर सम्मुख जाकर हाथ से ताली बजाकर कहने लगी–"सखी! आओ! आओ। तुम्हें भी मेरे जैसी गति प्राप्त हो गयी है–ऐसा दिखाई देता है। तुम चिन्ता मत करो। सभी की यही गति होनेवाली है, ऐसा दिखाई देता है। तो फिर हम दोनों की चिन्ता निरर्थक है। "पाँच

होने से दुःख नहीं होता'' यह कहावत है।''

तब तीसरी सोचने लगी कि कल मेरी भी यही दशा होनेवाली है। तब जैसे–जैसे सूर्य ऊपर चढ़ने लगा, वैसे–वैसे चिन्ता व शोक से युक्त होने से उसका कहीं भी चित्त नहीं लग रहा था। चौथे दिन उसे भी आज्ञा देकर भेज दिया। यह बात जब भद्रा को पता चली, तो शालिभद्र के समीप आकर विविध प्रकार से स्नेह–युक्त वचन–युक्तियों के द्वारा अत्यन्त दीन वचनों द्वारा समझाया, पर वह संयम लेने के भावों से जरा भी पीछे न हटा। इस प्रकार प्रतिदिन एक–एक नारी को कामदेव की नगरी की तरह त्यागने लगा, मोहनीय की उत्पत्ति का कारण जानकर उनके स्पर्श–मात्र के राग को भी धारण नहीं करता था।

उधर शालिभद्र की बहन सुभद्रा अपने पति धन्य के मस्तक को सुगन्धित जल से धोकर अत्यन्त सुगन्धित तेल आदि डालकर कंघी से चोटी गूँथ रही थी, अन्य सौतें भी यथा–स्थान बैठी हुई थीं। तब उस सुभद्रा के नयनों से भ्रातृ–वियोग के दुःख का स्मरण हो आने से चित्त के स्वस्थता–शून्य हो जाने से कुछ उष्ण अश्रु धन्य के दोनों कन्धों पर गिरे। तब धन्य ने कुछ उष्ण अश्रु–जल का स्पर्श होने से ऊँची व तिरछी नजर से प्रिया का मुख देखकर कहा–''प्रिये! इन अश्रुओं का कारण क्या है? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा खण्डित की है? अथवा किसी के द्वारा तुम्हारे मर्म वचन उद्घटित किये गये है? या किसी ने तुम्हें तुच्छ शब्द कहे हैं। पूर्वकृत पुण्य–प्रभाव–जन्य सकल सुखों से भरे मेरे भवन में तुम्हें दुःख का उदय कैसे हुआ? जिससे तुम्हारे बिना बादल के अकस्मात् बादलों से बरसात की तरह अश्रु–बिंदु गिरे?''

तब वह गद्‌गद् होकर बोली–''स्वामी! आपके भवन में दुःख लेशमात्र भी नहीं है। लेकिन मेरा सहोदर शालिकुमार राजा के घर पधारनेवाले दिन से ही उदासीन हो गया है। वीर प्रभु के वचन श्रवण करने के बाद तो परम वैराग्य से वासित अन्तःकरण वाला होकर व्रत ग्रहण करने को इच्छुक है। वह प्रतिदिन एक–एक पत्नी का त्यागकर रहा है। एक महीने में वह सभी पत्नियों का त्याग कर देगा और व्रत ग्रहण कर लेगा, तब मेरा पितृगृह भाई से शून्य जंगल की तरह मेरे उद्वेग का कारण हो जायेगा। भाई के चले जाने पर प्रतिवर्ष रक्षा का बन्धन किससे बाँधूंगी? कौन मेरी प्रसन्नता पूर्ण करेगा? कौन मुझे पर्व के दिवसों पर व शुभ दिवसों पर आमंत्रित करेगा? किस शुभ हेतु से उत्साहपूर्वक मैं पिता के घर जाऊँगी? कभी पिता के घर चली भी गयी, तो दुःख भरे हृदय से ही मेरा आगमन होगा। स्त्रियों का मन पितृगृह के सुख की वार्त्ता के श्रवण–मात्र से हृदय अमृत से पूर्ण होने की तरह शीतल प्रसक्ति का पात्र हो जाता है। श्वसुर गृह से उदासीन स्त्रियाँ पिता के घर जाकर सुख प्राप्त करती हैं, पर मैं पितृ–भ्रातृ–विहीन किसके घर में जाऊँगी? अतः भाई के वियोग–श्रवण से मेरे आँखों से आँसू निकल पड़े। अन्य कुछ भी दुःख नहीं है।''

इस प्रकार के सुभद्रा के वचन सुनकर कुछ हँसते हुए साहस के सागर धन्य ने कहा–"प्रिये! जो तुमने पिता के घर की शून्यता रूप दुःख कहा, वह तो सत्य है, क्योंकि पिता के घर की सुख–वार्त्ता सुनकर स्त्रियों का दिल उल्लसित होता है। स्त्रियाँ हमेशा पिता के घर का शुभ–चिन्तन करती हैं, प्रतिदिन आशीर्वाद देती हैं, यह तो युक्त ही है। पर तुमने जो कहा कि प्रतिदिन एक–एक स्त्री का त्याग करता है–यह सुनकर तो मुझे तुम्हारा भाई महान कायर प्रतीत होता है। प्रिय! कायर ही धीरवान पुरुष द्वारा की गयी वार्त्ता के श्रवण से उल्लसित होता है, धैर्यवान के द्वारा आचरित को करने के लिए इच्छा करता है। उसे आदरने के लिए तैयार होता है, परन्तु बाद में अल्पसत्त्व हो जाने से मन्द हो जाता है। अन्यथा श्रीमद् वीर वचनामृत के सिंचन से उत्पन्न व्रत ग्रहण करने के परिणाम रूप अंकुरवाला वह कैसे मन्द पड़े? धैर्यवान ने जो कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया है, वह करना ही चाहिए, प्राणांत आने पर भी वे उसे नहीं छोड़ते। हे प्रिय! मनुष्यों के प्राण सबसे पहले निरालस्य–वाले होते है, परन्तु बाद में निःसत्त्वों के प्राण विलम्ब करने से कार्य–सिद्धि को प्राप्त नहीं करवाते। उनकी अपेक्षा तात्त्विक लोगों के प्राण बिना विलम्ब के कार्य को साधते हुए विशेषता को प्राप्त होते है, वे जितनी जल्दी जैसा होता है, वैसा ही करते हैं, देर नहीं करते।"

इस प्रकार अपने पति धन्य की गर्व–युक्त वाणी को सुनकर शालिभद्र के वैराग्य से विस्मित होते हुए सभी धन्य से कहने लगीं–"हे प्राणेश! बलशाली व्यक्ति अपनी भुजाओं से समुद्र को तैर सकता है, पर पूर्ण व सुन्दर ध्यानवाले पुरुष के द्वारा भी यह जिनाज्ञा के अनुरूप तप का पालन करना दुष्कर है, क्योंकि सर्वाक्षर सन्निपाती सर्वज्ञ के समान चौदह पूर्वधारी भी पतित होते हुए सुने जाते हैं, तब अन्य की तो बात ही क्या? इस जगत में दुःखित सांसारिक लोग आजीविका आदि दुःख से सन्तप्त होते हुए मोक्ष सुख के एकमात्र कारण रूप तप–संयम ही है–इस प्रकार कुछ–कुछ जानते हुए भी कितने लोग चारित्र को ग्रहण करते हैं? पर इसने तो मनुष्य जन्म में भी देवताओं सम्बन्धी भोग का विलास किया है। जो रत्नजटित स्वर्णाभूषण आदि चक्रवर्ती के घर में तथा तीन जगत के नाथ श्री अरिहन्तों के घर *में भी बासी पुष्पों की माला के समान निर्माल्यता को प्राप्त नहीं होते, उन आभूषणों* को इसके घर में नित्य मैल की तरह अवगणना करके फेंक दिया जाता है, फिर उनकी कोई खबर भी नहीं लेता। उन सुवर्ण, रत्न, देवदूष्य आदि को श्लेश्म की तरह घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। उद्यमवान रत्नों के व्यापारी पुरुषों द्वारा जगत में भ्रमण करते हुए जो एक भी रत्न दृष्टि पथ पर न आया, वैसे रत्नों का समूह इसके पाँवों पर लौटता है। वैसे रत्नों से ही इसके घर का भूमितल बँधा हुआ है। जिसकी 32 पत्नियाँ मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा के रूप–सौन्दर्य को तिरस्कृत करती हैं, पति के वचनों के अनुकूल ही प्रवृत्ति करनेवाली हैं, स्त्रियों की 64 कलाओं से युक्त हैं,

प्रतिक्षण पति–चरणों की उपासना में रत रहना जिनका स्वभाव है, जिनके हाव–भाव विलासों के द्वारा देव भी स्नेहाविल हो जाते हैं, जिनके अंगों में दोष का लेश–मात्र भी नहीं है। मानो कामदेव ने संपूर्ण शक्ति लगाकर प्रत्यक्ष काम की 32 मूर्तियाँ बनायी हों। ऐसी स्त्रियों में से वह रोज एक–एक स्त्री का त्याग करता है। आप जैसे निपुण पुरुष का ज्ञान तो देखिए कि आप जैसे निपुण पुरुष भी उसे कायर कहते हैं। पर आप भी क्या करें? अनादि मोह से आवृत जीवों की यही प्रवृत्ति होती है कि बिन बुलाये भी जबर्दस्ती भ्रमित होकर दूसरे के अनेक गुणों को छोड़कर नहीं रहे हुए दोषों को भी प्रकट करके वाचाल बनते हैं। इस जगत में घर में ही शूरवीर नपुंसक जीव हजारों हैं, क्योंकि–

परोपदेशकुशला दृश्यन्ते बहवो जनाः।
स्वयं करणकाले तैश्छलं कृत्वा प्रणश्यते।।

बहुत से लोग परोपदेश में कुशल देखे जाते है, पर जब स्वयं करने की बारी आती है, तो वे छल करके भाग जाते हैं।

परम वीरों के संहरण रूप रण में सम्मुख होकर दृढ़ हृदय से एकमात्र साध्य कर्तव्य मानकर लड़नेवाले स्वल्प ही हैं। लौकिक व्यवहार में भी दुष्कर कार्य की बात को करनेवाले बहुत देखे जाते हैं, पर उसे करने के समय कोई एक भी नहीं ठहरता हैं। उसी प्रकार यहाँ भी दीक्षा की शिक्षा देने के लिए कौन मानव उत्साहित नहीं होता? पर हे स्वामी! अग्नि–पात्र की तरह दीक्षा लेना तो दुष्कर ही है। शालिभद्र की माता ने एक शालि को ही जन्म दिया है, जो इस प्रकार के दुष्कर व्रत को ग्रहण करने के लिए उद्यत हुआ है, भोगों को रोगों की तरह त्यागकर स्वयं उस संयम को क्यों नहीं आदरते?''

इस प्रकार पत्नियों की कल्याणकारी वाणी सुनकर धन्य उत्साहपूर्वक बोला–''तुम धन्य हो, जिनके द्वारा अपने–अपने उत्तम कुलों में जन्म लेने की बात को इस प्रकार के अवसरोचित वाक्यों को कहकर प्रकट किया है। कुलवती स्त्रियों के बिना ऐसा कहने में कौन समर्थ हो सकता है? मैं भी धन्य हूँ, आज मेरा नाम भी यथार्थ हो गया। आज मेरा भाग्य जागृत हुआ है। मैं तो शालिभद्र से भी ज्यादा भाग्यवान हूँ, क्योंकि अन्तराय देनेवाली प्रियाएँ भी इस प्रकार के शिक्षा–वचनों द्वारा सहायिकाएँ ही सिद्ध हुई हैं। मैं तुम्हारी शुभ वाणी को शास्त्र वाणी मानकर व्रत ग्रहण करूँगा। अतः हे नारियों! तुम भी प्रशान्त विचार युक्त बनो।''

सभी पत्नियों को इस प्रकार कहकर योगीश्वरों को भी आश्चर्यचकित करते हुए बुद्धि के धनी धन्य ने पत्नियों को भी व्रत लेने के लिए सावधान किया।

धन्य के लक्ष्मी का विस्तार अनुक्रम से इस प्रकार था–ऋद्धि व समृद्धि से भरे हुए 500 गाँव थे। 500 रथ, 500 अश्व, 500 धवल भवन, 500 दुकानें, अपनी बुद्धि से कुशल 500 वणिक–पुत्र, समुद्र व्यापार करने के लिए 500 जलपोत, अत्यन्त

अद्भुत राज–महल को जीतनेवाले, देवभवन का भ्रम दिखानेवाले सात मंजिले भव्य आठ भवन थे। आठ पत्नियाँ थी। प्रत्येक पत्नी की नेश्राय में एक–एक गोकुल होने से कुल आठ गोकुल थे। खजाने में, व्यापार–क्रिया में ब्याज में, वस्त्राभरण–पात्र आदि समस्त घर में रहे हुए अधिकरण आदि में प्रत्येक में अलग–अलग 56–56 करोड़ स्वर्ण लगा हुआ था। आठों पत्नियों के अपनी–अपनी नेश्राय में एक–एक करोड़ स्वर्ण था। इस प्रकार कुल आठ करोड़ स्वर्ण था। धान्य के कोष्ठागार एक लाख की संख्या में थे। उनके अनेक ग्रामों में दीन–हीन दुःखी लोगों के उद्धार के लिए धर्मशालाएँ चलती थी। मन–इच्छित भोग –संभोग आदि इन्द्रिय सुखों, यश–कीर्त्ति आदि तथा सभी एहिक वांछित सुखों को देनेवाला चिन्तामणि रत्न भी था। इसी प्रकार अन्यान्य मूल्य, विविध गुण–स्वभावादि से युक्त रत्नौषधि आदि करोड़ों वस्तुएँ अनेक देशान्तरों से आये हुए, राजा आदि को भी दुर्लभतर मणि–रसायन आदि अगणित थे। प्रतिदिन प्रतिमास प्रतिवर्ष सार्थवाह, महेभ्य, सामन्त, राजा आदि प्रीतिपूर्वक स्वदेश तथा परदेश से संग्रहित करके ऐसी–ऐसी वस्तुएँ सब धन्य को लाकर देते थे, जो अन्यों को खोजने पर भी नहीं मिलती थी। स्वजन, मित्रादि की सम्पदा भी वैसी ही थी। यह सभी उत्कृष्ट पुण्योदय का लक्षण था।

इस प्रकार की महा–ऋद्धि के विस्तार की सत्त्वशाली धन्य तृण की तरह अवगणना करके व्रत ग्रहण के लिए उद्यत हो गया, क्योंकि बलशाली पुरुष ही उत्तम अर्थ को साधने के जिए देर नहीं करते। फिर रत्न–त्रय के अर्थ को साधने तथा विघ्न का नाश करने के लिए सभी तीर्थों में धन्य ने अष्टाह्निका महोत्सव शुरू करवाया। प्रभूत धन सात क्षेत्रों में बोया। कितना ही धन दीन–हीनों के उद्धार के लिए पुण्यकार्य में लगाया। कितना ही धन नित्य सेवा करनेवालों को दिया, जिससे आजीवन उनको धन की कमी न हो और न किसी अन्य की सेवा करनी पड़े। कितना ही धन अखण्ड यश की स्थापना के लिए शासन की उन्नति के लिए दिया। कितना ही धन याचकों को दिया। कितना ही धन राजा को उपहार देने में, अवसर आने पर व्यय की प्रवृत्ति को दिखाने के लिए, प्रमादी जनों में जागृति लाने के लिए व्यय किया। इस प्रकार बहुत सारा धन धर्म–कर्म–पुण्यकार्य– चित्तकर्म–यशःकर्म आदि में खर्च किया, फिर भी बच गया, तो यथायोग्य बांटकर धन्य निश्चिन्त हो गया।

तब सुभद्रा ने भी अपना आशय माता से कहा। माता बोली–"पुत्री! अभी–अभी तो पुत्र वियोग की वार्त्ता से मेरा अन्तःकरण जल रहा है, पुनः क्या तुम भी व्रत ग्रहण करने के लिए तैयार हो गयी हो? जले पर नमक छिड़कने के तुल्य तुम मुझे दुःख पर दुःख क्यों देती हो? तुम दोनों के चले जाने पर मेरा सहारा कौन होगा? सहसा तुम्हें भी क्या हो गया?"

पुत्री ने कहा–"माता! हम आठों बहिनों ने निश्चय किया है कि हम अवश्य ही संयम ग्रहण करेंगी। इस जगत का विलय हो जाने पर भी इस प्रतिज्ञा को हम

नहीं छोड़ेंगी। जो हमें संयम ग्रहण करने से रोकेगा, उसे हमारा शत्रु ही जानना चाहिए। कदाचित् हमारे स्वामी विलम्ब करें, पर फिर भी हम देर नहीं करेंगी। संयम की एकमात्र इच्छा रखनेवाले भाई को भी नहीं रोकना चाहिए।'' यह कहकर वह अपने घर आ गयी।

भद्रा तो स्नेह से मोहित होती हुई जहाँ धन्य था, वहाँ आकर बोली–''हे भद्र! पुत्र तो दुःख देने के लिए तत्पर है ही, उससे भी पहले जले हुए छाले को फोड़ने के तुल्य घर को त्यागने के लिए आप भी तैयार हो गये। पर मेरी चिन्ता किसी ने नहीं की कि यह वृद्धा क्या करेगी? किसके आश्रय में रहेगी? निर्दोष–निरपराध इन सुकुल–उत्पन्न 32 नारियों को कौन पालेगा?''

इस प्रकार सास के करूणा भरे वचन सुनकर धन्य ने कहा–''इस जगत में कौन किसको पालता है? सभी को अपने द्वारा कृत पुण्य ही पालता है, सभी संसारी जन अपने–अपने स्वार्थ से स्नेह करते हैं। पर परमार्थ की अपेक्षा करनेवाले एकमात्र साधु ही हैं। उनके बिना अन्य कोई नहीं है। आप स्वार्थ–पूर्त्ति के लिए पुत्र के व्रत–ग्रहण में अन्तराय कर रही हैं, पर आपने कभी यह चिन्ता की कि मेरा पुत्र अविरति के द्वारा विषयों का सेवन करके चतुर्गति में भ्रमण करेगा, नरकादि में अत्यन्त कठोर विपाकों को सेवन करते हुए दुःखित होगा? माता–पुत्र का सम्बन्ध तो एक भव का है, पर उसका विपाक तो अनेक भवों में असंख्य काल तक व्यथित करता रहेगा।

इस संसार में इतने काल तक परस्पर सभी सम्बन्ध विनिमय से अनंत बार हुए हैं। बहुत बार विषयों का उपभोग किया, वह सब देखकर उसने और आपने परम हर्ष प्राप्त किया, पर उसके फल को भोगने के समय आप उसका उद्धार करने मे समर्थ नहीं हैं और वह भी आपका उद्धार करने में समर्थ नहीं। इस जगत में अतिप्रिय भी यह पुत्र आपके द्वारा अपने ही हाथों से अनन्त बार मारा गया है। इसने भी आपको अनन्त बार मारा है। अतः स्नेह कर–कर के क्यों दुःखी होती हैं? इस प्रकार का दुःखदायक सम्बन्ध तो अनन्त बार हो चुका है। पर इस प्रकार श्री जिन चरण कमल में सनाथ बनकर चारित्र ग्रहण करने तथा आपकी आज्ञा मांगने का संयोग तो कभी नहीं हुआ। वह संयोग आप दोनों को भाग्य से ही मिला है। आप उसे सफल क्यों नहीं करतीं? इस प्रकार क्यों नहीं सोचती कि मेरे द्वारा जना गया पुत्र अर्हन्त की सभा में सुर–असुर–नरेन्द्रगणों के देखते हुए पंच–साक्षीपूर्वक चारित्र को ग्रहण कर रहा है? मैं द्रम्मक के समान नहीं हूँ, जो सम्मुख आये हुए राज्य का त्याग कर दूँ। मेरा पुत्र तो परम अभयदाता श्री वीर प्रभु का हस्त–दीक्षित शिष्य हो रहा है। इसका क्या डर? एक ही झटके में संसार–सागर में तिर जायेगा। यहाँ क्या अशुभ होने को है, जो आप दुःख से आर्त्तध्यान करती हुई खेदित हो रही हैं? श्री जिनधर्म की जानकार होती हुई भी इस प्रकार के अशुभ वचन कैसे अपने मुख से निकाल

सकती हैं? विवाह आदि महोत्सव तो अनन्त बार किये, पर फिर भी तृप्ति नहीं हुई। पर इस भव में आप परम सुख का एकमात्र हेतु चारित्र का उत्सव क्यों नहीं करतीं?

संसार में जो सम्बन्ध धर्म आराधना के कार्य में सहायक होते हैं, वे सफल हैं। अन्य तो विडम्बना–रूप ही जानने चाहिए। अतः घर जाकर मन की प्रसन्नतापूर्वक पुत्र के मनोरथ पूर्ण करें। जिससे आपका भव–भ्रमण भी अल्प हो।

मैंने तो चारित्र लेने का निश्चय कर लिया है। जगत में प्रलय आ जाने पर भी उसे अन्यथा करना शक्य नहीं है। संसार–जाल में गिराने को तैयार आपके स्नेह–गर्भित दीन–वचनों को सुनकर मैं चलित होनेवाला नहीं हूँ। संसार के स्वार्थ में निष्ठा रखनेवाले विविध रचना करके विलाप करते हैं। पर मैं वैसा मूर्ख नहीं हूँ कि धतूरे के बीज को बोने के लिए उगे हुए कल्पवृक्ष को उखाड़ दूँ। वे दिन तो गये, जब आप जैसों के स्नेह–वचनों के द्वारा परम आनन्दित हुआ करता था। अब तो श्रीवीर प्रभु–चरण की शरण रूप है, स्वप्न में भी अन्य कोई विकल्प नहीं है। अतः आप शीघ्र ही घर जायें। पुत्र के संयम ग्रहण करने में विघ्नकारी न बनें।''

इस प्रकार धन्य की दृढ़ता के सूचक वचन सुनकर निराशाभाव को प्राप्त हुई भद्रा घर लौट आयी।

तब धन्य हर्षित हृदय से महान आडम्बरपूर्वक व्रत ग्रहण करने के लिए रवाना हुआ। तब जैसे पुण्य का लक्ष्मी, सूर्य का किरणें एवं सत्त्व का सिद्धियाँ अनुसरण करती हैं, वैसे ही धन्य की सभी पतिव्रता प्रियाओं ने अपनी–अपनी विभूति के साथ सुखासन पर बैठे हुए धन्य का अनुसरण किया।

अचानक इस वार्त्ता का श्रवणकर अत्यधिक विस्मय युक्त मन के द्वारा अभय आदि ने सिर को हिला–हिलाकर धन्य की प्रशंसा की। अभय तथा अन्य बुद्धिधनियों ने श्रेणिक को कहा–''श्रीमान! किये हुए व्रत का उद्यम अनिवार्य है, अतः दीक्षा के सहायक रूप आपको भी बनना चाहिए।''

तब राजा ने पुत्री के समाचार जानने के लिए पूछा–''सोमश्री प्रमुख उन नारियों का क्या हुआ?''

अभय ने कहा–''वे सभी भी धन्य का ही अनुगमन करेंगी।''

यह सुनकर विस्मित होते हुए श्रेणिक ने कहा – ''धन्य है यह सम्बन्ध! सफल है इनका सम्बन्ध! जो महिला वृन्द मोक्ष मार्ग पर विघ्नकारक होता है, वही सहायकारी हो गया–यह परम आश्चर्य का विषय है।''

उधर धन्य ने महान विभूति के साथ दीनादि को अस्खलित दान देकर, सिंह की तरह उत्साहपूर्वक इन्द्रियों के समूह को वश में किये हुए प्रियाओं से युक्त होकर निकला। मार्ग में सभी नागरिक सहसा इस दुष्कर कार्य को देखकर विस्मित मन से स्तुति करने लगे–''अहो! इसका वैराग्य–रंग! इसकी निःसंगता

का रंग! अहो! इसकी उदासीनता! अहो! इसकी संसार से सहसा पराङ्मुखता! अहो! इसकी संयम में उत्साहपूर्वक तैयारी! अहो! इसकी सुरलोक की ऋद्धि की उपमा वाले विस्तार में निरभिलाषा! अहो! इसकी निरुपम प्रज्ञा कुशलता! इसका जन्म धन्य है। इसका अन्वयार्थ सूचक नाम भी धन्य है। धन्य है इसकी युवावस्था में व्रत लेने की शक्ति! धन्य है इनका पति–पत्नी संयोग! धन्य है इनका निर्विघ्नकारी धर्मोदय! धन्य है इसकी कुशलानुबंधी पुण्य की प्रगल्भता! धन्य है इसका निरुपम लोकोत्तर भाग्य! जो तीन जगत के नाथ श्रीमद् वीर प्रभु के हाथ से दीक्षा ग्रहण करेगा। धन्य है इसका जीवन! धन्य है आज हमारा भी दिवस! धन्य है हमारा भी जन्म! जो धर्ममूर्ति धन्य के दर्शन हुए। ऐसे व्यक्ति का तो नाम ग्रहण करने मात्र से पाप विफल हो जाते हैं।"

इस प्रकार स्तुति करते हुए नागरिक हजारों बार प्रणाम करने लगे।

इस प्रकार नागरिकों से प्रशंसित शब्दों को सुनता हुआ धन्य गुणशील चैत्य वन को संप्राप्त हुआ।

उधर नागरिकों व घर के अनुज सदस्यों के मुख से यह सब सुनकर लीलाशाली शालिभद्र संवेग भाव से व्रत में औत्सुक्य को प्राप्त हुआ। फिर माता के समीप जाकर युक्ति से समझाते हुए माता को प्रत्युत्तर देने में असमर्थ कर दिया। इससे पहले धन्य की वचन–युक्तियों से वह शिथिल तो हो ही गयी थी, पुनः शाली के व्रत–ग्रहण के अभिप्राय को निश्चय जानकर कहा–"वत्स! जो अपने आशय को पूर्ण करने में हठ को ग्रहण कर एकान्त रूप से घर से पराङ्मुख हो चुका हो, उसे मैं क्या कहूँ? जो तुम्हे अच्छा लगे, वही करो। तुम और तुम्हारे बहनोई का एक आशय हो जाने पर मेरी क्या शक्ति? तुम दोनों अपने चिंतित आशय को पूर्ण करो।"

इस प्रकार बोध को प्राप्त माता की अनुज्ञा ग्रहण कर, शीघ्रता से पत्नियों को छोड़कर, विष–मिश्रित अन्न की तरह भयंकर भोगों को छोड़कर व्रत ग्रहण करने के उद्यम में तैयार होने लगा।

उसके बाद श्री श्रेणिक राजा तथा गोभद्र देव ने अपूर्व व्रतोत्सव किया और शालिभद्र भी जिनेश्वर श्री वीर प्रभु के पास पहुँचा।

अब वे दोनों समवसरण में आकर अभिगमपूर्वक श्री जिनेश्वर को नमन करके बोले–"हे भदन्त! यह लोक जरा, मरण के द्वारा आदीप्त हो रहा है, प्रदीप्त हो रहा है, लोक आदीप्त–प्रदीप्त हो रहा है। जैसे–कोई एक गाथापति घर के जलने पर विचार करते हुए जो अल्प भार व बहुत मूल्य वाले हिरण्य–रत्नादि हैं, उन्हें स्वयं एकान्त में छिपा देता है। यह मेरे द्वारा निष्काशित होता हुआ पीछे या पहले लोक में हित के लिए, सुख के लिए, क्षमा के लिए आनेवाले सम्पूर्ण काल में होगा। इसी प्रकार मेरा भी एकमात्र अद्वितीय आत्मरूपी भाण्ड

इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम है, मेरे द्वारा इसे निकाले जाते हुए संसार का व्युच्छेद होगा। अतः हे देवानु प्रिय! मैं इच्छा करता हूँ कि आप स्वयं ही मुझे प्रव्रजित करें। स्वयमेव मुण्डित करें। स्वयमेव प्रत्युपेक्षणा आदि ग्रहण करायें। स्वयमेव शिक्षापित करें अर्थात् सूत्रार्थ ग्रहण कराकर शिक्षित करें। स्वयंमेव मुझे आचार अर्थात् ज्ञान आदि विषय के अनुष्ठान रूप काल–अध्ययनादि, गोचर–भिक्षाटनादि, विनय, वैनयिक अर्थात् विनय का फल रूप कर्मक्षय आदि, चरण अर्थात् व्रतादि, करण अर्थात् पिण्ड विशुद्धि आदि, यात्रा अर्थात् संयमयात्रा और उसके लिए ही आहार–मात्रा– इन सबकी वृत्ति अर्थात् वर्तन आदि सिखायें।''

इस प्रकार सिद्धान्त–प्रसिद्ध–विज्ञप्ति के द्वारा प्रार्थना की। तब श्रीमद् वीर ने कहा–''जिससे आत्महित हो, वैसा ही करो, उसमें देर नहीं करनी चाहिए।''

इस प्रकार जिनाज्ञा को प्राप्त करके दोनों ही ईशानकोण में अशोक वृक्ष के नीचे गये। वहाँ जाकर स्वयमेव आभरण उतारे, जिन्हें कुलवृद्ध स्त्रियों नें धवल वस्त्र के अन्दर ग्रहण किये और बोली–''हे पुत्रों! तुम दोनों उत्तम कुल में जन्मे हो। यह व्रत–पालन अति दुष्कर है। गंगा–प्रवाह के सम्मुख जाने के समान है। असिधारा के ऊपर चलने के समान है। लोहमय चने चबाने के समान है। भाले की अग्रनोक से आँखें खुजलाने के समान है। अतः हे पुत्रों! इस अर्थ में जरा भी प्रमाद मत करना।''
इस प्रकार बोलती हुई तथा अश्रुओं को गिराती हुई वे एकान्त में चली गयीं।

फिर उन दोनों ने अपने–अपने मस्तक का पंचमुष्टि लोच स्वयं किया। फिर श्री श्रेणिक, अभय आदि ने वेष प्रदान किया। उस वेश को पहनकर वे दोनों वीर प्रभु के निकट आये। तब प्रभु महावीर ने उन दोनों को दीक्षा प्रदान की। फिर सुभद्रादि आठों को दीक्षा देकर आर्या महत्तरिका के पास उनको रखा। वहाँ वे ग्रहण–आसेवनादि शिक्षा सीखने लगीं।

उधर वे दोनों पंच–महाव्रतों को शिक्षा–पूर्वक लेकर देवेन्द्र–नरेन्द्रादि से श्लाघित महामुनि हो गये। श्रीमद् वीर द्वारा सुविहित स्थविरों के पास उनको रख दिया। फिर श्रेणिक–अभयादि परिषद जिनेश्वर प्रभु को नमन करके सभी साधुओं को वन्दन करके दोनों मुनियों की श्लाघा करती हुई लौट गयी। अब वे दोनों स्थविरों के पास ग्रहण शिक्षा व आसेवन शिक्षा को अप्रमत्त भाव से सीखते हुए स्थविरों के साथ चिरकाल तक पृथ्वी मण्डल पर विचरण करते रहे।

ज्ञ–परिज्ञा से सम्पूर्ण 11 अंगों के सूत्रार्थ का अध्ययनकर गीतार्थ हो गये। प्रत्याख्यान परिज्ञा से तीव्र तप को तपते हुए शीघ्र ही मुनि पुंगव बन गये। अप्रमत्त भाव से इच्छा का निरोधन करते हुए एक–दो–तीन–चार मासक्षमण

आदि विविध तप करते हुए ये दोनों मुनि बारह वर्षों तक यावत् स्थविरों के साथ विविध देशों में विहार करके पुनः श्रीवीर प्रभु के पास आये।

श्रीवीर प्रभु भी भू–मंडल को पवित्र करते हुए एक बार राजगृह पधारे। देवों द्वारा अष्ट महाप्रातिहार्य आदि की रचना की गयी। उस दिन उन दोनों मुनियों के मासखामण का पारणा था। पर बिना किसी अहंकार के बिना उत्सुक हुए भिक्षा की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए श्रीवीर प्रभु के पास आकर उन दोनों ने विनयपूर्वक प्रणाम किया।

तब श्रीवीर प्रभु ने शालिभद्र को सादर देखते हुए कहा–"हे वत्स! आज तुम्हारे पारणे का कारण तुम्हारी जननी होगी।"

इस प्रकार के श्री वीर प्रभु के वचनों को सुनकर श्रीवीर प्रभु के पास से निकलकर धन्य व शालि मुनि ने राजगृही मे प्रवेश किया। श्रीवीर प्रभु के वचनानुसार अन्य स्थान को छोड़कर 'श्रीवीर प्रभु के वचनों में क्या सन्देह?' इस प्रकार निर्धारित करके भद्रा माता के आवास पर गये। वहाँ जाकर दोनों ने धर्माशीष दी, पर न उच्च स्वर में, न सादरपूर्वक। फिर अन्य भिक्षाचरी में योग्य प्रांगण में न जाकर वहीं खड़े रहे–प्रतिक्षण कृत वीर वचन के सत्यापन के लिए क्षण भर ठहरकर एक पग भी आगे नही रखा। केवल सर्वार्थसिद्धि को देनेवाले मौन को ही खींचे रखा।

इधर भद्रा विचार करने लगी–"मेरा भाग्य आज भी जागृत है कि पुत्र तथा दामाद दोनों ही श्रीमद् जिनेश्वर के साथ पधारे है। अतः जाकर नमन करके अति भक्तिपूर्वक आज निमत्रिंत करूँगी। वे दोनों पधारेंगे, तब प्रसन्नता से भक्त–पान द्वारा प्रतिलाभित करूँगी। पूर्व में संसार अवस्था में जो विविध रस–द्रव्य–संयोग से निष्पन्न विभिन्न प्रकार की रसोई से पोषण किया था, वह तो ऐहिक मनोरथ से साध्य संसार–परिभ्रमण का फल–मात्र था। अब तो जो भक्तिपूर्वक अन्न–पानादि के द्वारा पोषण करूँगी, वह उभय लोक में सुखावह तथा क्रमपूर्वक मुक्तिपद को प्राप्त करानेवाला होगा।

इस प्रकार विचार करते हुए भद्रा ने हर्षाश्रु से रुद्ध आँखें होने से उन दोनों को नहीं देखा। तप रूपी लक्ष्मी के ऐश्वर्य से रूप के परावर्तित हो जाने से शालिभद्र के दृष्टिपथ पर विद्यमान रहने पर भी उसकी पत्नियों ने भी नहीं पहचाना।

फिर भी श्रीवीर प्रभु के वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए क्षण भर खड़े रहकर व्रत में रहे हुए आचार में पांरगत उन दोनों ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया, पर बुलाने का विकार नहीं दिखाया।

श्री वीर प्रभु–यचनों में हठ प्रतीति होने से दूसरे किसी स्थान की आकांक्षा नहीं करते हुए शम–गुण से युक्त होते हुए वे दोनों मुनि गोचरी चर्या

से वापस लौटने लगे।

अपने ठहरने के स्थान पर आते हुए मार्ग में एक ग्वालिन सम्मुख आ गयी। वह ईर्यासमिति से युक्त दोनों मुनियों को देखकर अत्यन्त प्रमुदित हुई। उसके हृदय का उल्लास समाता ही नहीं था। उसने भक्तिपूर्वक मुनि को प्रणाम करके प्रसन्न मन से अपने बर्तन में रहे हुए दही के प्रतिलाभ के लिए विनति की–"हे स्वामी! इस शुद्ध दही को ग्रहण करने के लिए पात्र बढ़ायें और मेरा उद्धार कीजिए।"

इस प्रकार का उसका अत्यन्त आग्रह देखकर उन दोनों मुनियों ने परस्पर विचार किया–"श्रीवीर प्रभु ने कहा था कि माता के हाथ से पारणा होगा, पर अन्यत्र लेना नहीं होगा, ऐसा तो नहीं कहा। जिनेश्वरों की वाणी विचित्र आशयों से युक्त होती है। हम छद्मस्थ क्या जानें? श्री वीर प्रभु–चरण में पहुँचकर पुनः शंका का समाधान करेंगे, पर अभी तो यह अत्यन्त भक्ति व उल्लासपूर्वक देने के लिए उद्यत है? इसके भावों का खण्डन कैसे किया जाये? वहाँ जाकर भगवन की आज्ञा के अनुकूल कार्य करेंगे?"

यह विचारकर पात्र फैलाकर दही ग्रहण किया। उसने भी हर्ष से दिया और पुनः वंदना करके चली गयी। फिर वे दोनों मुनि भी स्वस्थान आ गये। फिर श्री वीर प्रभु जिनेश्वर के पास जाकर गोचरी की आलोचना करके हृदय में उत्पन्न संशय रूपी काँटे से युक्त हृदयवाले शालिभद्र ने जिनेश्वर को नमन करके पूछा–"भगवन! पूर्व में गोचरी जाते समय स्वामी ने जो कहा–आज तुम्हारी माता पारणे में निमित्त बनेगी–उस कथन का रहस्य तो मुझ मन्दमति ने नहीं जाना। आहार तो माता के घर प्राप्त नहीं हुआ। पर पारणे का आहार ग्वालिन के हाथ से कैसे प्राप्त हुआ? इस प्रकार मेरी शंका–शंकु का आप निवारण कीजिए।"

तब श्रीमद् तीन जगत के नाथ ने कहा–"हे शालिभद्र मुनि! जिसने तुम्हें दही से प्रतिलोभित किया है, वह तुम्हारे पूर्व–भव की माता है।"

श्रीमुख से यह वृत्तान्त सुनकर चमत्कृत होते हुए शलिभद्र मुनि ने पूछा–"कैसे?"

तब स्वामी ने पूर्वभव का सारा वृत्तान्त बताया–"यह तुम्हारे पूर्व भव की माता है, इसका तो वही जन्म है।"

श्री जिनेश्वर देव द्वारा बताये गये पूर्व–भव के स्वरूप को सुनकर प्रक्षालित हुए मैलवाले शालि मुनि ने दुगुने संवेग को प्राप्त होते हुए प्रभु की आज्ञा लेकर धन्य के साथ पारणा किया।

फिर भाव–विरक्त बुद्धि युक्त शालि मुनि भगवान श्री महावीर के मुख से कहे हुए वचनों को स्मरण करते हुए इस प्रकार विचार करने लगे–"अहो!

इस संसार में विचित्र कर्मों का अनुभव महाश्चर्यकारी है। कहाँ तो मैं पूर्वभव में सद्–असद् के विवेक से रहित गँवार ग्रामीण था, पुनः कहाँ इस जन्म में गुण समूह के गौरव–मन्दिर रूप अवसर पर योग्य करने व कहने में होशियार इस भव की नगरीयता? पूर्वजन्म में तो सम्पूर्ण आपदाओं का निवास रूप में पशुदास था, पुनः इस जन्म में मैं राजा को क्रयाणक रूप में जानता हूँ। पूर्वजन्म में मैं जीर्ण, खण्डित, शरीर को ढ़कने में भी असमर्थ वस्त्र को कठिनाई से प्राप्त कर पाता था, पर इस जन्म में सवा–सवा लाख मूल्य के रत्नकम्बल के दो–दो टुकड़े करके अपनी प्रियाओं को दिये और उन्होंने भी पाँव पोंछकर कचरे की पेटी में पटक दिया। पूर्व जन्म में तो मेरे पास चाँदी के भी आभूषण नहीं थे, पर इस जन्म में तो विविध रत्न–जटित स्वर्णाभूषणों को फूलों की माला की तरह कचरा समझकर प्रतिदिन त्याग देता था। पूर्व जन्म में तो रूपया–पैसा आदि हाथ से स्पर्श तक नहीं किया, पर इस जन्म में दीनार–रत्नादि के ढ़ेर के ढ़ेर होने पर मैं शुद्धि करने में असमर्थ था। अहो! भव–नाटक की विचित्रता! अहो! इस भव–नाटक में कर्मराजा का शासन होने से मोह रूपी नट द्वारा ये देहधारी विविध वेषों में नाटक करते हैं। जिनागम के हार्द को जाने बिना कोई भी पुरुष उबर नहीं सकता, इसलिए मैं जगत द्रोही कर्म को उत्कृष्ट मल्ल की तरह पण्डित–वीर्योल्लास के बल से जीतकर शीघ्र ही अप्राप्तपूर्व जयपताका को ग्रहण करूँगा। जिससे मेरा किया हुआ उद्यम सफल हो।''

इस प्रकार विचार करके महा–सत्त्वाधिक धन्य के साथ श्रीमद् वीर जिनेश्वर के पास जाकर नमन करके विनंति की–''स्वामी! तपस्या के बिना यह अनादि शत्रु शरीर से बाहर नहीं निकलेगा। जीव–जीव से जाता है–इत्यादि भगवान को सर्व–विदित ही है। अतः इसको रिश्वत देने से क्या? अगर आपकी आज्ञा हो, तो आपकी कृपा से आराधना के द्वारा जय–पताका का वरण करें।''

श्री जिनेश्वर देव ने कहा–''जैसा आत्म–हित के अनुकूल हो, वैसा ही करो। पर प्रमाद मत करो।''

इस प्रकार जिनाज्ञा प्राप्त करके अड़तालीस मुनियों तथा गौतम गणधर के साथ वे वैभारगिरि पर चढ़े। पर्वत के ऊपर शुद्ध निरवद्य, पर्वतीय शिलापट्ट को प्रमार्जित करके, आगमन की आलोचना करके श्रीमद् गौतम गुरु के पास विधि–पूर्वक 32 द्वारों द्वारा आराधना क्रिया करके उन दोनों मुनियों ने पादपोपगमन अनशन को स्वीकार किया। अड़तालीस मुनि भी परिकर्मित शुभध्यान से युक्त होते हुए समता में लीन एक चित्त से समाधिमग्न हो गये।

उधर भद्रा ने पुत्र व जामाता के आगमन–उत्सव के लिए दासों द्वारा शीघ्र ही स्वास्तिक–तोरण, रत्नवल्ली आदि की रचना रूप शोभा के द्वारा महल को अद्भुत रूप में सजाया। फिर भद्रा के साथ कृशांगी चन्द्रकला की तरह

शालिभद्र की प्रियाएँ तीर्थेश को नमन करने के लिए चलीं।

तब तक अन्तःपुर सहित तथा परिवार सहित श्रेणिक राजा भी निर्मल भाव से हर्षित होता हुआ श्री वीर प्रभु को नमन करने के लिए चला। पाँच–अभिगमपूर्वक भक्ति से भरे हुए अंगों से युक्त सभी जिनेश्वर की तीन प्रदक्षिणा देकर तीन बार पंचांग प्रणिपातपूर्वक नमस्कार करके अपने–अपने उचित स्थान पर बैठ गये। फिर सभी जनों ने पापहारिणी अरिहन्त –वाणी सुनी।

भद्रा देशना सुनती हुई इधर–उधर साधु–वृन्द को देखने लगी। पर उनके मध्य धन्य व शालि को न देखकर विचार करने लगी–"गुरु आज्ञा से दोनों कहीं गये होंगे अथवा कहीं पठन पाठन–स्वाध्यायादि क्रिया मे व्यस्त होंगे, क्योंकि देशना के समय पास की जगह पर स्वाध्यायादि करने से देशना व्याघात पड़ सकता है। देशना समाप्त होने पर श्रीप्रभु से पूछकर वे जहाँ होंगे, वहाँ जाकर नमन करूँगी और आहार के लिए निमन्त्रित करूँगी।"

देशना समाप्त होने पर भद्रा ने अरिहन्त प्रभु की सभा को जामाता व पुत्र से शून्य जानकर श्रीवीर प्रभु से पूछा–"प्रभो! धन्य व शालि मुनि क्यों दिखाई नही देते?"

भद्रा के इस प्रकार पूछने पर श्रीवीर प्रभु ने उत्तर दिया–"आज मासखमण के पारणे के दिन मेरी आज्ञा लेकर वे दोनों तुम्हारे आवास–गृह के आँगन में आये। वहाँ आहार प्राप्त न होने पर तुम्हारे आवास से वापस लौट गये। मार्ग में शालिभद्र के पूर्वभव की माता ग्वालिन धन्या ने अति भक्ति के साथ दही से लाभान्वित किया। स्थान पर आकर दोनों ने यथा–विधि दही से पारणा किया। फिर मेरे द्वारा कहे हुए पूर्वभव के स्वरूप को सुनकर वैराग्य रंग से रंजित होते हुए शालि मुनि ने धन्य मुनि के साथ मेरी आज्ञा से अभी ही आधा प्रहर पहले गौतमादि मुनियों के साथ वैभारगिरि पर जाकर यथाविधि पादपोपगमन अनशन स्वीकार किया है।"

ऐसा श्रीवीर प्रभु–मुख से सुनकर भद्रा तथा शालिभद्र की प्रियाएँ एवं श्रेणिक, अभयादि वज्राघात की तरह अकथनीय दुःख से सन्तप्त, विदीर्ण हृदय से आक्रन्दन करते हुए वैभार–गिरि को प्राप्त हुए। वहाँ सूर्य के आतप से तपती हुई शिला पर दोनों को सोया हुआ देखकर भद्रा मोह से जमीन पर लुढ़कती हुई मूर्छित हो गयी। शीतल पवनादि के उपचार से होश में लायी हुई बहुओं सहित भद्रा दुःख से आर्त्त होती हुई दूसरों को भी रूलाती हुई तीव्र स्वर में रोने लगी। बहुत दिनों से किये गये मनोरथ के अपूर्ण होने से वह विलाप करने लगी–"हा! मुझ पापिनी, हीनपुण्या द्वारा सामान्य भिक्षुक की गणना में भी इनको नहीं गिना। मेरे घर से तो कभी भी कोई भी भिक्षु भिक्षा प्राप्त किये बिना खाली हाथ वापस नहीं लौटते, पर मुझ मूढ़ बुद्धि द्वारा तो जंगम कल्पवृक्ष की तरह

घर आये हुए पुत्र व जामाता को नहीं पहचाना। प्रतिदिन जो भी याचक या साधु भिक्षा के लिए आता है, उनको मैं सम्मानपूर्वक निमन्त्रित करती हूँ, तब वह साधु निर्दोष आहार को ग्रहण करता है और धर्माशीष देकर जाता है। पर मुझ अभागिनियों में शिरोमणि, मूर्ख शिरोमणि ने आज तो वह भी नहीं दिया। साधु–को दान देने योग्य आहार विद्यमान होने पर भी हा! हा! मैंने नहीं दिया। न ही किसी से दिलवाया। अगर सामान्य साधु की बुद्धि से भी आहार दिया होता, तो भी 'अचिन्तितं स्थाने पतितं" इस न्याय से अच्छा ही होता, पर वह भी नहीं किया। हा! मैंने क्या किया! हाय! मेरी बुद्धि कहाँ चली गयी? हा! मेरी साधु–दर्शन की वल्लभता कहाँ चली गयी? हाय! मेरी अवसरोचित बात–चीत, सुख–प्रश्न, आलापादि चतुरता कहाँ चली गयी? जो कि मैंने उन साधुओं को कुछ भी नहीं पूछा। आप दोनों किसके शिष्य हैं? पहले किस गाँव के वासी हुआ करते थे? आपको संयम ग्रहण किये हुए कितने वर्ष हो गये? अब आपके माता–पिता, भाई–बान्धव आदि हैं या नहीं? अभी किस गाँव से पधारे हैं? आपका मेरे पुत्र शालि मुनि से तथा मेरे दामाद धन्य–मुनि से परिचय है या नहीं? इत्यादि भी मैंने नहीं पूछा। अगर मैंने ऐसे प्रश्न किये होते, तो सभी ज्ञात हो जाता। हाय! मेरी वचन–कुशलता कहाँ गयी। हाय! मैंने मिथ्यात्व का बन्ध कर लिया, जो कि जड़–अन्तःकरण द्वारा घर में आये हुए साधुओं की वंदना भी नहीं की। कुलोचित व्यवहार भी मैं भूल गयी।

जब कोई भी आँगन में क्षण–मात्र के लिए भी ठहरता है, तब सेवकों द्वारा सूचित किये जाने पर 'क्षण मात्र रुकने पर कुछ न कुछ पूछने का कारण होगा' इस प्रकार बुद्धि मन में उत्पन्न होती है। पूछने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। पर इन दोनों के आने पर कुछ भी नहीं सूझा। कुछ भी उचित कार्य नहीं किया। केवल मात्र अनादर करके हाथ में आयी हुई देव–मणि गँवा दी।

हाय! इन सभी कुल–वधुओं का मति–कौशल्य भी कहाँ चला गया, जो अपने पति को भी नहीं पहचान पायीं। बहुत दिनों से परिचित सेवक भी इन दोनों को पहचान नहीं पाये। सभी को एक साथ एक ही समय में बुद्धि का व्यामोह पैदा हो गया।

बिना माँगे वांछित अर्थ देनेवाले बिना बुलाये घर आये हुए, इस लोक व परलोक में वांछित वस्तु देनेवाले, अतुल पुण्य के एकमात्र कारण रूप, बहुत दिनों से तथा बहुत से मनोरथों द्वारा वांछित स्वयं सामने चलकर आये, पर न तो आलाप किया, न वंदना की, न प्रतिलाभित किया, न पहचाना और वे लौट गये। मुख तक आया हुआ निवाला छिन जाने के न्याय से तथा गंवार के हाथ आये चिंतामणि रत्न से कौए को उड़ाने के न्याय से मेरे सभी मनोरथ विफलता को प्राप्त हुए। पुनः भविष्य में वैसे मनोरथ पूर्ण करने की आशा नहीं

है। जिन्होंने अनशन किया है, अब उनकी क्या आशा है? मेरे चारों हाथ भूमि पर धराशायी हो गये। अब पुत्र व दामाद का मुख कहाँ से देखूँगी? अहो! मैं सभी स्त्रियों के बीच निर्भाग्य शिरोमणि बन गयी हूँ।''

इस प्रकार विषाद से मूर्छित भद्रा को देखकर श्री श्रेणिक, अभयादि ने अपने वचनामृत द्वारा सिंचन कर उसे सचेत किया। फिर अभय ने कहा–''हे माता भद्रे! यहाँ इस प्रकार का खेद करना आपके लिए युक्त नहीं है। आप तो महान से भी महान हैं, सभी माननीयों के द्वारा भी आप माननीय हो। अतः व्यर्थ ही शोक मत करो। इस लोक में अनेक नारियों ने अनेक पुत्रों को पैदा किया है। उन पुत्रों के मध्य कुछ ही 72 कलाओं से कुशल, यौवन के प्राप्त होने पर बहुत–सी स्त्रियों के साथ पाणिग्रहण करते हैं। पूर्व–पुण्य से धन–धान्यादि से सम्पन्न होकर पहले कभी प्राप्त न किये हों, इस प्रकार कामभोगों में मूर्छित हो जाते हैं। वे एकमात्र भोग रसिकता बढ़ाते हुए भोगों को भोगते हैं। क्षण भर के लिए भी विषयों का त्याग नहीं करते। अपनी आयु–पर्यंत भोगों को भोगकर बाद में नरक–निगोद आदि में परिभ्रमण करते हैं और जो पुण्य रहित तथा जन्म से निर्धन हैं, वे विषयों की आशा से प्यासे रहते हुए अट्ठारह पापस्थानों का सेवन करते हैं। पर पुण्य के बिना उन्हें धनादि की प्राप्ति नहीं होती। वे अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके नरक–निगोद में परिभ्रमण करते हैं।

पर आप तो रत्नकुक्षि–धारिणी हैं, वीर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली हैं। क्योंकि आपके पुण्य की निधि रूप कुलदीपक उत्पन्न हुआ है। जिनत्व व चक्रीत्व उभय पद से विभूषित पुरुषोत्तमों ने भी आपके पुत्र सदृश भोगों को नहीं भोगा, क्योंकि स्वर्ण–रत्नादि को बासी करके किसी ने भी त्यागा हो, यह कहीं भी नहीं सुना। ऐसा कोई पैदा भी नहीं हुआ। ऐसा कार्य आपके पुत्र ने निःशंक रूप से किया, मन–वांछित भोग भोगे और अवसर आने पर उनका तृणवत् त्याग भी किया। श्री वीर प्रभु के पास सुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि करोड़ों लोगों से भी दुर्जय, जगत–जनों को अपरिमित दुःखदायक मोह रूपी राजा को आपके पुत्र ने क्षण–भर में जीत लिया। ऐसा सामर्थ्य आपके पुत्र में ही है, अन्य में नहीं। पुनः मोह को जड़ से उखाड़कर, सिंह की तरह चारित्र ग्रहण करके, सिंह की तरह ही पालन करके सम्पूर्ण कर्म–समूह के उन्मूलन के लिए आराधना की जयपताका ग्रहण की है। श्री गौतम गणाधीश की सहायता से उसे अजर–अमर पद की प्राप्ति होगी। उसके लिए दुःखी क्यों होती हैं? अगर संसार समुद्र में डूब गया होता, तब तो चिन्ता करनी चाहिए थी। पर इसने तो जन्म, जरा, मरण, रोग, शोकादि से रहित सच्चिदानन्द सुख की सम्पत्ति प्राप्त की है, उसका दुःख क्यों धारण करती हैं? आपके पुत्र ने तो श्रीमद्

जिनशासन और अपने कुल को उद्योतित किया है।

पुनः आपके जामाता नाम से तो धन्य हैं ही, उपकार से भी धन्य हैं और सम्यग् बुद्धि से भी धन्य हैं। अनुपम धर्माचरण से धन्य हैं। दुर्जनता के दोष से ग्रसित अपने ही भाइयों के अनेक प्रकार से किये गये ईष्या–भाववालों को भी अपने सज्जन–स्वभाव से विनय युक्त परिपालन करने से धन्य हैं। उस धन्य के धैर्य की क्या प्रशंसा की जाये? जिसने उपदेश आदि किसी भी पुष्ट कारण के बिना आठों ही स्त्रियाँ एक साथ त्याग दीं, समस्त ऐहिक सुखों के समूह को पूर्ण करने में समर्थ जड़मय चिन्तारत्न त्यागकर चारित्र रूपी चिन्तामणि रत्न को एक ही लीला में ग्रहण कर लिया और जिस प्रकार ग्रहण किया, उसी प्रकार प्रतिक्षण प्रवर्धमान परिणामों द्वारा उसका पालन भी किया। कर्मों की सम्पूर्ण सन्तति का नाश करने के लिए आराधना की जयपताका को ग्रहण कर लिया। अतः यह धन्यों से भी धन्य–तम हो गया। जो इन मुनि का नाम भी स्मरण करता है, वह भी धन्य है। धन्य वह क्षण है, जिस क्षण में इसका स्वरूप स्मृति पर आता है।

अतः हे वृद्धे! उत्साह के स्थान पर आप विषाद क्यों करती हैं? पूर्व में भी तो अनेक माता–पुत्रादि सम्बन्ध हुए हैं, वे सभी संसार का अन्त करने में असमर्थ होने से व्यर्थ ही हैं। आपका यह संबंध ही सत्य है, जिसके गर्भ में आकर शालिभद्र सुर–नरेन्द्रादि के देखते ही देखते मोह रूपी शत्रु का उन्मूलन करके निर्भय हो गया। अतः अब आपके द्वारा चारित्र की अनुमोदनापूर्वक सहर्ष बहुमानपूर्वक वन्दन–नमन–स्तवनादि करना चाहिए, जिससे आपको भी प्रयोजन की सिद्धि हो।"

इस प्रकार अभय के द्वारा जिन–वचनों के अमृत–सिंचन से भद्रा के विषम–मोह–विष के फैलाव को उतारा गया और शोक को छुड़वाकर भद्रा को धर्ममुखी किया गया। फिर राजा, अभय, बंधुओं सहित भद्रा आदि भावपूर्वक उन दोनों को नमन करके, उन दोनों के गुणों का स्मरण करते हुए अपने–अपने घर चले गये।

उधर वे दोनों मुनि–पुंगव एक मास तक यावत् संलेखना की आराधना करके अन्त में शुद्ध उपयोग में लीन चित्तवाले होकर समाधि मरण द्वारा काल करके अनुत्तर सुख से भरे सर्वार्थसिद्ध नामक पाँच अनुत्तर विमान में से मुख्य विमान में उत्तम देव के रूप में पैदा हुए। वहाँ देवों की आयु तेतीस सागरोपम की बतायी गयी है। तेतीस हजार वर्षों के बाद आहार की रुचि जागृत होती है, तब तत्क्षण अमृत उद्गार भूख को शान्त करने के लिए आ जाता है। तेतीस पक्ष से एक श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं। अगर इनकी मुट्ठी में सात लव समाने जितना आयुष्य और अधिक होता, तो ये मुक्ति में चले जाते अथवा

एक बेले का तप और किया होता, तो भी ये दोनों मुक्ति पा लेते, क्योंकि अनुत्तर–विमान से भी ज्यादा सुख मुक्ति के बिना और कहीं नहीं है।

फिर धन्य व शालि वहाँ आयु समाप्त होने पर विदेह क्षेत्र में सुख से भरे कुलों में उत्पन्न होकर, भुक्तभोगी होकर यथावसर सद्गुरु के संयोग में संयम लेकर कठिन तप के द्वारा क्रिया करके घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न करके पृथ्वीमण्डल पर अनेकों को प्रबोधित करके अन्त में योग समाधि करके नाम, गोत्रादि अघाती–भवोपग्राही कर्मों का क्षय करके पाँच ह्रस्व अक्षरों को उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल–मात्र में अयोगिपने को प्राप्तकर, एक समय की अस्पृशद् गति के द्वारा पूर्व प्रयोगादि कारण–चतुष्क न्याय के द्वारा लोकान्त में मुक्ति क्षेत्र को प्राप्त करेंगे। सादि–अनन्त भंग के द्वारा चिदानन्द सुख का अनुभव करेंगे।

इन धन्य–शालिभद्र ने अनुत्तर दानादि चारों प्रकार से उत्कृष्ट पद को प्राप्त किया। जैसे – प्रथम तो अनुत्तर दान दिया, क्योंकि अत्यन्त कष्ट में खीर स्वयं उनके लिए खाने के लिए बनायी थी। पहले से साधु को दान देने का कोई भी अभ्यास नहीं था, पर साधु का दर्शन होने से तीव्र श्रद्धा उत्पन्न होने से अपने सभी दुःखों को भूलकर भक्ति–भाव से भरित अंगों द्वारा उठकर–"स्वामी! यहाँ अपने चरण कमल रखिए। यह आहार लेकर हमें अनुग्रहित कीजिए।" इस प्रकार भक्तियुक्त वचनों से साधु को बुलाकर थाल उठाकर एक ही बार मे सारी खीर बहरा दी। पूर्ण मनोरथी उसने सात–आठ कदम साधु के पीछे जाकर पुनः साधु को वंदना की, फिर हर्षित हृदय से पुनः–पुनः अनुमोदना करते हुए घर में आकर थाली के समीप बैठकर अपनी–अपनी माता के आगे भी अवसर न जानकर गाम्भीर्य गुण से युक्त होने से कुछ भी नहीं कहा। ऐसा दान किसी ने भी नहीं दिया। वह उनका अनुत्तर दान था।

दूसरा – उनका अनुत्तर तप था, क्योंकि बारह वर्षों के बाद घर में आये हुए उन दोनों को शालि की माता व पत्नियों ने तथा नित्य सेवा करनेवाले सेवकों ने भी नहीं पहचाना। ऐसे दुष्कर महातप से वे तप्त हुए थे।

तीसरा – शालि के द्वारा राजा को नमस्कार करने मात्र से आजन्म विलसित अनिर्वचनीय भोगलीला को व्यर्थ करके विचार किया–"अभी भी मेरी पराधीनता नहीं गयी। परवश रहा हुआ सुख भी दुःख रूप ही है। अतः अपने मान का रक्षण करने के लिए तथा स्वाधीन सुख की प्राप्ति के लिए सकल सुर–असुर–नरवृन्दों के द्वारा वन्दित चारित्र को ग्रहण करता हूँ।"

इसी प्रकार धन्य ने भी पत्नी के आगे शालि के एक–एक नारी के त्याग को सुनकर, इस कार्य को कायरता पूर्ण बताते हुए, प्रियाओं के नर्मवचन को भी अनुकूल मानते हुए एक साथ आठों पत्नियों का त्याग कर दिया। अनर्गल

समृद्धि को तृणवत् मानकर चारित्र ग्रहण को उन्मुख हो गया। यह भी उनका अनुत्तर मान था।

चौथा – आज भी इन दोनों के लौकिक व लोकोत्तर यश का पटह जगत में जीवित है, क्योंकि जब कोई भी धन–सम्पदा आदि को प्राप्तकर फूलकर कुप्पा हो जाता है, गर्व करता है, तब अन्य सभ्यजन कहते है–"क्या तुम धन्य या शालिभद्र हो गये हो, जो इस प्रकार के निरर्थक मान को वहन करते हो?"

आज तक भी सभी व्यापारी–वर्ग दीपावली पर्व पर बही–खाते के मुहूर्त करने के समय सबसे पहले इन दोनों का ही नाम लिखते हैं। ऐसा यश इन दोनों का ही है, अन्यों का नहीं।

इसी प्रकार शालि के चार महाश्चर्य हुए–प्रथम मनुष्य भव में ही स्वर्ग के भोग–सुखों को भोगा।

दूसरा–घर पर आये हुए राजा को सुख–मग्न शालिभद्र के द्वारा माल के रूप में जानकर दूकान पर खरीदकर रखने का आदेश दिया। ऐसा लीला–शालित्व किसका होता है?

तीसरा–स्वर्णरत्न सहित अन्यत्र अप्राप्य – ऐसे वस्त्राभूषण प्रतिदिन साधारण पुष्पमाला आदि की तरह बासी करके उसे कचरे में डाल देता था, यह भी एक आश्चर्य है।

चौथा–जिसके सम्मुख देखकर राजा 'आओ' इस प्रकार वचन–मात्र के मान–सम्मान को देता है, तो वह पुरुष मन में अत्यन्त उग्र रूप से फूल जाता है–"अहो! आज मेरा शुभोदय है, मेरा भाग्य स्फुटित हुआ है" इस प्रकार मन में हर्षित होता है। पर शालिभद्र को तो राजा ने स्वयं परिकर–सहित उसके घर आकर अत्यन्त ज्यादा से भी ज्यादा मान दिया, तो भी शालि ने इसे अपमान रूप मानकर चिंतन किया–"अहो! मैं अधन्य हूँ, मेरे द्वारा पूर्व जन्म में पूर्ण पुण्य नहीं किया गया, इसी कारण मैं राजा का सेवक हूँ। इतने दिनों तक मैं बेकार ही खुश होता रहा कि मैं सबसे ज्यादा सुखी हूँ। पर मेरा यह सारा सुख बिंधी हुई मणि की तरह परवशता के दोष से विफल हो गया। अहो! यह कूट रचना–मय संसार है। यहाँ जो प्रमाद करता है, वह मूर्ख–शिरोमणि है। अतः मैं इस जन्म में मृगतृष्णा जैसे भोगों को त्यागकर स्वाधीन सुख–साधन में उद्यत बनूँगा। इस प्रकार विचार करके समस्त सांसारिक भोग–विलास से उत्साह–हीन हो गया। अन्य लोग तो राजा के सम्मान को प्राप्त करके जीवन में प्रसन्न होते हैं, पर शालि तो सम्मान–भ्रष्ट की तरह उदास हो गया। वह भी महान आश्चर्य जानना चाहिए।

धन्य व शालिभद्र दोनों में ही दान धर्म का विश्व में अतिशय होने पर

भी इन दोनों के मध्य धन्य की विशेष स्तवना करता हूँ, क्योंकि धन्य इस जगतितल पर अनुत्तर पुण्य–प्राग्भारवाला हुआ। जैसे–

प्रथम– इसके जन्म के समय नाल का छेदन करके भूमि के अन्दर रखने के लिए भूमि खोदे जाने पर एक लाख से अधिक का निधान प्रकट हुआ–यह अनुत्तर पुण्य प्राग्भार का उदय था।

द्वितीय– कुमार अवस्था में उसके पहले कभी व्यापार का उद्यम नहीं किया था, फिर भी क्रय–विक्रय के स्वरूप को नहीं जानते हुए भी प्रथम दिवस अपने बुद्धि कौशल से लाख धन लेकर घर आया, यह भी अनुत्तर पुण्योदय था।

तृतीय– पिता के द्वारा दूसरी बार व्यापार करने की प्रेरणा किये जाने पर सामान्य–हीन जनोचित हुड व्यवसाय करके राजकुमार को जीतकर, दो लाख द्रव्य लेकर घर आया। कोई भी स्वप्न में भी ऐसी श्रद्धा करे कि हुड व्यापार में दो लाख द्रव्य मिल सकता है? यह भी अनुत्तर पुण्य से ही सम्भव हो सकता है।

चतुर्थ– पिता के द्वारा तीसरी बार व्यापार के लिए भेजे जाने पर दीन–हीन–जनोचित घृणित मृतक की खाट का व्यवसाय करके 66 करोड़ मूल्य के रत्न लेकर घर आया। क्या कोई सोच भी सकता है कि मृतक की खाट के व्यवसाय में 66 करोड़ मूल्य के रत्न मिल सकते हैं? यह भी अनुत्तर पुण्योदय था।

पंचम– अग्रजों को अपने ही द्वारा उपार्जित धन को यथेच्छा भोगते हुए देखकर तथा अपने ऊपर ईर्ष्या करते हुए देखकर वह घर से निकल गया। मार्ग में भूख–प्यास से पीड़ित, श्रान्त खेत के निकट वट वृक्ष के नीचे बैठा, तब खेत के मालिक ने सुभग को देखकर भोजन के लिए निमन्त्रित किया। इसने भी कहा–"किसी का कुछ कार्य किये बिना नहीं खाऊँगा।"

तब क्षेत्रपति ने कहा– "अगर यही प्रतिज्ञा है, तो मेरा यह हल चला लो, तब तक मैं देह–शुद्धि करके आ जाता हूँ। बाद में हम दोनों भोजन करेंगे।"

यह कहकर हल देकर वह चला गया। इसने सात–आठ कदम तक हल चलाया ही था कि हल रुक गया। इसने जोर लगाकर हल को उठाया, तो सहसा ढ़के हुए पत्थर पर दूर से दृष्टि पड़ी और एक विवर दिखायी दिया। अलग करके जब देखा, तो भूमि के अन्दर अनेक कोटि सुवर्ण देखा। उसने वह धन खेत के स्वामी को दे दिया, पर मन में लोभ नहीं किया। फिर अत्याग्रह से भोजन करके धन त्यागकर आगे चल दिया। यह भी महान पुण्योदय ही था।

षष्ठ– राजा ने प्रवहण में रहे हुए स्वामी–रहित माल को ग्रहण करने

के लिए व्यापारियों को बुलाकर कहा– "इस माल को ग्रहण करो और यथायोग्य भाव के अनुसार दे दो।"

तब सभी व्यापारियों ने एकत्र होकर मंत्रणा की–"नगर में रहे हुए सभी व्यापारियों द्वारा विभाग कर–करके माल ग्रहण किया जाये।"

तब धनसार के घर पर भी भाग ग्रहण करने के लिए आमंत्रण भिजवाया। तब धन्य के बड़े भाइयों ने ईष्यादोष के कारण पिता को कहकर भाग ग्रहण करने के लिए धन्य को भेजा। धन्य भी पिता की आज्ञा से वहाँ गया। सभी क्रयाणक पर उसने नजर डाली, उनके मध्य रहे हुए अनेक सैकड़ों कलशों के अन्दर तेजमतूरी भरी हुई थी, जिसे इसने शास्त्र ज्ञान होने से अपने बुद्धि–कौशल से पहचान लिया, परन्तु इन अनेक व्यापार किये हुए क्रयाणकों की उत्पत्ति व निष्पति में कुशल अपने आपको विचक्षण माननेवाले अनेकों व्यापारियों ने भी नहीं पहचाना। वे तो उन कलशों की क्षार–मिट्टी को बिना पहचाने दुष्ट–स्वभाव तथा ईर्ष्या–बुद्धि से मीठे वचनों से संतुष्ट कर वे घड़े धन्य के सिर पर डाल दिये। धन्य ने भी अपने बुद्धि चातुर्य के अतिशय से उनकी दुर्जनता जानकर उनको योग्य उत्तर दिया। उन सभी को प्रसन्न करके सभी व्यापारियों की आँखों में धूल डालकर अनेक सैकड़ों करोडों स्वर्ण बनानेवाली तेजमतूरी के कलशों को गाड़ी में भरकर घर आ गया। यह भी उत्कृष्ट भाग्योदय ही था, और कुछ नहीं।

सप्तम– जब श्रेष्ठी की शुष्क वाटिका में एक रात सोया, तो धन्य के उत्कृष्ट पुण्य के प्रभाव से उसी रात्रि में वह शुष्क वाटिका नंदन वन के समान हो गयी और उसकी महती प्रतिष्ठा हुई। यह आश्चर्य भी अनुत्तर पुण्य का सूचक था।

अष्ठम– जब कौशाम्बी गया, जब राजा ने मणि की परीक्षा के लिए और उसकी महिमा जानने के लिए तीन दिन तक पटह बजवाया, पर किसी ने स्पर्श नहीं किया। तब धन्य ने इसका स्पर्श किया। फिर राजा के पास जाकर उस मणि को लेकर शास्त्र परिकर्मित बुद्धि व कौशल्य से तथा चतुरता के अतिशय से मणि की जाति, प्रभाव व फल को बताया, उस मणि की महिमा भी समस्त सभ्यजनों के समक्ष थाल में भरे हुए चावलों के ऊपर कबूतरों को छोड़ने के द्वारा कारण सहित दिखायी। सभी सभ्य व राजा भी चमत्कृत हो गये। यह भी उग्र पुण्योदय का सूचक था।

इस प्रकार आठ अनुत्तर पुण्यप्राग्भार महा–आश्चर्यकारी थे।

तथा ये पाँच महाश्चर्य हुए– जब कौशाम्बी नगरी के पास स्थापित ग्राम में अपने पिता तथा तीनों अग्रजों को छोड़ा, राज्य को उनके अधीन करके राजगृह जाने के लिए सैन्य सहित प्रस्थान किया। तब मार्ग में लक्ष्मीपुर नगर

में राजपुत्री के द्वारा वन में जाकर अपनी बुद्धि व चातुर्य के अतिरेक से राग द्वारा मृगी को बुलाकर अपने कण्ठ से हार निकालकर उसके कण्ठ में पहना दिया गया और घर में आकर प्रतिज्ञा की कि जो मनुष्य इस मृगी को राग से बुलाकर उसके कण्ठ से हार निकालकर मेरे कण्ठ में पहनायेगा, वह मेरा पति है।

यह प्रतिज्ञा सभी को विदित थी। पर उसको पूर्ण करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं था। तब वहाँ आये हुए धन्य ने वन में जाकर वीणा वादनपूर्वक राग से वन में रहे हुए समस्त हरिणों के समूह को बुलाकर सैकड़ों हरिणों से परिवृत हरिण–समूह को अनेक लोगों के साथ चतुष्पथ मार्ग से 36 राजकुलों से उपशोभित, अनेक आयुधों से युक्त हजारों सेवक–वृन्दों से सेवित राजसभा में लेकर आया। ये हरिण बहुत दूर से ही पुरुष मात्र को देखते ही भाग जाते थे। वे अत्यन्त जनाकुल सभा में मनुष्यों के पास से गुजरते हुए भी राग में लीन चित्तवाले होने से कहीं पर भी भागे नहीं। फिर उन्हें के मध्य आयी हुई उसी हरिणी के गले से हार निकालकर धन्य ने कन्या के कण्ठ में डाल दिया। तब तत्क्षण कन्या ने धन्य के गले में वरमाला डाल दी। उसके बाद उसी नगर में अन्य तीन कन्याओं के साथ भी पाणिग्रहण किया। यह अत्यन्त कला कौशल था।

द्वितीय– धन्य ने बाल्यकाल में भी सहायक नहीं होने पर भी अपने बुद्धि की कौशलता से वचन आदि की चतुरता से अनेक सैकड़ों–करोड़ों परिमित धन उपार्जित किया और अद्वितीय राज–सम्मान प्राप्त किया। धन्य द्वारा उपार्जित धन को समस्त कुटुम्ब ने भोगा, विशेष रूप से तीनों अग्रज भाइयों ने तो अपने–2 चित्त की अनुकूलता से यथेच्छापूर्वक निःशंक होकर भोगा, पर उसका लेशमात्र भी शल्य नहीं था, फिर भी वे तीनों भाई धन्य के ऊपर अत्यधिक ईर्ष्या रखते थे। फिर ईर्ष्या करते हुए भाइयों को जानकर भी धन्य ने उन पर थोड़ा भी कषाय नहीं किया। पर सज्जनता का स्वभाव होने से धन्य ने अपने ही दोषों का विचार किया–"अहो! ये मेरे अग्रज हैं, मेरे पूज्य हैं, मुझे देखकर मेरे दुष्कर्मों के उदय के कारण मुझसे ईर्ष्या करते है। ईर्ष्या होने पर मन कषाय के उदय से जलता है, कषाय द्वारा अन्तर के जलने से कहीं भी क्षति प्राप्त नहीं होती और अरतिवालों को सुख कहाँ? अरे! इन सबका कारण मैं ही हूँ। मैं तो इनकी सेवा करने के योग्य हूँ। इनकी भक्ति सेवा आदि करके येन–केन–प्रकारेण इन्हें प्रसन्न करना चाहिए, वह तो यथाशक्ति मैं करता ही हूँ, परन्तु उनकी ईर्ष्या तो बढ़ती ही जाती है। पूज्यों व वृद्धजनों के लिए दुःख का कारण बनना न्याय–विज्ञों के लिए उचित नहीं है। अतः अब मुझे यहाँ नहीं

रहना चाहिए। मेरे जाने पर ही ये लोग यहाँ सुख से रहेंगे, क्योंकि कारण के चल जाने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतः मुझे अब देशान्तर चले जाना चाहिए।''

यह विचारकर रात्रि में अरति–द्वेष रहित सहज वृत्ति से मुनि की तरह घर से निकल गया, मन में दुःखित भी नहीं हुआ कि मेरी भुजाओं से उपार्जित धन को भोगते हुए दुर्जन मेरे ऊपर ही ईर्ष्या करते हैं– इत्यादि भाव मन में भी नहीं आये। ऐसे सज्जन कौन होते हैं?

फिर वह उज्जयिनी चला गया। वहाँ तालाब में रहे हुए स्तम्भ को लपेटने की चतुरता से मंत्री–पद प्राप्त किया। पुनः उसी प्रकार की सुख–सुम्पति की लीला लहर प्राप्त की। कितने ही समय बाद माता–पिता व अग्रज दुष्कर्मों के उदय से दीन अवस्था का अनुभव करते हुए तथा घूमते हुए वहाँ आ गये। धन्य ने उन्हें अपने महल के गवाक्ष से देखा। देखकर मन में अत्यन्त दुःखी हुआ– अहो! अहो! मेरे पूज्य ये लोग ऐसी दुर्दशा को प्राप्त कर दुःख का अनुभव कर रहे है। फिर सेवकों द्वारा शीघ्र ही घर के अन्दर बुलाकर उठकर अपने पिता व भाइयों के पैरों में गिर गया। विनय युक्त मीठे वचनों द्वारा उन्हें संतृप्त करके स्नानादि शुश्रूषा करके, पूज्य स्थान पर बैठाकर सारा धन–धान्यादि उनको सौंप दिया, स्वयं सेवा करनेवाला सेवक बनकर उनकी सेवा करने लगा। इस प्रकार का महा–आश्चर्यकारी चारित्र धन्य का ही है, अन्य का नहीं। इस प्रकार कषायों की मन्दता, विनय की प्रगल्भता महापुरुष की ही होती है, अन्य की नहीं।

इस प्रकार चौथी बार अमित धन देकर अम्लान मन से वहाँ से निकल गया। जहा–जहाँ भी वह जाता, वहाँ–वहाँ उसे अतुल सम्पत्ति मिलती। पीछे उसके भाई आपत्ति की विडम्बना से दुर्दशा को प्राप्त कर आ जाते थे। धन्य भी उनको देखकर शीघ्र आकर बहुमानपूर्वक घर पर ले जाकर विनयपूर्वक सर्वस्व उनके हाथ में दे देता था। इस प्रकार महा–आश्चर्यकारी माया–रहित प्रकृति, क्रोध, मान, माया, लोभ की रहितता, उचित गुणों से युक्त भद्र स्वभाव के बिना धन्य कभी–भी प्रसिद्ध नहीं होता। यह दूसरा महा आश्चर्य था।

तृतीय– पुण्य से ही 500 गाँवों का अधिपत्य प्राप्त किया, पूर्वोक्त अपरिमित लक्ष्मी प्राप्त की, उससे भी ज्यादा राज–सम्मान प्राप्त किया, उससे भी ज्यादा सर्व सम्पत्तिवान, गर्वहारक, चिन्तामणि रत्न घर में शोभित होता था, फिर भी संतोष की बहुलता से श्रीमद् जिनवचन से परिणत–बुद्धि होने से उसके मन में संकल्प–मात्र भी कभी उदित नहीं हुआ, कि मैं भी स्वर्ण को निर्माल्य रूप से करूँ, शालि के तो रोज 33 मंजूषा प्रातःकाल में देवलोक से उतरती थी। यह तो स्वयं 66 मंजूषाओं को उतारने में समर्थ था, पर जिनवचनों के

हार्द को समझ लेने से इन सभी पुद्गल विलासों को स्वप्न व इन्द्रजाल की तरह निष्फल मानता था। प्रायः आक्षेपक ज्ञानवालों के ऐसे ही चिह्न प्रति भासित होते हैं। इस जगत में जो पूर्व पुण्य के प्रबल उदय से अपरिमित धन और सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं, वे उस में प्रमादपूर्वक लीन हो जाते हैं तथा उनके तुल्य अन्य धनवानों के विविध–चार्तुयादि अतिशय से परिकलित अभिनव भोगों को भोगते हुए देखकर वे भी उससे अधिक भोग की इच्छा करते हैं और विलास करते है, पर शक्ति के होने पर भी क्षमा के अनुकूल वर्तन तो कोई–कोई धन्य सदृश लोगों का ही होता है। जो कहा है–

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।

ज्ञान में मौन, शक्ति में क्षमा, त्याग में निंदा का अभाव आदि महा–कुशलानुबंधी पुण्यवानों में ही सम्भव होता है।

चतुर्थ– महा आश्चर्य यह है कि सैकड़ों विकारों के हेतु होने पर भी अपने अद्वितीय धैर्य को नहीं छोड़ा। "विकार के हेतु होने पर भी जिनका चित्त विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, वे ही धीर हैं"– इस नीति वाक्य को स्व–दृष्टान्त से दृढ़ बनाया।

पंचम– राजा की परवशता के कारण शालिभद्र को वैराग्य उत्पन्न हुआ। फिर बाद में श्री वीर प्रभु–वचन के अमृत सिंचन के योग से वैराग्य पल्लवित हुआ। तब प्रबल वैराग्य के उदय से चारित्रेच्छुक वह प्रतिदिन एक–एक प्रिया को त्यागने के लिए उद्यत हुआ। पर धन्य तो सुभद्रा के मुख से उसके दुःख की बात को सुनकर जरा हँसकर इस प्रकार बोला–"शालि तो अतिमूर्ख दिखाई देता है।"

प्रिया ने कहा–"कैसी मूर्खता?"

धन्य ने कहा–"हे भोली नारियों! अगर त्यागने की इच्छा हो, तो एक बार में ही त्याग देना चाहिए, प्रतिक्षण परिणाम जो बदलते रहते हैं। जीव निमित्त के वश रहता है, अतः कहीं परिणाम न बदल जाये, अतः विलम्ब नहीं करना चाहिए। अतः जब कभी शुभ परिणाम उत्पन्न हो, तो वह काम उसी समय कर लेना चाहिए। "धर्म की गति त्वरित है" इस वचन से धर्म में विलम्ब नहीं करना चाहिए। अतः मैंने उसे मूर्ख कहा।"

तब प्रियाओं ने विलास–युक्त नीतिवाक्य का अनुसरण करनेवाले वचन कहे–"स्वामी! इस जगत में कठिन कार्य करने के लिए कहनेवाले बहुत होते हैं, पर उस कार्य को करने में प्रवीण तो कोई माई का लाल ही होता है, सभी नहीं। ऐसी सम्पत्ति व नारियों का त्याग करने में वही समर्थ होता है, अन्य नहीं।"

उसी क्षण एक प्रिया ने आगे होकर हँसते हुए कहा–"हाथ कंगन को

आरसी क्या? शालि के तो 32–32 प्रियाएँ हैं। आपके तो आठ ही पत्नियाँ हैं। अगर आप वाकई वीर हैं, तो एक ही बार में हम आठों का परित्याग क्यों नहीं करते?"

प्रिया के इन वचनों को सुनकर धन्य ने हर्षित होते हुए कहा–"अहो! तुमने बहुत ही अच्छा कहा। कुलीन स्त्रियों के वाक्य ऐसे ही होते हैं, जो अवसर आने पर हितकारी वचन ही बोलती हैं। अतः मैंने आज ही आठों प्रियाएँ त्याग दीं।"

यह कहकर तत्क्षण प्रियाओं को त्यागकर चारित्र ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गया। प्रियाओं को भी प्रतिबोध देकर उन्हें चारित्र की ओर उन्मुख किया। शालि के विलम्ब को भी छुड़वाया। यह भी महा–आश्चर्य ही था।

इस प्रकार मैंने धन्यमुनि व शालिभद्र मुनि का चरित्र संस्कृत भाषा में गद्य–बंध रूप में लिखा, वह अपना चातुर्य दिखाने के लिए नहीं, न ही पाण्डित्य दिखाने लिए और न ही ईर्ष्यादि किसी अन्य कारण से, बल्कि जो आधुनिक संयमी–गण हैं, उनके मध्य में जो कोई प्रज्ञावान हैं, शब्दादि शास्त्रों में कुशल हैं, वे सभी शास्त्रों का निर्वाह करते हैं, पर वे तो बहुत थोड़े हैं और जो कोई कुछ पढ़कर, कुछ सुनकर, खण्ड–पाण्डित्य से दृप्त हैं, वे पूर्वाचार्यों द्वारा कृत पद्यमय ग्रन्थों का यथा–मति कष्टपूर्वक निर्वाह करते हैं। जो बहुत सारे अवशेष हैं, वे तो पद्यमय ग्रन्थ को देखने में ही असमर्थ हैं, तो वाचन का तो कहना ही क्या? इसी प्रकार परिपक्व गद्यमय, जो पूर्व सूरियों द्वारा ग्रथित हैं, उनका वाचन करने में भी असमर्थ हैं। वे लोक–भाषामय बालावबोध–कृत ग्रन्थों को पढ़ने में लज्जा महसूस करते हैं। अहो! इतने वृद्ध होकर भी लोकभाषा में ही पढ़ते हैं। इस प्रकार लज्जित होते हुए उनके शिष्य–प्रशिष्य–गुरु भ्राता आदि के द्वारा प्रार्थना किये जाने से यह सरल रचनामय चारित्र रचा गया है। बालभद्रक जानते हैं–ये भी संस्कृत के भाषामय शास्त्र को व्याख्यान में पढ़ेंगे, इसलिए मेरा द्वारा बाल–लीला की गयी है, अन्य हेतु से नहीं। अतः जो सज्जन होते हैं, उनके पाँवों को वंदन करके प्रार्थना करता हूँ– जो इसमें अशुद्ध–अशुद्धतर हो, तो मुझ पर महती कृपा करके शोधने योग्य है, जिससे मुझ बालक की हँसी न हो और प्रतिष्ठा भी बढ़े। अथवा तो प्रार्थना से क्या? क्योंकि वे ही सज्जन अपने सज्जन स्वभाव से पुस्तक हाथ में लेकर बाल–विलसित देखकर, थोड़ा–सा हँसकर स्वयं ही शुद्ध करेंगे। जो इस ग्रन्थ–संदर्भ में अज्ञानवश से अथवा मिथ्यात्व के उदय से जिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा हो, तो श्रीमद् अरिहन्तादि पंच–साक्षी से तीन प्रकार की शुद्धि द्वारा मेरा मिथ्या–दुष्कृत होवे। मेरे द्वारा तो भद्र–भक्ति के वश में मुनियों के गुण यथामति गाये गये हैं, इसका फल हो, तो मेरी श्री जिनधर्म में हठभक्ति होवे।

जयः श्री जैनधर्मस्य श्रीसङ्घस्य च मङ्गलम्।
वक्तृणां मङ्गलं नित्यं, श्रोतृणां मङ्गलं सदा।।1।।

श्री जैन धर्म की जय हो, श्री संघ का मंगल हो, वक्ताओं का भी नित्य मंगल हो तथा श्रोताओं का भी सदा मंगल हो।

अब पद्यमय ग्रन्थ के कर्त्ता की प्रशस्ति पद्य के माध्यम से कहते हैं–

यस्यैतानि फलानि दिव्य विभवोद्दामानि शर्माण्यहो!
मानुष्ये भुवनाद्भुतानि बुभुजे श्री धन्य शालिद्वयी!
देवत्वे पुनरिन्दुकुन्दविशदाः सर्वार्थसिद्धे श्रियः
सोऽयं श्री जिनकीर्तितो विजयते श्रीदानकल्पद्रुमः।।

अहो! दिव्य वैभव तथा उद्दाम सुख रूपी इन फलों को त्रिभुवन में अद्भुत श्री धन्य व शालिभद्र ने मनुष्य भव में भोगा! पुनः इन्दु व कुन्द के पुष्प की तरह विशद धवल श्री को सर्वार्थसिद्ध में देवत्व के रूप में भोगा, वह यह श्री जिन–कीर्तित श्रीदान रूपी कल्पवृक्ष विजय को प्राप्त हो।

।।श्रीमद् तपागच्छ अधिराज श्री सोमसुन्दर सूरि के पट्ट–प्रभाकर शिष्य श्री जिनकीर्ति सूरि रचित–पद्यबद्ध श्री धन्यचरित्र–शालि श्रीदान रूपी कल्पवृक्ष का महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि के वंश में महोपाध्याय श्री हर्षसागर गणि के प्रपौत्र महोपाध्याय श्री ज्ञान सागर गणि शिष्य द्वारा अल्पमति से ग्रथित गद्य–रचना–प्रबन्ध में श्री धन्यशालि की सर्वार्थसिद्धि प्राप्ति का वर्णन नामक नौवाँ पल्लव पूर्ण हुआ।।

।। श्री धन्य चरित्र समाप्त।।

- अहिंसा से आज्ञा पालन सर्वश्रेष्ठ है ।
- आज्ञापालन में भी विनय-विवेक न हो तो वह आज्ञा पालन भी निरर्थक हो जाता है ।
- विनय भी विनय योग्य आत्मा का ही ।
- विनयवादी के ३२ भेद मिथ्यात्त्व में गिने गये है ।
- विकास उपयोगी भी अनुपयोगी भी ।
- सूजन द्वारा शरीर का विकास - फूलना अनर्थकर है ।
- अनीति द्वारा धन का विकास अनर्थकर है ।
- किसी को शीशे में उतारने की बुद्धि का विकास भी अनर्थकर है ।
- अयोग्य शिष्य-शिष्याओं की बहुलता अहितकर ही है ।
- अयोग्य संतानों की अधिकता कष्टकर ही है।
- सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान की अधिकता अनिष्ट फलदाता बन सकती है ।
- आचारहीनता की अधिकता मानव को स्वादु बनाकर एकेन्द्रियादि में भेज देती हैं ।

- जयानन्द

Created by :
Kirit B. Vadecha
© 23737600 / 9820073336